Barcode - 5990010042182
Title - Manas ki Mahilaye
Subject - Literature
Author - Ramanand Sharma
Language - english
Pages - 435
Publication Year - 1962
Creator - Fast DLI Downloader
https://github.com/cancerian0684/dli-downloader
Barcode EAN.UCC-13
5 990010 042182

मानस की महिलाएँ

हिंदुस्तानी
एकेडेमी
पुस्तकालय

लेखक
श्री रामानन्द शर्मा

प्रकाशक
कन्याकुमारी प्रकाशन
मद्रास : दुमका

मूल्य : आठ रुपये

प्रथम संस्करण १९६२

प्रकाशक—कन्याकुमारी प्रकाशन, २८ नन्दनम : मद्रास १८
३२ सराय रोड : दुमका (सं० प०) बिहार
मुद्रक—ओम्प्रकाश कपूर, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी (बनारस) ५८५७–१८

जिसके

नीर-भरे नीरव नयनों में, विस्मय और विषाद से झाँक-झाँक कर, बचपन से ही मैं "मानस की महिलाओं" को कुछ-कुछ पहचानने लग गया था :

जिसके

अमल, सुषमा-स्नात, भव्य मुख से निकली—

"सीता के जन्म रोइते गेल। दुःख छोड़ सुख कहियो न भेल॥"

व्यथा-कथा सुन-सुन कर ही यह नादान, अपनी अबोधावस्था में ही, एक अगम्य छोह और क्षोभ से पुलकाकुल होता, पुरुष-प्रताड़िता नारी के तपः-पूत चरणों में खोने लग गया था :

और

जिस सरल-मना, निस्पृह-प्राणा, ममता-मूर्ति को, हम नासमझ बच्चे ही क्या—हमारा सारा गाँव गर्व से "दीदी" कह कर गद्‌गद हो जाता था :

उसी

दिवंगता अपनी दिव्य जननी

राजवंशी देवी

की पुण्य-स्मृति में

यह अश्रु-कथा

"मानस की महिलाएँ"

साश्रु समर्पित !

—रामानन्द

भूमिका

जहाँ तक मेरी जानकारी है, तुलसीकृत रामायण के नारी-पात्रों को लेकर हिन्दी में कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं है। वर्तमान ग्रन्थ 'मानस की महिलाएँ' इस अभाव को दूर करता है। इस दृष्टि से यह ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण माना जायगा।

इस ग्रन्थ के लेखक श्री रामानन्द शर्मा हिन्दी के पुराने सेवक और साहित्यकार हैं। अपने जीवन के कोई तीस वर्ष उन्होंने हिन्दी-प्रचार-कार्य में दक्षिण में बिताये हैं। दक्षिण में रहते हुए उन्होंने तेलुगू, तमिल, कन्नड़ आदि भाषाओं में विरचित विभिन्न रामायणों से अच्छा परिचय प्राप्त किया। वर्तमान ग्रन्थ में उन्होंने तुलसीकृत रामायण की तुलना जगह-जगह वाल्मीकीय रामायण और कंबन रामायण से भी की है जो काफी रोचक है।

तुलसीदासजी के विषय में लोगों की एक साधारण धारणा यह है कि नारियों के प्रति उनके विचार बहुत उदार नहीं थे। वर्तमान ग्रन्थ में लेखक ने इस धारणा का बिलकुल खण्डन तो नहीं किया है, किन्तु सामाजिक और मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोणों को सामने रखकर उन्होंने सती, गौरी, सीता, कौसल्या, कैकेयी, मन्दोदरी, अहिल्या आदि नारी-पात्रों के चरित्र का जो विश्लेषण किया है उससे गोस्वामी तुलसीदास की नारी कल्पना बहुत सुस्पष्ट हो जाती है।

ग्रन्थ की भाषा और शैली, दोनों ही प्रांजल और प्रसादपूर्ण हैं। पुस्तक की एक विशेषता यह है कि वह रचनात्मक साहित्य का आनन्द देती है।

७ मई, १९६२
राष्ट्रपति-भवन
नई दिल्ली—४

राजेन्द्र प्रसाद

प्रेरणा-स्रोत

संयुक्त मद्रास-राज्य के तत्कालीन महामहिम राज्यपाल श्री श्रीप्रकाशजी की अध्यक्षता में 'साहित्यानुशीलन समिति, मद्रास' का प्रथम वार्षिकोत्सव धूम-धाम से सम्पन्न हुआ जिसमें विद्वान् और विनोदी सभापति ने तुलसी की नारी-भावना पर कुछ निर्मल छींटे भी छोड़े—जिससे समारोह में उपस्थित दक्षिण की मर्मज्ञ महिलाएँ कुछ अकचकाईं। अनन्तर उक्त 'समिति' की प्रधान मंत्रिणी श्रीमती त्या-भवानी देवी के साथ मेरे कुछ विचार-विमर्श हुए और 'हिन्दी-प्रचार-समाचार' के यशस्वी सम्पादक मेरे सुहृद् एवं सहयोगी श्री आर० शारंगपाणि ने साग्रह 'मानस की महिलाएँ' नाम से एक लेख-माला मुझसे लिखवाई जो मद्रास के 'हिन्दी-प्रचार-समाचार' में क्रमशः प्रकाशित होती रही।

अब नाम तो मुझे वही प्रिय रहा, पर यह पुस्तक पढ़कर भाई शारंगपाणि भी चौंक उठेंगे—पहचान नहीं पाएँगे। आधार पुराना, पर प्रयास एकदम नूतन। तथापि प्रेरणा-स्रोत की सरस शीतलता तो मुझे पुलकित करती ही रहेगी!

और इस नूतन आरम्भ का सारा श्रेय है मेरे ऊर्मिल-मानस श्री रामनरेश 'हिमांशु' को—जिनकी सतत उकसाहट से ही मैं बिखरी सामग्रियों को बटोरने-टटोलने लगा : और उसी क्रम में, 'मानस' के अतिरिक्त 'वाल्मीकि' और 'कंबन' की भी कुछ चरण-रज लेने का लोभ मैं रोक न सका। मेरे इस अगम्य-पथ पर स्व० श्री वी० एस० श्री निवास शास्त्री एवं स्व० श्री वी० वी० एस० अय्यर के व्याख्यात्मक ग्रन्थों ने पर्याप्त प्रकाश डाला है।

एतदर्थ अपने सभी प्रेरकों तथा पथ-दर्शकों के प्रति मेरा मुग्ध-हृदय चिर-कृतज्ञ बना रहेगा।

—लेखक

विषय-सूची

		पृष्ठ
मानस-चक्षु	...	१
दण्डकारण्य में विप्लव-जाल	...	१५
अगस्त्य के आश्रम में	...	२५
संशयात्मा सती का रूपान्तर	...	३१
गौरी की गरिमा	...	६३
सतीत्व की सुदीप्त शिखा	...	९९
कीर्ति-राका कौसल्या	...	२६१
कैकेयी की कुटिलता	...	३२१
झिलमिल तारिकाएँ	...	३७५

सज्ञान सुमित्रा—३७७; अभिशाप-ग्रस्ता अहल्या—३८९; बुद्धिमती तारा—३९७; मन्दभाग्या मन्दोदरी—४०३; संशितव्रता शबरी—४१५

सम्मतियाँ	...	४२१

मानस-चक्षु

"जो नहाइ चह एहि सर भाई।
सो सत्संग करइ मन लाई॥"

"अस मानस मानस चख चाही।
भइ कवि बुद्धि बिमल अवगाही॥"

"भयउ हृदयँ आनंद उछाहू।
उमगेउ प्रेम प्रमोदु प्रबाहू॥"

"चली सुभग कविता सरिता सो।
राम बिमल जस जल भरिता सो॥"

"कहत सुनत हरषहिं पुलकाहीं।
ते सुकृती मन मुदित नहाहीं॥"

—तुलसी

सरल साधु :

गोस्वामी तुलसीदास एक ओर जहाँ साधु-सन्तों के उज्ज्वल आदर्श थे, वहाँ दूसरी ओर अपने युग के वह एक असाधारण महाकवि भी थे। प्रतिकूल पारिवारिक परिस्थितियों ने, बड़ी बेरहमी से पटक-पटक कर, उस अभागे मानव को 'महात्मा' बना दिया था, परन्तु महाकवि तो वह जन्म-जात था। 'सन्त' होने के लिए तुलसी को साधना की सम-असम भूमि पर कठोर सतर्कता के साथ कदम बढ़ाना पड़ा था; परन्तु महाकवि होने का विपुल बरदान तो वह विधाता के घर से ही ले आया था। इसी लिए साधु-सन्त की अपेक्षा, तुलसी का कवि-रूप ही दिन-पर-दिन अधिक लोकप्रिय होता चला है।

इसका एक बड़ा कारण भी है। साधु-सन्त या भक्त-महात्मा होने के लिए साधक को सब से पहले संसार से मुँह मोड़कर 'विरक्त' होना होता है, फिर 'जिज्ञासु' होकर उसे ज्ञानी-गुरु की खोज करनी पड़ती है, तत्पश्चात् मुँह-जोर इन्द्रियों की प्रबल उत्तेजना को, संयम-नियम के आवरण में दबाकर, ध्यान-धारणा की गम्भीर गोद में गोता लगाना पड़ता है। यों एक दीर्घ काल तक प्रखर-प्रवाह से लड़ते-भिड़ते, तन-मन को मथ कर, जब कोई भाग्यवान् उस सूक्ष्म-तत्त्व को प्राप्त करता है, तब सब ओर से आँखें मोड़, समाधि-सुख को ही वह जीवन का चरम-लक्ष्य मान लेता है।

यही कारण है कि निर्जन जंगल, दुरारोह पर्वत और गहन गिरि-गह्वर ही योगी-यतियों के मुख्य आश्रय-स्थल रहते आए हैं।

साधारण मनुष्य के सौभाग्य से जब कोई ऐसा विलक्षण सिद्ध-पुरुष दीख जाता है, तब सब से पहले हम उसमें कुछ अलौकिकता के दर्शन करना चाहते हैं—उसमें कुछ चमत्कार देख कर मुग्ध होना चाहते हैं। साधारण संसारी आदमी से वह ऋषि-मुनि जितना भिन्न होगा, अपूर्व और अद्‌भुत होगा, श्रद्धालुओं की श्रद्धा-भक्ति भी उतनी ही अधिक और उतनी ही तीव्र होगी। इसी रहस्य को पहचान कर जब कोई अवधूत, सामान्य जन की अपेक्षा कुछ विपरीत आचरण करता पाया जाता है, तब हम उसकी गन्दी गालियों पर रीझने लगते हैं, उसके क्रोध को कृपा मान लेते हैं और उसके डंडों की चोटों को भी वरदान की बौछार जान कर उन्हें सहर्ष अँगेजने का अभिनय करने लग जाते हैं!

इतनी जिल्लतों के बाद अगर वह मानवेतर प्राणी हमें एक चुटकी राख उठा कर दे दे, एकाध सूखी-हरी जड़ी-बूटी हथेली पर रख दे या कोई कंकड़-पत्थर ही हमारे सामने फेंक दे, तो भी हम कृतार्थ हो जाते हैं।

अति-प्राचीन काल से साधु-सन्तों का यही अनूठा रूप जन-साधारण के सामने

"जो नहाइ चह एहि सर भाई।
सो सत्संग करइ मन लाई॥"

"अस मानस मानस चख चाही।
भइ कवि बुद्धि बिमल अवगाही॥"

"भयउ हृदयँ आनंद उछाहू।
उमगेउ प्रेम प्रमोदु प्रवाहू॥"

"चली सुभग कविता सरिता सो।
राम बिमल जस जल भरिता सो॥"

"कहत सुनत हरषहिं पुलकाहीं।
ते सुकृती मन मुदित नहाहीं॥"

—तुलसी

रहता आया है, और जो महात्मा ऐसा कोई चमत्कार नहीं दिखा पाते हैं, मूढ़-मानवों की दृष्टि में वे अपनी महिमा भी खो बैठते हैं।

यही कारण है कि तुलसी के ऐसे सच्चे और सरल-जीवन के पुजारी के पल्ले भी चमत्कारों के कुछ किस्से बँध गए हैं और उनके श्रद्धालु-पाठक 'रामचरित मानस' में भी मन्त्र-तन्त्र की करामात ढूँढ़ने लग जाते हैं।

किन्तु सच पूछा जाए, तो तुलसीदास को इन चमत्कारों में न तो कोई विश्वास था, न किसी को उस ओर जाने की प्रेरणा ही उनसे मिलती है। 'साधु' की व्याख्या उन्होंने अपने काव्य में जगह-जगह की है, और उसी कसौटी पर उन्होंने अपने को भी कसने का प्रयत्न किया है। अपनी अकिंचनता, निरीहता, नगण्यता आदि का उनका स्वर इतना ऊँचा, इतना दृढ़, इतना तीव्र और इतना निश्छल है कि उस पर अविश्वास करना असंभव हो जाता है।

महाकवि :

जो भी हो, चमत्कारी वह रहे हों या नहीं, लेकिन महाकवि तो वह अवश्य थे। इसमें कोई द्विधा-दुविधा नहीं हो सकती है। तुलसी का महाकवि होना इतना स्पष्ट है, कि इसके लिए कोई प्रमाण देना भी सूरज को दीपक दिखाने के बराबर हो जाता है।

यद्यपि जगह-जगह तुलसी ने अपने कवि होने का भी निराकरण किया है, जैसे :

"कबि न होउँ नहिं बचन प्रबीनू। सकल कला सब बिद्या हीनू॥
कबित बिबेक एक नहिं मोरे। सत्य कहउँ लिखि कागद कोरे॥"

फिर भी जो महाकाव्य वह लिख गए हैं, वही उनके उन नकारात्मक कथनों को नगण्य बना कर 'विनयशीलता' के आवरण से ढँक देता है, उनके कवि-रूप को उनकी पंक्ति-पंक्ति में ही खोल-खोल कर दिखाता चलता है, जैसे :

"संभु प्रसाद सुमति हिय हुलसी। रामचरित मानस कवि तुलसी॥
करइ मनोहर मति अनुहारी। सुजन सुचित सुनि लेहु सुधारी॥"

ऊपर की पंक्तियों में तुलसी ने स्पष्ट ही नहीं, कुछ-कुछ सहर्ष भी अपने को 'कवि' घोषित कर दिया है।

'मानस' का रूपक भी इसका सशक्त समर्थन कर रहा है :

"राम सीय जस सलिल सुधासम। उपमा बीचि बिलास मनोरम॥
पुरइनि सघन चारु चौपाई। जुगुति मंजु मनि सीप सुहाई॥
छंद सोरठा सुन्दर दोहा। सोइ बहुरंग कमल कुल सोहा॥
अरथ अनूप सुभाव सुभासा। सोइ पराग मकरंद सुबासा॥"

यहाँ तुलसी ने अपने काव्य में प्रमुख रूप से प्रयुक्त अलंकार, अर्थ, भाव, भाषा, छन्दादि का भी स्पष्ट संकेत कर दिया है।

आगे भी :

"सुकृत पुंज मंजुल अलि माला। ग्यान बिराग बिचार मराला॥
धुनि अवरेब कबित गुन जाती। मीन मनोहर ते बहु भाँती॥"

ऊपर कविता के सूक्ष्म प्राण-रूप ध्वनि, वक्रोक्ति, गुण और जाति का भी समुद उल्लेख पाया जाता है।

एक कदम और आगे :

"अरथ धरम कामादिक चारी। कहब ग्यान बिग्यान बिचारी॥
नवरस जप तप जोग बिरागा। ते सब जलचर चारु तड़ागा॥"

काव्य का कमनीय कलेवर 'नवरस' से ही हृष्ट-पुष्ट होता है। 'मानस' का यह 'सांगरूपक' ही, रसात्मक वाक्यों में, तुलसी को महाकवि प्रमाणित कर रहा है। अलं विस्तरेण।

साधु-सन्तों वाला उनका वह तथा-कथित अलौकिक चमत्कार, उनके समय में, भले ही दो-चार चोर-डाकुओं को 'साधु' बना चुका हो, दो-एक अकाल काल-कवलित मुर्दों को भी जिला गया हो, किसी बाँझ-निपूती को पुत्र भी दे गया हो, सच होने पर भी, वे करामातें उँगलियों पर ही गिनी जा सकती हैं; परन्तु जो 'महाकाव्य' वह रच गए हैं, आज कई सौ साल से यह जो चमत्कार दिखाता आ रहा है, कोटि-कोटि कलेवरों में वह जैसा काया-कल्प करता आ रहा है, उसकी गणना भी क्या कभी हो सकती है?

दर-असल बात यह है, कि तुलसीदास को प्रकृति से ही महाकवि की प्रतिभा, प्रसाद रूप में, मिली हुई थी। और जगत् में जिस भाग्यवान् को वह 'प्रसाद' प्राप्त हो जाता है, वह सहज ही एक असीम संवेदन-शील हृदय लेकर भूतल पर उतरता है। इस धूल-धूसरित धरती से उसकी अपार सहानुभूति और अगाध ममता देखी जाती है। साधना-आराधना की उच्च-भूमि पर पहुँचकर भी, पग-तल में पड़ी अपनी इस पृथ्वी के प्रति उसकी अभिन्न आत्मीयता कभी कम नहीं हो पाती है। यही नहीं, कभी-कभी तो इस वसुधा के कदर्य-कर्दम में—घिनौने कीचड़ में ही वह कमनीय-कंज ढूँढ़ लेता है।

तुलसी ने इसी प्रक्रिया से चल कर वह रत्न पा लिया था :

"जड़ चेतन जग जीव जत सकल राम मय जानि।
बंदउँ सब के पद-कमल सदा जोरि जुग पानि॥"

और जो सहृदय पुरुष इस पंकिल पृथ्वी में ही अपनी साधना की चरम सिद्धि, जीवन का उज्ज्वल लक्ष्य खोज लेता है, और जो कल्पना का अपूर्व-धनी अगम्य-लोक के निवासी उस अगोचर 'निरंजन' को—उस देवाधिदेव को भी—प्रेम-पाश में बाँधकर, ममता के इस मृत्यु-लोक में मरण-त्योहार मनाने वाले मानवों की गोद में

उतार कर, उस 'निर्विकार' को भी हँसा-रुला सकता है, और रीझ-खीज के जंजाल में डालकर भी जो उसे—"जगत प्रकाश्य प्रकाशक रामू"—के ऊँचे-से-ऊँचे पद से कभी जरा भी खिसकने नहीं देता है, विधाता से भी विराट् उस महात्मा की ममता और उसकी आत्मीयता की अगाधता कौन आँक सकता है ? मरणोन्मुख मानव के महत्त्व को इतना ऊँचा उठाने वाला, दीन-दुर्बल मनुष्य को इतना प्यार करने वाला, मिट्टी के इन क्षण-भंगुर पुतलों के पागल-प्रेम को इतना मूल्यवान् बना देने वाला और कौन होगा ? वही न—जिसने सगर्व उद्घोषित किया है :

"रीझत राम सनेह निसोतें। को जग मंद मलिन मति, मोतें ॥"

फिर उसके प्रशंसकों में ऐसा कौन अनभिज्ञ होगा, कौन ऐसा मूढ़ होगा जो ममत्व के ऐसे मृदुल-मंजुल मूर्ति-रूप को अपने से अलग, अपने से दूर मान कर उसे चमत्कारों की दुनिया में ढूँढ़ता फिरेगा ?

यही कारण है, कि आज शती-पर-शती बीत गई है, पर तुलसी की लोक-प्रियता, घटने के बजाय, दिन-पर-दिन यों बढ़ती जाती है, कि विस्मय-विमुग्ध हो जाना पड़ता है। और यह तो निर्विवाद बात है, कि तुलसी की यह पल-पल वर्धमान् लोक-प्रियता उनके अलौकिक चमत्कारों पर आश्रित नहीं है—वह तो सोलह आने उनकी कवि-प्रतिभा का प्रसाद पाकर ही पल्लवित और पुष्पित होती चली आई है। आज जन-जन के मन-प्राणों में तुलसीदास, सन्त की अपेक्षा कहीं अधिक, कवि के रूप में ही विराजमान हैं—इसमें दो मत नहीं हो सकते।

लेकिन यह भी एकदम मिथ्या नहीं है, कि दिन-रात उस महाकवि की गोद में मचलते रहने पर भी तुलसी के बहु-संख्यक श्रद्धालु पाठक उनके कवि-रूप को पहचानना नहीं चाहते—सन्त-महात्मा मान कर ही विमूढ़ भाव से, उन पर अपनी 'श्रद्धाञ्जली' चढ़ाते चले जाते हैं। और इसका सबल कारण यही हो सकता है, कि जो गर्व-गौरव उन्हें चमत्कारी पुरुष मानने में अनुभूत होता है, कवि मानने में वह अनूठी कृतार्थता उन्हें नहीं हो पाती है।

इसी मनोवृत्ति का यह परिताप-प्रद परिणाम है कि मानव-जीवन के विशाल विश्वासी-साथी होते हुए भी, तुलसीदास अपने बहु-संख्यक पाठकों के जीवन में गहराई से बहुत कम झाँक पाते हैं। अधिकांश पाठक तो उन्हें अपने से दूर, अत्यन्त ऊँचाई पर रखकर, उनकी पूजा-अर्चा ही करते रह जाते हैं। यही नहीं, कवि का वह जीवन-गान—उसका वह 'रामचरित मानस' भी तो आज घर-घर अधिकांश में उसी अतल-स्पर्शी पूजा-पाठ का पात्र हो रहा है। तुलसी की वह अद्भुत वाग्विभा—उनकी वह रस-वर्षिणी सरस्वती—अक्सर अक्षत-चन्दन से ही चर्चिता, पत्र-पुष्पों से ही पूजिता, धूप-दीप से ही आलोकिता एवं झाल-ताल के कण्ठों में ही कल-कल्लोलिता बनी रह जाती है—गायकों के गले के नीचे वह कम ही उतर पाती है। कुतूहल-प्रिय वे पाठक प्रायः बीज-मन्त्रों के साथ उसका शत-सहस्र पारायण कर जाते हैं, उसके सारे-के-सारे

पन्ने रट जाते हैं—जिह्वा पर चढ़ा लेते हैं, परन्तु, काया-पलट करने वाले उसके 'आदर्श' को जीवन में उतारने की चिन्ता उनसे प्रायः दूर ही रह जाती है ! उनकी भय-विह्वल श्रद्धा शतधा होकर प्रायः यही दुहराती देखी जाती है :

"यह चरित जे गावहिं हरिपद पावहिं ते न परहिं भव-कूपा।"

सच बात तो यह है, कि तुलसीदास का अमर शरीर काव्य-रूप में ही हमारे सामने विराजमान है। उसे जन-जीवन में उतारने के लिए उसके रचयिता के कवि-रूप को ठीक-ठीक पहचानना सबसे जरूरी शर्त है। इसके लिए उनकी 'वाग्विभूति' से हमारी घनिष्ठता बढ़े—हमारी रसज्ञता तीव्र हो, तभी तो कवि का कान्ता-सम्मित वह उपदेश हमारे गले से उतरकर जीवन के मर्म-मधुर रस में भींग सके।

तुलसीदास का जीवन जैसा पारदर्शी था—बाहर-भीतर जैसा एक-सा अमल-विमल था—उनका काव्य-कलेवर वैसा सरल-सपाट नहीं है। वह तो उन्हीं के शब्दों में :

"गति कूर कविता सरित की ज्यों सरित पावन पाथ की"—की भाँति उच्च कोटि की साहित्यिक गरिमा से गुम्फित है। उसे आत्मसात् करने के लिए तो हमें शब्द-शक्तियों की विचित्र क्रीड़ाओं से पूर्ण-परिचित होना आवश्यक है। कवि ने कहीं-कहीं इसका संकेत भी कर दिया है :

"आखर अरथ अलंकृति नाना। छंद प्रबंध अनेक बिधाना॥
भाव-भेद रस-भेद अपारा। कबित दोष-गुन बिबिध प्रकारा॥"

अतएव साहित्य-देवता की शरण में पहुँचे बिना, उसके इंगितों पर चले बिना, वह कमनीय काव्य-मंजूषा हमारे सामने सहज रूप में खुलेगी कैसे ? और रसानुरागी, रसाभ्यासी, शब्द-पारखी तथा वाङ्मय-विलासी जन जब—"गिरा अरथ जल-बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न"—की अभिन्नता पहचान लेंगे, तभी तो काव्य-गत सूक्ष्म सन्देश को वे सोल्लास उदरस्थ कर सकेंगे।

यही नहीं :

दृष्टि-भेद :

महाकवि तुलसीदास एक विश्व-व्यापिनी एवं रहस्य-भेदिनी दृष्टि भी लेकर भूतल पर उतरे थे। उन्होंने विश्व-मानव की नित्य उलझती जाती जटिल समस्याओं का एक शाश्वत हल भी ढूँढ़ निकाला था। उनका वह समाधान 'दृष्टि-भेद' के विश्लेषण में ही समाया हुआ है। और सच भी तो यही है, कि मानव-जगत् की सभी समस्याएँ 'दृष्टि-भेद' के कारण ही जटिल बनती आई हैं, और जगत् की ओर दृष्टिपात् करने की यह भिन्नता ही अनादिकाल से 'युग-मानव' को छिन्न-भिन्न करती रही है। 'मैं और मेरा', 'तू और तेरा', 'वह और उसका'—यही वह भेदात्मक दृष्टि है, जो दिव्य-मानव को प्रायः दुर्धर-दानव में बदलती रहती है।

यही नहीं :

सामाजिकता :

यथार्थ में मानव मूलतः सामाजिक जीव है। समाज की रचना करके ही वह सुरक्षित रहता आया है। लेकिन उस रचना को उसका 'दृष्टि-भेद' ही त्रस्त-ध्वस्त करता आया है। और दृष्टि-भेद की यह उकसाहट असंदिग्ध रूप से उसे प्रकृति से ही प्राप्त होती रही है। सृष्टि के मूल में विधाता की जो अद्‌भुत 'भेद-दृष्टि' देखी जाती है, प्रति पदार्थ की रचना में रूप-रंग, गुण-गौरव, बल-विक्रम, मेधा-प्रतिभा का जैसा विचित्र विषम-वितरण पाया जाता है, 'अहं' का पुजारी मानव उसी को आधार बना लेता है, और, मौका मिलते ही, समाज के बीच अपने को पूज्य और प्रतिष्ठित देखने के लिए, कल-बल-छल से आकाश-पाताल एक करता रहता है।

मानव-संसार के समस्त संघर्षों, समस्त समस्याओं तथा समस्त शंकाओं का मूल इसी 'दृष्टि-भेद' में छिपा हुआ है। और जब तक इस दृष्टि-भेद का अन्त नहीं होता है, तब तक सामाजिक सुख-शान्ति उसे प्राप्त नहीं हो सकती है। और 'अहं के पुजारियों' की यह दृष्टि तब तक नहीं बदली जा सकती है, जब तक लोक-मानस के सामने 'अभेद-दृष्टि' वाले किसी विराट् विभु को, परम आकर्षक रूप में सजा कर, खड़ा न कर दिया जाए। केवल आदेश-उपदेश, प्यार-पुचकार, डाँट-डपट या दंड-पुरस्कार के बल पर दृष्टि-परिवर्तन में स्थायी सफलता नहीं प्राप्त की जा सकती है—यह तो अचल ध्रुव ही है।

रसात्मक झूला :

मानव के मचलते मन को, उसके प्रचण्ड 'अहं' को, उसकी चिर-अतृप्त लोभ-लालसा को संयत करने के लिए तो सँपेरे की भाँति वह मोहिनी तुंबी ही फूँकनी होगी, जिससे 'अहं' का वह विषधर, अपना फण-फूत्कार समेट कर, नीरव गति से पिटारी में बंद हो जाए। इसके लिए हमारे चिर-क्षुधार्त नेत्र और चिर-तृषित मन के सामने एक 'रसात्मक झूला' डालने की जरूरत होती है, जिस पर आह और आह्लाद के साथ, अनजान में ही, दूसरों की आह-कराह सुनकर, मानव का उद्धत मन, विह्वल होकर विगलित हो उठे और दौड़कर दग्ध-दुःखी वसुधा को सोल्लास अपनी छाती से लगा ले।

हृदय-परिवर्तन का यह दुस्साध्य-कार्य किसी मुनि-महात्मा के चमत्कार से सहज-साध्य नहीं हो सकता है। जादू का यह अद्‌भुत खेल तो कोई विधाता से भी बड़ा, कोई रस-मग्न महाकवि ही दिखा सकता है। इसी लिए तो जनसाधारण में यह कहावत प्रचलित है :

"जहाँ न जाय रवि, तहाँ जाय कवि।"

ऐसे कुछ यशःकाय कवियों की चर्चा यहाँ रुचिकर होगी।

निदर्शन :

गहन-अरण्य में रहने वाले एक सत्कुलोद्भव 'रत्नाकर' नामधारी व्यक्ति, प्रति-

कूल परिस्थितियों में पड़कर, दुर्दम-दस्यु बन गया और सत्पुरुषों को सता-सताकर अपने चतुर्दिक् घोर आतंक फैलाने लगा। संयोग से उसकी परिस्थिति पलटी, अचिन्तित आघात पाकर उसका सुप्त संस्कार जगा और अकल्पित साधना करके, नृशंस-डाकू से, वह मुनि-पुंगव 'वाल्मीकि' बन गया। इतना होने पर भी उसका जीवन-पुष्प पूर्ण-रूप से खिला नहीं। कृतार्थ तो हुआ वह तब, जब उसके अगम्य-अन्तर में सोया विराट् वाग्देवता हठात् चौंक उठा और 'क्रौञ्च-वध' के कारण उसके तृषित हृदय-उत्स से रस का अमर-निर्झर हाहाकर करके फूट पड़ा। वाल्मीकि का वह वाग्वैभव, उनकी वह 'रामायण', उनका वह महाकाव्य ऐसा अद्भुत और अनूठा हुआ, कि देखते-देखते उसने आसेतु-हिमालय को अपने स्वर-माधुर्य में लीन कर लिया। और सहस्र-सहस्र कण्ठों से सहसा वाल्मीकि-वन्दना का एक मृदुल-मंजुल अभिनन्दन चतुर्दिक् से उमड़कर दिग्-दिगन्त को कल-कल स्वर से भर गया :

"कूजन्तं रामरामेति मधुरं मधुराक्षरम्। आरुह्य कविता-शाखां वन्दे वाल्मीकि-कोकिलम्॥"

वाल्मीकि के उस विराट्-गान का ऐसा हृदय-हारी, ऐसा विस्मयोत्पादक, ऐसा मुग्धकर प्रभाव भारतीय जन-मानस पर पड़ा, कि उसका नायक नरोत्तम नरनाथ—वह राम—अपने युग का ही नहीं, युग-युग का 'आराध्य' देव बन गया। दुर्जय रावण-जयी वह "राम" चाहे जैसा भी धीर-वीर क्यों न रहे हों, अगर वह वाल्मीकि के अनन्तोर्म्मिल रस-स्राव में नहीं पड़ते, तो उनका यश-सौरभ कदाचित् ही इतना व्यापक और मनोहर बन पाता। सत्य तो यही है, कि लंका-विजयी 'राम' प्रधानतया कवियों की कृति हैं—वाल्मीकि, भवभूति, कंबन, तुलसी के सदृश महाकवियों ने ही उन्हें "रघु पति राघव राजा राम" के सामान्य धरातल से उठाकर "पतित पावन सीताराम" के उन्नत पद पर पहुँचा दिया है।

वाल्मीकि के हजारों वर्षों के बाद 'कंबन' और 'तुलसी' ने उसी 'परम पुरुषोत्तम' को अति-आतुरता के साथ पकड़ा और अपनी प्रोज्ज्वल प्रतिभा के चाक पर चढ़ा कर उसे ऐसा महिमा-मण्डित बना दिया, कि उस मानवोत्तम को कोटि-कोटि जनों का 'मुक्ति-दाता' भी बन जाना पड़ा। वाल्मीकि की विराट् वासना में कूद कर क्षीर-सिन्धु-शायी विश्व-विभु 'राम' धूल-भरे भूतल पर उतराए, मरणशील मानवों के साथ उन्होंने स्नेह-सम्बन्ध स्थापित किया और उनके साथ निरन्तर चलते हुए भी वह अपने असली रूप को सावधानी से छिपाए ही रहे। शतियों के पश्चात् भक्त-कवि 'कंबन' और संत कवि 'तुलसी' ने, इसी लिए, स्थल-स्थल पर वह 'पर्दा' उठा दिया है, जिससे जगत् उनका 'अनन्त' रूप अपनी आँखों से ओझल न होने दे। यह परवर्ती भक्ति-आन्दोलन का प्रतिफल था।

मनु-शतरूपा तथा कश्यप-अदिति से लेकर दशरथ-कौसल्या तक जो रूप उस 'विश्व-विभाकर' का विख्यात था, मिट्टी की मूरतों के पास पहुँचते ही वह रूप 'काम्य' नहीं रह गया। उसकी माँ बनने वाली कौसल्या ने आतुरता के साथ उससे अनुरोध कर दिया :

"कीजै सिसु-लीला अति प्रिय सीला यह सुख परम अनूपा।"

उस अनुपम 'सुख' का जादू ऐसा जबरदस्त साबित हुआ, कि तुलसी की कौसल्या ने विश्वात्मा के असली रूप को फिर कभी अपने पास फटकने नहीं दिया। समन्वय की यह साधना 'कंबन' और 'तुलसी' की मोहक मौलिकता है। किन्तु सबसे बड़ी विशेषता तो उनकी काव्य-कला में यह आ गई है, कि जान-पहचान कर भी, हम उस असामान्य 'राम' को सामान्य-रूप में ही प्यार करना चाहते हैं। भारत के माँ-बाप राम-सा 'बेटा' चाहते हैं, भाई-बन्धु राम-सा 'भाई' चाहते हैं, सती-साध्वी राम-सा 'पति' चाहती है, मित्र राम-सा 'मित्र' ढूँढ़ता है और रावण-सा रिपु भी राम-सा 'प्रतिद्वन्द्वी' ही खोजता-फिरता है! शक्ति, शील और सौन्दर्य का ऐसा अद्भुत एकीकरण तमिल की 'कंब-रामायण' और तुलसी के 'रामचरित मानस' के अतिरिक्त और कहाँ पाया जाता है? इसी का प्रभाव था, कि भक्त-कवियों के 'राम' भारतीय जन-मानस में ऐसे डूब गए, कि नर और नारायण का, पूज्य और प्रिय का, ईश्वर और जीव का भेद मिट-सा गया।

कवि कि सृजन-शक्ति और उसकी कलात्मक अभिरुचि का सबसे अधिक अनूठा रूप इसी अनन्त और सान्त के समन्वय में उद्भासित हो उठा है।

किन्तु मानव तो 'भेद-भूमि' पर खड़ा हुआ है। वह तो भेद-भाव से इस तरह चिपका हुआ है, जैसे साँप केंचुली से जकड़ा रहता है। और उसकी यह केंचुली तो तभी छूटेगी, जब 'अभेदात्मक' दृष्टि उसे मिल जाए। और महाकाव्य का यही चरम लक्ष्य होता है—भेद में अभेद की स्थापना। महाकाव्य का एकमात्र अभीप्सित होता है मानव का 'मनोमन्थन' और उसका उन्नयन। इसी एक केंद्र-विन्दु पर कवि-कर्म का सारा कौशल चक्कर काटता रहता है।

तुलसी का 'रामचरित मानस' इसका मनोज्ञ उदाहरण है। मनोमन्थन की प्रक्रिया पर ही वह अपने लक्ष्य-भेद पर—अभेद की स्थापना पर—पहुँच सका है। और यह मनोमन्थन विशुद्ध सामाजिकता के आधार पर ही अपनी विभा बिखेर सकता है। इसी लिए महाकाव्य का रंग-स्थल होता आया है समाज। और इसी निमित्त समाज के उत्थान में महाकाव्यों का प्रबल हाथ रहता आया है। तुलसी के महाकाव्य में भी इसकी प्रधानता पाई जाती है।

तुलसीदास अपने समाज के कई ऊबड़-खाबड़ स्तरों को पार करके ऊँचे आसन पर आए थे। उनका अनुभव बहुत विशाल और ज्ञान गहन-गम्भीर था। बचपन से ही दुःख-दैन्य के कडुए फल चखते-चखते जब वह यौवन की सीढ़ी पर चढ़े और 'रत्नावली' के रूप-लावण्य में उलझ कर अपने लक्ष्य को भूलने लगे, तभी अनपेक्षित रूप से व्यंग्य का एक ऐसा तीक्ष्ण-बाण उनकी छाती में लगा, कि वह सहसा उलट गए; और प्रेम-उमंग का उनका वह पागल प्रवाह, नारी का सुरभित आँचल छोड़ कर, 'सीता-राम' के दिव्य चरण चूमने दौड़ पड़ा।

प्रवाह अपना पथ बदल दे सकता है, धारा एक ओर से दूसरी ओर मुड़ जा सकती है, पर उसका संचित 'जीवन-रस' तो बदला नहीं जा सकता है। और नर के जीवन का वह 'रस' तो नारी के हाथों ही वितरित होता आया है। समुद्र-मन्थन के बाद देव और दानवों के बीच 'अमृत-वितरण' की जो कथा हम अति-पुरातन काल से कहते-सुनते आए हैं, थोड़ी देर के लिए उसे भुला भी दें, पर तमसा-तीर पर विचरण करने वाले उस मुनि-पुंगव 'वाल्मीकि' को तो किसी प्रकार भुलाया नहीं जा सकता। पति-परित्यक्ता रुदन्ती सीता को अपने आश्रम में लाने के बाद ही वाल्मीकि का संवेदनशील हृदय अतल-तल से कुड़क उठा था। 'क्रौञ्च-वध' से तो उन्हें अपने कवि-रूप का धुँधला परिचय-मात्र हुआ था; पर उनकी काव्य-सरिता तो सन्तप्ता 'सीता' का अगाध, निर्मल, उष्णाश्रु पाकर ही उमड़ पड़ी थी। पश्चिम के महाकवि 'दान्ते' के महाकाव्य 'डिवाइन कामेडी' के मूल में भी एक नारी की प्रेरणा ही काम करती पाई जाती है। कवि-कुल-तिलक कालिदास की प्रतिभा भी तो नारी की ठोकर खाकर ही, एक अद्भुत प्रतिस्पर्धा के साथ, जग पड़ी थी। 'सूर' का सागर भी एक सुन्दरी के सहारे ही गरज उठा था। विद्यापति की 'पदावली' रानी लखिमा देई के ही अरुण-चरण चूमती दीख रही है। बंगाल के प्रचण्ड प्रेमी-कवि चण्डीदास अपनी रजक-रमणी 'रामी' की ही रट लगाते समाज को हिला-डुला गए थे। आधुनिक कवियों की कहानी कौन कहने-सुनने जाए—उनके नयनों में तो निश्चल रूप से नारी ही नाचती रहती है।

तीखे तीर खाकर, घायल हरिण की भाँति, तुलसीदास ने अपनी प्राण-प्रिया 'रत्नावली' से मुँह मोड़ लिया था जरूर, पर यह भी निस्संकोच कहा जायगा, कि वह निरुपमा, नयनाभिराम, काव्य-कोमला नारी उनकी आत्मा में अचल आसन जमाए रह गई। उस दर्प-दीप्ता नारी ने, निकम्मे हो रहे मोहान्ध तुलसी के जीवन को, सहसा ऐसा पलट दिया—उसकी आँखों में उँगली डाल कर उसे ऐसा दिव्य दर्शन करा दिया, कि फल-स्वरूप वह एक विमूढ़ मानव ही धन्य न हुआ, केवल एक उसी का युग धन्य नहीं बना, बल्कि, उसकी काव्य-कल्लोलिनी में अवगाहन करके युग-पर-युग धन्य होता चला जा रहा है।

मानव-समाज के केन्द्र-स्थल में निर्द्वन्द्व रूप से नारी का निवास है—नारी के अप्रतिम प्रेम-पालने में झूलकर, उसी की मृदु-मन्द लोरियाँ सुनकर, उसी की स्नेह-ऊर्मिल आँखों में आँख डालकर, उसी की ममत्व-मय चूम-पुचकार से चौंककर, उसी के प्रेम-विह्वल वक्ष से चिपककर 'नर' सोल्लास नयनोन्मीलन करता आया है।

फिर मानव का महाकाव्य—उसका रसार्णव—नारी की भ्रू-भंगिमा पर ही क्यों न नाचता चले?

प्रस्तुत प्रयास :

और आज का यह युग तो नारी-स्वातन्त्र्य का स्वर्ण-युग ही माना जायगा—जहाँ दिगन्त में नारी की ही विजय-वैजयन्ती उड़ती दीख पड़ती है। और यह इस युग

का ही प्रभाव है, कि आज जहाँ-तहाँ से युग-उन्नायकों की वक्र-अनामिका तुलसी की नारी-भावना पर उठ रही है ! अतएव यह परम आवश्यक है, कि तुलसी के 'मानस' की मुख्य-मुख्य महिलाओं को सामाजिकता की पार्श्व-भूमि पर रख कर, यथाशक्य, तुलनात्मक तथा मनोवैज्ञानिक दृष्टि से परखा-पहचाना जाए—जिससे उनके यथार्थ मूल्यांकन में मदद मिल सके।

तुलना के हमारे मुख्य ग्रन्थ होंगे आदिकवि वाल्मीकि और कंबन के महा-काव्य। 'कंबन' सुदूर दक्षिण भारत के चेर-चोल राज्याश्रित भक्त महाकवि थे। उनका समय कोई-कोई ईसा की नवीं और कोई-कोई १२ वीं शताब्दी मानते हैं। आधुनिक विद्वान् १२ वीं शताब्दी को ही, अन्तः-साक्ष्य के आधार पर, विश्वसनीय समझने लगे हैं।

आदिकवि वाल्मीकि की रामायण के बाद, भारतीय भाषाओं में, 'कंबन' का ही प्रथम राम-काव्य है। तुलसी और कंबन में कई शताब्दियों का अन्तर है। और यह तो निश्चित ही है, कि तुलसी कंबन की मातृ-भाषा 'तमिल' के ज्ञाता न थे। फिर भी कई अंशों में तुलसी का 'मानस', वाल्मीकि की अपेक्षा, कंबन की रामायण के ही अधिक निकट जान पड़ता है। समय, स्थान और भाषा के व्यवधान के बावजूद दोनों काव्यों में जो समानता आ गई है वह भाव की 'एकता' ही मानी जायगी। दोनों परम भक्त थे, दोनों का हृदय एक रस से उद्वेलित था, दोनों का भाव एक दिशा में गतिशील था; अतः दोनों की कल्पना भी एक आकाश में उड़ी। फिर भी एक 'राजाश्रय' में रहने वाले और दूसरे 'साधना-गुहा' में समाधिस्थ होने वाले कवि में जो अन्तर अनिवार्य था, वह दोनों के काव्यों में स्पष्ट हो गया है। कंबन का काव्य प्रधानतया राजकुलोचित तड़क-भड़क, चमत्कार, अलंकार-विधान-और भोग-विलास के बीच से प्रवाहित हुआ है। कंबन के आराध्य-राम भी क्षीरशायी 'विष्णु' के ही अवतार हैं, उनका रावण भी सीता के प्रेम में प्रचण्ड 'पागल' दीख पड़ता है। तुलसी इस विषय में दोनों (वाल्मीकि और कंबन) से कतराते चले हैं—उनकी रुचि अलग है, उनकी प्रवृत्ति अलग है और उनका प्रयास भी पृथक् है। उनके 'मानस' के राम क्षीर-शायी विष्णु नहीं, विश्वात्मा-विभु हैं—जिनके उपासक चतुरानन, पंचानन और चतु-र्भुज भी हैं। तुलसी की कविता में ऐकात्म्य साधन-संभूत दिव्यता और गूढ़ मनोवैज्ञानिक विशेषता की छाप बैठ गई है। वाल्मीकि में कवि की विराट्-वासना, सहस्र भुजा उठाए, शतधा दौड़ पड़ी है—जिसकी स्पर्धा में खड़ा होना शायद विश्व-वाङ्मय के शिखरा-सीन कवियों को भी कष्ट-कर हो जाएगा।

इस सम्बन्ध में दक्षिणी विद्वानों के कुछ कथन स्पृहणीय हैं :

"Every day that I read that epic (Valmiki Ramayana) my opinion gains strength that it is one of the greatest epics that ever were composed by man, I should call it the greatest epic, but I just shrink from the statement because I have no accquaintance with the originals of epics comparable to it in date and extents".

The R. T. Hon. V. *S. Srinivasa Sastri.*

"..The chastening effect of the Epic on the minds of men comes out of the study of it as the unfolding of the drama of the highest human life. So at any rate it seems to me."

T. R. Venkataraman Sastri.

" It is no exaggeration to say that Valmiki's Ramayana almost superseded the Vedas and the Smritis as the fountain source of Hindu religion and morals. Of these attempts, the Ramayana of Kamban in Tamil and that of Tulsidas in Hindi stand foremost. They are often considered superior to the original by their enthusiastic admirers. I do not subscribe to this view. Taken as a whole, I think Valmiki's Ramayan is incomparable in its simplicity, dignity and power to move the mind. It is nevertheless true that for sheer beauty of language and delicate portrayal of character and emotion Kamban ordinarily equals and often excels Valmiki."

K. Santanam.

" It is, however, my purpose in this book to make and attempt to prove that in the Ramayan of Kamban the world possesses an epic which can challenge comparison not merely with the Iliad and the Aeneid, the Paradise Lost and the Mahabharata, but with its originals itself, namely, the Ramayana of Valmiki—."

V. V. S. Iyer.

" Kamban, the Tamil poet of Ramayana, follows Valmiki closely in many places where Tulsi differs. Although Kamban carefully follows Valmiki, he adds many beautiful passages out of his own imagination. With a touch here and a touch there, Kamban manages skilfully to disentagle, many knots. The changes he makes are very few, while Tulsi deals freely with the story, taking such liberties as he likes with the story as the great 'Bhakta' may who has made his god his own by self-forgetting surrender.

"All Valmiki's characters are human being with heightened human qualities. It is only under great stress or in exceptional circumstances that divinity shines faintly through the human nature. In the time of Tulsidas, Bhakti had reached its noon-day heights. It shone dispelling every shade. Though Bhakti pre-dominates in Kamban's picture also, he contrives to retain the humanity of Valmiki's characters and in places makes them even more beautiful."

C. Rajagopalachari.

काव्य में इतिहास, जीवन-वृत्त, दर्शन या अध्यात्म को ढूँढ़ना समीचीन नहीं कहा जाएगा, क्योंकि काव्य प्राचीनकाल से 'रसात्मक' माना जाता है। हाँ, कवि की दृष्टि उस रस-धारा को चाहे जिस भूमि पर उतार दे।

तुलसी राजाश्रय में नहीं पले थे, राज-दरबार के प्रलोभन-प्रोत्साहन से उनकी

प्रतिभा प्रफुल्लित नहीं हुई थी, भीड़-भड़क्के वाली तालियों की गड़-गड़ाहट और वाह-वाहियों से भी वह परिचित न थे। पुरस्कार और प्रकाशन ने उन्हें कभी अस्थिर नहीं किया। बाहर से चोट खा, अन्तर से आकुल होकर, और अपनी आकुलता में विश्व-सृष्टि की व्याकुलता को मुँह छिपाए देख कर, तुलसी अन्ध-गुहा में जा बैठे और अपने अन्तर को टटोल-टटोल कर जो समाधान उन्होंने ढूँढ़ा, जो संजीवन-सुधा बटोरी, उसी को 'स्वान्तः-सुखाय' अपने 'मानस' में भर दिया।

'मानस' उनका अपना था, पर उसके नायक 'राम' तो बहुतों के हाथों बढ़ते आए थे। इसीलिए कथा पुरानी होने पर भी उन्होंने एक मौलिक कलाकार के नाते उसे गढ़-छोल कर अपनी दृष्टि के अनुरूप नया बना लिया। तमिल के महाकवि कंबन को वाल्मीकि की कहानी में परिवर्तन करने का साहस नहीं हुआ है; हाँ, यत्र-तत्र अपनी ओर से उन्होंने कुछ परिवर्धन जरूर कर दिया है। किन्तु तुलसीदास ने 'राम' को ऐतिहासिक दृष्टि से नहीं, अपनी साधनात्मक दृष्टि से देखा था। इसी लिए आधार उन्होंने अपनी 'दृष्टि' का ही लिया है।

यही कारण है कि तुलसी के 'मानस' के आरम्भ में ही 'शिव-चरित्र' का सन्निवेश हुआ है, परशुराम का आगमन विवाहोत्सव के पूर्व ही हो जाता है, क्रोधी होते हुए भी तुलसी के 'लक्ष्मण' दशरथ के प्रति आदिकवि-सी न उद्दण्डता दिखाते हैं, न कैकेई के राज्य को उलट देने की व्यग्रता ही बताते हैं। उनके 'भरत' भी वाल्मीकि के भरत से बहुत-कुछ भिन्न जँचते हैं। तुलसी की 'चित्रकूट सभा' तो अपनी भव्यता एवं दिव्यता में कोई सानी ही नहीं रखती है—जैसे वह 'सभा' कवि की अन्तर्भूमि पर ही बैठी हो।

वाल्मीकि के 'राम' नारायण की अपेक्षा 'नर' अधिक हैं, किन्तु तुलसी के 'राम' विश्वात्मा-विभु होते हुए भी, नर-लीला कर रहे हैं। तुलसी अपने 'मानस' में संकल्प-बद्ध-से हैं कि वह अपने 'राम' पर कोई आँच न आने देंगे—उनके चरित्र को वह आक्षेप-शून्य रखेंगे। इसी लिए उनके 'सीता-राम' में राज्याभिषेक के बाद फिर कभी विछोह नहीं होता।

विराट् वासना वाले वाल्मीकि वनवासी थे। वन और मानव दोनों जीवन उनके लिए सुन्दर थे, सुविस्तृत थे, सघन थे और थे दुष्ट-जीवों से भी आकीर्ण।

तुलसी मुख्यतया अन्तर्मुखी हैं—प्रकृति की ओर यदा-कदा ही उनका मन आकृष्ट होता है। उनके सामने सदा दो ही तत्त्व प्रत्यक्ष थे—आत्मा और विश्वात्मा विभु। लेकिन क्या इन्हीं दो तत्त्वों में सृष्टि का सारा 'रहस्य' समाया हुआ नहीं है? और उस 'रहस्य' के मूल में क्या 'नारी' नहीं झाँक रही है? और यह 'नारी' क्या मानव के मानस-जगत् में अविराम झूल नहीं रही है?

तुलसी का 'मानस' इसी लिए मनोविज्ञान-प्रधान बन गया है। अतः 'मानस की महिलाएँ' अब उसी कसौटी पर कसी जाएँ।

—लेखक

दण्डकारण्य में विप्लव-जाल

"जब जब होइ धरम कै हानी ।
बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी ।।"

"करहिं अनीति जाइ नहिं बरनी ।
सीदहिं बिप्र धेनु सुर धरनी ।।"

"तब तब प्रभु धरि बिबिध शरीरा ।
हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा ।।"

"असुर मारि थापहिं सुरन्ह
राखहिं निज श्रुति सेतु ।
जग बिस्तारहिं बिसद जस
राम जनम कर हेतु ।।"

"बाढ़े खल बहु चोर जुआरा ।
जे लंपट परधन परदारा ।।"

"मानहिं मातु पिता नहिं देवा ।
साधुन्ह सन करवावहिं सेवा ।।"

"जिन्ह के यह आचरण भवानी ।
ते जानेहु निशिचर सब प्रानी ।।"

—तुलसी

असत् का आतंक :

'रामचरित मानस' में सर्वप्रथम सदाशिव की संगिनी 'सती' का चरित्र ही सामने आता है।

सत्-असत् की दृष्टि से देखा जाय, तो 'सती' (सत् से अन्वित) का वह युग बड़ा ही रोमांचकारी प्रतीत होगा।

उस समय लोक-त्रासक, साम्राज्य-विस्तारक, आतंक-प्रसारक एवं 'असत्' का अधीश्वर 'रावण' अपने अत्याचार से समस्त त्रैलोक्य में हड़कम्प मचाये हुए था। साधारण मनुष्य की तो बात ही क्या, ऊँचे लोकों के निवासियों की भी नींद हराम हो रही थी। स्वर्ग-लोक के स्वामी 'देवेन्द्र' को भी गद्दी छोड़कर उसकी गुलामी करनी पड़ी थी। किसी का जान-माल, किसी की इज्जत-आबरू, किसी की बहू-बेटी सुरक्षित नहीं थी। बड़े-से-बड़े नरेशों को भी नत-मस्तक होकर उसकी हाँ-में-हाँ मिलानी पड़ती थी।

'रावण' ने विशाल विश्व की विपुल विभूतियाँ बटोर कर समुद्र से घिरी अपनी राजधानी को ऐसा सुरक्षित, ऐसा श्रीसम्पन्न एवं ऐसा आकर्षक बना लिया था, कि वह 'सोने की लंका' कही जाती थी। उसकी कुछ-कुछ कल्पना आज के लण्डन, पेरिस, न्यूयार्क, मास्को या पेकिंग से की जा सकती है।

सत्कर्म करने की स्वतन्त्रता उस युग में किसी को नहीं थी। पूजा-पाठ, यज्ञ-याग, ज्ञान-ध्यान, साधन-समाधि, तप-तीर्थ—सभी में 'रावण' के बल-गर्वित अनुचर बाधा डालने को सिर पर सवार रहते थे। सत् का लोप करके असत् का साम्राज्य स्थापित करना ही 'रावण-राज्य' का ध्येय-सा बन गया था।

इस प्रकार सत् के उपासकों के हृदय-हृदय में एक दबी आह और सागर के हाहाकार-सा एक संचित-कराह भरा हुआ था। लेकिन जमाना कुछ ऐसा जालिम था, कि खुलकर रोना भी अपराध में शुमार था—जैसा कि भारतीयों ने अंगरेजों की गुलामी में कुछ महसूस किया था।

क्रूर-कसाई के हाथों में पड़ी हुई भय-कातरा भोली गाय की शकल-सूरतवाली यह धूल-धूसरा 'धरनी' अपना दुःख-दर्द सुनाने को दर-दर का चक्कर लगा रही थी, लोक-नायकों के पास पहुँच कर आठ-आठ आँसू बहाती थी, रक्षा की भीख माँगती थी, पर सब पर 'रावण' का ऐसा रोब गालिब था, कि कोई उसे सहारा देने का साहस नहीं कर पाता था। 'मानस'-स्रष्टा के शब्दों में :

"निज सन्ताप सुनाएसि रोई। काहू तें कछु काज न होई॥"

धरती ने रो-धोकर सबसे अपना सन्ताप सुनाया, अपनी कष्ट-कथा कही, पर किसी से कोई काम न हो सका—डर के मारे सब ने अपनी असमर्थता ही दिखाई।

सब सरगनों को यों कतराते और बगलें झाँकते देखकर गो-रूप-धारिणी पृथ्वी जब सारे संसार को बनानेवाले बूढ़े 'विरंचि बाबा' के पास पहुँची, तब चतुरानन भी सकपका-से गये :

"ब्रह्माँ सब जाना मन अनुमाना मोर कछू न बसाई ॥"

वृद्ध ब्रह्मदेव ने धरती का दुःख-दर्द सब जान लिया, अत्याचार-पीड़िता एवं शोक-सन्तप्ता अपनी सृष्टि के साथ उनकी व्याकुल सहानुभूति भी हुई, उन्होंने कुछ करना भी चाहा, परन्तु जब मन में 'रावण' की शक्तियों का स्मरण हुआ, तब उन्हें साफ मालूम हो गया—'इसमें मेरा कोई वश नहीं चल सकता है—मेरे किये कुछ नहीं हो सकता है !'

कारण यह था, कि उस अत्याचारी ने तपस्या करके 'ब्रह्म' और शिव से अपार-अमोघ बरदान प्राप्त कर लिये थे। अब अपनी उस भूल के आगे उन वर-दाताओं को खुद सिर झुकाना पड़ रहा था। आज भी देखा जाता है, कि जनता के बल पर जब कोई जन-नायक ऊँचे पद पर जा पहुँचता है और स्वार्थी बनकर मनमानी करने लगता है, तब जन-समुदाय में कैसा क्षोभ, कैसी कुण्ठा और कैसी बेचैनी बढ़ जाती है !

ब्रह्मा विश्व-विधाता थे, अपनी ही प्यारी धरती पर इतना बड़ा अत्याचार होते देखकर 'बूढ़े बाबा' को कितना कष्ट हुआ होगा, साथ ही इस अत्याचार में अपने ही 'वरदान' का बड़ा हाथ देखकर उनका अनुताप और कितना अधिक हो गया होगा, यह अनुभव-गम्य है।

रावण की उत्कट तपस्या से प्रसन्न होकर 'विरंचि बाबा' ने दिल खोलकर उसे मनचाहा वर दिया था और अब उसी 'ब्रह्मास्त्र' से वह सारी दुनिया को पैरों तले रौंद रहा था। यही नहीं, रावण ने शिव को भी प्रसन्न किया था, कैलास के साथ उन्हें भी हिलाया-डुलाया था और उन 'अवढर' से भी अद्‌भुत वर प्राप्त किये थे। भला इस दुहरी-दिव्य ताकत से कोई कैसे पार पा सकता था ?

लेकिन सृष्टि-रक्षा का कोई-न-कोई उपाय तो करना ही था, इसलिए 'हारे को हरि नाम' की तरह 'ब्रह्मा' ने भूदेवी को उपदेश दिया :

"धरनि धरहि मन धीर, कह बिरंचि हरि-पद सुमिरि।
जानत जन की पीर, प्रभु भंजिहिं दारुन बिपति ॥"

"भूदेवी, व्याकुल न हो, हृदय में साहस का संचार करो। परमात्मा अपने भक्तों की पीड़ा जानते हैं। वह विश्व-विभु तुम्हारी उपेक्षा कदापि नहीं करेंगे—तुम्हारे इस कठोर कष्ट को अवश्य दूर करेंगे।"

अखिलेश का अन्वेषण :

यहीं से विश्वात्मा-विभु की खोज शुरू हुई और सत् के उपासकों की शून्य प्रान्तर में एक महासभा बैठी। तर्क-वितर्क का एक ही विषय था—'कहाँ मिलेगा वह सर्वशक्तिमान प्रभु—जो तप-बल-गर्वित अत्याचारी रावण का नाश करके पृथ्वी की पीड़ा को दूर करे और वसुधा में सत् का साम्राज्य स्थापित कर सके?'

खोज तेजी से होने लगी और नायकों के अपने-अपने अनुभव-जन्य प्रस्ताव सभा में आने लगे :

"बैठे सुर सब करहिं बिचारा। कहँ पाइअ प्रभु करिअ पुकारा॥
पुर बैकुंठ जान कह कोई। कोउ कह पयनिधि बस प्रभु सोई॥
जाके हृदयँ भगति जस प्रीती। प्रभु तहँ प्रगट सदा तेहिं रीति॥"

सुरगण बैठे विचार-विमर्श कर रहे हैं—वह प्रभु कहाँ पाया जाएगा, जिसे पुकारा जाए, जिसे अपनी कष्ट-कथा सुनाई जाए? किसी ने बैकुंठपुरी जाने की बात कही, तो किसी ने कहा—'वह प्रभु क्षीर-सागर में बसता है।'

इस पर मर्मज्ञ महादेव की टिप्पणी हुई—'जिसके हृदय में जैसी भक्ति है, जैसी प्रीति है, प्रभु वहाँ अवश्य प्रकट रहते हैं—यह तो उनकी शाश्वत रीति ही है।'

देवताओं की उस महासभा में कैलासाधिपति शिवशंकर की वह टिप्पणी सबको बहुत अच्छी लगी। इस पर उत्साहित होकर सबों के सामने उन्होंने मुक्त कण्ठ से अपना अनुभव भी व्यक्त किया :

"हरि ब्यापक सर्वत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना॥
देस काल दिसि बिदिसिहु माहीं। कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं॥
अग-जगमय सब रहित बिरागी। प्रेम ते प्रभु प्रगटइ जिमि आगी॥"

"वह दुःख-हारी प्रभु तो सम-रूप से सब जगह पाया जाता है। हाँ, प्रत्यक्ष होता है—सामने आता है वह प्रेम से, यह अनुभव-गम्य बात है। अन्यथा कहो तो भला कौन ऐसा देश है, कौन ऐसा समय है, कौन ऐसी दिशा है, जहाँ वह विश्व-नियन्ता मौजूद न हो? अरे, वह तो अग-जग-मय है, चराचर के कण-कण में मौजूद है, फिर भी सबसे परे है—अगम्य-अगोचर है, पकड़ में नहीं आता है। हाँ, उसको पकड़ने का एक ही उपाय है—अपने अन्तर के प्रेम को जगाया जाए, प्रेम से उसे पुकारा जाए; बस—प्रेम का ताप पाते ही, वह उसी तरह प्रत्यक्ष हो जाता है, जैसे रगड़ खाते ही चिनगारी छिटक पड़ती है।"

विश्वात्मा का अभय वचन :

शिव के उस मार्मिक कथन पर सारी सुर-सभा मुग्ध रह गई और सबों ने समवेत स्वर में प्रेम-विह्वल होकर, 'विश्वात्मा' को पुकारा। और उसका परिणाम वही हुआ, जैसा प्रकृति के प्रांगण में प्रायः होता रहता है। जब ग्रीष्म की लू-लपट तीव्र

हो जाती है और जब सूखी धरती की छाती में गहरी तथा चौड़ी दरारें दिखलाई, पड़ने लगती हैं, जब मृदुल-मंजुल लता-गुल्म और लहलहाते पेड़-पौधे अर्ध-दग्ध होकर मुर्झाने लग जाते हैं, जब प्यास के मारे निरीह पशु-पक्षी, जीभ निकाले, चोंच खोले, हाँफते-खाँसते गिरने-पड़ने लग जाते हैं; तब, जाने कहाँ से, धूम-धूसर काले-कजरारे बादल, भड़-भूँजे के भाड़-से जलते नभ में, दौड़ लगाने आ जाते हैं और बात-की-बात में अग-जग को नापने वाली विद्युल्लता, क्रुद्ध सर्पिणी-सी, लपलपाने लग जाती है।

ठीक वही बात उस विराट् सुर-सभा की प्रार्थना-पुकार पर हुई। विश्वात्मा विभु की दूरागत गम्भीर वाणी सबको स्पष्ट सुनाई पड़ी :

"जनि डरपहु मुनि सिद्ध सुरेसा। तुमहिं लागि धरिहउँ नर-बेसा॥

"ऐ ऋषि-मुनि, सिद्ध-सुरेश, तुम लोग डरो मत। तुम्हारे लिए मैं नर-वेश धारण करूँगा। मनुष्य रूपमें अवतरित होकर तुम्हारा उद्धार करूँगा—तुम्हारे कष्टों को दूर कर तुम्हारे धर्म-पथ को परिष्कृत और प्रशस्त कर दूँगा।"

विप्लवी आश्रम :

युग-परिवर्तन और युग-विकास का क्रम भी सदा से प्राकृतिक परिवर्तन-सा ही देखा जाता है। जन-मानस जब-जब प्रचण्ड पीड़न से परितप्त तथा आर्त्त होकर पुकार उठता है, तब-तब उस विश्वात्मा विभु को कभी 'राम', कभी 'श्याम', कभी 'ईसा', कभी 'मूसा', कभी 'सिद्ध', कभी 'बुद्ध', कभी 'तीर्थंकर', कभी 'शंकर', कभी 'मार्क्स', तो कभी 'गांधी' का रूप धारण कर ताप-तप्त धरती पर उतरना पड़ता है। और सामान्य जन के सामान्य दुःख-सुख को भोगता हुआ वह लोक-नायक एक ऐसा उज्ज्वल जीवनादर्श दिखा जाता है कि उसी का युग नहीं, आने वाले युग-के-युग, नत-मस्तक एवं भक्ति-विह्वल होकर उस जग-त्राता के गुण-गान करते रह जाते हैं।

नाम चाहे जो भी दिया जाए, पर युग-विप्लव अनादि काल से उसी प्राकृतिक प्रणाली पर चलता आया है। किसी युग ने उसे 'धार्मिक' आन्दोलन कहा, तो किसी ने उसे 'राजनैतिक' नाम दिया। विश्व में भारत ही एक ऐसा अनूठा देश है, जहाँ विप्लव की ये दोनों धाराएँ प्रायः एक ही भूमिका में बहती आई हैं। उस भूमिका का सबसे ऊँचा स्वर रहा है 'धर्म'। उसी धर्म में मानव की सभी प्रवृत्तियों का समावेश होता आया है। दूर की बात कुछ धुँधली पड़ जाती है, पर आज के इस घोर वैज्ञानिक युग में भी भारत के 'राष्ट्र-पिता' महात्मा गांधी ने 'धर्म' (सत्य और अहिंसा) के अस्त्र से ही शोषण, पीड़न, अन्याय, अत्याचार और छल-कपट पर आधारित अंग्रेजी साम्राज्य को भारत से उखाड़ कर सात समुन्दर पार फेंक दिया। आज भारत ने जो राजनैतिक स्वतन्त्रता प्राप्त की है, वह गांधीकी धर्म-नीति-सत्य और अहिंसा का ही प्रसाद है।

ठीक इसी तरह का युग-विप्लव-आन्दोलन 'सती' के उस रोमांचक युग में भी चल रहा था—जिसे हमारे महाकवि तुलसीदास ने 'धार्मिक' संज्ञा दी है; परन्तु

हम बड़ी आसानी से उसे दोनों दृष्टियों से परख सकते हैं। तुलसीदास चाहे जो कहें, पर जिस विप्लव का गान वह करते हैं, वह तो प्रधानतया "रावण-राज्य" के अत्याचार से ही सम्बन्ध रखता है।

तुलसीदास की 'श्रद्धा' और उनके 'विश्वास' के प्रतीक 'महादेव' जिस रूप में चित्रित किए गए हैं, सुगमता से वह एक राज्य-विप्लवी नेता का भी रूप कहा जा सकता है।

'रावण' को आशुतोष शिव ने भी दुलार किया था, उसकी पूजा-अर्चा से खुश होकर उन्होंने विपुल वर देकर उसे अजर-अमर बना दिया था। परन्तु जब उसने उनके कैलास को भी हिलाया-डुलाया, तब उस 'अवढरदानी' की नींद खुली और तब उन्होंने बड़ी सतर्कता के साथ अपने उस उद्धत लाड़ले के विनाश का बीज बोना शुरू कर दिया।

हम देख आए हैं, कि 'सुर-सभा' में शिवशंकर ने कैसा प्रमुख भाग लिया था। उन्हीं के उपदेश से 'विश्वात्मा' का अनुसन्धान हुआ, उन्हीं के परामर्श से प्रेम-पुकार मचाई गई और उसी समय से अपने कैलास-धाम को छोड़कर, विप्लव के मूल-मन्त्र के प्रचार के लिए 'पंचानन प्रभु' ने कैलास से कन्याकुमारी तक समस्त भारत में भ्रमण करके अपने 'विप्लवी आश्रम' स्थापित कर दिए।

अगस्त्य के 'आश्रम' को उस रूप में भी पहचाना जा सकता है।

अगस्त्य शिव-भक्त थे और संकल्प, साधना एवं पौरुष के प्रोज्ज्वल प्रतीक थे। शिव के इशारे से ही उस महामानव ने अपने जन्म-स्थान 'उत्तरापथ' का परित्याग किया और 'दक्षिणापथ' के घोर 'दण्डकारण्य' में जाकर ठीक 'जनस्थान' (जो भारत में 'रावण' के उपनिवेश का दुर्गम गढ़ था) के समीप अपना 'आश्रम' स्थापित कर दिया।

गांधी और विनोबा के 'सत्याग्रह-आश्रमों' की तरह उस युग के वे 'आश्रम' भी 'रघुपति राघव राजाराम' की प्रार्थना से गूँजा करते थे, वे भी राम-राज्य की स्थापना चाहते थे, 'रावण' के अत्याचार के विरुद्ध प्रचार और प्रसार उन 'ऋषि-आश्रमों' का भी परम धर्म माना जाता था।

तुलसी ने खोल कर यद्यपि यह सब नहीं कहा है, पर उसकी सूत्रता आसानी से देखी जा सकती है। 'रावण का नाश' और 'राम की विजय' ही तुलसी के 'गान' का मूल स्वर है। रावण-राज्य के बदले 'राम-राज्य' की स्थापना ही 'सती' के उस युग की मुख्य साधना थी। जैसे हमारे युग के 'महात्मा' ने घूम-घूम कर अंग्रेजी साम्राज्य के विरुद्ध प्रचार किया, उस युग के कैलासवासी शंकर भी शान्त भाव से वही करते पाए जाते हैं।

धार्मिक-युग उस आन्दोलन को चाहे जो संज्ञा दे, पर आज का यह राज-नैतिक युग उसे 'राज्य-विप्लव' कहकर ही सन्तुष्ट होगा।

तुलसी ने मौन रहकर अपने कथन में बड़ी कुशलता से दोनों का समावेश कर लिया है :

"एक बार त्रेता युग माहीं। संभु गए कुंभज रिषि पाहीं॥"

'सती' के उस त्रेता युग में एक बार शिवशंकर अगस्त्य ऋषि के पास पहुँचे।

नर-वेश में रावण के विरोधी विश्वात्मा-विभु का अवतार 'राम' के रूप में हो चुका था। अयोध्या के राज-कुल के घरेलू कुचक्रों का शिकार होते हुए वह 'राम' अपने भाई लक्ष्मण और अपनी सहचरी सीता के साथ, ऋषि-मुनियों से मिलते, उनके कष्ट-क्लेशों को परखते, उनसे विचार-विमर्श करते, उन्हें उदार आश्वासन देते 'जन-स्थान' के अंचल तक पहुँच चुके थे, और गोदावरी के तट पर पर्णशाला बना कर विप्लव का आह्वान कर रहे थे। रावण की स्वेच्छाचारिणी बहन शूर्पणखा ने राम के साथ छेड़खानी कर के अपने नाक-कान कटवा लिए और भीषण संघर्ष की घंटी बजा दी। 'जन-स्थान' में रावण के अप्रतिम प्रतिनिधि खर-दूषण तथा त्रिशिरा का नाश हुआ और भारत-भूमि से रावण के उपनिवेश का सदा के लिए अन्त हो गया।

लेकिन शूर्पणखा चुप न रही। लंका जाकर उसने रावण को धिक्कारा और उभारा, उसकी वासनालिप्सा को जगाया और 'सीता' के अनुपम सौन्दर्य का मोहक वर्णन करके 'रावण' को उसपर अनुरक्त कर दिया।

दंडकारण्य में गुप्त रूप से बैठा मायावी 'मारीच' (जो राम का तीर खाए हुए था) सीता-हरण में सहायक हुआ और रावण छल-बल करके सीता को उठा कर लंका ले गया।

ऐसे ही संघर्ष-काल में शिव अगस्त्य के आश्रम में पहुँचते हैं—जैसे कोई 'कमाण्डर-इन-चीफ' अपने अधीनस्थ अधिकारियों के कार्यों का निरीक्षण और नियन्त्रण करने मोर्चे पर पहुँच जाए।

शिव अपनी 'सती' के साथ यात्रा कर रहे थे; क्योंकि वह अर्धनारीश्वर थे—नर-नारी से युक्त सम्पूर्ण मानव थे। तुलसीदास बड़ी पूज्य भाषा में इसका उल्लेख करते हैं।

"संग सती जग-जननि भवानी। पूजे रिषि अखिलेश्वर जानी॥"

शिव के साथ में जगन्माता 'सती' भी थीं। महात्मा अगस्त्य ने समुचित सम्मान के साथ दोनों की पूजा की—भक्ति-भाव से उनका स्वागत-सत्कार किया। जहाँ शिव और शक्ति दोनों साथ हों, सम्मान तो स्वाभाविक हो जाता है।

लोक-त्रासक रावण के विरुद्ध समस्त सचराचर में विप्लव का जाल बिछाया जा रहा था और उसके मन्त्र-दाता थे महादेव। समस्त तैयारी उन्हीं के इंगितों पर हो रही थी।

तुलसी ने इस तैयारी को 'विश्वात्मा के स्वागत' की संज्ञा दी है और देवताओं

को भी, वेश बदल कर वानर-वपु में विचरते देखकर, संयत स्वर में घोषित कर दिया है :

"हरि मारग चितवहिं मति धीरा ।"

वे मति-धीर 'सत्' के उपासक दुःख-हारी 'हरि' की राह देख रहे थे। शिव और विरंचि के संकेत से बहुत-से मति-धीर सुर-समुदाय छद्म-वेश लेकर दण्डकारण्य की गिरि-कन्दराओं में जा छिपे थे—जिससे समय आने पर, संगठित होकर, वे राम की सेना में शामिल हो सकें।

रावण का राज्य इतना सुसंगठित, इतना सुदृढ़ था, कि उसे उलट कर अकिंचन-से दीखने वाले 'राम' के राज्य की स्थापना उस समय असम्भव जँच रही थी। इसलिए एक-एक कदम बड़ी सावधानी से उठाया जा रहा था।

अगस्त्य के आश्रम में

"तुम्ह जानहु जेहि कारन आयउँ।
ताते तात न कहि समुझायउँ।।"

"अब सो मंत्र देहु प्रभु मोही।
जेहि प्रकार मारौं मुनि द्रोही।।"

—तुलसी

"अनेन धनुषा राम हत्वा संख्ये महासुरान्।
आजहार श्रियं दीप्तां पुरा विष्णु दिवौकसाम्।।"

तद्धनुस्तौ च तूणी च शरं खड्गं च मानद।
जयाय प्रतिगृह्णीष्व वज्रं वज्रधरो यथा।।"

—वाल्मीकि

आश्रम-दर्शन :

यहाँ अगस्त्य और उनके आश्रम का थोड़ा परिचय आदिकवि वाल्मीकि के शब्दों में दे देना अप्रासंगिक नहीं होगा। राम लक्ष्मण और सीता के साथ महात्मा अगस्त्य से मिलने आ रहे थे। आश्रम में पहुँचने के पूर्व ही उस वन की शोभा देखकर राम मुग्ध हो जाते हैं :

"नीवारान्पनसान्सालान्वञ्जुलांस्तिनिशांस्तथा।
चिरिबिल्वान्मधूकांश्च बिल्वानथ च तिंदुकान् ॥
पुष्पितान्पुष्पिताग्राभिर्लताभिरुपशोभितान्।
ददर्श रामः शतशस्तत्र कान्तारपादपान् ॥
हस्तिहस्तैर्विमृदितान्वानरैरुपशोभितान्।
मत्तैः शकुनिसंघैश्च शतशः प्रतिनादितान् ॥"

अर्थात्—"नीवार, कटहल, साल, अशोक, तिनिश, चिरिबिल्व, महुआ, बेल, तिन्दुक आदि सैकड़ों पेड़ जो फूले हुए थे तथा जो फूली हुई लताओं से शोभित हो रहे थे, राम ने उन्हें देखा। हाथियों ने अपनी सूँड़ से इन वृक्षों को तोड़-ताड़ दिया है, कई वृक्षों पर वानर बैठे हुए हैं, प्रसन्न होकर पक्षिगण इन वृक्षों पर बोल रहे हैं।"

फिर अपने पीछे आनेवाले भाई लक्ष्मण को सम्बोधन करके राम बोले :

"स्निग्धपत्रा यथा वृक्षा यथा क्षान्ता मृगद्विजः।
आश्रमो नातिदूरस्थो महर्षेर्भवितात्मनः ॥
अगस्त्य इति विख्यातो लोके स्वेनैव कर्मणा।
आश्रमो दृश्यते तस्य परिश्रान्तश्रमापहः ॥"

अर्थात्—"इन वृक्षों के पत्ते चिकने मालूम पड़ते हैं, ये मृग और पक्षी शान्त हैं, इनसे मालूम होता है कि ब्रह्मज्ञानी महर्षि का आश्रम अब दूर नहीं है। ये महर्षि अपने ही कर्म से 'अगस्त्य' नाम से प्रसिद्ध हैं। ('अगस्त्य' शब्द का अर्थ होता है—'पर्वतों को स्तम्भित कर देनेवाला'—लेखक) उन्हीं का यह आश्रम दीख पड़ता है—जो थके हुओं की थकावट दूर करता है।"

आश्रम में, होम-हवन के कारण, चतुर्दिक् धूआँ फैल रहा था, मुनियों के वल्कल-वस्त्रों के टुकड़े चारों ओर फैले हुए थे, मृगों का समूह शान्त था, और अनेक प्रकार के विहग-वृन्द कलरव कर रहे थे।

आश्रम को देखकर राम फिर बोले :

"निगृह्य तरसा मृत्युं लोकानां हितकाम्यया।
दक्षिणादिक्कृता येन शरण्या पुण्यकर्मणा ॥

तस्येदमाश्रमपदं प्रभावाद्यस्य राक्षसैः ।
दिगियं दक्षिणा त्रासात् दृश्यते नोपभुज्यते ॥
यदा प्रभृति चाक्रान्ता दिगियं पुण्यकर्मणा ।
तदा प्रभृति निर्वैराः प्रशान्ता रजनीचराः ॥
नाम्ना चेयं भगवतो दक्षिणा दिक्प्रदक्षिणा ।
प्रथिता त्रिषु लोकेषु दुर्धर्षा क्रूरकर्मभिः ॥"

अर्थात्—"जिस पुण्यकर्मा महर्षि ने लोक के कल्याण के लिए मृत्युके समान राक्षस को बलपूर्वक मारकर इस दक्षिण दिशा को लोगों के रहने योग्य बनाया, उन्हीं का यह आश्रम है—जिनके प्रभावसे राक्षस दक्षिण दिशा को भय से देखते हैं, पूर्व की तरह ऋषि-मुनियों का भक्षण नहीं करते। जब से वह पुण्यकर्मा ऋषि इस दिशा में आए हैं तब से राक्षसों ने विरोध करना छोड़ दिया है और वे शान्त हो गए हैं। इसीलिए यह दक्षिण दिशा भगवान् 'अगस्त्य की दिशा' के नाम से दोनों लोकों में प्रसिद्ध है। यहाँ क्रूर-कर्मा राक्षस उपद्रव नहीं कर सकते।"

'आतापि-वतापि' (वातापील्वल-कथा) को पचा जानेवाले अगस्त्य की स्तुति उत्तर भारत के घर-घर में आज भी प्रचलित है। कदाचित् 'मृत्यु के समान' वही राक्षस होगा—जो छल-छद्म से ऋषि-मुनियों को खाते-खाते ऋषि अगस्त्य के पेट में पहुँचा और वहीं हजम हो गया।

राम ने विन्ध्याचल के अवरोध का भी उल्लेख किया :

"मार्गं निरोद्धुं सततं भास्करस्याचलोत्तमः ।
संदेशं पालयंस्तस्य विन्ध्यशैलो न वर्धते ॥"

अर्थात्—"सूर्य का मार्ग रोकने के लिए उद्धत विन्धाचल बढ़ा था, पर अगस्त की आज्ञा का पालन करके नम्र हो गया और आज तक उसका पालन करता जा रहा है—बढ़ने का साहस नहीं करता।"

राम ने निश्चय भी किया :

"अगस्त्यस्याश्रमः श्रीमान्विनीतमृगसेवितः ।
एष लोकार्चितः साधुर्हिते नित्यं रतः सताम् ।
अस्मानधिगतानेष श्रेयसा योजयिष्यति ॥
आराधिष्याम्यत्राहमगस्त्यं तं महामुनिम् ।
शेषे च वनवासस्य सौम्य वत्स्याम्यहं प्रभो ॥"

अर्थात्—"अगस्त्य का यह आश्रम सुन्दर है, यहाँ के जीव-जन्तु बड़े ही विनीत हैं। ये महात्मा लोक-पूज्य हैं और नित्य साधुजन के कल्याण में निरत रहते हैं। हम इनके यहाँ जाएँगे तो ये अवश्य ही हमारा कल्याण करेंगे। यहाँ मैं, अगस्त्य की आराधना करूँगा और वनवास का बाकी समय यहीं बिताऊँगा।"

ऐसा निश्चय कर रामने अगस्त्य के आश्रम में श्रद्धा भाव से प्रवेश किया। वहाँ वे सत्कृत हुए, कृतार्थ हुए, किन्तु कुशल-प्रश्न के पश्चात्, अपने निश्चय के विरुद्ध, तुरत पूछ बैठे :

"धन्योऽस्म्यनुगृहीतोऽस्मि यस्य मे मुनिपुंगवः।
गुणैः सभ्रातृभार्यस्य गुरुर्नः परितुष्यति॥
किं तु व्यादिश मे देशं सोदकं बहुकाननम्।
यत्राश्रमपदं कृत्वा वसेयं निरतः सुखम्॥"

अर्थात्—"रामचन्द्र संयतांजलि होकर बोले—मैं आज धन्य हुआ, अनुगृहीत हुआ, क्योंकि भाई और भार्या के मेरे गुणों से मुनिश्रेष्ठ और मेरे गुरु आप प्रसन्न हैं। अब आप मुझे वैसा स्थान बतलाएँ—जहाँ जल हो, सघन कानन हो, जहाँ आश्रम बना कर हम लोग सुख-पूर्वक निवास करें।"

राम के इस क्षिप्र मनो-परिवर्तन से महामुनि भी कुछ अकचका उठे, पर कुछ चिन्तन के पश्चात् उन्होंने, कुछ झेंप और कुछ उपालम्भ के स्वर में, कहा कि राम का गूढ़ाशय उनसे छिपा नहीं है :

"हृदयस्थं च ते छन्दो विज्ञातं तपसा मया।
इह वासं प्रतिज्ञाय मया सह तपोवने॥
अतश्च त्वामहं ब्रूमि गच्छ पंचवटीमिति।
स हि रम्यो वनोद्देशो मैथिली तत्र रंस्यते॥"

अर्थात्—"महामुनि ने कहा—रामचन्द्र! यहाँ तपोवन में मेरे साथ रहने की तुमने प्रतिज्ञा की थी, पुनः मुझसे आज्ञा लेकर तुम दूसरी जगह आश्रम बनाना चाहते हो, इसमें तुम्हारे मन का जो अभिप्राय है, वह मैंने तपस्या (या अनुभव ?) के द्वारा जान लिया है। इसलिए मैं तुमसे कहता हूँ, कि तुम पंचवटी जाओ, वह स्थान बड़ा ही रमणीय है, जानकी वहाँ प्रसन्न होगी।"

इस गूढ़ कथन के रहस्य का उद्घाटन सीता के चरित्र-चित्रण के प्रसंग में ही समीचीन होगा। यहाँ तो अगस्त्य-आश्रम का ही रहस्योद्घाटन आवश्यक है।

शस्त्र-दान :

जैसा अन्यत्र कहा गया है, कि अगस्त्य का आश्रम राज्य-क्रान्ति का केन्द्र था और अगस्त्य दक्षिण दिशा के क्षेत्रीय मंत्रदाता गुरु थे। इसका समर्थन आदिकवि के कथनों से भी होता है :

"इदं दिव्यं महच्चापं हेमवज्रं विभूषितम्।
वैष्णवं पुरुषव्याघ्र निर्मितं विश्वकर्मणा॥
अमोघः सूर्यसंकाशो ब्रह्मदत्तः शरोत्तमः।
दत्तो मे महेन्द्रेण तूणी चाक्षय्यसायकौ॥

सम्पूर्णैर्निशितैर्बाणैर्ज्वलद्भिरिव पावकैः।
महाराजतकोशोयमसिर्हेमविभूषितः॥
अनेन धनुषा राम हत्वा संख्ये महासुरान्।
आजहार श्रियं दीप्तां पुरा विष्णुर्दिवौकसः॥
तद्धनुस्तौ च तूणी च शरं खड्‌ग च मानद।
जयाय प्रतिगृह्णीष्व वज्रं वज्रधरो यथा॥"

अर्थात्—"फल-मूल तथा फूलों से राम का सेवा-सत्कार करके अगस्त्य बोले—यह धनुष दिव्य और विशाल है, इसमें सोने का काम किया हुआ है। हीरे जड़े हुए हैं। यह विष्णु का धनुष है, इसे विश्वकर्मा ने बनाया है। सूर्य के समान चमकने वाला यह बाण ब्रह्मा का दिया हुआ है, यह अमोघ है—कभी निशाना नहीं चूकता है। यह तरकस इन्द्र का दिया हुआ है, यह अक्षय है—इसके तीर कभी कम नहीं होते। अग्नि के समान जाज्वल्यमान बाण इसमें भरे हुए हैं। यह तलवार है—जिसमें सोने का काम किया हुआ है, और जिसकी म्यान भी सोने की है। राम! इस धनुष के द्वारा संग्राम में भयानक राक्षसों को मार कर तुम देवताओं की खोई हुई लक्ष्मी को लौटा लाओ—जैसे विष्णु ने कभी लौटाई थी। हे मानद! तुम इस धनुष को, इन दोनों तरकसों को, इस बाण और तलवार को विजयार्थ स्वीकार करो—जिस प्रकार कभी इन्द्र ने स्वीकारा था।"

तुलसी को भी, इस प्रसंग में, राम के मुख से स्पष्ट कहलाना पड़ा है जो दर्शनीय ही नहीं, मननीय भी है :

"तब रघुबीर कहा मुनि पाहीं। तुम्ह सन प्रभु दुराव कछु नाहीं॥
तुम्ह जानहु जेहि कारन आयउँ। ताते तात न कहि समुझायउँ॥
अब सो मंत्र देहु प्रभु मोही। जेहि प्रकार मारौं मुनिद्रोही॥"

अन्तिम पंक्ति में वह उद्देश्य इतना स्पष्ट हो गया है, कि जिसकी व्याख्या असंगत हो जाती है। रामके वन-गमन का उद्देश्य है रावणराज्य का अन्त और अगस्त्य उसी राज्य-विप्लव के पुरोधा थे—जो तपस्वी होते हुए भी विश्वामित्र के सदृश ही महान् पराक्रमी थे, जो केवल मंत्र ही नहीं देते थे, दिव्यास्त्र भी प्रदान करते थे और जिन्होंने दक्षिण के दण्डकारण्य में 'जनस्थान' के समीप ही, अपना आश्रम स्थापित करके रामके स्वागतार्थ ऐसे अनेक आश्रमों का एक जाल-सा बिछा दिया था उस गहन वन में।

हिन्दुस्तानी एकेडमी, उ० प्र०
१००३
पुस्तकालय
इलाहाबाद

संशयात्मा सती का रूपान्तर

"संशयात्मा विनश्यति !"

"जलु पय सरिस बिकाइ देखहु प्रीति कि रीति भलि।
बिलग होइ रसु जाइ कपट खटाई परत पुनि॥"

—तुलसी।

त्रिलोचन की उलझन

अपनी सहचरी और धर्म-संगिनी 'सती' के साथ विराट् विप्लव के सूत्रधार शिव अगस्त्य आश्रम का पर्यवेक्षण कर लौट रहे थे। शिव को मालूम था, कि विप्लव के आराध्य-देव रामचन्द्र रावण द्वारा अपनी अपहृता 'सीता' को खोजते, पागल प्रेमी की तरह, कहीं आसपास ही घूम रहे हैं। उस विप्लवी-विभु के समीप जाकर अपनी श्रद्धांजलि समर्पित करने की लालसा कैलासेश्वर के तन-मन को बड़ी तीव्रता के साथ मथ रही थी। परन्तु परिस्थिति की पेचीदगी उन्हें आगे नहीं बढ़ने देती थी उस दिशा में। वह पेचीदगी उन्हें चेतावनी दे रही थी :

"गुप्त रूप अवतरेउ प्रभु। गए जान सब कोइ॥"

विप्लव के आराध्य-देव का अवतार 'गुप्त रूप' से हुआ था। संसार में साधारण आदमी की तरह रहकर, साधारण आदमी की तरह ही आचरण करके वह अत्याचारी निशाचरों का नाश और धर्म-स्थापना का कार्य करना चाहते थे। ऐसी गुप्त योजनासे हो रहे महत् कार्य में अगर उन (शिव)-से जगत्-प्रसिद्ध देवता, सबके सामने, यों सीधे पास पहुँचकर अभ्यर्थना करने लग जाएँगे, तब तो सर्वजन पर उनका वह रहस्य प्रकट ही हो जाएगा—लोग समझ जाएँगे कि यह रामचन्द्र सामान्य व्यक्ति नहीं हैं। इससे शिव का व्यक्तिगत स्वार्थ तो सिद्ध होगा, पर विप्लव की उस गुप्त योजना में बेहद बाधा पहुँचेगी। यह रहस्य शत्रु-दल पर खुल जाएगा और विप्लव के विराट् विभु की कार्य-सिद्धि में अनावश्यक अड़चनें आ खड़ी होंगी।

महादेव यहाँ सर्वजन-हिताय एक विराट् विप्लव का गुप्त आयोजन कर रहे थे—वह एक सार्वजनिक नेता के रूप में परिभ्रमण कर रहे थे। अतएव उनके लिए यह आवश्यक था, कि वह अपनी स्वार्थगत प्रेरणा को रोक दें—भले ही वह आध्यात्मिक ही क्यों न हो।

दूसरी सब से बड़ी बात थी 'नीति' के सम्बन्ध की। राजनीति का जानकार यह अच्छी तरह जानता है, कि 'गुप्तता' ही उसकी सफलता की सुदृढ़ सिद्धि होती है—रहस्यावरण की रक्षा करना ही उसका 'ब्रह्मास्त्र' समझा जाता है। और सूत्रधार शिव ही अगर अपनी भावुकता के वश में आ जाते, तो उनका महान् सार्वजनिक उद्देश्य अपूर्ण रह जाता।

यों 'स्वार्थ' एक लोक-मान्य नेता को 'राम' के पास जाने को ढकेल रहा था मगर सार्वजनिक हित की 'राजनीति' उसे रोक रही थी। धार्मिक और आध्यात्मिक आन्दोलनों में 'गुप्तता' का चाहे जैसा भी उपयोग होता रहा हो, पर राज्य-विप्लव के कार्य में तो निश्चय ही यह 'नीति' बहुत कारगर मानी जाती है। इसीलिए तो अनादि-

काल से राज-काज में सर्वत्र 'गुप्तचर विभाग' का जबर्दस्त जाल बिछा हुआ देखा जाता है। आज के राजनैतिक जगत् में गुप्तचर-विभाग को लेकर समय-समय पर जैसी विकट उलझन पैदा हो जाती है, वह तो हमारे सामने ही है। फिर—"हाथ कंगन को आरसी क्या ?"

यों तत्कालीन राजनीति के सर्वमान्य नेता महादेव, जब उलझन में पड़ गए, तब उन्होंने अपनी आध्यात्मिक अभिलाषा को दबाकर अपने राजनैतिक कर्तव्य को बड़ी सावधानी से आगे बढ़ाया :

"भरि लोचन छबि सिंधु निहारी। कुसमय जानि न कीन्ह चिन्हारी।"

शिव ने दूर से ही अपने आराध्य के सौंदर्य-सागर का नयन-भर कर निरीक्षण किया, किन्तु उपयुक्त अवसर न देख, उनसे जान-पहचान न की। शिव के नेत्र दर्शन-लालसी थे, मन उनका प्रेम का भूखा था, श्रद्धा उनकी ओर दौड़ पड़ना चाहती थी, पर 'अनुशासन' का अंकुश जो सामने था। अतएव उलझन में झूलते हुए ही वह आगे बढ़ गए।

संशय-सर्प का सम्मोहन

केवल अपने ही शिव को पहचानने वाली दर्पदत्तात्मा 'सती' ने जब महादेव के उस पुलकाकुल गात को देखा और जब उसने मुग्ध वाणी से निकले 'अभिनन्दन' का उनका अद्भुत स्वर सुना—"जय सच्चिदानन्द जग-पावन"—

और जब उनके प्रेम-विह्वल मनोभाव को भाँपा :

"भए मगन छबि तासु बिलोकी। अजहु प्रीति उर रहति न रोकी॥"

तब तो वह एकदम अकचका उठी और सोचने लगी—'एक विरह-विकल राजकुमार की शरीर-शोभा देख कर ये यों मग्न और मुग्ध हो रहे हैं! और यह केवल बाह्य सौन्दर्य की मोहक मदिरा का परिणाम नहीं है, उस राजकुमार के प्रति इनकी प्रीति कितनी अनूठी और गहरी है, कि इनका हृदय भी उमड़ा पड़ता है उसके आन्दोलन से—प्रीति के आवेग को दबा सकने में यों असमर्थ-से हो रहे हैं!'

यह क्या आश्चर्य है ?

कैलासाधिपति महादेव की इस अद्भुत अवस्था को देखकर दक्ष-सुता सन्देह-दोल पर झूलने लगी और उसके दर्प-मर्दित मन में संशय-रूपी सर्प सगबगाने लगा :

"बिष्णु जो सुरहित नर तनुधारी। सोउ सर्बग्य जथा त्रिपुरारी॥
खोजइ सो कि अग्य इव नारी। ग्यान धाम श्रीपति असुरारी॥"

विष्णु मेरे महादेव के बराबर सर्वज्ञ हैं। अगर वह राजकुमार वही विष्णु हैं, तो क्या वह यों अज्ञानी की तरह अपनी सहचरी-स्त्री को ढूँढ़ते फिरेंगे ?···नहीं, 'सती' के ज्ञान-गर्व ने इस संभावना को स्वीकार नहीं किया।

नहीं, यह राजकुमार तो एकदम नादान ही नहीं, पागल भी दीख रहा है।

उसे इतना भी मालूम नहीं, कि जो स्त्री उसकी दिन-रात की संगिनी थी, उसे कौन उठा ले गया है ? विष्णु का अवतार क्या इतनी निम्न भूमि पर उतर सकता है ? क्या वह इतना अनभिज्ञ और इतना उन्मत्त हो सकता है ?···नहीं, यह संभव नहीं है।

फिर उसके महादेव की इस भक्ति-विह्वलता का कारण और क्या हो सकता है ?

'सती' तर्क-जाल में उलझकर थकने और तड़पने लगी। सोचते-सोचते उसे अवतारवाद में ही अनास्था होने लगी।

'तर्क' तीक्ष्ण तलवार होता है। वह भावुकता के जाल को काट कर छिन्न-भिन्न कर देता है। भावुकता के कटते ही भावनाशील मानव का मन भी भटकने लग जाता है कूल-किनारा छोड़ कर।

'सती' शंकर की सहचरी थी, दक्षप्रजापति के ऐसे बड़े बाप की बेटी थी, बालपन से ही सदा-सर्वदा ऋषि-मुनियों तथा सन्त-महात्माओं का समागम उसके सामने होता रहता था। अतः ज्ञान की ऊँची-से-ऊँची भूमिका से वह परिचित थी। किन्तु वह परिचय उसका एकांगी था—ज्ञान उसके में गला-घुला नहीं था, वह परिचय प्रेम से पिघल कर घनिष्ठता में नहीं बदला था।

इसका उत्तरदायी था दक्ष-सुता का आभिजात्य 'अहं' जो उसके ज्ञान के सिर पर चढ़ कर बोल रहा था। बड़े बाप की बेटियों का वह सिर-चढ़ा 'अहं' आज भी अपना अद्भुत तमाशा दिखा जाया करता है—जिसका नतीजा यह होता है, कि कितने ने ही महत्प्राण नौजवान उसके दम-घोंट गुरुभार के नीचे गुम-सुम बेमौत यमलोक पहुँच जाते हैं।

'सती' का अहं अंगड़ाई लेने लगा :

"ब्रम्ह जो बयापक बिरज अज अकल अनीह अभेद।
सो कि देह धरि होइ नर जाहि न जानत बेद॥"

ब्रह्म तो सर्वव्यापी होता है, निर्गुण होता है, अजन्मा होता है, अखण्ड होता है, इच्छा-रहित होता है और होता है भेदाभेद-शून्य। उसे तो वेद भी तत्त्वतः नहीं जान पाते हैं। क्या वह अगोचर 'ब्रह्म' देहधारी आदमी का अवतार लेगा ?

नहीं, विदुषी नारी के 'अहं' ने इसे स्वीकार नहीं किया। निर्गुण और सगुण का, ज्ञान और भक्ति का, अगोचर और अवतारवाद का यह तर्क अनादि काल से चलता आया है, पर उसका तूणीर कभी खाली नहीं हुआ। इसीलिए ज्ञान-ध्यान के सर्वोच्च धरातल पर आसीन महान् आचार्यों ने दोनों में समन्वय-स्थापन का ही स्तुत्य प्रयत्न किया है। हिन्दी का भक्ति-वाङ्मय, विशेषकर तुलसीदास का 'रामचरित मानस', इसका निरुपम निदर्शन है।

ज्ञान-गर्वीली शिव की वह सहचरी तर्क-वितर्क के चंचल स्रोत में डूब गोते लगा चुकी थी। इसीलिए अवतारवाद पर से उसकी आस्था अस्थिर हो चुकी थी।

वह अपने शिव के अतिरिक्त एक विष्णु की शक्ति से भी परिचित थी। अतः वह पुनः उसी परिचित तर्क-जाल में उलझने लगी :

"बिष्णु जो सुरहित नर तनु धारी। सोउ सर्बग्य जथा त्रिपुरारी ॥
खोजइ सो कि अग्य इव नारी। ग्यानधाम श्रीपति असुरारी ॥"

जो ज्ञान-धाम विष्णु उसके महादेव की भाँति ही महामहिम हैं, वह देवता क्या विमूढ़ बने अपनी संगिनी को खोजते फिरेंगे? नहीं, यह तर्क-संगत नहीं है।

किन्तु :

"संभु गिरा पुनि मृषा न होई। सिव सर्बग्य जान सब कोई ॥"

फिर त्रिकालज्ञ त्रिलोचन की बात झूठी कैसे हो सकती है? क्योंकि यह तो केवल एक उसीके अनुभव पर आधारित नहीं था—सब लोग जानते थे, कि शिव 'सर्वज्ञ' हैं। अतएव सर्वजन-विदित बात को वह अपने तर्क के तीर से कैसे छेदती?

इससे आगे जाने की क्षमता उस 'अहमन्य' नारी में नहीं थी। उसका तर्क थक गया था, पर उसकी तीक्ष्णता मन्द नहीं पड़ी थी—वह उसे उकसा ही रहा था।

फलतः 'सती' का संशय सघन हुआ :

"अस संसय मन भयउ अपारा। होइ न हृदयँ प्रबोध प्रचारा ॥"

और 'संशय' जब सघन हो जाता है, तब संशयालु को कोई रास्ता नहीं सूझता है और उसका हृदय आकुल हो उठता है। संशय-सर्प से डसी गई 'सती' भी तड़प रही है—उसकी शान्ति नष्ट हो गई। उसका भावुक हृदय कहता था—पति की बात पर विश्वास करो, लेकिन तर्क का अधिष्ठान उसका मानी-मन इसे मानने को तैयार नहीं था।

ऐसी द्वन्द्वावस्था में पति-प्राणा पत्नी के लिए एक ही ऋजु-मार्ग खुला हुआ था, कि वह अपने 'मर्मज्ञ' और 'सर्वज्ञ' पति के पास पहुँचती और निश्छल भाव से अपनी दुविधा की ग्रन्थि उनके सामने रख देती। लेकिन उन्नत पर्वत-से उसके 'अहं' ने उसको शिव के चरणों में झुकने नहीं दिया—वह अन्दर-ही-अन्दर घुटती रह गई।

'सर्वज्ञ' होने का दावा कोई करे या न करे, पर 'मर्मज्ञ' होने में कोई अनौचित्य टेढ़ी उँगली नहीं उठा सकता है। विशेष कर पति-पत्नी में यह 'मर्मज्ञता' तो अत्यन्त स्वाभाविक एवं सहज-साध्य बन जाती है। पत्नी मुँह खोलकर अपने मन की बात कहे या न कहे, पर क्या अनुरागी-पति उसके मन को भाँपे बिना रह सकता है? और कोई कितना भी छिपाना चाहे, तो क्या मन के भाव मुँह पर आने से—अनुभाव बनने से—कभी बाज आयेंगे? और अनुभाव के दर्पण—मुँह, कान, नाक, आँख, भौंह, ओष्ठादि—क्या कुछ बताये बिना रह सकते हैं? नहीं, बिना बोले ही वे बहुत-कुछ खोल देंगे।

'भावज्ञ' और 'रसज्ञ' यह बालोचित प्रश्न सुनकर अवश्य मुसकुरा उठेंगे ! 'मानस' का मर्मज्ञ-कवि मचल उठता है :

"यद्यपि प्रगट न कहेउ भवानी। हर अंतरजामी सब जानी ॥"

सदाशिव 'सर्वान्तर्यामी' होने का दावा करें या न करें, पर अपनी 'भवानी' का 'अन्तर्यामी' होने का उनका दावा तो कोई भी झुठला नहीं सकता था। दीर्घ-सहवास से समुत्पन्न उनका गाढ़ानुराग उन्हें 'पारदर्शी' बनाये बगैर कैसे रहता ? उन्होंने अपनी संगिनी की द्वन्द्व-द्विधा पहचान ली और कुछ आहत-हृदय से कहा :

"सुनहि सती तव नारि सुभाऊ। संसय अस न धरिअ उर काऊ ॥"

इतना ही नहीं, खोलकर भी कह दिया :

"सोइ रामु व्यापक ब्रह्म भुवन निकाय पति माया धनी।
अवतरेउ अपने भगत हित निज तंत्र नित रघुकुलमनी ॥"

जब बिना कहे-सुने ही शंकर सब कुछ समझ गये, तब तो 'सती' को तुरत सचेत हो जाना चाहिए था। और जब स्पष्ट स्वर में पति अपना 'विश्वास' पत्नी के सामने रख देता है, तब तो धर्मचारिणी और जीवन-संगिनी पत्नी के लिए उस 'विश्वास' को आँखें मूँदकर अपना लेने के सिवा और कोई चारा ही नहीं रह जाता है। और यह 'विश्वास-बन्धन' 'दाम्पत्य-दासता' के नाम से दूषित नहीं बनाया जा सकता है; क्योंकि वैवाहिक सम्बन्ध से दो आत्माएँ जब एक ग्रन्थि में गुँथ जाती हैं, तब, जीवन-रथ को निरापद रूप से खींच ले जाने के लिए, एक दिशा, एक लक्ष्य, एक उद्देश्य और एक विश्वास का होना दोनों के लिए वांछनीय ही नहीं, आवश्यक भी बन जाता है। अन्यथा दोनों का जीवन व्यर्थ हो जाता है, व्यर्थ ही नहीं, कुण्ठा से भी भर जाता है।

सृष्टि के रहस्य के अनुसार भी नर और नारी परस्पर-पूरक 'अंगमात्र' हैं—दोनों एक में अन्तर्हित होकर ही 'मानव' की पूर्ण संज्ञा प्राप्त करते हैं। इसीलिए दोनों एक-दूसरे के प्रति सतत आकृष्ट रहते आये हैं और इसी आकर्षण को संयत, सुन्दर और उपयोगी बनाने के लिए 'विवाह' नामक संस्था सारे संसार में संगठित हुई है।

'प्रेम का सिद्धान्त' भी नर-नारी की एकरूपता को प्रमाणित करता आया है। 'प्रेम' उस सहज 'आकर्षण' का ही दूसरा नाम है। आकर्षण ही गाढ़ा होकर 'प्रेम' बन जाता है। आकर्षण ही एक-दूसरे से मिलने-जुलने तथा आलिंगन-चुम्बनादि के लिए नर-नारी को उकसाता रहता है। यों एक-दूसरे में 'रत' होने के भाव को ही 'रति' (शृंगार का स्थायी भाव) कहा जाता है। यह रति ही 'प्रीति' में परिणत होकर 'दो' को 'एक' बना देती है।

पति-पत्नी के बीच प्रधानतया 'प्रीति' का ही नाता होता है और वही प्रीति प्रगाढ़ होते-होते 'विश्वास' का वेश बना लेती है। और 'विश्वास' आँखें बन्द कर नाक

की सीध में चलने की ही प्रेरणा देता है। तर्क उसका प्रतिपंथी है—दोनों में सहज वैर रहता है। इसलिए विश्वास तर्क से कतराता चलता है। तर्क-प्रदीप हाथ में लेकर जब कोई अपना एक लक्ष्य खोज लेता है, तब उसके लिए यह अनिवार्य हो जाता है कि तर्क से निर्धारित अपने उस लक्ष्य-पथ पर वह, बिना किसी द्वन्द्व-दुविधा के आगे बढ़े। इसके बिना लक्ष्य-सिद्धि असम्भव ही होगी। और द्विधा-शून्य स्थिति एवं प्रवृत्ति का नाम ही क्या विश्वास नहीं है ?

यों 'तर्क' विश्वास के दृढ़ होने में सहायक हो सकता है, किन्तु उसके पश्चात् भी अगर तर्क का सहारा लिया जाए, तो विश्वास-भवन के खण्डित एवं भूमिसात् होने में देर नहीं लगती।

इसलिए प्रीति के साथ 'प्रतीति' का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध माना गया है। तुलसी ने इसी को 'श्रद्धा' और 'विश्वास' बता कर भवानी और शंकर (पति-पत्नी) के सुप्रतिष्ठ आसन पर बिठा दिया है और साथ ही डङ्के की चोट घोषित भी कर दिया है :

"याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तःस्थमीश्वरम्।"

श्रद्धा और विश्वास के बिना, सामान्य जन की तो बात ही क्या, सिद्ध पुरुष भी अपने अन्तःकरण में बैठे 'परमात्मा' का दर्शन नहीं कर पाते हैं।

पति-पत्नी में 'पत्नी' ही अपने पति की अनुगामिनी क्यों बने—नारी ही नर का विश्वास क्यों करें ? पुरुष ही अपनी 'पत्नी' का अनुगामी क्यों न हो—वही नारी का विश्वास क्यों न करें ?

यह प्रश्न विचारणीय अवश्य बन जाता है। अब तक मानव-समाज में पुरुष की ही प्रधानता रहती आई है। अब नारियाँ प्रयत्न करें, कि इस क्रम में वांछनीय परिवर्तन हो और दोनों पलड़ों पर समान वजन रहे—कोई अपने को नीचा-ऊँचा न माने।

इस प्रसंग में कुछ मर्मज्ञों का यह भी कथन है, कि 'प्रेम-प्रवाह' कुछ ढाल्-भूमि ही खोजता चलता है—सम-भूमि में तो उसकी धारा अपनी गति ही खो बैठती है। इसीलिए प्रेम को गतिशील रखने के लिए कुछ 'भेद' को बनाए रखना—जमीन को ढालुआँ बनाना जरूरी समझा जाता है। क्योंकि प्रेम 'आदान-प्रदान' का भी भूखा होता है। और जब तक कहीं कुछ 'अभाव' नहीं दीखेगा, तब तक आदान-प्रदान की प्रवृत्ति तृप्त कैसे होगी ?

प्रकृति ने इसीलिए 'सुन्दर' को सुकुमार से, सुकुमार को सशक्त से, सबल को दुर्बलों से घेर रखा है।

नारियाँ अगर यह 'प्राकृतिक विधान' बदल सकें, तो पुरुष को इसमें आपत्ति ही क्या हो सकती है ?

यह भी कहा जाता है, कि 'सती' सहज संकोच-वश शिव से अपने मन की

गाँठ न खोल सकीं और 'संकोच' स्त्रियों का एक सुन्दर भूषण ही माना जाता है। प्रसाद ने तो 'कामायनी' महाकाव्य में 'लज्जा' पर एक सर्ग ही लिख दिया है।

यह झूठ नहीं है, कि 'संशय' प्रायः 'संकोच' के कीच-बीच से ही पैदा होता रहता है : और अगर संकोच को 'भूषण' मान लिया जाए, तो यह भी मान लेना होगा, कि भूषण भी जब 'तंग' हो जाता है, कस जाता है, तब अंग-भंग कर देता है, और कभी-कभी तो वह प्राण लेने पर भी उतारू हो जाता है।

सचमुच 'संकोच' एक 'हद' तक ही शोभा देता है—बेहद होने पर भूषण के बदले वह 'दूषण' बन जाता है। और महत्त्व-पूर्ण बातों में तो संकोच 'घातक' ही सिद्ध होता है। इसीलिए संकोच-शर्म अब सब जगह से अपदस्थ हैं।

'सती' के सामने पति के विश्वास को अपनाने का सवाल खड़ा था। अगर वह विश्वास अपना नहीं पाती है, तो वह एकांगी बन जाती है, और उसका जीवन-लक्ष्य—दो का एक होकर एक दिशा में कदम-से-कदम मिलाकर चलना—भ्रष्ट हो रहा था। ऐसे संकट के समय संकोच का पल्ला पकड़े क्यों रह गई—ज्ञान-गरिमा का गर्व करने वाली वह सती-साध्वी ?

इसका एक ही उत्तर निकलता है—वह बड़े बाप की बेटी थी और बड़प्पन का भाव उसकी दृष्टि को धूमिल बना रहा था—शिव के सामने वह अपने को 'अज्ञानी' क्यों साबित करे ?

इसीलिए 'मानस' का कवि कुंठित होकर कहता है :

"लाग न उर उपदेश जदपि कहेउ सिव बार बहु।
बोले बिहँसि महेसु हरि-माया-बल जानि जियँ॥"

जब विश्वास हो नहीं रहा है तो कोई लाख समझाए-बुझाए, उपदेश गले के नीचे उतरता कैसे ?

'सती' की यह मूढ़-मुद्रा शिव को और संकट में डाल गई।

वह उद्धत और उदण्ड पति तो थे नहीं जो डाँट-डपट से काम लेते। पुरुष-प्रकृति के प्रभाव के कारण इसके पूर्व ही नारी-स्वभाव पर वह कुछ छींटे छोड़ चुके थे। (जिसका अनुताप 'सभ्य शिव' को होगा ही)। इसलिए छोह-मोह के साथ 'सती' को स्वतन्त्रतापूर्वक समाधान ढूँढ़ने के लिए उन्होंने प्रेरित कर दिया।

"जो तुम्हरे मन अति सन्देहू। तो किन जाइ परीछा लेहू॥
तब लगि बैठ अहउँ बट छाहीं। जब लगि तुम्ह ऐहहु मोहि पाहीं॥"

एक सभ्य और सुशिक्षित पति का पत्नी के लिए इससे सुन्दर प्रस्ताव और क्या होता ? अगर आदमी अपने अनुभव से ही सीखता है, तो 'सती' भी सीखे।

शिव की उस उक्ति में कोई कटुता नहीं थी, कोई असहनशीलता नहीं थी और न कोई उपेक्षा ही दीख पड़ती थी। उनके हृदय में कुछ चोट तो अवश्य थी, पर

व्यवहार में सर्वत्र उदार सहयोगात्मक भाव ही सूचित हो रहे थे। सन्देह गहरा था और पति के कहने से भी समाधान नहीं हो रहा था, तो स्वयं जा कर जाँच क्यों न कर ले? जाए—तब तक पतिदेव इस बरगद की छाया में बैठ कर उसकी राह देखते हैं।

आज के उदार-से-उदार 'पति' भी क्या इससे आगे जा सकते हैं? स्वतन्त्रता देकर भी शंकर ने सहज-भाव से 'सती' को कुछ सहेज भी दिया, क्योंकि वह स्पष्ट देख रहे थे कि 'सती' खतरे की ओर कदम बढ़ा रही थी। उनका ऊँचा ज्ञान और गहरा स्नेह 'सती' के प्रति अपना कर्तव्य कैसे भूल जाता?

देखो, 'सती':

"जैसे जाइ मोह भ्रम भारी। करेहु सो जतन बिबेक बिचारी॥"

यहाँ भारी मोह और भ्रम को दूर करने के लिए यत्नवान् होने को तो कहा गया है, पर विवेक (अच्छे-बुरे का ज्ञान) से परख कर खूब सोच-विचार कर काम किया जाए, यह अंकुश भी कान में लटका दिया गया।

मानव के प्रयत्न में 'विवेक' का क्या स्थान है, अनुभवी जानते हैं। शिव ने वही सम्बल 'सती' के साथ कर दिया। भारी मोह और भ्रम में पड़ी 'सती' भले ही अपने जीवन-संगी की बातों पर भरोसा न करे, पर अपने अन्तर के साथी उस 'विवेक' को तो न भूले—जिससे बढ़कर आदमी का विश्वास-पात्र और कौन होगा?

'विवेक' अन्तरात्मा की आवाज है, वह आदमी को कभी भी बहकाता नहीं। अगर दुविधा-द्वन्द्व में पड़ा आदमी अपने 'विवेक' से पूछ कर काम करे, तो वह कभी धोखा नहीं खा सकता है।

शंकाकुल व्यक्ति प्रायः अपना सन्तुलन खो बैठता है, उसकी दृष्टि पर एक धुँधला पर्दा पड़ जाता है और जब वह सगे-सम्बन्धी का भी सहारा छोड़कर उस अगम्य पथ पर अकेला चल देता है, तब ममता और मोह का पारखी उसका सच्चा साथी बड़ी व्यग्रता से उसके हाथ में विवेक की 'मशाल' रख देता है—"कोई भी काम करो, लेकिन विवेक के पलड़े पर रख कर उसे तौल तो जरूर लो भई।"

कैसी मार्मिक सीख है! क्या आधुनिक पति इससे कुछ नहीं सीख सकता है? सनातन 'सती' के कानों में वह सीख पड़ी या नहीं—अभी देखना है।

'सती' ने अपने जीवन-संगी को कोई जवाब न दिया—वह चुपचाप परीक्षा-पथ पर चल पड़ी। इसी से शंभु समझ गए:

"मोरेहु कहें न संसय जाहीं। विधि विपरीत भलाई नाहीं।"

यहाँ 'मोरेहु कहें' में 'अभिमान' छू तक नहीं गया है। केवल सच्चे संगी होने का 'मोह' झलक रहा है—"अरे, मेरे ऐसे ममतामय साथी की बातों से भी संशय नहीं मिटा—आश्चर्य!" 'सती' की यह मूढ़ता साधारण नहीं थी, इसमें 'नियति' की वक्र-

भृकुटि शिव को दीख रही थी। इसीलिए 'सती' के भविष्य की चिन्ता से वह आकुल हो उठे—उन्हें इस आचरण में अमंगल दीखने लगा।

सद्भाव से किया हुआ आदमी का सत्प्रयत्न जब असफल हो जाता है, तब 'सज्ञान' के लिए, सारी चिन्ता छोड़ कर, विश्वात्मा की शरण में जाने के अतिरिक्त और क्या चारा रह जाता है? शंकर ने इसीलिए आह लेकर कहा :

"होइहि सोइ जो राम रचि राखा। को करि तर्क बढ़ावै साखा॥
अस कहि लगे जपन हरिनामा। ... ...॥"

'ईश्वरेच्छा बलीयसी"—आस्थावान् मानव के लिए यही 'समाधान' सुधा-समान है—इसी के बल पर वह 'प्राण-प्रिय' सगे-सम्बन्धियों की भस्म लेकर मरघट से रोता हुआ अपनी झोपड़ी में लौट आता है, और, खुद मरघट में पहुँचने तक, जीने के लिए सतत धरती के धूल-फूल से लिपटता रह जाता है!

'मानस' के श्रद्धालु पाठकों में 'शिव की वह चिन्ता' आज भी एक 'गुप्त भीति' पैदा कर जाती है, और, जन-समाज में जब तक 'मानस' का पाठ होता रहेगा, 'सती' के लिए शिव की वह 'चिन्ता' जन-मानस को हिलाती ही रहेगी।

"होइहि सोइ जो राम रचि राखा। को करि तर्क बढ़ावै साखा॥"

परीक्षा का परिणाम :

सह-धर्म-चारिणी 'सती' ने पहले दो भूलें कीं—एक तो अपने ज्ञान के गर्व में 'विश्वात्मा विभु' को नहीं पहचाना, दूसरी न तो उसने स्नेही शिव की सलाह मानी, न उनकी चेतावनी पर ही कुछ ध्यान दिया।

भारतीय परम्परा में यह एक अनोखा आचरण था अनुरक्त पति-पत्नी के बीच का।

लेकिन 'सती' वहाँ नहीं रुकी, भूल-पर-भूल करती ही चली गई!

अनुभवी इसे सहज भी मान सकते हैं; क्योंकि आदमी असावधान हो या कोई ढीठ प्रकृति का ही क्यों न हो, जब उसका पैर किसी कारण फिसल जाता है, तब सम्हलते-सम्हलते भी, वह कई कदम लुढ़कता चला जाता है, और कभी-कभी तो वह ऐसे अगम्य खड्ड में—खन्दक-खाई में जा पड़ता है, कि फिर उसका पता पाना भी असम्भव हो जाता है?

दक्ष-सुता भी बड़ी 'दक्षता' से फिसली है। अब देखना है कि वह कोमलांगी नारी कहाँ तक अपनी 'दक्षता' दिखाती जाती है?

'सती' ने बड़े साहस का काम किया - अपनी समझ से उसने विश्वात्मा 'राम' की बड़ी कड़ी परीक्षा ली। 'राम' विरह-विकल थे और पागल की तरह अपनी प्राण-प्यारी सीता को खोज रहे थे। ऐसे संकट के समय 'दक्ष' की बेटी 'सती' ने बड़ी 'दक्षता' से उनकी प्यारी 'सीता' का ही रूप धारण किया :

"पुनि पुनि हृदयँ विचार करि, धरि सीता कर रूप।
आगे होइ चलि पंथ तेहिं जेहिं आवत नर-भूप॥"

और जिस रास्ते से मनुष्यों के राजा 'राम' आ रहे थे, उसी रास्ते आगे होकर वह चली।

'सती' अपने कौशल और कला के गर्व में फूली न समा रही थी—देखो न, अभी-अमी 'विश्वात्मा विभु' की 'सर्वज्ञता' की सारी कलई खुल जाती है! देखें तो मुझे?

लक्ष्मण तो 'सती' के उस 'नाटकीय वेष' को देख कर चकित ही हो गए और भारी भ्रम में पड़ गए। वह अत्यन्त गम्भीर हो रहे—कुछ भी न कह सके।

लेकिन :

"सती कपटु जानेउ सुर स्वामी। सम दरसी सब अंतर जामी॥"

देवाधिदेव राम ने 'सती' का 'कपट' जान लिया; क्योंकि कवि की दृष्टि में वह 'प्रभु' सब कुछ देखने और अन्तर की बात भी जाननेवाले थे।

यहाँ कुण्ठा से भरा कवि नारी के 'स्वभाव' पर कुछ मृदुल आघात भी कर बैठता है :

"सुमिरत जाहि मिटइ अज्ञाना। सोइ सरबग्य रामु भगवाना॥
सती कीन्ह चह तहहुँ दुराऊ। देखहु नारि सुभाव प्रभाऊ॥"

जिनके स्मरण-मात्र से आदमी का 'अज्ञान' मिट जाता है, राम तो वही सर्वज्ञ परमात्मा थे। लेकिन 'सती' वहाँ भी दाँव-पेंच खेलने लगी। कवि नारी का स्वभाव और उसका प्रभाव देख कर 'दंग' रह जाता है। कितनी भी दक्ष, लेकिन आखिर नारी ही तो!

यहाँ कवि पर यह आक्षेप किया जा सकता है, कि एक 'सती' के आचरण को लेकर समस्त नारी-जाति पर छींटाकशी करना कहाँ तक उचित है?

लेकिन यह तो भाषा का 'जन-प्रिय प्रयोग' है—समाज के एक दो अच्छे-बुरों को लेकर ही 'साधारणी-करण' कर लिया जाता है। जैसे—'वह बदमाशों की बस्ती है', 'ब्राह्मण भिखमंगा होता है', 'कायस्थ कायर होते हैं, 'राजपूत योद्धा हैं'—आदि। और आज भी गाँवों में सुना जाता है—'नारी की बुद्धि नाक पर रहती है!'

किन्तु 'सती' के इस कपट-कौशल से कवि कुछ चिढ़ा हुआ दीखता है अवश्य; क्योंकि वह विश्वात्मा को राम के रूप में पहचानता है और उनके प्रति किसी प्रकार के विपरीत-कार्य से वह कुछ असहनशील अवश्य हो जाता है। भक्ति-पथ में कवि की यह कमजोरी क्षम्य हो जाती है, पर कवि-कर्म में 'कुण्ठा' उत्पन्न कर देती है। कवि तुलसी के रस-लोभी प्रशंसक भी यहाँ हाथ मलते ही रह जाते हैं!

विश्वात्मा राम उस छद्मवेशिनी नारी को देखकर मन-हीं-मन मुसकुरा उठे।

"निज माया-बलु हृदय बखानी। बोले बिहँसि राम मृदु बानी।
जोरि पानि प्रभु कीन्ह प्रनामू। पिता समेत लीन्ह निज नामू॥
कहेउ बहोरि कहाँ बृषकेतू। बिपिन अकेलि फिरहु केहि हेतू॥"

'सती' की इस कपट-लीला पर राम को हँसी आ गई, लेकिन उन्होंने न कोई अवहेला दिखाई न कोई कटु-व्यंग्य ही किया। उलटे हाथ जोड़कर प्रणाम किया और कुछ मुसकुराते हुए कोमल स्वर में पिता का नाम लेकर अपना परिचय दिया। फिर पूछ बैठे, कि 'सती' के पति 'बृष-केतु' महादेव आज कहाँ हैं, और वह जंगल में यों अकेली क्यों घूम रही है?

राम की मुसकुराहट, हाथ जोड़कर उनका प्रणाम करना और पिता का नाम बताकर अपना परिचय देना आदि 'सती' को स्पष्ट बता गया, कि सौजन्य के भीतर से भी राम उसकी मखौल उड़ा रहे हैं—"सती, तुम ऐसी ना-समझ हो! मेरे साथ कौशल करने चली हो! तुम अगर मुझे ठीक-ठीक न जानती हो, तो सुन लो—मैं 'दशरथ-पुत्र' राम हूँ। लेकिन मैं तुम्हें खूब पहचानता हूँ, तुम मेरी सीता नहीं, वृषभ-वाहन शिव की 'सती' हो।"

राम का व्यंग्य अन्त में बड़ा चुभीला हो जाता है, जब वह सती के पति का 'वृषकेतु' कह कर परिचय देते हैं और 'अकेलेपन' पर शंकित मन से प्रश्न कर बैठते हैं। उनके इस कथन में जैसे वह स्पष्ट उसे कोस रहे हों:

"सती, तुम्हें और तुम्हारे पतिदेव को मैं खूब अच्छी तरह पहचानता हूँ। देखो—मैं तुम्हारा पति नहीं हूँ, तुम्हारे पति तो हैं 'वृषभ-वाहन शिव'; लेकिन आज जाने वह 'भोलानाथ' कहीं भटक गये हैं, जो तुम यों स्वतन्त्र होकर जंगल में घूम रही हो। क्या उनका 'वृषभ' कहीं खो गया है?"

'सती' साफ समझ गई, कि 'नारी' का केवल पर्दा ही फाश न हुआ, बल्कि उसकी पूरी फजीहत भी हो गई। नकली वेश में भी राम उसे पहचान गये और साथ ही उन्होंने कसकर उस पर चाबुक भी चला दिया, कि शिव की स्त्री को ऐसी स्वच्छन्दता, ऐसा अनुचित स्वाँग नहीं भरना चाहिए—यों पर-स्त्री का वेश बनाकर एक पर-पुरुष के सामने नहीं आना चाहिए।

राम का बर्ताव एक ओर जहाँ शिष्ट और संयत तो है, दूसरी ओर उनका प्रश्न बड़ा ही गूढ़ तथा व्यंग्य-परिपूर्ण हो गया है। लगता है, कवि ने जान-बूझकर उसे ऐसा मार्मिक और चुटीला बना दिया है।

अपना परिचय जो उन्होंने सती को दिया, वह तो कुछ अनोखा नहीं है, पर उनका हाथ जोड़कर प्रणाम करना और पूछ बैठना कि 'वृषकेतु' कहाँ हैं और वह यों जंगल में अकेली क्यों घूम रही है?—यह तो 'सती' के मर्म-स्थल में विष-बुझा बाण ही भोंक देता है।

राम के इस अद्भुत आचरण में एक ओर भरपूर विनयशीलता पाई जाती है,

आदर-युक्त बर्ताव दीखता है; दूसरी ओर, उनकी सरल जिज्ञासा के आवरण में, सती के 'सतीत्व' के प्रति शंका और गूढ़ 'अवज्ञा' भी झलक रही है। कवि ने कुछ सोच-समझकर ही 'वृषकेतू', 'बिपिन', 'अकेलि', 'केहि हेतू'—आदि शब्द राम के मुख में डाल दिये हैं।

उस प्रश्न को सुनकर 'सती' को केवल राम का विश्वात्मा-विभुवाला 'सर्वान्तर्यामी' रूप का ही ज्ञान न हुआ, वह यह भी समझ गई, कि यह 'विभु' धनुष-बाण के साथ-साथ व्यंग्य-बाण बरसाना भी खूब जानते हैं!

अजन्मा शिव 'वृषभ-वाहन' हैं और 'सती' उन्हीं की सहचरी है, फिर वह 'पद-चारी' राम के रास्ते में क्यों बैठी है—जो दशरथ-पुत्र भी हैं? 'वृषभ' की सहचरी 'गाय' तो सरल, सीधी, और घरेलू प्राणी होती है। और अच्छी 'गाय' का पेट तो अपने खूँटे पर ही भर जाता है—वन-वन घूमकर पेट भरने की जरूरत प्रायः उसे नहीं पड़ती है। और अगर कभी वह वन में जाती भी है, तो 'अकेली' नहीं, क्योंकि वहाँ बाघ-भेड़िए का डर तो बना ही रहता है। इसलिए संगी-साथी का होना आवश्यक होता है। राम की 'सीता' जंगल' में जरूर आई थी, पर अकेली नहीं, अपने जीवन-संगी के साथ। फिर 'वृषकेतु' की यह सधी 'गाय' आज यह 'स्वाँग' क्यों भर रही है—'सीता' का वेश बनाकर यों पर-पुरुष 'राम' का रास्ता क्यों रोक रही है!

'सती' तुलसी के राम को छकाने, कवि के 'परमात्मा' को ठगने और उनकी कड़ी जाँच करने चली थी। बेचारी खुद ऐसी छकी, ऐसी मुँह की खाई, तराजू पर ऐसी तुली, कि लज्जास्पद ढंग ऊँचे टँग गई—बेपर्द बन गई। उसकी सारी कलई साफ खुल गई!

राम का 'व्यंग्य' उसे साफ बता रहा था—'सती' तुम ऐसी नादान हो जाओगी, कि 'सीता' का वेश बना लोगी, मैंने कल्पना भी न की थी। तुम मुझे न जानती हो, पर मैं तो तुम्हें और तुम्हारे इस स्वाँग को खूब पहचानता हूँ। अरी, मैं बे-माँ-बापवाला तुम्हारा 'वृषकेतु' नहीं हूँ, दशरथ-पुत्र राजकुमार 'राम' हूँ। मेरा रास्ता छोड़ दो नादान नारी! यह नकली वेश उतार कर जाओ—अपने 'बमभोले' को ढूँढ़ो। शायद उनका 'बैल' आज कहीं भटक गया है, इसीलिए क्या तुम्हारी मति-गति यों अद्भुत हो रही है? मैं तो अपनी 'सनातन संगिनी' को ढूँढ़ रहा हूँ—तुमको नहीं। मेरी सीता को कोई 'हर' ले गया है वह यों किसी को छलना नहीं जानती है।

एक पतिव्रता, प्रतिष्ठिता और ज्ञान-गर्विता नारी के लिए इससे बढ़कर कड़ी भर्त्सना और क्या हो सकती थी?

अब 'सती' की दशा अनुभव-गम्य थी। वह असती तो थी नहीं, वह तो केवल 'अहं' के बहकावे में पड़ी हुई थी, केवल अधूरे ज्ञान के गर्व में झूल रही थी, केवल बौद्धिक-विलास के कारण अपने प्रशस्त-पथ से थोड़ा फिसल पड़ी थी।

जैसे एक बरसाती चींटी अपने नवजात तथा क्षण-स्थायी पंखों को फड़फड़ाकर अनन्त व्योम का विस्तार लेने निविड निशा में उड़ पड़े, और सबेरा होने के पूर्व ही,

जन-पथ पर अपने टूटे पंखों के साथ खेलवाड़ करती धूल में तड़पती पाई जाए। 'सती' भी उसी हालत में पड़ी दीख रही थी।

'सती' राम के व्यंग्य-बाण से कट गई थी, उसका तन-मन छिन्न-भिन्न हो गया था और वह आत्म-ग्लानि से सिर धुनने लगी थी। उसका 'अहं' आहत हो गया था और उसका ज्ञान-गर्व चूर-चूर होकर शून्य में बिखर पड़ा। और वह नहीं जानती थी, कि अपनी इस दुर्गति के लिए वह किसे कोसे—अपने को, अपने ज्ञान को या अगम्य विधि को—जिसने प्रेरित करके उसे यों 'पतित' बना दिया था?

हाय, 'अधकचरा-ज्ञान' कितना घातक होता है!

अनुताप का आरम्भ :

सज्ञान 'सती' की अन्तर्दशा अनुभव-गम्य थी। उसका सारा गर्व चूर-चूर होकर, पानी-पानी होकर बह गया; वह अन्दर-ही-अन्दर कट गई और लुटी-सी, खोई-सी, अस्तित्व-शून्य-सी, हवा में डोलती, शिव के पास पहुँची। कवि के शब्दों में :

"राम बचन मृदु गूढ़ सुनि, उपजा अति संकोचु।
सती सभीत महेस पहिं चलीं हृदयँ बड़ सोचु॥"

राम का बचन ऊपर से कोमल था, पर उसके भीतर जो गूढ़ व्यंग्य छिपा हुआ था, उसे सुन कर 'सती' मर्माहत हो गई और बड़ा भारी संकोच पैदा हो गया उसके मन में। यों सहमती और चिन्ता में गोते खाती वह महेश—अपने पतिदेव के पास चली। बेचारी का हृदय अनुताप की तेज आग में जल रहा था।

डर ओर सोच—ये ही दो फल, दोनों हाथ में लेकर, लौटी—वह बड़े बाप की बेटी!

किन्तु यहाँ भी नारी का पैत्रिक 'अहं' उससे चिपका ही रह गया। विश्वात्मा का विराट्, अनन्त और अनेक में एक वाला रूप उसने अवश्य देखा था :

"सोह रघुबर सोइ लछिमनु सीता। देखि सती अति भई सभीता॥"

सब जगह वही राम, लक्ष्मण और वही सीता—यह अद्भुत लीला देख कर 'सती' सभीत भी हो गई थी—अत्यन्त डर भी गई थी, फिर भी उसका वांछित प्रभाव उस पर नहीं पड़ा था। उस विश्व-रूप दर्शन से ही उसका 'अज्ञान' नष्ट हो जाना चाहिए था, पर यह नहीं हो सका; क्योंकि यह 'दर्शन' अपराध की अवस्था में हुआ था और भीतावस्था 'पारदर्शी' ज्ञान को अपनाने में असमर्थ हो जाती है। एक डरा हुआ आदमी डराने वाले के चरणों में लोट सकता है, जो कहा जाए विनीत भाव से कर सकता है, पर उसका हृदय भक्ति-भाव से उत्फुल्ल नहीं हो सकता है—वह तो संकुचित ही रह जाता है। और 'संकोच' पूर्ण-ज्ञान को अपने पास फटकने कहाँ देता है?

'सती' ने कौतुक-वश एक छोटा-सा नाटक खेला, बदले में उसे एक 'महानाटक' देखने को मिला। शर्म और संकोच से, व्यंग्य और विषाद से, अपमान और अनुताप

से वह पहले ही घायल थी, अब इस महानाटक को देखकर उसका रहा-सहा होश-हवाश भी जाता रहा :

"हृदय कंप तन सुधि कछु नाहीं। नयन मूँदि बैठी मग माँहीं॥
बहुरि बिलोकेउ नयन उघारी। कछु न दीख तहँ दच्छ कुमारी।
............................चली तहाँ जहँ रहे गिरीसा॥"

सती का हृदय काँप रहा था और शरीर की सब सुध-बुध जाती रही थी। अतः आँखें मूद कर वह रास्ते में ही बैठ गई। कुछ देर बाद जब फिर उसने नेत्र खोले, तो वहाँ उसे कुछ भी नहीं दीख पड़ा—'महानाटक' गायब था। दक्ष की बेटी ने भय-विह्वल होकर राम के चरणों में पुनः पुनः सिर नवाया और वह चिन्ता में झूलती 'गिरीश' के पास चली।

नारी का यह 'स्वैर-विहार' भारतीय संस्कृति को वांछनीय नहीं रहा है। आज का यह स्वातन्त्र्य-प्रिय युग भी, मुँह से चाहे जो कहे, पर दिल से इसे कभी पसन्द नहीं करेगा।

वह 'बड़े बाप की बेटी' अगर अब भी सम्हल जाती, अगर आते ही अपने जीवन-संगी से खोल कर सब बातें कह देती, अपनी गलती मान लेती, तो मामला बेढब नहीं बनता : लेकिन वह 'दक्ष-सुता' तो लुढ़की, और लुढ़कती ही गई—भूल-पर-भूल, अपराध-पर-अपराध करती ही गई।

समीप आनेपर प्रतीक्षा में बैठे उसके प्रिय पति ने प्यार से पूछा :

"लीन्ह परीक्षा कवन बिधि, सत्य कहहु सब बात॥"

किस तरह परीक्षा ली? सब बात सच-सच कह देने का आग्रह शिव ने किया। यहाँ 'सत्य' का प्रयोग साभिप्राय हुआ है—शंका स्पष्ट है।

इतना स्पष्ट और गम्भीर होकर पति के पूछने पर भी पत्नी सफेद झूठ बोल गई। कवि उसकी समीक्षात्मक व्याख्या उपस्थित करता है :

"सती समुझि रघुबीर प्रभाऊ। भय बस सिव सन कीन्ह दुराऊ॥
कछु न परीक्षा लीन्हि गोसाईं। कीन्ह प्रनामु तुम्हारिहि नाईं॥"

'सती' ने रामचन्द्र का प्रभाव समझ कर भय-वश शिव से छल कर दिया—झूठ बोल गई। कहा—"मैंने कोई परीक्षा न ली--आप की तरह ही मैंने भी उन्हें प्रणाम किया।"

इतना ही नहीं, सर्वज्ञ शिव के साथ वह कुछ चालाकी भी खेल गई।

"जो तुम कहा सो मृषा न होई। मोरे मन प्रतीति अति सोई॥"

भली औरत भोली बन बोली—"आप ने जो कहा, वह झूठ थोड़े ही हो सकता है। मेरे मन में आपकी बातों पर गहरा विश्वास जो है!"

हाय री अज्ञ नारी, अपने सरल साथी के साथ यह छल-प्रपंच, यह अलीक

आलाप—सो भी यह जानते हुए, कि शिव सर्वज्ञ हैं—ऐसे मर्मज्ञ हैं, कि उनसे कुछ भी छिपा नहीं रह सकता है !

ऐसी ही कमजोरी देख कर प्रख्यात पाश्चात्य नाट्य-कार शेक्सपियर ने भी एक जगह लिख दिया है :

"Frailty is thy nature, O woman !"

'दुर्बलता तेरा स्वभाव है, ऐ नारी !' भारतीय भाषा में इसे 'भीरु' की संज्ञा दी गई है—'भीरुता' में दुर्बलता, संकोच और फिसलन-शीलता का समावेश सहज ही हो जाता है ।

त्रिलोचन शंकर ने सहमी 'सती' की इस लल्लो-चप्पो से भरी बात पर विश्वास तो नहीं किया, पर मुँह खोलकर उन्होंने उसका खण्डन भी नहीं किया । यह एक 'आदर्श पति' का सौजन्य-पूर्ण आचरण था—जिसका अनुकरण आज भी सर्वत्र होना चाहिए । किन्तु शंकर का अनुभव और उनकी साधना अत्यन्त गहरी थी । ध्यान धर कर उन्होंने सब कुछ जान लिया । कवि का कथन है ।

"तब संकर देखेउ धरि ध्याना । सती जो कीन्ह चरित सब जाना ॥"

परित्याग की प्रतिज्ञा :

'सती' का वह अनुताप असली नहीं था—ऊपरी था । उनका 'अहं', उनका कौशल, उनकी मिथ्या प्रतिष्ठा बार-बार उनके अनुताप की आग पर पानी छिड़कती रही । इसीलिए वह अनुताप उनके अन्तर को निर्मल न बना सका—उलटा उनके सन्ताप को ही प्रतिपल बढ़ाता चला ।

'सती' का समस्त चरित्र जब शंकर के ध्यान-योग में आ गया, तब वह एक गहरे द्वन्द्व—भारी दुविधा में पड़ गए । वह 'दुविधा' थी अन्तरतम की, भक्ति-पथ की, भावना-लोक की । शिव राम को किस दृष्टि से देखते थे, कवि मानो अपना ही हृदय टटोल कर कहता है ।

"सेवक स्वामि सखा सिय-पिय के ।"

जो अपने को सेवक, स्वामी और सखा सब कुछ मानता हो, उसकी भक्ति कैसी अनूठी होगी—सहृदय-संवेद्य है ।

और यह सम्बन्ध 'एकांगी' नहीं था, राम ने भी शिव के प्रति अपनी उच्च भावना को जगह-जगह व्यक्त कर दिया है । जैसे लंका कांड के प्रारम्भ में ।

"लिंग थापि बिधिवत करि पूजा । सिव समान प्रिय मोहि न दूजा ॥
सिव द्रोही मम भगत कहावा । सो नर सपनेहुँ मोहि न भावा ॥
संकर बिमुख भगति चह मोरी । सो नारकी मूढ़ मति थोरी ॥
संकर प्रिय मम द्रोही, सिव द्रोही मम दास ॥
ते नर करहिं कलप भरि, घोर नरक महँ बास ॥"

शिव-लिंग स्थापना की गई, फिर विधिवत् पूजा करके भक्ति-सागर में एक महान् आलोक-स्तम्भ खड़ा कर दिया राम ने अपनी उदार घोषणा से। उन्होंने कहा—"शिव के समान मुझे दूसरा कोई प्यारा नहीं है। जो शिव का द्रोही होकर मेरा भक्त होने का दावा करता है, वह स्वप्न में भी मुझे प्राप्त नहीं कर सकता है। शंकर के विमुख होकर जो मेरी भक्ति चाहता है, वह नरक-गामी, मूढ़ और बुद्धिहीन है। जो शंकर को प्यार करे और मुझसे द्रोह रखे, साथ ही जो शिव का द्रोही हो और मेरा दास होने का दम्भ करे—दोनों ही महान् पातकी हैं और अनन्त काल तक वे नरक में निवास करेंगे।"

एक समय इस देश में एक ऐसी अवांछनीय स्थिति उत्पन्न हो गई थी कि 'शिव-भक्ति' और 'विष्णु-भक्ति' के नाम पर उनके भक्तों में घोर 'संघर्ष' होने लग गया था। दक्षिण भारत उसका विशेष 'अड्डा' बन गया था। वहाँ के 'शिव कांची' और 'विष्णु कांची' नाम वाले पुण्यस्थल अब भी बहुत-कुछ कहते-सुनते रहते हैं।

लेकिन सौभाग्य से उत्तर भारत में भक्ति-पथ का यह संकीर्ण 'राग-द्वेष' अपना सिर ऊँचा न उठा सका। इस उदार 'समन्वय भावना' की स्थापना में तुलसी के 'राम-चरित मानस' ने कितना बड़ा काम किया है, ऊपर के कथनों से यह सहज ही जाना-समझा जा सकता है।

'राम' के ऐसे अनूठे भक्त-शिरोमणि 'शिव' ने भक्ति के दर्पण में जब 'सती' का वह विकृत रूप देखा, तब वह अन्तरतम से काँप उठे :

"सती कीन्ह सीता कर बेषा। सिव उर भयेउ बिषाद बिसेषा॥
जौं अब करउँ सती सन प्रीती। मिटइ भगति-पथु होई अनीति॥

परम पुनीत न जाइ तजि, किएँ प्रेम बड़ पापु।
प्रगटि न कहत महेस कछु, हृदय अधिक संतापु॥"

'सती' ने सीता का वेश बनाया था, इससे शिव के हृदय में विशेष विषाद हुआ। उन्होंने सोचा—"अगर अब मैं 'सती' के साथ पति-पत्नी के समान प्रीति करूँ तो बड़ी अनीति होगी और भक्ति-मार्ग मिट जाएगा।" किन्तु इनका पारस्परिक प्रेम बड़ा ही पवित्र था, वह छोड़ा भी नहीं जा सकता था। उनका दिल बड़ा कचोटता रहा। और अगर पूर्ववत् प्रेम किया जाए, तो बड़ा पाप होगा। कवि टिप्पणी देता है, कि परितप्त पति पत्नी के सामने स्पष्ट कुछ कहता तो नहीं, पर उसके हृदय का संताप अनुक्षण बढ़ता जा रहा था।

यहाँ महेश्वर के हृदय के साथ कवि का हृदय भी 'कसकता' जान पड़ता है। उसके जीवन में भी कभी ऐसा ही द्वन्द्वात्मक प्रसंग उपस्थित हुआ था। यह तो लोक-प्रसिद्ध है ही, कि वह अपनी पत्नी के प्रेम में आतुर एवं आसक्त था और जब उसी पत्नी ने अति दृढ़ता के साथ उस पर व्यंग्य-बाण छोड़े :

"लाज न लागत आप को, दौड़े आएहु साथ।
धिक धिक ऐसे प्रेम को कहा कहहुँ मैं नाथ ॥"

—तब उसकी जो हालत हुई—क्या महेश की वाणी में उसकी वही सघन 'अनुभूति' छन-छन कर ऊपर आने का रास्ता नहीं ढूँढ़ रही है ?

'रत्नावली' का प्रेम कवि के उस जीवन और यौवन का सार था। वह परम-आसक्त पति-पत्नी का प्रेम था, अतः परम पवित्र था। उसे छोड़ते समय—रत्नावली से मुँह मोड़ते समय, कवि किस कश-म-कश में पड़ गया होगा, उसका दिल कितना रोया होगा, उसका संसार कितना सूना हो गया होगा—क्या महादेव के उस सन्ताप-स्वर में वह 'ध्वनित' नहीं हो रहा है ?

ठीक, कवि को अपनी रचना से अलग नहीं किया जा सकता है। सच ही अपनी रचना के अक्षर-अक्षर के अन्तराल में बैठा हुआ वह झाँका करता है।

अनुभूति के भी कई 'स्तर' होते हैं—कवि का अनुभव कई जगह से सिमट कर 'सघन' होता और अनुभूति में बदलता रहता है, लेकिन सबसे पहली और सबसे मार्मिक उसकी अपनी अनुभूति होती है। समर्थ-से-समर्थ कवि भी इस नग्न तथ्य से असंपृक्त नहीं हो सकता, दूर नहीं जा सकता है—यह तो 'मनोवैज्ञानिक' सत्य है। परन्तु 'कलात्मक' सत्य भी उतना ही जबर्दस्त है, कि कोई कलाकार अपनी रचना में अपने को कितनी गहराई से, कितने कौशल से छिपाए रख सकता है—जिससे झाँकी-झलक मिलते रहने पर भी, वह पकड़ में न आ सके। कवि-कर्म की सबसे बड़ी सफलता इस द्वन्द्व-विधान में ही समझी जाती है।

किसी का हृदय कितना भी रोए, किसी का कलेजा कितना भी क्यों न कसके, उसका कदम चाहे कितना भी आगा-पीछा क्यों न होता रहे, पर जीवन की माँग जब तीव्र हो जाती है, जब किसी का जीवन 'चौराहे' पर आ खड़ा होता है, तब पुनीत-से-पुनीत प्रेम को भी तिलांजली दे देनी पड़ती है—अन्तरंग-से-अन्तरंग साथी से भी अलग हो जाना पड़ता है। सदा से ऐसा ही होता आया है और आगे भी ऐसा ही होता रहेगा।

महादेव का 'भक्ति-पथ' कहता था—सती ने 'पूज्या' सीता का रूप धारण किया और उसी रूप में वह उनके 'आराध्य-देव' राम के सामने जा खड़ी हुई। अतएव महादेव की दृष्टि में 'सती' उनके लिए पत्नी नहीं, बल्कि 'पूज्या' हो गई। उनके साथ पति-पत्नी का प्यार, बर्ताव या सम्बन्ध अब 'सम्भव' नहीं हो सकता।

ऐसा आभास होते ही 'महाभक्त' महादेव ने अपनी अन्तरात्मा से पूछा—तो अब सती के साथ कैसा बर्ताव किया जाए ? उसने निर्देश दिया :

"एहिं तन सतिहि भेंट मोहि नाहीं। सिव संकल्प कीन्ह मन माहीं ॥"

इस शरीर के साथ 'सती' से भेंट अब संभव नहीं—अर्थात् पत्नी के रूप में अब शिव 'सती' ग्रहण नहीं कर सकते। उनके मन में यह संकल्प दृढ़ हो गया।

पति-पत्नी के बीच शारीरिक सम्बन्ध की केवल गुंजाइश ही नहीं, 'आवश्यकता' भी रहती आई है। शिव के 'संकल्प' से उसी के 'त्याग' की ध्वनि मिलती है।

यह संकल्प करते ही शिव के बर्ताव में भी अन्तर आ गया। परिस्थितियाँ बदलीं तो प्रवृत्तियाँ भी बदल गईं और मुँह खोल कर न कहने पर भी, प्रकृति सब कुछ बता गई। देवताओं ने तो आकाश-वाणी के द्वारा अपने अभिनन्दन-स्वर को दिग्-दिगन्त में भी फैला दिया।

"अस पन तुम्ह बिन करइ को आना। राम भगत समरथ भगवाना॥"

ऐसा प्रण शिव के बिना दूसरा कौन कर सकता है? क्योंकि शिव तो राम के अनन्य भक्त, समर्थ और अन्तर्यामी देवता थे।

'आकाश-वाणी' सुनकर 'सती' चौंक उठी और धीरे-धीरे वह घोर चिन्ता में पड़ गई। फिर उसने संकोच के साथ शिव से पूछा:

"कीन्ह कवन पन कहहु कृपाला। सत्य धाम प्रभु दीन दयाला॥"

शिव सत्य-धाम, दीन-दयालु प्रभु थे। सती ने साग्रह पूछा—'कृपा कर बताइए, कि आपने कौन-सा प्रण किया है—जिसकी प्रशंसा आकाश में हो रही है?'

यद्यपि 'सती' ने बहुत तरह से अनुरोध किया, पर त्रिपुर-आराति शिव ने उस पर कोई ध्यान न दिया। बस, उनका बर्ताव बदल गया—शिव का हृदय 'सती' के प्रति कुछ निरपेक्ष हो गया—वह दृढ़ता से तटस्थ हो गए। तब:

"सती हृदयँ अनुमान किय सबु जानेउ सर्बग्य।
कीन्ह कपट मैं संभु सन नारि सहज जड़ अज्ञ॥"

'सती' ने अपनी अन्तर्दृष्टि से देखा और वह सब-कुछ समझ गई, कि सर्वज्ञ शिव ने उसका सारा रहस्य जान लिया है। उसने अपने 'शिव' के साथ छल किया—हाय, कैसी जड़ और मूर्ख नारी है वह!

'नारि सहज जड़ अज्ञ'—इस कठोर कथन के लिए तुलसीदास काफी कोसे गए हैं—नारी को सहज 'जड़-अज्ञ' की उपाधि कवि ने क्यों दी?

परन्तु विचारणीय बात तो यह है, कि यह कथन प्रत्यक्ष रूप में कवि का नहीं है। अपनी गलती महसूस करके नारी अपने-आप को कोस रही है—जो एकदम मौजूँ है। हाँ, कवि की भावना उसका 'समर्थन' कर रही है, यह तो स्पष्ट है ही। और वह 'समर्थन' मात्र उसके युग का नहीं, अनेकों युग का 'समर्थन' पाता आ रहा है! फिर केवल तुलसी ही कठघरे में क्यों खड़े किए जाएँ?

मरण की याचना:

अब तक सती 'अहं' और कला-कौशल के झूले पर झूलती आई थी—कभी प्रतिकूल परिस्थिति से डर जाती, तो कभी विस्मय में पड़ जाती थी, कभी थोड़ा विषाद भी कर लेती थी और कभी थोड़ा संकोच भी उसे हो जाता था: लेकिन यह सब-

उसके मन का खेल-मात्र था—केवल 'अहं' का बहकावा भर था, केवल ऊपरी स्तर पर दाँव-पेंच की कलाबाजी थी। लाड़ली पत्नी भोले-पति के साथ सिर्फ आँख-मिचौनी खेल रही थी !

लेकिन जब शंकर का जाना-पहचाना 'रुख' बदल गया, उन्होंने कठोर होकर जब 'मौन' धारण कर लिया, उससे बात-चीत भी बन्द कर दी, निरपेक्ष होकर अपना ध्यान दूसरी ओर लगा दिया—

तब :

"संकर रुख अवलोकि भवानी। प्रभु मोहि तजेउ हृदयँ अकुलानी ॥
निज अघ समुझि न कछु कहि जाई। तपइ अवाँ इव उर अधिकाई ॥"

शंकर का वह कठोर रुख देखकर सती समझ गई, कि पतिदेव ने उसे छोड़ दिया—शिव ने उससे अपना नाता तोड़ लिया; तब वह अन्तर से आकुल हो उठी। अपना 'अपराध' समझकर उससे कुछ कहा तो नहीं जाता था, लेकिन उसका कलेजा कुम्हार के आवाँ की तरह तेजी से कड़कने लग गया !

यहीं से 'सती' के मन में असली 'अनुताप' शुरू होता है। जीवन-संगी ने उसे छोड़ दिया, वह अब पति-परित्यक्ता हो गई, दुनिया में उसका अब 'अपना' कोई न रहा, उसकी सारी पद-प्रतिष्ठा अब धूल में मिल गई। और जब अपने इस 'दुर्भाग्य' का कारण उसने खोजा, तब स्पष्ट हो गया :

"मैं जो कीन्ह रघुपति अपमाना। पुनि पति बचनु मृषा करि जाना ॥
सो फलु मोहि बिधाता दीन्हा। जो कछु उचित रहा सोइ कीन्हा ॥"

'सती' ने सीता का रूप बना कर रामचन्द्र का अपमान किया और अपने पति के वचन पर अविश्वास किया, उसी दुहरे पाप का फल विधाता ने उसे दिया है और जो उचित था, वही हुआ है—जैसी करनी, वैसी भरनी !

आज का यह प्रगतिशील युग, ऐसी स्थिति में, कदाचित् यों पछताने या आँसू बहाने नहीं बैठेगा। पति हो या पत्नी, परिस्थिति बदलते ही, वे दौड़कर 'कोर्ट' की शरण लेंगे और न्यायाधीश से 'तलाक' रूपी 'वरदान' की प्रार्थना करेंगे। और वह 'वरदान' प्राप्त होते ही पुनः अपने 'स्वैर-विहार' में यों तन्मय हो जायँगे, जैसे उसके जीवन में कभी कोई 'असाधारण' बात हुई ही नहीं, जैसे पति-पत्नी का सम्बन्ध 'पानी की लकीर हो'—जो एक ओर से बनती और दूसरी ओर से मिटती चली जाती है !

लेकिन भारतीय परम्परा ने नर-नारी के संबंध को ऐसा क्षण-भंगुर नहीं बनाया है, ऐसा गरिमा-शून्य नहीं होने दिया है, नदी के प्रखर प्रवाह में बहते-हुए तुच्छ 'तिनके' का रूप उसे नहीं दिया है—जो आकस्मिक संयोग से कुछ क्षण के लिए मिल जाएँ, थोड़ी देर साथ रहें, हँसे-खेलें, और-जरा-सा आघात पाते ही, छिटक कर, विपरीत दिशा में, बह जाएँ।

पश्चिम के सुप्रसिद्ध नाटककार हेनरी इब्सन ने अपने नाटक 'खिलौना घर' की सती-साध्वी नायिका 'नोरा' को इसी तरह बात-की-बात में सुख-सम्मान वाले घर से निकाल कर उसे अनजान पथ पर छोड़ दिया था दर-दर भटकने के लिए। दुःख की बात तो यही है, कि 'नोरा' की उसी तुनुक-मिजाजी को आज 'स्त्री-स्वातंत्र्य' का लुभावना आदर्श समझा जाने लगा है!

किन्तु भारत की नारी अपनी और पराई 'परम्परा' को पूर्णतया परख कर ही अपने 'पथ' का चुनाव करने जा रही है। 'सती' का चरित्र उसके उस चुनाव में विश्वासी-साथी का काम करेगा, यह साधिकार कहा जा सकता है।

'सती' ने अपनी भूल देखी, उसकी गहराई भाँपी, उसका कडुवा फल चखा और उसे उचित माना :

"जो कछु उचित रहा सोई कीन्हा।"

यहीं से 'अनुताप' की आग उन्हें जलाने-गलाने लगी और साथ ही उनके अन्तर को 'निर्मल' भी करने लगी। दर-असल बात यह है, कि आदमी अपनी ओर देख कर जब पछताने लगता है, अपने आप को अन्दर से कोसने लग जाता है, तब उसका 'अहं', पतझड़ के पत्ते की तरह, अनायास झड़ पड़ता है और उसका हृदय पाप-भार से, अनुताप-क्रम से, हलका होने लग जाता है। अनुताप जितना गहरा होगा, वह जितना तीव्र होगा और उसमें जितनी दृढ़ता रहेगी, उसका पाप भी उसी अनुक्रम से क्षीण होता जाएगा।

'अनुताप' ही आदमी का सच्चा मित्र होता है, पछतावा ही पाप-पंक से खींच कर 'पापी' को 'पतित-पावन' के पाद-पद्मों में लुटा देता है; अनुताप ही सच्ची प्रार्थना है, साधना-सौध पर जाने का वही सुदृढ़ सोपान है। अनुताप ही आदमी के तन-मन को, अन्दर से माँज कर, निर्मल कर देता है।

साधारणतया आदमी की दृष्टि बाहर-ही-बाहर देखा करती है, सभी कामों के लिए उसकी दृष्टि दूसरे को ही दोषी बनाती रहती है। इसी से मानव-समाज में प्रतिपल 'दुःख-द्वन्द्व' तेजी से बढ़ता जाता है।

अनुताप, अपनी भूलों के लिए अपने-आप में गलना-घुलना, कट-कट जाना, पाप के कडुए फल को चखते हुए प्राणों पर खेल जाना, पर दूसरे को भला-बुरा नहीं कहना, भगवान् को भी दोष न देना—आत्म-परिष्कार का—अन्तर की सफाई का यही प्रशस्त-पथ है, एक यही मोक्ष-द्वार है।

साधारण मनुष्य का मन 'चंचल' माना जाता है, उससे जान और अनजान में सदा ही कुछ-न-कुछ अनुचित कर्म होते रहते हैं। परन्तु जो दूसरों की आँखों में धूल झोंककर अपने पापों पर पर्दा डाले रहना चाहता है और ढिठाई के साथ भूल-पर-भूल करता जाता है, उसका मोक्ष-द्वार कड़ाई के साथ बन्द हो जाता है।

'सती' का यह सौभाग्य ही माना जायगा, कि उसने वैसी कोई 'मूर्खता' नहीं की। उसने शान्तचित्त से, विवेक-बुद्धि से, अपने अपराधों को देखा-परखा। यद्यपि उसे दारुण दण्ड दिया गया था—पति के द्वारा 'परित्याग' से बढ़ कर भारतीय नारी के लिए दूसरी कोई सजा नहीं हो सकती है, तथापि वह मूढ़ नहीं हो गई, अपनी भूल और उसका दण्ड—दोनों को उसने तराजू के पलड़ों पर चढ़ाया; और उसके 'औचित्य' के आगे निर्विकार भाव से सिर झुका दिया।

'सती' के लिए ही नहीं, समस्त मानव-समाज के उद्धार का भी यही प्रशस्त-पथ है। जैसे ही आदमी अपने पाप और उसके परिणाम का कायल हुआ, वैसे ही वह पुण्य के प्रकाश में आ गया। और जब एक बार पुण्य के प्रसन्न प्रकाश में कोई आ खड़ा होता है, तब उसके घोर-से-घोर पाप के भी पैर काँप उठते हैं और वह शुचिता की ओर शीघ्रता से बढ़ जाता है।

मानव-जगत् के सभी धर्मों में इसी आत्म-निरीक्षण को, आत्म-भर्त्सना को और आत्म-प्रक्षालन को 'आत्मोद्धार' का प्रथम साधन कहा गया है। इसी के पश्चात् आदमी 'प्रसन्न' होता है, और फिर :

"सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। अहं त्वां सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच॥"

वाला विश्वात्मा 'विभु' पुकार उठता है—'सब धर्मों को छोड़कर एक मेरी ही शरण में आ जाओ। कोई चिन्ता न करो—मैं सभी पापों से तुम्हारी रक्षा करूँगा—तुम्हें सभी आपदाओं से अक्षुण्ण रखूँगा।'

अब 'सती' ने उसी 'पुनीत-पथ' पर पग रखा। जब दुनिया ने उसे दुत्कार दिया, तब विस्मय और विषाद के विषम बन्धनों को तोड़ती वह आत्म-निरीक्षण, आत्म-मन्थन और आत्म-चेतना के प्रशस्त-मार्ग पर चल पड़ी।

प्रायः यह तो देखने में आता है, कि 'अभिमानी' आदमी जितनी तेजी से नीचे गिरता है, उतनी ही शीघ्रता से वह ऊपर भी उठ जाता है।

स्वाभिमानी 'सती' भी ठोकर खाकर गिरी और लुढ़क पड़ी। कुछ दूर, आवेग-वश, लुढ़कती ही गई और धूल से भर गई; परन्तु वहाँ निश्चेष्ट होकर वह पड़ी न रही। धीरे-धीरे उठी, 'अहं' की दमघोट केंचुली उतारी और आर्त एवं आतुर होकर विश्वात्मा को पुकारने लगी।

'सती' का यह 'उठना' उतना अनूठा नहीं था—यह तो 'उत्थान' का साधारण क्रम था। हाँ, अनूठा, अद्भुत और अनुपम था अपने 'वाम विधि' के प्रति, रीझ-खीझ के बीच से, बहने वाला उसका उपालम्भ :

"अब बिधि अस बूझिअ नहिं तोही। संकर-बिमुख जिआवसि मोही॥"

सत्कुलीन भारतीय नारी प्रायः पति से परित्यक्त होकर जीना नहीं चाहती है। इसी से 'सती' विधि को—जिसने प्रेरित करके अपराध के प्रपंच में घुमाया है—कोस रही है—'तूने जैसा चाहा मुझे नचाया, जैसा चाहा मुझे दण्ड दिया, सबको मैंने

सिर-आँखों पर लिया। पर अब यह कहाँ का न्याय है कि तू मुझे शंकर के विमुख जिलाए जा रहा है ?'

'सती' ने अपने साथी शिव से जो छल किया था, वह प्रीति और प्रतीति में कमी के कारण नहीं, वह तो उनके 'अहं' का एक खेल मात्र था। आत्मा से तो वह उनकी शाश्वत-संगिनी थी ही। अतएव वह शरीर-त्याग करके ही अपने प्रेम और प्रतीति को प्रमाणित करना चाहती है।

भारतीय नारी का सदा से यही उज्ज्वल आदर्श रहता आया है। अतएव वह विधि को कोस रही है—"निष्ठुर तू मुझे व्यर्थ क्यों जिला रहा है—मेरे प्राण क्यों नहीं ले लेता है ?"

'नियति' अन्धी मानी जाती है, वह निर्मम और निष्ठुरा भी होती है। इसलिए उससे कुछ आशा न रख कर, दबी-जबान, वह उसी विश्वात्मा 'विभु' से ही याचना कर बैठती है—जिसके कारण उसकी यह 'दुर्दशा' हो रही है !

"जो प्रभु दीन दयालु कहावा। आरति हरन बेद जसु गावा ॥
तो मैं बिनय करउँ कर जोरी। छूटइ बेगि देह यह मोरी ॥"

"हे प्रभु ! अगर आप दीन-दयालु हैं—'आर्ति-हरण' की उपाधि दे कर जैसा कि वेद आप का यशोगान करते हैं—अगर यह सच है, तो आप से मेरी यह विनीत प्रार्थना है कि मेरा यह अधम शरीर शीघ्र छूट जाए।"

'सती' ने विश्वात्मा विभु से यह अद्भुत वर माँगा। इस 'वर-याचना' में ही उसका गाढ़ानुराग, उसका संकल्प और उसकी मनस्विता छलक और झलक पड़ती है। दर-असल प्रेम का प्रमाण 'त्याग के तट' पर ही मिलता है—अर्थात् जो जिसके लिए जितना त्याग कर सकता है, वह उतना ही बड़ा प्रेमी माना जाता है। आज के इस युग में भी वही बात देखी जाती है। कोई प्रेमके पथ पर चलते हुए आजीवन अकेला रह जाता है, कोई पागल हो जाता है, कोई तड़प-तड़प कर प्राण तज देता है, तो कोई विशाल 'साम्राज्य' को भी ठुकरा कर 'नगण्य' बन जाता है।

त्याग ही प्रेमी का 'प्रमाण-पत्र' है। और भारतीय प्रेमियों की परम्परा में वह 'प्रमाण-पत्र' प्रायः देवियाँ ही प्राप्त करती आई हैं। पुरुष तो अधिकांश में हारता ही दीखा है।

शंकर ने निर्भय होकर 'सती' से आँखें फेर लीं पर 'सती' उन्हीं के वियोग में विह्वल होकर विधाता से मृत्यु की याचना कर रही है ?

'सती' का यह उच्च आत्म-त्याग ही उसके सारे अपराधों पर उज्ज्वल पर्दा डाल देता है और अपमान के गर्त से खींचकर उसे आदर के ऊँचे आसन पर बिठा देता है।

क्योंकि मानव को सबसे जबर्दस्त ममता-मोह तो अपने इस नश्वर शरीर पर रहता है—उसकी क्षण-भंगुरता का ज्ञान और उसका प्रत्यक्ष प्रमाण मिलते रहने पर भी, वह लज्जास्पद ढंग से इसके साथ चिपका रहना चाहता है। लेकिन अनुताप की

आग जब उसके अन्तर में धधक उठती है, तब वह बड़ी व्यग्रता से इस देह से दूर भाग जाना चाहता है।

आशा का दुर्बल धागा :

अब जरा 'भक्त-हृदय' शंकर पर भी एक नजर डाल ली जाए। 'सती'-सी सहधर्मिणी ज्ञान की भूमिका में इतने नीचे उतर आए कि विश्वात्मा की शक्ति-सामर्थ्य पर ही सन्देह करने लगे, समझाने-बुझाने पर भी उसका अज्ञान न दूर हो, प्रेम से पुचकार कर पूछने पर भी वह अपना हृदय न खोले, विश्वास के पर्दे में अविश्वास का नाट्य करे, अन्तरंग साथी से भी साफ झूठ बोल जाए, परस्त्री का रूप बना कर पर-पुरुष के सामने जा खड़ी हो, उससे अपमानित होकर पूरे परिवार की प्रतिष्ठा पर आँच ला दे—हाय, कितने कड़ुए फल चखने पड़े उस भोले शंकर को ! दुनियावी प्रेम से कितना विरक्त हो गया होगा उसका मन और इस विपुल विडम्बना के बाद विश्वात्मा की ओर उनका मूर्च्छित मन कितनी तेजी से, कितनी विकल अनुरक्ति से, कितनी गहरी भक्ति से दौड़ पड़ा होगा—अनुभव-गम्य है। नीम की पत्ती चबा लेने के पश्चात् सुपक्व 'लँगड़ा' आम खाने में जो तल-स्पर्शी तृप्ति होती है, क्या शिव की उस समाधि में वही सुधा नहीं बरसती होगी ?

हमारा कवि उसे पौराणिक भाषा में चित्रित करता है।

"बीते संवत् सहस सतासी। तजी समाधि सम्भु अबिनासी॥"

कवि के कथन में पौराणिक समाधान भी मौजूद है—इतनी दीर्घ समाधि का कारण यही था कि 'अविनाशी' हैं—काल का उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। भावुक मन को इससे तृप्ति हो जाएगी। लेकिन 'आधुनिक' मन इसे दीर्घ 'संन्यास' ही कहना पसन्द करेगा।

गहरी समाधि से जगने पर या दीर्घ संन्यास से लौटने पर, जब शम्भु मर-घट-से बन-रहे अपने उस 'आश्रम' में पहुँचे, जहाँ अस्तित्व-शून्य 'सती' अनुताप में आँसू बहाती मृत्यु-कामना कर रही थी।

हायरी अभागिनी नारी, शिव के लिए तो 'समाधि' और 'संन्यास' सम्बल-रूप था, पर तू किस 'आधार' पर यह 'अलख' जगा रही थी इतनी अनिश्चित अवधि तक ?···हाँ, कुछ-कुछ समझ में आता है—तेरा बल था अनन्त प्रेम और 'अनन्त साहचर्य' की चाह—जिससे तू मर कर भी छोड़ना नहीं चाहती थी।

ओह, कौन ऐसा समर्थ जीव है, जो 'ममता' और 'त्याग' में नारी का मुकाबला कर सके ? धन्य नारी और धन्य ऐसे हृदय का प्रेमामृत पान करने वाला वह नर !

"राम नाम सिव सुमिरन लागे। जानेउ सती जगत पति जागे॥"

कवि-प्रयुक्त 'जगत्-पति' कितना सार्थक तथा मर्म-स्पर्शी शब्द है, जो सती के हहरते हृदय को साफ झलका देता है। शंकर अब 'सती-पति' कहाँ रहे, वह तो अब केवल जगत्-पति रह गए थे ? सती-साध्वी 'स्त्री' इस 'ज्ञान' से हँसे या रोए ?

किन्तु नारी-हृदय के ममता-मोह का वह सूक्ष्म-सूत्र अभी तक पूर्णतया टूटा न था, उस संन्यासी पुरुष के प्रति उसका 'विश्वास' भी अब तक नष्टप्राय नहीं हुआ था उस अभिमानिनी नारी का—जिसके साथ उसने इतनी लम्बी जिन्दगी बिताई थी। वह पुरुष, इस दीर्घ प्रतीक्षा के बाद भी, अनुताप की आग में जली उस नारी को क्षमा करके पूर्ववत् अपना प्यार न देगा—अपने वामांग में बिठाकर उसे 'आश्वस्त' नहीं करेगा—अपने शंकर से ऐसी निमर्मता की शंका शायद उस 'सती' को नहीं थी।

अतः वह धीरे-धीरे चल कर उस समाधिस्थ पुरुष के सामने आई और अपना अनुतप्त एवं संतप्त मस्तक उसके चरणों पर रख दिया :

"जाइ संभु-पद बन्दन कीन्हा।"

लेकिन उसकी आशा का वह पतला धागा भी आज टूट गया—जब उस महापुरुष ने अपने वामांग में नहीं, बल्कि उसे अपने सामने रखे आसन पर बैठने का संकेत कर दिया :

"सनमुख संकर आसनु दीन्हा।"

पत्नी का अधिकार पति की बाईं ओर बैठने का होता है, सामने दूसरे आदरणीय व्यक्ति बिठाए जाते हैं—प्यारी पत्नी नहीं। इसीलिए शंकर ने जान-बूझकर 'सती' को सामने बैठने कहा और बगैर कुछ बोले ही बता दिया कि वह अब 'पत्नी-पद' पर बिठाई नहीं जा सकती।

'सती' की दीर्घ प्रतीक्षा व्यर्थ चली गई। कठोर पुरुष ने नारी के अनुतप्त हृदय की, उसकी दीर्घ तपस्या की, उसकी कोमल आशा और मृदुल ममता की कोई परवा न की—वह अपनी कठोर प्रतिज्ञा पर अटल रह गया।

कवि ने पुरुष की कठोरता को इसीलिए लौकिक धरातल पर तौला और सती के प्रसंग में ही अपना निर्णय दिया :

"जलु पय सरिस बिकाइ, देखहु प्रीति की रीति भलि।
बिलग होइ रसु जाइ, कपट खटाई परत पुनि॥"

पानी और दूध, एक साथ मिल जाने पर, एक मोल में एक तरह बिक जाते हैं। पानी का यह सौभाग्य दूध से घुल-मिल जाने के कारण ही हुआ था—दूध ने उसे प्रेम से अपने में मिलाया और तब वह दूध के बराबर हो गया। प्रीति करने में दोनों का हाथ था, दोनों गहरी निष्ठा और अटूट आस्था के साथ एक-दूसरे से मिले और परस्पर तब तक एक बने रह गये, जब तक एक तीसरी विघातक वस्तु उनके बीच न आ पड़ी। वह वस्तु थी खटाई—जिसके पड़ते ही दूध फट जाता है; दूध का अंश अलग और पानी का अंश अलग हो जाता है। 'सती' के लिए कवि ने 'कपट-खटाई' का रूपक खड़ा किया है। 'सती' ने अपने दूध-सम प्रेम-मय जीवन में कपट डालकर अपने को शंकर से विमुख बना लिया।

यह उदाहरण, यह रूपक अलंकार, साहित्य को भले ही अलंकृत करे, पर नर-नारी का प्रेम तो 'टूट' कर भी जुड़ना जानता है—हाँ, आवश्यकता है, नर जरा उदारता से काम ले और अपनी प्रतिष्ठा के बदले नारी के हृदय की ओर देखने की प्रवृत्ति बढ़ाये।

परन्तु महान् शंकर अपनी प्रतिज्ञा पर अटल रह गये और कुशल-समाचार पूछने के बदले वे 'गंगा' की गैल में 'मदार का गीत' गाने लग गये :

"लगे कहन हरि कथा रसाला।"

यह 'हरि-कथा' शंकर के लिए 'रसीली' हो सकती है, पर प्यार की भूखी पत्नी को तो वह कड़वी ही लगी होगी। उसका हृदय तो टूट ही गया होगा।

मायके की ओर :

लता-सी लहलहाती नारी निराधार हो गई—उसके सारे आधार छिन्न-भिन्न हो गये। अब माता और मृत्यु के सिवा उसके लिए आश्रय-स्थल और क्या रह गया था? मन-ही-मन वह माता और मौत का आह्वान अत्यन्त तीव्रता से करने लगी।

संयोग भी कुछ वैसा ही हुआ। आकाश में वायुयानों की हलचल देख और सुर-सुन्दरियों का कल-गान सुनकर 'सती' ने ससंकोच शिव से उसका कारण पूछा और अपने पिता के घर यज्ञ महोत्सव का समाचार जानकर वह 'कुछ' खुश भी हुई :

"पिता जग्य सुनि कछु हरषानी।"

कवि ने इस 'कछु' में सोचने-समझने की बहुत-सी बातों का संकेत कर दिया है। 'सती' का हर्ष तो पति की विचित्र प्रवृत्ति से मूलतः नष्ट हो चुका था, पिता का बर्ताव भी पुलकित करनेवाला न था—मायके में यज्ञ-प्रयोजन हो और बेटी को उसकी कोई खबर तक नहीं? फिर भी निराश्रिता नारी के लिए तो आखिर माता-पिता का घर ही ठौर होता है और हजारों अपमान एवं कष्ट सहन करके भी वह 'मायके' में ही अपना जीवन बिता देना चाहती है।

'सती' ने भी मायके जाने का निश्चय किया :

"जौं महेसु मोहि आयसु देहीं। कछु दिन जाइ रहौं मिस एहीं॥"

यहाँ कवि-प्रयुक्त 'मिस' शब्द ही 'सती' के मन की उलझन को बहुत कुछ खोल देता है। पिता के घर जाने में उसका एक ही उद्देश्य है कि इस बहाने वह वहाँ से हट जाए—जहाँ पति का प्रेम नहीं रह गया है।

यह जगह सती को काटती है जरूर, पर वह भारतीय नारी है, पति ने उसे छोड़ दिया है, पर पत्नी उसे नहीं छोड़ सकती है। लेकिन परिस्थिति उसे मायके जाकर रहने की प्रेरणा दे रही है। कुछ डर और संकोच के साथ मीठी वाणी में 'सती' ने शिव से अपनी इच्छा यों व्यक्त की :

"पिता भवन उत्सव परम जौं प्रभु आयसु होइ। तौ मैं जाउँ कृपायतन सादर देखन सोइ॥"

यहाँ कवि ने 'सादर' और 'कृपायतन' का प्रयोग करके 'सती' के संकोच को बहुत व्यापक बना दिया है। कठोर-से-कठोर व्यक्ति से दया की भीख तो हमेशा माँगी ही जा सकती है; और उत्सव देखने जाने में जो आदर आ खड़ा हुआ है, वह शंकर के हृदय के क्षोभ का 'सामाधान' करता है। पिता के घर 'सती' सादर जाएँगी— शंकर भी अपना पूर्व क्षोभ यहाँ दबा लें और दोनों के प्रति 'आदर' का भाव अपना कर 'सती' को पिता के घर भेज दें और 'सती' भी पति और पिता के प्रति 'आदर' ही दिखाती ही जाएँगी। पिता ने उसे बुलाया नहीं, इसका ख्याल वह अब नहीं करेगी।

कलात्मक कूची का यह सबसे बड़ा प्रमाण है—सचमुच, तुलसी शब्दों को भावों के अनुरूप नचाना जानते हैं!

'सती' का निवेदन सुन कर शंकर संकोच में पड़ गए। जिस 'आदर' का उल्लेख 'सती' ने अपने निवेदन में साग्रह किया था, शंकर की गहरी दृष्टि में पिता के यहाँ तो उसका पूर्ण 'अभाव' ही होगा; क्योंकि पिता ने बुलावा जो नहीं भेजा है। और इसका कारण है, 'सभा' में एक बात पर उसके पिता अपने दामाद से कभी कुछ बुरा मान गए थे और इसी से :

"हमरें बयर तुम्हउ बिसराई।"

उस 'ब्रह्म-सभा' में अभिमानी दक्ष ने सोचा होगा—"दामाद तो मेरा समर्थन करेगा ही।" पर शंकर सत्य-प्रिय, न्याय-निष्ठ और निर्भीक मनस्वी थे। उन्होंने उद्दंड दक्ष का समर्थन तो दूर, उलटे उसका घोर खंडन ही कर दिया। बस, तब से ससुर-दामाद में वैर ठन गया।

शंकर ने गंभीर चिन्ता से अनेक नीति-रीति की बातें कह कर 'सती' को समझाया और मायके जाने से रोका। अन्त में उन्होंने स्पष्ट शब्दों में चेतावनी दी :

"जौं बिनु बोले जाहु भवानी। रहइ न सीलु सनेहु न कानी॥"

नीति शास्त्रों में यह भी लिख दिया है :

"जदपि मित्र प्रभु पितु गुरु गेहा। जाइअ बिनु बोलेहुँ न सँदेहा॥
तदपि बिरोध मान जहँ कोई। तहाँ गएँ कल्यानु न होई॥"

बहुत समझाने-बुझाने पर भी 'सती' ने जब जाने का आग्रह नहीं छोड़ा तो सज्ञान शंकर कुछ चिढ़ भी गए :

"कह प्रभु जाहु जो बिनहि बोलाएँ। नहिं भलि बात हमारे भाएँ॥"

महा प्रभु शंकर ने कहा—"सती, सुन लो—अगर तुम बिना बुलाए ही जाओगी, तो यह बात मुझे अच्छी नहीं लगेगी।"

लेकिन 'सती' तो जीवन से ऊबकर भागी जा रही थी, फिर मान-अपमान की बात वह क्या समझती ? इसलिए :

"कहि देखा हर जतन बहु रहइ न दच्छकुमारि।
दिए मुख्य गन संग तब बिदा कीन्ह त्रिपुरारि ॥"

महादेव ने बहुत तरह से कहा-सुना, पर दक्ष-सुता रुकने को राजी न हुई। यह देखकर उन्होंने कुछ प्रमुख-गणों को साथ करके उन्हें बिदा कर दिया।

यहाँ कवि ने 'दच्छकुमारि' कहकर 'सती' के चरित्र का गूढ़ विश्लेषण कर दिया है—'दक्ष-कुमारी'—अर्थात् 'हठी बाप की हठी बेटी', समझाने-बुझाने का जिस पर कोई असर नहीं होता।

अपमान का घूँट :

"पिता भवन जब गई भवानी। दच्छ त्रास काहुँ न सनमानी ॥"

हायरी नारी, भाग्य ने पलटा खाया, तो बाप के घर में भी तुम्हें वह 'आदर' नहीं मिला, जिसे छाती से चिपकाए पति-गृह से तुम यहाँ तक आई थी !

"सादर भलेहिं मिली एक माता। भगिनी मिलीं बहुत मुसकाता ॥"

यहाँ माँ के प्रसंग में 'भलेहि' और 'सादर' शब्दों का प्रयोग बड़ा ही मार्मिक हुआ है। माँ जन्म-दात्री ही है, वह कैसे न 'सादर' मिलती ? पर वहाँ भी प्रेम का अभाव है। 'आदर' बाहरी हाव-भाव में ही व्यस्त रहता है, 'प्यार' भीतरी होता है—आँखों में बसता है। कवि ने इसे बड़ी ही चतुरता से खोल दिया है।

बहनों के प्रसंग में 'मुसुकाता' कहना कैसा व्यंग्य बिखेर रहा है। 'सती' की अन्य बहनें 'सादर' बुलाई गई हैं, वे इठला रही हैं और 'सती' की फटेहाली पर चुटकी ले रही हैं ! हाय सती, एक पति के घर से अपदस्थ हो जाने पर 'सहोदराएँ' भी तुम्हारा सम्मान नहीं कर सकीं !

किन्तु अपमान का घूँट अभी पूरा नहीं हुआ था। 'सती' कर्तव्य-वश विमुख बाप के पास भी पहुँची, पर उसने बेटी से कोई बात न पूछी। उलटे 'सती' को देखते ही वह सिर-से-पाँव तक जल-भुन गया ! बेटी को देखते ही कदाचित् उसे 'उद्दण्ड दामाद' याद आ गया होगा।

'सती' ने वह घूँट भी गले के नीचे उतारा और साहस के साथ आगे बढ़ी। वह यज्ञशाला में पहुँची। वहाँ शंभु का कोई भाग उसे कहीं न दीख पड़ा। तब :

"तब चित चढ़ेउ जो संकर कहेऊ। प्रभु अपमानु समुझि उर दहेऊ ॥
पाछिल दुखु न हृदयँ अस ब्यापा। जस यह भयेउ महा परितापा ॥"

इसके बाद कवि मानव के दुःखों का विश्लेषण करके कहता है, कि सती के इस महापरिताप का स्वाभाविक कारण था :

"जद्यपि जग दारुन दुख नाना । सबतें कठिन जातिअपमाना ॥"

दुनिया में आदमी को कठोर-से-कठोर दुःखों का सामना करना होता है पर सबसे कठोर दुःख होता है अपनी 'जाति' के द्वारा उसका अपमान। उससे बढ़ कर दारुण दुःख और कोई नहीं होता है।

'सती' अपनी 'जाति' के बीच अपमानित हुई थी। बहनें उसकी जाति की थीं—वे सादर बुलाई गई थीं और यह बिना बुलाए आई थी। इसी से किसी ने इसका सादर स्वागत न किया—कुशल-समाचार भी न पूछा। इतना ही नहीं, देख कर बाप ने घृणा से मुँह फेर लिया!

फिर भी यह सब अपमान उसका अपना था, किसी प्रकार जहर का घूँट वह निगल भी जाती, किन्तु अब जो अपमान आगे खड़ा था, वह उसके 'पति' का अपमान था। दक्ष ने यज्ञ में महादेव का भाग नहीं दिया था—जिसके वह अधिकारी थे। यह सबसे भारी अपमान था। भारतीय नारी सब कुछ सहन कर सकती है, पर अपने 'पति' का अपमान वह नहीं सह सकती। बस, वह क्रोध से आग-बबूला हो गई। समझदार माँ ने उसे बहुत समझाया, लेकिन :

"सिव अपमानु न जाइ सहि हृदयँ न होइ प्रबोध।
सकल सभहि हठि हटकि तब बोलीं बचन सक्रोध॥"

शिव का अपमान सती नारी से सहा नहीं गया, इसलिए माता की बातों का उसके दिल पर कोई असर भी नहीं हुआ और उसका गुस्सा बढ़ता गया। बस, तमतमा कर वह उठी और समस्त सभा को हठ-पूर्वक डाँट कर क्रोध से ललकारने लगी।

ज्वाला-जाल में :

'सती' तीन तरह की आग से घिरी हुई थी। एक आग थी उसके अन्तर के अनुताप की—जो सुदीर्घ काल से सुलगती आ रही थी और भीतर-ही-भीतर उसे भस्म कर रही थी, दूसरी आग थी जाति-अपमान की—जिसमें पति के अपमान की आग सबसे भीषण हो उठी थी, तीसरी थी यज्ञ-शाला के हवन-कुण्ड की धूमिल ज्वाला—जिसमें उसकी क्रोधाग्नि भी आ मिली थी। इसी 'यज्ञ' के कारण तो सताई 'सती' यहाँ तक पहुँची थी—सो भी अन्तर की अनिच्छा से।

इन तीनों ज्वालाओं के बीच खड़ी हो कर 'सती' ने सारी सभा को चुनौती दी!

"सुनहु सभासद सकल मुनिंदा। कही सुनी जिन्ह संकर निंदा॥
सो फलु तुरत लहब सब काहूँ। भली भाँति पछिताब पिताहूँ॥"

सभा के सदस्य और समस्त मुनीश्वर, जिन्होंने शंकर की निन्दा कही-सुनी थी, सब लोग सुन लें। शंकर की निन्दा करने का फल उन्हें तुरत मिलेगा और उसके गर्वान्ध पिता भी खूब पछताएँगे।

'सती' का सात्त्विक क्रोध, धीरे-धीरे आदर-मान के सारे आवरण को उतारने लग गया। क्यों? सारी सभा क्यों पछताएगी?

क्योंकि :

"संत संभु श्रीपति अपबादा। सुनिय जहाँ तहँ असि मरजादा॥
काटिअ तासु जीभ जो बसाई। श्रवन मूँदि न त चलिअ पराई॥"

संत-महात्मा, देवी-देवताओं की निन्दा जहाँ कोई करता हो, वहाँ भक्त-हृदय के लिए यह गौरव की बात हो जाती है, कि अगर उसका वश चले, तो उस निन्दक व्यक्ति की जीभ काट ले, अन्यथा वहाँ से कानों में उँगली डालकर, भाग खड़ा हो।

नारी स्वभाव से सहनशील होती है और प्रायः देखने में आता है, कि नारी जितना सहती है, उसकी कोई कल्पना भी नहीं कर सकता है। परन्तु जब वह क्रोध में आ जाती है, तब दुनिया में कोई ताकत उसके सामने खड़ी होने का साहस नहीं कर सकती है। मुलायम रुई दब कर ऐंठ जाती है—कड़ी पड़ जाती है, वैसे ही नारी भी दलित होकर दुरन्त 'दुर्गा' बन जाती है।

लेकिन 'सती' यहाँ अपने लोगों के बीच खड़ी थी—माँ-बाप और भाई-बहनों से घिरी हुई थी। अतः उसने घोषणा की :

"जगदातमा महेसु पुरारी। जगत जनक सब के हितकारी॥
पिता मंद मति निंदत तेही। दच्छ सुक्र संभव यह देही॥
तजिहउँ तुरत देह तेहि हेतू। उर धरि चंद्रमौलि बृषकेतू॥"

'सती' ने क्रोध के आवेश में आकर पिता को 'मंदबुद्धि' तक कह दिया और पैतृक सम्मान के झूठे आवरण को क्षण में उतार कर फेंक दिया—"दक्ष के वीर्य से मैला यह शरीर उत्पन्न हुआ है। अतः इसे मैं उसके सामने ही नष्ट कर दूँगी।" अगर 'दक्ष' सामान्य आदमी होता और 'सती' का वश चलता, तो वह उस शिव-निन्दक की जीभ जरूर काट लेती, लेकिन वह 'दक्ष' उसका प्रभावशाली पिता था। अतएव उसकी सजा का भार दूसरों पर छोड़ कर वह—उसकी 'आत्मजा' होने के कारण—अपनी देह को ही दंडित करने की तैयारी करने लगी।

पति ने चाहे पत्नी को जितना भी सताया हो, जितना भी अपमानित किया हो, पर भारतीय पत्नी, पति की मर्यादा-रक्षा के लिए, माता-पिता, पुत्र—सब को छोड़ने की तैयारी रखती है। यही नहीं, खुद अपने को भी मिटा देने की उसकी उतावली देख कर सारा संसार दंग रह जाता है।

'सती' को मरना तो था ही। सुयोग उसे अच्छा मिला। पति की मर्यादा के लिए उसने सारे संसार को धता-बताकर :

"अस कहि जोग अगिनि तनु जारा। भयउ सकल मख हाहाकारा॥"

अन्तर की अनुतप्त आग का स्वागत किया यज्ञ की पुनीत आग ने और फिर

दोनों मिलकर एक हुईं और सन्तप्ता 'सती' को निमिष-मात्र में निगल गईं। देह के साथ उसका पाप-ताप भी उस आग में जलकर खाक हो गया।

और यह कोई अनहोनी बात न हुई—अन्तर की आग बड़े-से-बड़े पापी की आत्मा को भी निर्मल बना देती है। बड़े-बड़े भक्तों की आत्म-कथा इसी की गवाही देती है।

"जाओ, 'सती'! इसी ज्वाला-जाल पर चढ़कर तुम अगम्य-लोक की यात्रा करो और अपने अनुताप की आग से नीहार में पड़े नारी-जीवन के ऊपर नित्य निरभिमानता, नित्य निष्ठा, नित्य जागरूकता और नित्य ज्वालामय रहने का 'वरदान' बरसाती रहो। विश्वास रखो, तुम्हारा वह 'नगण्य अपराध' किसी को याद नहीं रहेगा, याद रहेगा सदा-सर्वदा ज्वाला-जाल में तुम्हारा यह सदर्प प्रवेश और तुम्हारी वह अनुरागिनी ज्वलन्त मूर्ति।

"सती!'—विश्वास रखो, तुम जलकर भी नहीं जलोगी और मरकर भी नहीं मरोगी। जब तक जगत् में 'अनुताप की आग' जलती रहेगी, तुम भी जीती-जागती और जगमग करती रहोगी। दिगन्त से जय-घोष उठे—'जय! ज्वालामयी 'सती' की जय—जय!!"

गौरी की गरिमा

"सत्य कहेहु गिरि भव तनु एहा।
हठ न छूट छूटै बरु देहा॥"

"अब मैं जन्मु संभु हित हारा।
को गुन दूषन करै बिचारा॥"

"जन्म कोटि लगि रगरि हमारी।
बरउँ संभु न त रहउँ कुँआरी॥"

"जेहि कर मनु रम जाहि सन—
तेहि तेही सन काम॥"

—तुलसी

गिरिराज की गोद में :

जान में हो या अनजान में, आदमी से जब कोई गल्ती हो जाती है, तब उसका कडुआ फल उसे चखना ही पड़ता है। कर्म की यह स्वाभाविक एवं अवश्यम्भावी गति मानी गई है। कर्म और उसका फल—दोनों साथ चलते हैं। जैसे बिजली चमकी, तो कड़क होगी ही, ताली बजी, तो आवाज होगी ही।

किन्तु कर्म का फल भोगते हुए, निष्क्रिय और निश्चिन्त होकर उसकी अवारित धारा में, हाँथ-पाँव हिलाए बगैर, बहते जाना भी मर्मशील मनुष्यों का पुरुषार्थ नहीं कहा गया है।

अपनी गल्ती के निरीक्षण-परीक्षण से जो आत्म-ग्लानि आदमी को अनुभूत होती है, जो हृदय-विदारक पछतावा उसे होता है, उसके तीक्ष्ण दंश और दारुण दाह को साहस के साथ सहते हुए भी, उससे त्राण पाने का प्रचण्ड प्रयत्न करना मानवीय चेतना और उसकी मनस्विता की अनिवार्य माँग बन जाता है।

आत्म-ग्लानि की दहकती भट्ठी में, अगोचर भाव से, दीर्घ काल तक होने वाली दक्ष-सुता 'सती' का जब 'अहं' और 'दंभ' वाला वह अवांछनीय चोला भी यज्ञ की ज्वाला में जल गया, तब धरा की धीरता ही मानों 'नारी' के अटल संकल्प और उसके धवल संयम का रूप धारण कर, गगन-चुम्बी गिरिराज की गोद में, नूतन, निर्मल एवं नयनाभिराम देहावरण में, तमक उठी और वह 'गौरी' नाम से गरिमावान बन गई।

आत्मा के अवतार की यही अटूट परम्परा रहती आई है।

क्योंकि जीवन एक विराट्-वासना का प्रतिफल माना गया है। फूल की सुगन्ध की भाँति, अगोचर और अगम्य रूप से, वह जीवन अमर आत्मा के साथ, असम्पृक्त भाव से लगा रहता है—उसे नित्य-निरन्तर अपने सूक्ष्म, किन्तु शाश्वत संस्कार में ढँके रहता है।

यही जीवन का सहज स्वरूप है।

महान् संकल्प, प्रबल प्रयास एवं प्रचण्ड जाप-ताप के बल पर ही कोई दुर्धर 'साधक' जीवन की इस प्राकृतिक गति में परिवर्तन करके मुक्ति, मोक्ष, निर्वाण या कैवल्य का अधिकारी हो पाता है। और उस 'परम-पद' पर पहुँचे हुए ऐसे मुक्त पुरुष आजतक उँगलियों पर ही गिने जाते हैं। उन्हें सामान्य नियम का 'अपवाद' ही माना जाता है।

'जीवन' की साधारण गति के अनुसार, तो अणु-परमाणु के पारस्परिक आकर्षण और संयोग के कारण, सृष्टि में उद्भव और उध्वंस के कार्य प्रतिपल होते ही रहते

हैं। कौन बता सकता है, कि किसी अणु के साथ किस परमाणु का आकर्षण कब और कहाँ आरम्भ हुआ और कब तक चलता रहेगा ? पृथ्वी अनन्त काल से सूर्य के चारों ओर चक्कर काटती आई है और जाने कब तक काटती रहेगी, सप्तर्षि जाने कब तक 'ध्रुव' की परिक्रमा करते रहेंगे, समुद्र जाने कब तक पूर्णचन्द्र के प्रति उमड़ता रहेगा ?

यों ही, मिट्टी के इस अगम्य अंक में, जाने कितने अणु-परमाणु, अपनी विराट्-वासना के फल-स्वरूप, प्रबल आकर्षण से सतत स्पन्दित, आन्दोलित तथा उद्वेलित होते रहते हैं, और संयोग होते ही रज-बीज में बदल जाते हैं। और फिर, अपने ऊपर पड़ी धरती की कड़ी पपड़ी को, बल-पूर्वक, तोड़कर व्यग्रता और विभ्रम से अंकुरित हो उठते हैं—खुली हवा में सुख की साँस लेकर, उल्लसित तन-मन से, प्रसरित पृथ्वी एवं नयनाभिराम अनन्त आकाश की ओर चकित चितवन डालने लग जाते हैं। इसी को जीवन कहा गया है।

गिरि-कन्या 'गौरी' का उद्भव भी 'जीवन' की उसी परम्परा पर आधारित था :

"सती मरत हरि सन बरु माँगा। जनम जनम शिव पद अनुरागा ॥"

ज्वाला-जाल में कूद कर प्राण-त्याग करते समय 'सती' ने विश्वात्मा से याचना की थी, कि चाहे जितने जन्म उसे लेने पड़ें, शिव के चरणों में उसका अनुराग अक्षुण्ण बना रहे।

उसका वह अनुराग उसकी विराट् वासना और शिव के प्रति उसके प्रबल आकर्षण का ही परिणाम माना जाएगा। उसी वासना और चिराकर्षण से आकृष्ट होकर 'सती' हिमाचल के घर में अवतीर्ण हुई और 'गौरी' नाम से पहचानी गई।

गुरु-उपदेश :

'गौरी' गुण, और सुन्दरता में अद्भुत गति से विकसित हो रही थी, कि एक दिन :

"नारद समाचार सब पाए। कौतुक हीं गिरी गेह सिधाए ॥"

- नारदमुनि ऊँचे दर्जे के भक्त ज्ञानी और योगी थे। साथ ही कुछ 'कौतुकी' भी थे—जहाँ कोई अद्भुत समाचार उनके कानों में पड़ा, कि उत्सुकता उन्हें वहाँ उड़ा ले जाती थी। उसी कुतूहल के कारण वह हिमवान् के घर जा पहुँचे। अतः

"निज सौभाग्य बहुत गिरि बरना। सुता बोलि मेली मुनि चरना ॥"

नारद को अपने घर आया देख महा-महिम हिमवान् बहुत प्रसन्न हुए और मुनि का यथोचित आदर-सत्कार करके उन्होंने बेटी को भी बुलाया और उनके चरणों में नत कर दिया। फिर सविनय बोले :

"त्रिकालग्य सर्बग्य तुम्ह गति सर्बत्र तुम्हारि।
कहहु सुता के दोष गुण मुनिवर हृदयँ बिचारि ॥"

मुनि तीनों काल का हाल जानने वाले थे—उनसे कुछ भी छिपा न था। जन-साधारण में नारद बाबा की ऐसी ही धाक थी। इसीसे हिमवान् ने अपनी पुत्री के गुण-दोष उनसे जानना चाहा। कौतकी मुनि कहीं इधर-उधर करके टाल न दें, इसलिए 'हृदय विचारि'—गम्भीरता से मनन करके बताने का अनुरोध हुआ।

कुतूहल-प्रिय मुनि, यह चेतावनी पाते ही, गम्भीर हो गए और अच्छी तरह गुन-धुन कर, मुसकुराते हुए मधुर किन्तु रहस्य-भरे स्वर में बोले।

"सैल सुलच्छन सुता तुम्हारी। सुनहु जे अब अवगुन दुइ चारी॥"

इसके पहले उन्होंने गौरी की गरिमा का ही गान किया था। अब उसकी हस्त-रेखा देखकर उसके भावी पति का वर्णन करते हैं।

"अगुन अमान मातु पितु हीना। उदासीन सब संसय छीना॥
जोगी जटिल अकाम मन नगन अमंगल बेष।
अस स्वामी एहि कहँ मिलिहि परी हस्त यह रेख॥"

'गौरी के हाथ की रेखाएँ कह रही थीं—इसे ऐसा पति मिलेगा जो गुण-शून्य, मान-शून्य और माता-पिता-शून्य होगा। वह सबसे तटस्थ रहेगा और द्वन्द्व-द्विधा उसे छू तक न जाएगी। वह जटाधारी योगी होगा, उसके मन में कोई कामना न रहेगी, नंग-धड़ंग रहेगा और उसका वेश भी अशुभ दीखेगा।'

नारद की रोमांचक बातें सुनकर जहाँ माँ-बाप सिहर-सहम उठे, वहाँ 'गौरी' पुलकित हो उठी। किन्तु नारद भी यह दशा-भेद नहीं जान सके; क्योंकि

"दसा एक समुझब बिलगाना।"

त्रिकालज्ञ और सर्वज्ञ मुनि भी नारी के अन्तर का रहस्य नहीं जान सके—कितना गूढ़ कथन है यह और साथ ही कितना सत्य!

नारद बाबा समझे या न समझे, पर 'शिव-काम-सुन्दरी' सब कुछ समझ गई:

"होइ न मृषा देवरिषि भाषा।"

बस, उसकी विराट् वासना उभरी और प्रबल वेग से शिव की ओर उमड़ चली। नारद ने जो कुछ कहा, वह स्पष्टतया शिव को ही प्रत्यक्ष करता था और शिव के रूप से वह विदुषी-बाला अपरिचित रहती कैसे?

शिव का अधिष्ठान वह 'कैलास' भी तो कहीं दूर न था—वहीं पास ही तो वह धाम भी था। फिर यह भी तो असम्भव नहीं, कि कहीं उसके दृष्टि-पथ में वह 'धूर्जटी' पड़ भी गये हों। यों:

"उपजा सिव पद कमल सनेहू। मिलन कठिन मन भा सन्देहू॥"

'गौरी' पूर्वानुराग से भर गई। परन्तु जब उसने ऊपर-नीचे, अगल-बगल दृष्टि दौड़ाई, तब उस अद्‌भुत पति की प्राप्ति में उसे सन्देह होने लगा—कैसे वह

दुराराध्य देव उसे मिल सकेंगे ? लेकिन शंका ने उसकी वासना, उसके आकर्षण और उसके अनुराग को विचलित नहीं किया—जो प्रीति अन्तर में धूम मचाती उठी थी, वह मेघाच्छन्न न हो सकी। फिर भी :

"जानि कुअवसरु प्रीति दुराई। सखी उछँग बैठी पुनि जाई॥"

भारतीय बाला ऐसी ही संयमी होती आई है—उसकी प्रेम-सरिता कभी कूल छोड़कर अमर्यादित नहीं होती। प्रसंगानुसार वह अपनी प्रीति को छिपाना भी जानती है और जहाँ उसके सामने कोई उसके 'वर' की चर्चा कर बैठता है, वह वहाँ से भाग भी खड़ी होती है।

नारद ने खूब सोच-विचारकर वह बात कही थी, इसलिए :

"झूठि न होई देवरिषि बानी। सोचहिं दंपति सखी सयानी॥"

देवर्षि नारद की बात झूठी तो होगी नहीं—यह सोचकर 'गौरी' के माँ-बाप ही नहीं, उसको प्यार करने वाली सभी सखी-सहेलियाँ भी चिन्ता में पड़ गईं—'भला ऐसे विचित्र वर के साथ वह कैसे रह सकेगी सबकी आँखों की पुतली ?'

भविष्य बतानेवाले कुछ उपाय भी तो जानते होंगे संकट-मोचन का। पिता के अनुनय करने पर नारद बाबा ने फिर अटकल लगाई और दृढ़ता के साथ कहा—नियति का निर्देश कभी अमान्य नहीं हो सकता है, विधि ने जो लिख दिया है, होकर ही रहेगा।

फिर भी :

"तदपि एक मैं कहउँ उपाई। होइ करै जौं दैउ सहाई॥
जस बरु मैं बरनेउँ तुम्ह पाहीं। मिलिहि उमहिं तस संसय नाहीं॥
जे जे बर के दोष बखाने। ते सब सिव पहि मैं अनुमाने॥
जौं बिबाहु संकर सन होई। दोषउ गुन सम कह सबु कोई॥"

यहाँ आकर हस्त-रेखा के पण्डित ने गणित छोड़कर कल्पना से काम लिया और तब उसे थाह मिली 'गौरी' के भाग्य की। 'वर' तो उसे वैसा ही मिलेगा, जैसा यह रेखा बताती है; पर ये सब दोष शिवमें भी पाए जाते हैं, और अगर इसका विवाह शिव के साथ हुआ, तब तो दोष भी गुण में परिणत हो जाएँगे।

भाग्य के भरोसे हाथ-पर-हाथ धरे बैठ रहना नारद को भी नहीं भाया और उन्होंने प्रयत्न को आगे बढ़ाया—पर प्रयत्न वह, जो देवार्पित हो; क्योंकि देवार्पित कर्म 'नियति' को नाराज नहीं करते, प्रत्युत उसको पुलकित करके उसके निर्देश का रुपान्तर मात्र कर देते हैं।

इसी उद्देश्य से नारद का आदेश हुआ :

"दुराराध्य पै अहहिं महेसू। आसुतोष पुनि किएँ कलेसू॥
जौं तपु करइ कुमारि तुम्हारी। भाविउ मेटि सकहिं त्रिपुरारी॥"

शिव की आराधना कठिन है अवश्य, पर जो उनके लिए कष्ट उठाता है, उस पर वह प्रसन्न भी हो जाते हैं शीघ्र—शिवशंकर का यही सहज स्वभाव है। और 'गौरी' अगर शिव के लिए तपस्या करे, तो नारदजी का विश्वास है, कि वह भाग्य-देवता के विधान को भी बदल सकते हैं। यहाँ 'प्रयत्न' ही 'तप' की संज्ञा पाता है और उसीके प्रतिफल से त्रिपुरारी की प्राप्ति का निर्देश किया गया है, जो नियति को भी नचा देता है। इसलिए जीवनोन्नति का एक राज-मार्ग होता है तप—तप अर्थात् प्रयत्न।

कौतुकी मुनिने, चेतावनी के रहते भी, शायद पहले ऊपरी दृष्टि से ही विचार किया था, इसीसे केवल हस्त-रेखा के गुण-अवगुण वह गिना गये थे। किन्तु, कहते-कहते, जब उनकी दृष्टि 'गौरी' के दीप्त मुख-मंडल पर पड़ी, जब उन्होंने उसके निर्मल नेत्रों में झाँका, उसके अनुराग का अन्दाजा लगाया और उसके संकल्प को शोधा, तभी उनके अनुभवपूर्ण हृदय से यह निष्कर्ष निकल पड़ा :

"जद्यपि बर अनेक जग माहीं। एहि कहँ सिव तजि दूसर नाहीं॥"

'गौरी' यद्यपि सखियों के बीच जा बैठी थी, पर उसके कान उधर ही लगे थे, जहाँ बड़ों की बातें हो रही थीं। आज भी प्रत्येक परिवार में सर्वत्र यह दृश्य देखा जाता है। दूर से ही गौरी ने मुनि की सभी बातें गौर से सुनीं और अन्त में, जब नारद बाबा ने प्यार से पास बुलाकर उसे आशीर्वाद दिया, तब तो वह कृतार्थ-सी हो गई। आशीर्वाद देकर मुनि ने तो अपनी राह ली, पर गौरी के कानों में उनके दो शब्द निरन्तर गूँजते रह गए—'शिव' और 'तप'।

बस, यहीं से नारद का वह उपदेश 'गौरी' के लिए पुनीत गुरु-मंत्र बन गया, जिसे वह व्यग्रता, दृढ़ता और निश्चल निष्ठा से अन्त तक पकड़े रह गई। लाखों प्रलोभन दिए गए, हजारों विघ्न-बाधाएँ उमड़ीं, परन्तु उसी मशाल के सहारे वह अपने पथ पर अडिग कदम बढ़ाती चली गई।

नारद के मुँह से शिव का नाम सुनते ही 'अणु' रूप में बैठी 'गौरी' का जन्म-जन्म से सघन होता आता वासनात्मक संस्कार, सहसा उसी तरह जग पड़ा, जैसे काली घटा के बीच से एकाएक पूर्णचन्द्र निकल पड़ता है : और वह कैलास-शिखरासीन अपने जीवन-संगी शंकर रूपी 'परमाणु' के आकर्षण-केन्द्र में घूर्णित होने लगी। खूब सोच-समझ कर, शिव के साथ तन्मय होने का 'संकल्प' लेकर, वह मुग्धात्मा उन्मन हो गई।

मूढ़ धारणा 'संकल्प' का रूप नहीं लेती है। खूब चिन्तन-मनन के बाद जो लक्ष्य स्थिर किया जाता है, फिर उस दिशा में बढ़ते हुए जो गाढ़ानुराग, जैसी अटल निष्ठा, जैसी अनवरत चेष्टा, जैसा अन्ध उन्माद दिखाया जाता है, उसीको 'संकल्प' कहा जाता है। संकल्प के स्थिर होते ही साधन-पथ का निर्दिष्ट ज्ञान भी आवश्यक बन जाता है; क्योंकि उसके बिना पैर उठेंगे किस ओर ? पथ का पता लग जाने पर, आँखें मूँद कर, नाक की सीध में चलने की प्रवृत्ति ही नहीं- उस पर 'प्रतीति' भी

चाहिए—जिससे साधक पथ-भ्रष्ट न हो सके। किसी भी साधक का सत्प्रयत्न ही उसके 'संकल्प' को सार्थक बनाता है।

'गौरी' के सामने मौन खड़ा था अभ्र-भेदी धवल हिमालय। जैसे वसुधा का शुद्ध 'संकल्प' ही साकार हो गया हो। उसीका समस्त सम्भार लेकर ही तो 'गौरी' अवतरित हुई थी। वह हिमालय की पुत्री क्या हुई, जैसे गिरिराज की चिरसंचित गुप्त 'गरिमा' ही गौरी के रूप में प्रकट हो गई हो, क्योंकि कैलास से कीलित शिव के चुम्बकाकर्षण से 'गौरी' दूर भी तो नहीं जा सकती थी।

यों दिगन्त-विस्तृत हिमालय का सारा मृदुल-गुरुत्व लेकर ही जैसे 'गौरी' आ खड़ी हुई थी उस पावन आभामय आँगन में।

माता का विरोध :

गौरीने शिव के चरणों में समर्पित होने का अचल संकल्प तो कर लिया था, नारद ने उसके पिता को भी समझा-बुझा दिया था, उसकी माता भी नारद के सामने ही खड़ी थी और सब कुछ सुन रही थी, फिर भी, वह जैसे अपने 'मैना' नाम को सार्थक कर रही हो—'मैं नहीं मानूँगी !'

नारद के सामने तो उसने कोई विरोध न किया, पर जब वह चले गए और उसके पति गुन-धुन में पड़े रहे, तब 'मैना' चुपचाप आकर खड़ी हो गई हिमवान् के आगे। फिर धीरे-धीरे उनसे कहने लगी :

> "...................।
> नाथ न मैं समुझे मुनि बैना।
> जौं घरु बरु कुलु होइ अनूपा। करिअ बिबाहु सुता अनुरूपा॥"

'मैना' माता थी और थी मूढ़-ममता से भरी हुई माता। उसका दृष्टि-कोण भी शुद्ध सांसारिक था—जैसा सामान्यतया सभी माताओं का होता है। नारद की बातों पर उसे भरोसा न था। उसकी बेटी अनुपम सुन्दरी थी। वह उसे 'भूतनाथ' के हाथों सौंपने को तैयार न थी। साधारण तौरपर लड़की के लिए घर-वर जगह-जगह ढूँढ़ा जाता है, जन्म-कुंडली मिलाई जाती है, रूप-गुण, जमीन-जायदाद, शील-स्वभाव, जात-पाँत का खूब विचार किया जाता है। 'मैना' वही प्रस्ताव करती है—'बेटी के लायक वर ढूँढ़िए—नारद के फेर में पड़ने की कोई जरूरत नहीं।'

'मैना' माता ही नहीं, महारानी भी हैं, हिमवान् के ऊपर उनका काफी रौब-दाब भी है। इसलिए वह हठ के स्वर में कह बैठती हैं :

> "न त कन्या बरु रहउ कुआरी। कंत उमा मम प्रानपिआरी॥"

अगर कन्या के अनुरूप वर न मिले, तो वह कुँआरी भले ही रह जाए, पर वैसा बे-मेल ब्याह तो माँ न होने देगी; क्योंकि बेटी उसे प्राणों से भी प्यारी है।

सभी 'माँ' प्रायः ऐसा ही कहती हैं, फिर मैनादेवी तो मानिनी ठहरीं।

लेकिन यह 'महारानी' अनुनय-विनय तक ही नहीं रुकी रहीं, व्यंग्य-बाण भी छोड़ बैठीं :

"जो न मिलिहि बरु गिरिजहि जोगू। गिरि जड़ सहज कहिहि सब लोगू ॥"

अगर राजकुमारी गिरिजा के योग्य वर न मिला, तो लोग यही न कहेंगे, कि पहाड़ स्वभाव से जड़ (मूर्ख) होता है। यह बदनामी भी तो पर्वत-पति को बर्दाश्त न होगी। इसलिए पहले से ही सावधानी क्यों न बरती जाए, जिससे अनुताप-सन्ताप में न पड़ना पड़े।

तर्क का जवाब तर्क से दिया जा सकता है, क्योंकि वह केवल जीभ को पकड़ता है। लेकिन जब कोई चरण भी पकड़ लेता है, तब तो कठोर से कठोर व्यक्ति को भी विवश हो जाना पड़ता है। और जब 'पत्नी' पैरों पर गिर पड़ती है, तब तो मनस्वी पति भी शिथिल पड़ जाता है। मैनादेवी ने वही 'अस्त्र' अपनाया और दुविधा में पड़े पतिदेव को और भी व्यस्त बना दिया। अगर हिमवान् आस्थावान् व्यक्ति न होते, अगर सन्त-महात्माओं के ऊपर उनको दृढ़ निष्ठा न होती, तो वह अवश्य ही झुक जाते। परन्तु उन्हें नारद की बात 'पत्थर की लकीर' जान पड़ी और वह कुछ भय-विह्वल होते बोले :

"बरु पावक प्रगटे ससि माँहो। नारद बचन अन्यथा नाहीं ॥"

शीतल चन्द्रमा में आग भले ही भभक उठे, असम्भव भले ही सम्भव हो जाय, पर नारद के वचन कभी मिथ्या नहीं हो सकते—उन्होंने जो कहा, वह अवश्य होकर रहेगा।

इतना विश्वास दिलाकर उन्होंने प्यार से पुचकारते हुए कहा, कि जिसने पार्वती को पैदा किया है, वही भगवान् उसकी भलाई भी करेंगे। अब, अगर माता को अपनी बेटी पर सच्ची ममता है, तो वह उसे कल्याण के पथ पर अग्रसर कर दे :

"अब जौं तुम्हहि सुता पर नेहू। तौ अस जाइ सिखाबनु देहू ॥
करै सो तपु जेहिं मिलहिं महेसू। आन उपायँ न मिटिहिं कलेसू ॥"

संकट-मोचन का एक ही उपाय है, वह यह, कि गौरी महादेव को पाने के लिए तपस्या करे—दूसरा कोई चारा नहीं है।

हिमवान् ने पत्नी के आगे अपना हृदय खोल दिया :

"नारद बचन सगर्भ सहेतू। सुंदर सब गुन निधि बृषकेतू ॥
अस विचारि तुम्ह तजहु असंका। सबहिं भाँति संकरु अकलंका ॥"

'मैना' का सन्देह मिट गया, शंकर में कोई दुर्गुण नहीं है, वह सुन्दर और गुणवान् हैं, इस पर उसका विश्वास हो गया। वह खुश होती उठी और पुत्री के पास पहुँची। किन्तु गौरी का दिव्य सौन्दर्य देखते ही उसे नारद की भयानक बातें याद आ गई और उसके नेत्र निर्झर बन गये। माँ का गला भर आया, वह जो

कहने गई थी, न कह सकी। गौरी इस विह्वलता का रहस्य समझ गई और मृदुल-मंजुल स्वर में माँ को अपना 'सपना' सुनाने लगी :

"सुनहि मातु मैं दीख अस, सपन सुनावउँ तोहि।
सुंदर गौर सुबिप्रबर, अस उपदेसेउ मोहि॥
करहि जाइ तपु सैलकुमारी। नारद कहा सो सत्य बिचारी॥"

माता जो न कह सकी थी, पुत्री ने उसे खुद कह दिया। साथ ही उसने तपस्या के महत्त्व से भी उसे पूर्ण-परिचित कर दिया।

माताका सारा संकोच और उसका सन्ताप दूर हो गया। विस्मित होती उसने अपने पति को बुलवाया और उन्हें भी बेटी का स्वप्न सुना दिया। कितना स्वाभाविक प्रसंग-क्रम है यह ? बेटी माँ के आगे अपना हृदय खोलती है, पर मर्यादा के भीतर ही रहती है। केवल दबी-जबान नारद के वचन का उल्लेख कर देती है और उसकी सचाई का समर्थन करती है—सो भी स्वप्न-देवता के स्वर में, स्वयं तटस्थ ही बनी रह जाती है।

भारतीय नारी की मर्यादा का ऐसा सुन्दर सांस्कृतिक चित्रण अन्यत्र कहाँ मिलेगा ? तुलसी का 'मानस' मानों ऐसा अनूठा सांस्कृतिक सरोवर है—जिसकी समता विश्ववाङ्मय में ढूँढ़े भी दुर्लभ दीखती है।

बुद्धमती गौरी ने माँ-बाप का भार एकदम हलका कर दिया। अब उन्हें कुछ कहने की आवश्यकता ही न रह गई। इतना ही नहीं, उन दोनों को समझा-बुझाकर वह हर्षित मन से तपोवन में तपस्या करने भी चली गई।

गौरी अति सुकुमार थी, उसका शरीर तपस्या के लायक नहीं था, फिर भी संकल्प-सिद्धि के लिए उसने समस्त भोग-विलास को तज दिया। जहाँ प्रेम प्रगाढ़ हो गया है, वहाँ आदमी देह का भान भूल जाता है, और जब शरीर की सुधि जाती रहती है, तब कष्ट सहन करना एकदम आसान हो जाता है। इसीलिए कवि स्पष्ट कर देता है :

"नित नव चरन उपज अनुरागा। बिसरी देह तपहिं मनु लागा॥"

'गौरी' की तपस्या मुनियों को भी मात कर देने वाली थी। कुछ दिनों तो उसने फल-फूल खाकर साधना-आराधना की, कुछ दिन शाक पर ही रह गई, कुछ दिन जल और वायु पर ही बिता दिए। यों उसका तप उग्रतर होता चला। अनन्तर कुछ दिन कठिन निर्जल उपवास किया, फिर कुछ दिन सूखे गिरे-पड़े बेल के पत्ते ही चबाए। उसके पश्चात् उसने पत्ते चबाना भी छोड़ दिया। इसीसे वह 'अपर्णा' कही जाने लगी।

'गौरी' की उस अभूत-पूर्व तपस्या से ब्रह्मदेव का आसन डोला और आकाश-वाणी से उनका आदेश हुआ :

"भयउ मनोरथ सुफल तव सुनु गिरिराज कुमारि।
परिहरु दुसह कलेस सब अब मिलिहहिं त्रिपुरारि॥"

तपस्या का तीर अचूक होता है—लक्ष्य को बेधकर ही वह तरकस में वापस आता है। और जब कोई कोमलांगी तपस्या के तट पर खड़ी हो जाती है, तब तो चराचर ही काँप उठता है। आकाश-वाणी गुण-गान में अघा नहीं रही थी :

"अस तप काहु न कीन्ह भवानी। भए अनेक धीर मुनि ग्यानी।"

'गौरी' को इससे अधिक प्रमाण-पत्र और क्या चाहिए था ? किन्तु आकाश-वाणी ने 'सप्तर्षि' की प्रतीक्षा की शर्त भी लगा दी थी—'सप्तर्षि' से मिल कर ही 'गौरी' को घर लौटना था। इसलिए वह अपनी तपस्या बढ़ाती ही गई।

'तपस्या' अपने अन्दर की ताकत है—आत्मा की आवाज है। वह बाहर नहीं देखती है—अपने अन्दर ही झाँकती है। जिस लक्ष्य पर दृष्टि गड़ जाती है, उसके साथ आत्मा का तादात्म्य स्थापित हो जाता है। उसीको आत्म-मन्थन के द्वारा प्रकट करना तपस्या का उद्देश्य होता है।

'गौरी' के अभिन्न जीवन-संगी शिव उससे विमुख हो गये थे; क्योंकि 'सती' रूपमें वह विश्वात्मा को पहचानने में भूल कर बैठी थी। इस तपस्या से गौरी अपनी पिछली बिगड़ी स्थिति को सम्हालना चाहती थी। प्रत्यक्षतः तपस्या शिव के लिए थी, किन्तु शिव भी तो विश्वात्मा की प्रेरणा पर चल रहे थे। इसलिए तपस्या जब तक सबके 'प्रेरकप्रभु' को नहीं हिलाती, उनका ध्यान नहीं खींचती, तब तक गौरी आराधना का आसन कैसे छोड़ सकती थी ?

साथ ही उसे यह भी तो देखना था कि वह 'सप्तर्षि' उसके लिए क्या सन्देश लाते हैं। गौरी की कठोर साधना अब सिद्धि के केन्द्र-विन्दु को स्पर्श करने जा रही थी, पर अभी उस पर स्थिर नहीं हो सकी थी—केन्द्र को छू-छूकर छिटक रही थी। यही समय साधक के लिए खतरे का होता है—अगर जरा भी असावधानी हुई कि सारे परिश्रम पर पानी फिरा। किन्तु गौरी खूब सतर्क थी, खूब सचेष्ट थी, खूब गहरे डूब रही थी। उसके कानों में आकाश-वाणी कह रही थी :

"मिलहिं तुम्हहिं जब सप्त रिषीसा। जानेहु तब प्रमान बागीसा॥"

विश्वात्मा-विभु की वकालत :

शिव यद्यपि 'सती' से विमुख हो गये थे, पर वह उसके तन-मन से सुपरिचित थे; क्योंकि वह उनकी धर्म-संगिनी थी और थी प्राण-पण से उन पर अनुरक्ता। ऐसी पत्नी से विछोह शंकर को उदासीन क्यों न बना देता—विचरणशील विरक्त बना कर दुनिया में दर-दर क्यों न भटका देता ? इसीलिए तो वह :

"कतहुँ मुनिन्ह उपदेसहिं ग्याना। कतहुँ राम गुन करहिं बखाना॥
जदपि अकाम तदपि भगवाना। भगत बिरह दुख दुखित सुजाना॥"

'मानस' के कवि को भी कभी शंकर की इस स्थिति में गुजरना पड़ा था जब 'रत्नावली' से मुँह मोड़ कर शंकर के सदृश वह भी घर छोड़ कर विश्वात्मा की शरण में अनुरक्त और विरक्त बन गए थे। किन्तु क्या उस विछोह-व्यथा की स्मृति भी उनके अन्तर से मिट गई थी ? नहीं, वह सहृदय मानव थे, बड़ी आतुरता, व्यग्रता और गहराई से उन्होंने 'रत्नावली' को अपने नयन-प्राणों में बसाया था। क्या उस प्राणोपमा प्रेयसी को वह कभी भूल सकते थे ? हाँ, सारी शक्ति लगा कर 'रत्नावली' के प्रेम के ऊपर उन्होंने अपने आराध्य 'सीताराम' को आसीन अवश्य कर दिया था, पर जहाँ कोई ऐसा स्निग्ध दृश्य सामने आया, वहाँ बल-पूर्वक उनके आकुल अन्तरतम से 'रत्नावली' झाँकने लग जाती है और कवि-हृदय अनजान में ही पुलकित हो उठता है। फिर, अपनी साध की सुधि आते ही, बड़ी शीघ्रता से वह उस दृश्य पर पर्दा डाल देते हैं, लेकिन अन्तर की अनुभूति आकुल किये बिना कवि को कैसे छोड़ती ? छाती में चुभे तीर को कोई जोर लगाकर भले ही खींच ले, पर उसकी गाँसी की कसकन को धड़कन से निकालने का तो कोई उपाय नहीं रह जाता है—वह तो आह ले ही उठती है। कवि का संयम, संकोच और आह-उसाँस यहाँ दर्शनीय हो उठी है :

"भगत बिरह दुख दुखित सुजाना।"

'सती' शिव की भक्त तो मानी ही जायगी—इसको तो उसने प्राण देकर प्रमाणित कर दिया था। शिव सुजान हैं—सती को खूब अच्छी तरह जानते हैं—भीतर और बाहर से भी। उसने जैसा अपार कष्ट झेला है, शिव से कुछ भी छिपा नहीं है। उसका कष्ट क्या शिव को दुःखित नहीं बनायेगा ? 'सुजान' की संज्ञा देकर भुक्त-भोगी कवि पाठकों की मर्मज्ञता की थाह लेने लग जाता है।

सच, कवि को उसकी कृतियों से अलग करके नहीं देखा जा सकता है; क्योंकि उसका बाहरी वेश उसका यथार्थ परिचय नहीं देता है, असली परिचय तो उसकी कृतियाँ ही देती हैं—जिनके अक्षर-अक्षर से वह अपनी अनुभूति को बिखेरता रहता है। शिव और गौरी—दोनों 'विश्वात्मा' की शरण में पहुँच गये थे। इधर गौरी की तपस्या सुर-मुनि को हिला रही थी, उधर शिव के हृदय में :

"नित नै होइ राम पद प्रीती।"

फिर 'विश्वात्मा विभु' प्रकट क्यों न होते ? वह शिव के सामने प्रत्यक्ष हुए और उनके नेम-प्रेम की खूब सराहना करके :

"बहु बिधि राम सिवहि समुझावा। पारबती कर जन्मु सुनावा॥
अति पुनीत गिरिजा कै करनी। बिस्तर सहित कृपा निधि बरनी॥"

'प्रेरक-प्रभु' अब अपने उद्देश्य पर आये। असल में तो वह 'गौरी' की वकालत करने आये थे—जिसकी कठिन तपस्या से उनका आसन हिल उठा था।

जब तक शिव गौरी के प्रति आकृष्ट नहीं होते, जब तक दोनों का तन-मन एक नहीं होता, तब तक 'विरह' का दुःख कैसे दूर होता ! दोनों 'अनुरक्ति' के अभाव में ही तो विरक्त बने थे, और 'विरक्ति' का फल निहित रहता है विशेष 'अनुरक्ति' में। दोनों की 'विरक्ति' अब तक सीमा पर पहुँच चुकी थी, अतः उसकी परिणति अब 'अनुरक्ति' में होनी ही थी। इसीलिए विश्वात्मा राम ने आशुतोष से विनती की :

"अब बिनती मम सुनहु सिव, जौं मो पर निज नेहु ।
जाइ बिबाहउ सैलजहि, यह मोहि माँगें देहु ॥"

ऐसे प्रेमाग्रही वकील के सामने शिव क्या करते—जो उनके प्रेम की दुहाई दे रहा है, जो 'प्रभु' होकर भी भीख माँगता है, सो भी किसलिए—गौरी के साथ उन्हीं का ब्याह करवाने के लिए। इस प्रेमाग्रही प्रभु के सामने शिव को विवश सिर झुकाना ही पड़ा :

"कह सिव जदपि उचित अस नाहीं। नाथ बचन पुनि मेटि न जाहीं ॥"

शादी का प्रस्ताव शिव को जँचा नहीं, रुचा भी नहीं, उचित भी नहीं जान पड़ा; किन्तु 'प्रभु' की आज्ञा थी, इसलिए नकारात्मक स्वर में ही उन्होंने उसको शिरोधार्य किया—'नाथ बचन पुनि मेटि न जाहीं।'

इस स्वीकृति में दिल का साथ नहीं है, परिस्थिति की विवशता ही बलवान् दीख रही है। यह भी स्पष्ट हो रहा है, कि 'सती' वाला उनका पुराना क्षोभ अब तक पूर्णतया दूर नहीं हुआ है। विश्वात्मा ने पार्वती की जन्म-कथा विस्तार से उन्हें सुनाई थी, उसकी तपस्या का भी विशद वर्णन किया था, फिर भी क्षोभ उनके हृदय में छिपा ही रह गया—मिटा नहीं। सीता के प्रति, रावण के घर वाला, राम का क्षोभ भी तो, अग्नि-परीक्षा के उपरान्त-भी, दूर न हो सका था।

नारी के प्रति नर का भाव कुछ ऐसा ही विषम रहता आया है !

प्रेम-परीक्षा :

उधर विश्वात्मा 'राम' अन्तर्धान हुए, इधर 'सप्तर्षि' शिव के सामने आ खड़े हुए। सप्तर्षि का यह आगमन आकस्मिक नहीं था—आकाश-वाणी ने इसकी सूचना पूर्व ही दे दी थी। यह इस योजना का एक मुख्य भाग है—'विवाह-नाटक' का प्रधान दृश्य है।

सुजान शिव ने 'सप्तर्षि' से अपने मन की बात कही, अपनी विरक्ति सूचित की और तपस्विनी नारी के प्रेम की कड़ी परीक्षा करने का आदेश दिया :-

"पारबती पहिं जाइ तुम्ह, प्रेम परिच्छा लेहु ।
गिरिहि प्रेरि पठयहु भवन, दूरि करेहु संदेहु ॥"

शिव का उपर्युक्त कथन निगूढ़ आशय से भरा हुआ है—जिसके दो अर्थ तो

स्पष्ट दीख जाते हैं। प्रेम की परीक्षा लेनी है, हिमवान् को प्रेरित करना है, गौरी को तपोवन से घर भेजवा देना है और सारे सन्देह दूर कर देने हैं।

स्पष्ट है, कि अगर परीक्षा में गौरी फेल हुई, तो शंकर की आशा छोड़ वह बाप के घर लौट जाए—उसके मन का भ्रम दूर कर दिया जाए, शंकर को पाना हँसी-खेल नहीं है। और अगर पास हो जाए, तो शंकर के प्रति उस समाज में जो भ्रान्त-धारणाएँ फैली हों, माँ-बाप के मन में जो अशुभ आशंकाएँ हों, दूर कर दी जाएँ।

शिव इस पर आमादा दीखते हैं, कि किसी तरह गौरी परीक्षा में मुँह की खाए, अपना-सा मुँह लेकर घर लौट जाए जिससे 'विश्वात्मा' के सामने वह बरी हो जाएँ—दोषी न समझे जाएँ।

लेकिन यह केवल उनका 'नाटकीय' भाव है, मन में तो कुछ दूसरी ही उथल-पुथल हो रही है—जो नयनाभिराम नारी इतनी कड़ी तपस्या कर चुकी है, जिसकी वकालत खुद विश्वात्मा विभु कर चुके हैं, वह क्या इन 'खूसटों' से हार मान जाएगी? नहीं, शंकर यह एक तमाशा ही करना चाहते हैं—जिससे गौरी की 'गरिमा' और बढ़े, साथ-साथ पुरुष का पुरुषत्व भी सुरक्षित रहे। सौदा खूब ठोक-बजा कर किया गया।

हाय री, नारी!—तू सदा से पुरुषों के हाथों यों ही प्रताड़िता होती आई है।

परीक्षक परीक्षार्थिनी के पास पहुँचे। गौरी उन्हें मूर्तिमान् 'तपस्या' ही दीख पड़ी। देखते ही दंग रह गये—यह नारी है या 'तपस्या' ही नारी के रूप में आ विराजी है यहाँ!

धीरे-धीरे उनकी स्तब्धता, उनका विस्मय, उनकी विवशता दूर हुई और पूछ-ताछ शुरू हो गई:

"केहि अवराधहु का तुम्ह चहहू। हम सन सत्य मरमु किन कहहू॥"

गौरी पूरी तैयारी के साथ बैठी थी। परीक्षकों के प्रश्न उसे हँसी-खेल-से प्रतीत हुए। वह तपोतप्ता थी—अपना पाठ उसने अच्छी तरह रात-दिन सजग रहकर याद किया था। लिखित में शत-प्रतिशत अंक 'ब्रह्म' के हाथों वह पा चुकी थी, फिर 'मौखिक' से वह क्यों घबराती?

बिलकुल बराबरी पर उतर कर, मर्म-व्यञ्जना के साथ, वह जबान देने लगी:

"कहत बचन मनु अति सकुचाई। हँसिहहु सुनि हमारि जड़ताई॥"

जो शुरू-शुरू में ही अपनी 'जड़ता' की सूचना दे देती है, अपना संकोच खोल देती है और परीक्षकों की अपने प्रति 'अवहेलना' का भी उल्लेख कर देती है, उस ठोस जमीन पर खड़ी हुई परिक्षार्थिनी को कोई परीक्षक कैसे अपदस्थ करता—कैसे उसे बेवकूफ बनाता? परिक्षार्थिनी का संकोच सहसा परीक्षकों के कलेजे में घुसने लगा।

गौरी उसी विनोद-वृत्ति में कहती गई:

"मन हठ परा न सुनइ खिखावा। चहत बारि पर भीति उठावा ॥"

जो बात 'सप्तर्षि' उसे कहने आये थे, वह खुद कह देती है, कि वह पानी के ऊपर भीत उठाना चाहती है—अर्थात् असम्भव को सम्भव करने की नादानी दिखा रही है।

जो अपने को इस क्रीड़ा के साथ 'मूर्ख' घोषित करे, उसे दूसरा मूर्ख कहने का साहस कैसे करेगा ?

यों गौरी सप्तर्षियों के तरकस के तीर खाली करती चली :

"नारद कहा सत्य सोइ जाना। बिनु पंखन्ह हम चहहिं उड़ाना ॥"

यहाँ गौरी अपमें मन्त्र-गुरु नारद के वचन पर अपनी सच्ची निष्ठा बता देती है और ब्याज से यह भी व्यक्त कर देती है, कि वह दीक्षिता हो चुकी है, अब दूसरी दीक्षा उसके कानों में पड़ने की नहीं। साथ ही अपनी 'मखौल' भी उड़ाती जाती है—एक तीर से दो-दो निशाना मारती है।

बिना पंखों के उड़ने का प्रयत्न करना, असम्भव मानते हुए भी उसी प्रयत्न में लगे रहना, न लजाना, न पछताना, उलटे अपने ऊपर ही व्यंग्य-विनोद की वर्षा करते जाना—गौरी की ये हरकतें सप्तर्षियों को अजब हैरानी में डाले देती हैं।

जो अपने को यों मूर्ख बनाती है, अप्रत्यक्षतः वह दूसरों पर अपनी बुद्धिमत्ता की ही धाक बिठाती है। परीक्षार्थिनी ने कच्ची गोली नहीं खेली थी, वह अत्युच्च धरातल से बोल रही थी—परीक्षक इसके कायल हो गये।

किन्तु गौरी ने अभी असली भेद तो खोला नहीं था—वह तो परीक्षकों की जिज्ञासा, उत्कण्ठा और कौतूहल ही बढ़ाती गई थी। कवि-कौशल की माँग भी तो यही थी।

आखिर गौरी ने मुख्य बात कही, अपनी तपस्या का उद्देश्य बताया, और बताया उसी आत्म-निन्दा के आवरण में लपेट कर :

"देखहु मुनि अबिबेकु हमारा। चाहिअ सदा सिवहि भरतारा ॥"

पहले अपने अविवेक का उल्लेख करती है, फिर 'सदा' विशेषण के साथ शिव को खुले शब्दों में अपना 'भर्तार' बनाना चाहती है।

यों विनय और विनोद के बीच उसका 'भर्तार' जगमगा उठता है।

एक सज्ञान, सुदृढ़ और संयमी लड़की का यह वर-निरूपण कितना सुन्दर, कितना मर्म-स्पर्शी, कितना स्वाभाविक और कितना मनोवैज्ञानिक चित्रण हुआ है—यह तो मर्मज्ञ ही बता सकते हैं।

किन्तु एक उत्कण्ठा तो उठती ही है—क्या इस चित्रण में कवि की 'रत्नावली' के ज्ञान, व्यंग्य और दृढ़ता का कुछ अंश, दूध में चीनी की तरह, कहीं से आकर घुल-मिल नहीं गया है ?

सहृदय ही इसका फैसला कर सकते हैं।

बड़ों का बड़प्पन भले ही नष्ट हो जाए, पर उनका बड़ा मुँह कभी छोटा नहीं होता—उनकी हेकड़ी बनी ही रह जाती है। सप्तर्षियों का तूणीर रिक्त है, फिर भी वे गौरी का उपहास करने से बाज नहीं आते हैं। हाँ, कुछ ऊँचा उठ कर वह उसके बाप और गुरु नारद को भी अपने व्यंग्य में लपेट लेते हैं :

"सुनत बचन बिहँसे रिषय, गिरिसंभव तव देह।
नारद कर उपदेसु सुनि, कहहु बसेउ किसु गेह ॥"

पहाड़ की बेटी तो वह थी ही, फिर जब बाप ही जड़ है, तो उसकी बेटी क्यों न जड़ होगी ? किन्तु मुनियों के इस व्यंग्य का उसके ऊपर क्या असर पड़ता जो इसके पूर्व ही अपने को 'जड़' घोषित करती आई है ? हाँ, बाप पर का व्यंग्य उसको जरूर खटकेगा—वह जरूर तिलमिला उठेगी।

सप्तर्षि अनुभवी थे और अपनी धुन के पक्के थे। इसीलिए उन्होंने अपने भोथे हथियार को शान पर चढ़ा दिया। उनका दूसरा व्यंग्य तो और चुटीला हो जाता है, जब वे नारद के ऊपर फबतियाँ छोड़ने लग जाते हैं—'भला नारद का उपदेश सुन कर किसका घर बस सका है ?'

गौरी को पहले व्यंग्य से जितना कष्ट न हुआ था, उतना अब गुरु के उपहास से हुआ। वह तिलमिलाई तो जरूर, पर संयत भाव से ही सुनती रही।

नारद की जड़ काटे बगैर गौरी पर उनका कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा, इस उद्देश्य से सप्तर्षि गिन-गिन कर उन पर तीक्ष्ण तीर छोड़ने लगे :

"नारद सिख जे सुनहिं नर नारी। अवसि होहिं तजि भवनु भिखारी ॥"

यहाँ तक को व्यंग्य सहन होने लायक था—घर छोड़ कर 'भिखारी' होना कोई बुरी बात नहीं; क्योंकि भिखारी हुए बिना भगवान् तो नहीं मिलता। लेकिन जब वे उनको भला-बुरा कह बैठे :

"मन कपटी तन सज्जन चीन्हा। आपु सरिस सबही चह कीन्हा ॥"

तब गौरी का धैर्य खोने लगा; क्योंकि गुरु की निन्दा सुनना सबसे बड़ा अपराध माना जाता है। फिर भी वह अपनी शालीनता नहीं छोड़ती है और जहर का घूँट पीती रहती है :

"तेहि के बचन मानि बिस्वासा। तुम्ह चाहहु पति सहज उदासा ॥"

सप्तर्षि का व्यंग्य अब उसके भर्तार पर भी बरसने लगा :

"निर्गुन निलज कुबेष कपाली। अकुल अगेह दिगंबर व्याली ॥"

जिसके लिए नारी ने इतना कठोर तप किया, जो उसके जीवन का एकमात्र काम्य-पुरुष था, जो उसके जागरण और स्वप्न का एकमात्र आराध्यदेव था, उसीको

जब 'निर्लज्ज' तक कह दिया गया, तब अनुरागिनी 'गौरी' का अन्तर कैसा आकुल हो उठा होगा, यह समझने की बात है।

लेकिन भारतीय बाला तब भी अपना सन्तुलन नहीं खोती है—स्तब्ध होकर अपने रोष-क्षोभ को दबाए, सुनती जाती है :

"कहहु कवन सुख अस बरु पाएँ। भल भूलिहु ठग के बौराएँ॥"

ऐसे भयंकर 'वर' को पाकर कौन नारी सुखी हो सकती है? लेकिन यह नादान नारी तो उसीके लिए मर रही है। जरूर वह बड़ा भारी छलिया होगा, जिसने यह पागलपन गौरी के ऊपर चढ़ा दिया है। खूब भूली यह बाला उस 'धूर्त' के फेर में पड़ कर।

'गौरी' बड़े-बूढ़ों का यह प्रलाप सुन कर हँसे या रोए—निश्चय न कर सकी। उसका क्षोभ अन्दर-ही-अन्दर उबलने लगा।

किन्तु सप्तर्षियों ने बड़ी सतर्कता से ब्रह्मास्त्र का प्रयोग किया था गौरी के ऊपर। गौरी नारी थी और वह 'वराराधना' कर रही थी। ऐसे समय 'सौत' की कथा कितनी अप्रिय, कितनी खटकने वाली, कितनी विचलित करने वाली होगी—सप्तर्षि, इसे खूब समझते थे। इसीलिए उन्होंने मुँह बिचका कर, उसका जिक्र कर ही तो दिया :

"पंच कहें सिव सती बिबाही। पुनि अवडेरि मराएन्हि ताही॥
अब सुख सोवत सोचु नहिं, भीख माँगि भव खाहिं।
सहज एकाकिन्ह के भवन, कबहुँ कि नारि खटाहिं॥"

'गौरी', पत्थर-बनी, मुनियों की बातें सुन रही थी। पंचों के कहने से शिव ने पहले एक सती-नामी स्त्री से विवाह किया और फिर झंझट-बखेड़ा खड़ा करके उसे मरवा डाला। अब वह निश्चिन्त सोते हैं, और भीख माँग कर खाते हैं। जो स्वभाव से ही अकेला-पसन्द आदमी है, उसके घर में भला नारी का निवास कैसे हो सकता है?

और गौरी उसी 'झंझटिया' के लिए पागल है—सौत की दुर्दशा देख कर भी उसका नशा नहीं उतरता है! कैसी अन्धी औरत है यह!!

सचमुच यह सब सुन कर भी, गौरी टस-से-मस न हुई—सप्तर्षि का वह 'ब्रह्मास्त्र' भी बेकार बन गया। जब भय और भीतिसे भी काम न चला, तब ऋषियों ने प्रबल प्रलोभनास्त्र छोड़ा—गुण-भूषण वर का लोभ दिखाकर उसे फुसलाया :

"अजहूँ मानहु कहा हमारा। हम तुम्ह कहुँ बर नीक बिचारा॥
अति सुंदर सुचि सुखद सुसीला। गावहिं बेद जासु जस लीला॥
दूषन रहित सकल गुन रासी। श्रीपति पुर बैकुंठ निवासी॥
अस बरु तुम्हहि मिलाउब आनी।"

भला ऐसे सुन्दर, सुशील, यशस्वी, गुणवान् और लक्ष्मीवान् 'वर' के ऊपर कौन कन्या न्योछावर न हो जाएगी? लेकिन इस हठी नारी के ऊपर इसका भी कोई

असर न हुआ—वह जरा भी अस्थिर न हुई। किन्तु उसका धैर्य समाप्त हो गया था और उसने कुछ ऐसा कहने का निश्चय कर लिया था, जिससे ये खूसट उसका पिण्ड छोड़ दें। इसलिए बीच में ही वह विहँस उठी और सदर्प कहने लगी :

"सत्य कहेहु गिरभव तनु एहा। हठ न छूट छूटै बरु देहा॥"

ऋषियों ने 'गिरि-सम्भव' कहकर ही तो उसकी दिल्लगी उड़ाई थी, उसीको वह गर्व में बदल देती है—'पहाड़ की बेटी हूँ, अपनी टेक पर अचल बनी रहूँगी—भले ही यह देह नष्ट हो जाए।'

सप्तर्षि ने उसके गुरु पर कड़े आक्षेप किये थे। गौरी उसका जवाब भी उसी स्वर में देती है :

"नारद बचन न मैं परिहरऊँ। बसउ भवन उजरउ नहिं डरऊँ॥"

नारद गौरी के गुरु थे और जिसको अपने 'गुरु-मंत्र' पर भरोसा न हो, वह स्वप्न में भी सुख और सिद्धि की आशा नहीं कर सकता है। ऐसी समझदार नारी नारद का वचन क्यों छोड़ेगी—घर बसे या उजड़ जाय, क्या चिन्ता होगी उसे ?

फिर वह प्रलोभनों पर आती है :

"महादेव अवगुन भवन बिष्नु सकल गुन धाम।
जेहि कर मनु रम जाहि सन तेहि तेही सन काम॥"

गौरी न खण्डन करती है, न मण्डन—ऋषियों ने जो कहा, संक्षेप में, उसे ही दुहरा देती है—भले ही महादेव में दोष-ही-दोष क्यों न हों और बैकुण्ठ-वासी विष्णु गुण-धाम ही क्यों न हों, लेकिन जिसका मन जिसके साथ एक बार रम गया, उसके लिए तो वही काम का होगा—दूसरा तो बेकार साबित होगा।

यहाँ गौरी की शालीनता श्लाघ्य हो जाती है। गुण-दोष के विवेचन में न पड़ कर, तर्क-वितर्क के जाल में न उलझ कर, वह मन को सबके आगे कर देती है। सूर की गोपियों ने भी उद्धव से कुछ ऐसा ही कहा था :

"उधो मन माने की बात।"

और जो द्वन्द्व-दुविधा से डर कर सुख-सुविधा के लिए अपने अनुराग का आकर्षण-केन्द्र बदल देता है, वह 'प्रेमी' तो कदापि नहीं कहा जा सकता। प्रेम तो वह तीर है जो चोट करके ही बोलता है—परवश होकर ही 'प्रेम' की पुकार प्रबल होती है। और बिना परवश हुए जो 'प्रेम' का नाम लेता है, वही प्रलोभन में पड़ कर तुरन्त दिशा बदल देता है—हृदय दान करके भी आँखें फेर लेता है। उसे कायर, व्यापारी या व्यभिचारी—कुछ भी कहा जाय, पर 'प्रेमी' तो कदापि नहीं।

गौरी को अपने प्रेम पर गर्व था, फिर केन्द्रापसारित क्यों होती ? वह शिव की अनन्य भक्ति करती थी, तथापि उसने विष्णु की कोई समीक्षा न की। यही नहीं,

उसका संयम तो इतना ऊँचा था, कि महादेव के गुण-गान में भी वह मुखर न हो सकी। अच्छा रहे या बुरा, चुन लिया सो चुन लिया!

भारतीय नारी अपने प्रेमी को बाहरी नेत्रों से देखने की आदी नहीं रही है—वह उसे अन्तर्नेत्रों से ही देखती आई है। और उस अन्तस्सौन्दर्य में कभी ज्वार-भाटा नहीं उठता है। वह मूक सौन्दर्य इंगितों में ही बोलता रहता है। वह अपरूप 'रूप' कलाकार के कैनवास का रेखा-चित्र है जो कलामयी कूचियों में ही कलस्वन करता है।

गौरी इसीलिए सुस्थिर रह गई—हजार हिलाने-डुलाने और झकझोरने पर भी वह जरा भी हिली-डुली नहीं—एकदम अडिग रह गई।

गौरी ने जो जवाब दिया, वह सूत्र-शैली में था—उसका हृदय उन सूत्रों की व्याख्या भी कर देना चाहता था जिससे उसके अन्तर्भाव स्पष्ट हों और शालीनता भी अक्षुण्ण रह जाय। इसलिए वह कुछ सोचकर बोली :

'जौं तुम्ह मिलतेहु प्रथम मुनीसा। सुनतिउँ सिख तुम्हारि धरि सीसा॥
अब मैं जन्म संभु हित हारा। को गुन दूषन करै बिचारा॥'

यहाँ तक तो गौरी शालीनता का दामन न छोड़ सकी और गुरु-गरिमा का गुण गाती रही। अगर ये ऋषी ही पहले आये होते, तो वह इन्हींको गुरु बनाती और इन्हींकी सीख पर चलती। लेकिन पहले तो नारद ही मिले और उन्हींने उसे शम्भु की ओर आकृष्ट कर दिया। इसीसे वह नारद को ही गुरु मानती है और उन्हींके गुरु-मन्त्र पर चल रही है। सप्तर्षि को समझने में देर न लगी, कि बिना बोले ही गौरी ने गुरु-विरोध तथा पथ-भ्रष्ट करने का आक्षेप उन पर बिठा दिया, जो ऋषि-मुनियों के लिए कभी योग्य नहीं कहा जायगा। यों नारद पर जो थप्पड़ उन्होंने चलाया था, उलट कर, बिना आवाज किये ही, उन्हींके गालों पर बैठ गया। मुनि तो कट कर रह गये!

गौरी क्रमशः ढीठ होती गई और खुलकर उन सफेद दाढ़ी-मूछों के साथ खेलने लगी :

'जौं तुम्हरे हठ हृदयँ बिसेषी। रही न जाए बिनु किएँ बरेषी॥
तौ कौतुकिअन्ह आलसु नाहीं। बर कन्या अनेक जग माहीं॥'

ऋषि-मुनि ही वरान्वेषण का काम करते आये हैं और जिस आग्रह से 'वर' ढूँढ़ने की बात सप्तर्षि 'गौरी' से करते हैं, वह पेशेवर बरेखियों का ही परिचय देता है। और जिसका जो पेशा बन जाता है, उसको किये बगैर चैन ही नहीं होता है। गौरी के साथ तो उनकी दाल न गली—दलाली न चली। इससे निराश होने की जरूरत नहीं, एक जगह सफलता नहीं मिली, तो दुनिया तो खाली न हो गई है वर-कन्याओं से। सप्तर्षि बरेखी ही करने पर तुले हैं, तो जाएँ, उन्हें बहुत ऐसे मिल जायँगे जिनका कल्याण-साधन कर ये सुखी और सन्तुष्ट हो सकेंगे। ऐसे लोग तो कौतुकी

होते ही हैं और कौतुकियों में आलस्य का अभाव होता है—दौड़-धूप में वे कभी देर नहीं लगाते हैं।

अर्थात् गौरी ने आने-माने कह दिया, कि सप्तर्षि उसका पिण्ड छोड़ दें—अपनी राह लें। लेकिन उन्हें तब भी अड़े देखकर हठी नारी का दर्प दीप्त हो उठा और वह गरज उठी :

'जन्म कोटि लगि रगर हमारी। बरउँ संभु न त रहउँ कुमारी॥'

एक जन्म की क्या बिसात, मुनि कान खोलकर सुन लें—करोड़ों जन्म तक गौरी की यह रगड़, यह टेक, यह जिद बनी रहेगी—वह या तो शिव की संगिनी होगी, या अनब्याही ही रह जाएगी।

गौरी की दर्पोक्ति, देखते-देखते, और ऊँची हो उठी :

'तजउँ न नारद कर उपदेसू। आपु कहहिं सत बार महेसू॥'

सप्तर्षि की तो बात ही क्या अगर खुद 'महेश' भी आकर—एक बार नहीं, सौ-सौ बार कहें, तब भी गौरी नारद का उपदेश नहीं छोड़ेगी। इससे अधिक और वह क्या कह सकती थी? नारी का दर्प अपनी सीमा पर पहुँच चुका था, उसका आवेश भी उफन चुका था। अतः कुछ ठंडी होकर कहने लगी :

'मैं पा परउँ कहइ जगदंबा। तुम गृह गवनहु भयउ बिलंबा॥'

अब तक भारतीय बाला माने-मतलब से कह रही थी, कि जाइए; अब ऊब कर स्पष्ट कह बैठी—'बड़ी देर से आप लोग यहाँ खड़े हैं। मैं आपके पैरों पड़ती हूँ—अब घर जाइए।'

प्रेम की परीक्षा पूरी हुई। परीक्षकों ने परीक्षार्थिनी को अंक देने के बजाय मुक्त-कण्ठ से उसका अभिनन्दन किया और पुलकित हृदय से उसका जय-घोष करते वे हिमवान् के पास जा पहुँचे।

प्रेम-परीक्षा का यह प्रसंग इतना कलात्मक है, इतना व्यंग्यात्मक है, इतना दर्पदीप्त है, कि नारी-जगत् के लिए संजीवन सुधा ही जान पड़ता है। भारत की कन्याएँ और कुछ पढ़ें या न पढ़ें, अगर एक यही प्रसंग वे मनोयोग के साथ पढ़ लें, उसको अपने दिल-दिमाग में बिठा लें, तो उनका समस्त दुःख-दैन्य दूर हो जाए।

यहाँ महान् आश्चर्य तो कवि की अद्भुत प्रवृत्ति पर होता है। 'मानस' का कवि स्वयं ऋषि-मुनियों की श्रेणी का एक तपःपूत साधक है, फिर भी जैसा दिल खोल कर उसने सप्तर्षि के साथ गौरी का मजाक कराया है, वह देखते ही बनता है। इससे कवि के गम्भीर आवरण में शिष्ट हास्य की जैसी धवल धारा बहती है, सहज ही अनुमित हो जाती है। साथ ही अपनी श्रेणी के साधु-सन्तों के प्रति उसका कोई सजातीय पक्षपात भी नहीं दीख पड़ता है—उलटे उनके प्रति उसका कुछ-कुछ आक्रोश ही झलक जाता है!

इसमें एक गंभीर रहस्य भरा दीखता है :

तुलसीदास निष्ठावान् सच्चे साधु थे—जिसकी परिभाषा और विवेचना उन्होंने 'मानस' में स्थल-स्थल पर की है। अपने को उसी कसौटी पर उन्होंने कसा था—निर्मम और निष्ठुर होकर सांसारिक माया-मोह, काम-क्रोध, छल-प्रपंच, चालाकी-चतुराई, नाता-रिश्ता, निन्दा-स्तुति, खुशामद-चापलूसी आदि से मुँह मोड़ लिया था। सच्चे अर्थ में वह 'उपासक' हो गये थे—दुनिया के साधारण धारातल से ऊपर जा बैठे थे। लेकिन अपनी ही वेश-भूषा वाले, अपनी ही श्रेणी के अधिकांश साधु-सन्तों को जब वह कुत्सित-कर्दम में लथ-पथ बने देखते थे, तब उनका सात्त्विक कोप सगबगा उठता था। बड़ी सावधानी से सम्हाल और सहला कर वह उसे शिष्ट-हास्य और विमल-व्यंग्य में बदल देते थे।

'नारद मोह' वाला प्रसंग इसका दूसरा ज्वलन्त निदर्शन है। लक्ष्मण-परशुराम-संवाद, काकभुशुण्डि वाला गुरु-शिष्य-संवाद, कवितावली के विन्ध्यवासी ऋषि-मुनियों का आह्लाद-हास्य आदि अनेक प्रसंग भी कवि के उसी अमल-आक्रोश के परिचायक प्रतीत होते हैं।

शिव की अद्‌भुत समाधि :

शिव के नियुक्त परीक्षक जब रिपोर्ट लेकर लौटे और अपनी फजीहत का पूरा दास्तान सुना गए, तब :

"भए मगन सिव सुनत सनेहा। हरषि सप्त रिषि गवने गेहा॥"

शिव शंकर 'गौरी' के स्नेह का समाचार सुनते ही आनन्द-मग्न हो गए। अपना उद्देश्य सफल देख कर 'सप्तर्षि' भी मुदित-मन अपने घर चले गए।

इधर शिव की सारी शर्तें पूरी हो चुकीं, उनका सारा सन्देह दूर हो गया, वह गौरी के प्रेम में ऊब-डूब होने लगे। इतना होने पर भी वह गौरी की ओर नहीं बढ़े, प्रत्युत :

"मनु थिर करि तब संभु सुजाना। लगे करन रघुनायक ध्याना॥"

नारी के निर्मल और निरुपम नेह में निमग्न होकर भी शिव 'गौरी' की सुधि लेने न गए, पुरुष की ऊपरी पद-प्रतिष्ठा पर आँखें मूँदकर, बैठे रह गए। उनकी यह प्रवृत्ति नारी के प्रति नर की सहज निष्ठुरता और कठोर उपेक्षा ही मानी जाएगी। हाथ कंगन को आरसी क्या ? उनका मन प्रेम से डोल गया था, फिर भी उस मचलते और फिसलते मन को पुचकार कर वह सम्हालने लगे—नारी के स्नेह-रस में ढुल-मुल मन को सहला और बहला कर वह राम का ध्यान करने लगे।

धन्य शिव और धन्य उनकी यह अद्‌भुत समाधि।

भले ही कोई इसे संतोचित 'संयम' माने, भले ही कोई इसे 'सदाचरण' कहे, कोई इसे भक्ति भावना ही क्यों न मान ले; परन्तु मनोविज्ञान तो इस पर मुसकुरा ही

उठेगा। वह इंगितों से बता ही देगा, कि यह सब अन्दर से दीन-दुर्बल और ऊपर से औद्धत्य के आदी नर की नारी के प्रति कठोर भावना का ही प्रतिफल है। और उस पर यह पुरुष-वर्ग ऐसा अचल हो रहा है, जैसे वह उसकी पैत्रिक सम्पत्ति हो।

और सरल-हृदय अनुभवियों का सन्ताप तो तीव्रतर तब हो जाता है, जब 'मानस' का अन्तर्दर्शी कवि भी इस गुप्त षड्यंत्र में शामिल दीख पड़ जाता है।

परिस्थिति की पुकार :

उधर अतुल विक्रम और दुर्धर शक्तिशाली तारकासुर तीनों लोक को त्रस्त करके, भोग-विलासमें डूबे हुए देवताओं को, दैन्य और दारिद्रय में डुबा देता है—उनकी समस्त सम्पत्ति और शक्ति छीन लेता है। वह असुरेश्वर अजर-अमर ही नहीं, अजेय भी है—जो किसी प्रकार जीता नहीं जाता है। देवता अनेक लड़ाइयाँ लड़कर पस्त और परास्त होते चले। जब उनका अपना पौरुष समाप्त हो गया, तब दल बाँधकर वे अपने 'ब्रह्मा बाबा' के पास पहुँचे और तारकासुर से त्राण पाने का उपाय पूछने लगे। अपने दुलारे बाल-बच्चों को यों बिलखते-बिलपते देखकर 'बाबा' पिघल पड़े और गुन-धुनकर बोले :

"सब सन कहा बुझाइ बिधि, दनुज निधन तब होइ।
संभु सुक्र संभूत सुत, एहि जीतइ रन सोइ॥"

शिव के शुक्र से जो पुत्र पैदा होगा, वही उस असुर को युद्ध में जीत सकेगा और तभी उससे त्राण पाना संभव होगा।

इतनी सूचना देकर 'बाबा' ने शिव के द्वारा पुत्रोत्पत्ति का उपाय भी बता दिया।

उपाय आसान न था। क्योंकि शिव, शैल-सुता की सुधि बिसराकर, अचल समाधि में जा बैठे थे। उनकी समाधि को तोड़ कर, उनके मनको मथना और अनुरागिनी गौरी के प्रति उन्हें आकृष्ट और चंचल करना होगा। और यह दुष्कर कार्य 'मन्मथ' महाराज को छोड़ और कौन कर सकता था? इसलिए 'बाबा' का इशारा पाकर देवता विषम-बाण वाले 'मत्स्यकेतु' को गोहराने लगे :

'अस्तुति सुरन्ह कीन्ह अति हेतू। प्रगटेउ बिषमबान झषकेतू॥'

(यहाँ 'झषकेतू' का अर्थ-विमर्श बड़ा ही सुखद प्रतीत होता है। वह राजा जिसके आगे-आगे 'झख' अथवा मछली का झंडा फहराता चलता है। कामदेव 'मीनकेतु' कहे जाते हैं और मनोहर नारियाँ भी 'मीनाक्षी' मानी जाती हैं। यों कामदेव के विषम बाण अंगनाओं के अनियारे नयनों के द्वारा ही चलते रहते हैं। 'मत्स्याहार' काम-वर्धक भी कहा गया है और देखा भी जाता है कि जिस भू-भाग में लोग मछली खाने के अधिक आदी होते हैं, वे बाल-बच्चे भी ज्यादा पैदा करते पाए जाते हैं। यों मत्स्य, मदन, शृंगार और सुन्दरी में सहज ही 'अविनाभाव' स्थापित हो जाता है।)

देवताओं की गुहार-पुकार सुनकर मनचले मदनदेव झट प्रकट हो गए, किन्तु जब हिम-शीतल कैलास की चोटी पर समाधि-स्थित शिव के साथ छेड़खानी करने की बात कानों में पड़ी, तब उनके हाथ-पाँव ठंडे पड़ गए—सारी हेकड़ी हवा हो गई और वह बगलें झाँकने लग गए।

'बाबा' ने यह शर्त लगा दी थी, कि कामदेव को मोर्चे पर भेजा जाए। वह सुमन-बाण मारकर शिवको चंचल करेगा, उधर गौरी अपने समस्त सौन्दर्य-सम्भार के साथ सम्भ्रम खड़ी ही रहेंगी। केवल सम्बन्ध-सूत्र जोड़ने की जरूरत है। और वह काम 'बाबा' का अनुरोध पूरा कर देगा।

किन्तु जब वह अचूक 'तीरन्दाज' ही यों कतराते दीख पड़े, तब तो देवताओं के दमकते नेत्रों में धूल ही भर गया और वे दीन-हीन होकर गिड़गिड़ाने लग गए।

समष्टि के हित में व्यक्ति का बलिदान मानव-सभ्यता के प्रारम्भ से समीचीन माना ही गया है। कामदेव के लिए अब कोई चारा न रह गया था; क्योंकि समष्टि उनके बलिदान का आग्रही हो उठा था। अतएव अपनी विवशता को परोपकार की पोशाक पहना कर सभी बड़े आदमियों की तरह वह भी डींग हाँकने लग गए :

"तदपि करब मैं काज तुम्हारा। श्रुति कह परम धरम उपकारा॥
परहित लागि तजइ जो देही। संतत संत प्रसंसहिं तेही॥"

जान देना कौन चाहता है? परन्तु जब चारों ओर से घिर जाती है, तब डरपोक बिल्ली भी गुर्राकर वार कर बैठती है।

यों ही बाहर से फूले और भीतर से भूले 'मत्स्यकेतु' अडोल शिव को डिगाने चल पड़े।

काम का कौतुक :

कामदेव का अन्तरंग सहायक 'वसन्त' रहता आया है अलंकार-प्रिय कवियों की भाषा में वह उद्दीपन-कार्य करता है—अपने श्री-सौरभ के जोर से वह काम को जाग्रत् करता है।

'वसन्त' के आते ही कैलास के चारों ओर वन-श्री अंचल उड़ाकर नाचने लग गई। धवल भूधर का शुष्क गात हरे-भरे पेड़-पौधों और ललित लता-गुल्मों से आच्छादित हो उठा। मन को गुदगुदाने और नयनों को लुभाने वाले असंख्य रंग-विरंगे फूल खिलखिला पड़े। सुखद सिहरन पैदा करने वाली शीतल-सरस समीर-लहरी सनसनाने लगी। पूर्ण-पुंजों में छिपे पक्षी पुलकित हो कर चहकने लगे। कलेजे में हूक उठाने वाली कोयल जाने कहाँ से लगातार कूक उठी। रस-लोलुप भ्रमर गुन-गुन करते फूलों पर मँडराने लगे। चुनरी चमकाए तितलियाँ मन की मौज में, यों ही पत्तों-पत्तों को चूमती फिरीं। कानों में कर्णफूल लटकाए लवंग-लताएँ विशाल वृक्ष को आलिंगित कर लचक और मचक से भर गईं। गिरि-कारा को तोड़-फोड़ कर निर्झर निकल पड़े

और उन्मद गति से इतस्ततः उछलने-कूदने लगे। प्रकृति को यों पुलकाकुल देख कर नील नभोमण्डल से उत्कंठित चाँद कैलास पर उतर आया। चतुर्दिक् उल्लास और उन्माद उमड़ कर अपने-अपने को पुकारने लग गए।

कैलास के कँगूरे पर उन्मन भाव से खड़ी वल्कल-वसना, उन्नत-वक्षा उमा यह सब देख-सुनकर, मन्द-मन्द मुसकुराने लग गई। उसके उन्मद-नेत्रों में अगम्य भाव तैरने लगे। कदाचित् वह सोच रही हो—'जाने इस छल-छंद का क्या परिणाम हो।'

परिणाम तो प्रयत्न का ही पुत्र होता है : और प्रपंच-पूर्ण प्रयत्न पर पैर रखते ही 'मनोभव' की अन्तरात्मा ने घोषित कर दिया था :

"चलत मार अस हृदयँ बिचारा। सिव बिरोध ध्रुव मरनु हमारा॥"

तो फिर 'मरता क्या न करता' के अनुसार क्रुद्ध-काम ने :

"तब आपन प्रभाउ बिस्तारा। निज बस कीन्ह सकल संसारा॥"

जब सृष्टि का बीज 'काम' ही क्रोध में आ जाए, तब विश्व-ब्रह्माण्ड में विराट् विस्फोट हुए बगैर कैसे रह सकता था! फिर सरल और निरीह 'संयम-नियम' का निवास कहाँ रह पाता? एक क्षण में समस्त श्रुति-सेतु-वेदानुकूल सकल धर्म-कर्म मिट गए। सारे आचार-विचार, ज्ञान-विज्ञान, पूजा-अर्चा, धैर्य-स्थैर्य, विवेक-बुद्धि की विशाल सेना में भारी भगदड़ मच गई। बड़े-बड़े वीर-पुंगव योद्धाओं ने रणभूमि से मुँह मोड़ लिया। सर्वत्र शोर-गुल मचने लगा :

"होनिहार का करतार को रखवार जग खरभरु परा।
दुइ माथ केहि रतिनाथ जेहि कहुँ कोपि कर धनु सरु धरा॥"

अरे विधाता! यह क्या होने जा रहा है? अब संसार की रक्षा कौन करेगा इस संकट से? किसके दो सिर हैं जिस पर यह रतिनाथ—इस अनाचारी मदन ने—क्रुद्ध होकर हाथ में धनुष-बाण धारण किया है?

देखते-देखते तहलका मच गया :

"जे सजीव जग अचर चर, नारि पुरुष अस नाम।
ते निज निज मरजात तजि, भए सकल बस काम॥"

'स्त्री' और 'पुरुष' के नाम से पहचाने जाने वाले जगत् के सभी जीव-जन्तु, सभी जड़-चेतन, सभी प्राणी, अपनी-अपनी मर्यादा-समय-सीमा-भूलकर, दिन-रात की सुधि बिसारकर, लोक-लज्जा छोड़ कर, कामान्ध बन गए!

इतना ही नहीं :

"सब के हृदयँ मदन अभिलाषा। लता निहारि नवहिं तरु साखा॥
नदीं उमगि अंबुधि कहुँ धाईं। संगम करहिं तलाव तलाई॥"

पेड़-पौधे, गुल्म-लता, नदी-नाले, ताल-तलैया सब-के-सब, उमड़ कर, अपनी-अपनी जोड़ी खोजने लग गए।

फिर :

"जहँ असि दसा जड़न्ह के बरनी। को कहि सकइ सचेतन करनी॥"

जहाँ जड़ पदार्थों की यह दशा थी, वहाँ पशु-पक्षी तथा जलचरों की बात कौन करे ?

देवता-दानव, नर-किन्नर, प्रेत-पिशाच, भूत-बेताल—ये तो काम के गुलाम ही होते हैं, अतः इनकी कथा कह कर कवि व्यर्थ का 'वाग्विलास' क्यों करे ?

हाँ, जो सतत 'काम' को जीतने का प्रयास करते आए हैं, जरा उनकी ओर दृष्टि जरूर दौड़ा ली जाए :

"सिद्ध विरक्त महामुनि जोगी। तेपि काम बस भए वियोगी॥"

अब तक जो 'ब्रह्म-लीन' रहते आये थे, अब नारी में लीन दीख पड़ते थे। और जो सामान्य धरातल पर थे, वे :

"अबला बिलोकहिं पुरुषमय जगु पुरुष सब अबलामयं॥"

जगत् की सभी स्त्रियाँ पुरुषों को लोल-नयनों से देख रही थीं और सभी पुरुष नारीमय हो रहे थे। कोई मन को काबू में न रख सका, मनसिज ने सबको बेकाबू बना दिया।

प्रकृति का सौन्दर्य ऐसा उन्मादक हो उठा, कि जीवितों की चर्चा ही क्या :

"जहँ तहँ जनु उमगत अनुरागा। देखि मुएहुँ मन मनसिज जागा॥"

दिग्-दिगन्त में ऐसा उत्तेजक अनुराग उमड़ पड़ा, कि मुर्दे के मन में भी काम जाग्रत् होने लगा।

वसन्त की उद्दीपन-विभा मरघट में सोये जीवों के मन में भी मदनाभिलाष पैदा किये देती थी। उसके सहायक हो रहे थे :

"सीतल सुगंध सुमंद मरुत मदन अनल सखा सही॥"

आग और हवा की दोस्ती जग-जाहिर है ही। उसके साथ जहाँ दृष्टि जाती थी, वहाँ :

"बिकसे सरन्हि बहु कंजु गुंजत पुंज मंजुल मधुकरा।
कलहंस पिक सुक सरस रव करिगान नाचहिं अपछरा॥"

सरोवरों में ढेर-के-ढेर कमल फूल उठे थे, और उन पर राशि-के-राशि मंजुल मधुकर गूँज रहे थे। जहाँ देखो, वहाँ राजहंस, कोकिल, और तोते कलकूजन करते पाये जाते थे। साथ ही सर्वत्र श्यामल-अंचल उड़ाकर, अप्सराएँ नाच-गान करती दीख पड़ती थीं।

उन्मद उमंग की ऐसी उत्ताल तरंगों में पड़ा हुआ सहज-चंचल 'मानव

मन' सुस्थिर कैसे रह पाता ? और जिसका मन इस तूफान-उफान में भी विचलित न हुआ, उस पर कवि के विश्वात्मा 'विभु' की विशेष कृपा क्यों न मानी जाए :

"जे राखे रघुबीर ते उबरे तेहिं काल महुँ ।"

यह 'काम-कौतुक' कवि ने जिन कुशल हाथों चित्रित किया है, क्या इसमें उसकी अपनी अनुभूति उसाँस नहीं ले रही है ? वह भी तो एक दिन इसी तरह काम का शिकार होकर 'अबलामयं' हो रहा था 'रत्नावली' के पीछे ? इसीसे तो उसका यह चित्रण इतना सजीव, सहज और सुन्दर हो उठा है !

मदन-दहन :

"सकल कला करि कोटि बिधि, हारेउ सेन समेत ।
चली न अचल समाधि सिव, कोपेउ हृदय निकेत ॥"

जो सबके हृदय में ही निवास करता है, वह 'मनोजदेव' जब सब तरह की कला-बाजी करके हार गया, उसकी सेना भी सिर झुकाकर बैठ गई, और शिव की समाधि न टूटी, उनका ध्यान भंग न हुआ, तब 'खिसियानी बिल्ली खंभा नोचे' के अनुसार उस 'पंचशर' ने अपने पुष्प-धन्वा पर प्रत्यञ्चा चढ़ाई; और :

"अतिरिस ताकि श्रवन लगि ताने ।"

लक्ष्य पर दृष्टि गड़ाए, दाँत पीसकर, उसने धनुष को कान तक ताना । फिर :

"छाँड़े विषम बिसिख उर लागे । छूटि समाधि संभु तब जागे ॥"

मदन के विषम बाण सर-से छूटे और सीधे शिव के कलेजे के आर-पार हो गए । शिव का कलेजा हठात् कसक उठा और उनका ध्यान टूट गया और वह जाग्रत् अवस्था में आ गए । हृदय में भारी हलचल हो जाने के कारण उनका मन अत्यन्त क्षुब्ध हो उठा था । और जब उन्होंने अपने इस विचित्र 'क्षोभ' का कारण जानना चाहा, तब :

"नयन उघारि सकल दिसि देखी ।"

अद्भुत साज-सज्जा से मुसकुराती और मन-हर गति से मचलती प्रकृति पर दृष्टि पड़ते ही शून्यान्वेषी वह भोले 'शिव' विस्मय-विमूढ़ हो उठे—क्या कारण है इस अभूतपूर्व उन्मादक दृश्य का ? कैलास पर यह 'सौरभ-श्री' तो इसके पहले कभी यों मचलती नहीं उतरी थी और फिर 'चिर-संयत' मेरे मन का यह मायावी मन्थन ! कौन है वह जादूगर—जिसने यह माया का संसार रच कर यों मेरे सामने खड़ा कर दिया है ? और जब :

"सौरभ पल्लव मदन बिलोका । भयउ कोपु कंपेउ त्रैलोका ॥"

शिव की दृत-दृष्टि आम्र-कुञ्ज के पर्ण-पुञ्ज के भीतर 'मदन' के ऊपर पड़ी, तब

मदन—(हाँ, वह 'मद्-न' ही था—जिसमें, डर के मारे, अब 'मद' का लेश भी न रह गया था) भय-त्रस्त मदन में 'मद' भले ही न रह गया हो, पर मदनोद्भव के जो तीखे 'तीर' उसने चला दिये थे, वे तो अपना काम कर ही रहे थे—शंकर के मन को 'मद' से मथ ही रहे थे।

काम-पीड़ित पुरुष अन्ध-दृष्टिसे अपनी प्रेयसी को ढूँढ़ता है; उसके बदले अगर उसकी दृष्टि-पथ में कोई पर-पुरुष पड़ जाय, तो उस पर वह बाघ की तरह उछल पड़ता है—बावला बनकर उसे धर दबोचता है!

"कामात् क्रोधोऽभिजायते"—इस आर्ष वचनानुसार कामाक्रान्त होने पर क्रोध का अभियान होता ही है। शिव भी काम के लक्ष्य-भेद में पड़े थे, अतः उनका क्षुब्ध होना स्वाभाविक ही था। और शिव को क्रोध आ जाय, तब तो उनके उग्र (रुद्र) होने में कोई देर नहीं लगती। फिर उस रुद्र के भयानक 'रौद्र' से त्रिलोक क्यों न काँप उठता?

किन्तु अपराध तो किसी एक का था—जो चोर की तरह पेड़ पर छिप कर बैठा हुआ था। सजा तो उसे ही मिलनी थी। अतः क्रुद्ध शिव ने उसे घोर दण्ड देने का निश्चय कर लिया। उनके दो नेत्र तो साधारण ही थे, पर क्रोध आने पर ठीक कपाल के नीचे, भौंहों के बीच एक तीसरा नेत्र भी खुल जाता था—जिसकी ज्वाला में पड़ कर कोई जीवित नहीं रह सकता था।

साधारण आदमी भी जब गुस्से में आता है, तब उसकी आँखें ऊपर खिंच जाती हैं कपाल की ओर और आग की तरह उनसे लाल लपटें निकलने लग जाती हैं।

शिव तो 'महादेव' ही थे। उनके कालान्तक क्रोध का क्या पूछना था:

"तब सिव तीसर नयन उघारा। चितवत काम भयउ जरि छारा॥"

तीसरे नेत्र के खुलते ही, उसकी प्रचंड क्रोधाग्नि में पड़ कर बेचारा परोपकारी 'कामदेव' जल कर खाक हो गया।

सच पूछा जाए तो कामदेव ने शिव का 'उपकार' किया ही था। अगम्य शून्य लोक से खींच कर उन्हें सरस संसृति के सुख, सौरभ और उसकी अनुपम श्री से परिचित करा दिया। क्रोध में आकर उन्हीं शिव ने अपने उपकारी का अपघात कर दिया, तो क्या शान्त, सुस्थिर होने पर वह इसके लिए 'अनुताप' नहीं करेंगे? करेंगे—अवश्य उन्हें करना पड़ेगा।

और 'काम' के स्थूल-शरीर को जला देने से ही क्या 'काम' का अस्तित्व मिट जाएगा? उसने जो 'व्यथा' अपने विषम बाणों के द्वारा शिव के हृदय में घुसेड़ दी है, उसकी 'कथा' कहते ही तो उनका समस्त जीवन बीतेगा! अब ढूँढ़ते रहें न उस 'व्यथा' की कथा सुनने वाली अपनी जीवन-संगिनी को—जो कहीं पास ही खड़ी मन्द-मन्द मुसकुरा रही होगी व्यर्थ के उनके इस 'कोप' पर:

वाह! अपराध किसी का और दण्ड किसी को!!

कवि का यह चित्रण कितना सुकुमार, कितना इंगित-पूर्ण, कितना मन-हर और कितना मनोवैज्ञानिक हुआ है। मर्मज्ञता बेसुध होकर सिर धुनने लग जाती है—आह्लाद स्तब्ध होकर लोट-पोट हो जाता है !!

धन्य तुलसी और धन्य उनका सरस 'मानस' !

परीक्षकों का पुनरागमन :

'मदन-दहन' का समाचार पाते ही, परास्त परीक्षकों की बाछें खिल गईं। वे बाँसों उछल पड़े—'चलें, अब पूछें तो भला उस हठी लड़की से 'मर्म' की बात !' दौड़े आए गौरी के पास और—"बोले मधुर बचन छलसानी।", मीठी, पर भेद-भरी, वाणी में वे कहने लगे :

"कहा हमार न सुनेहु तब, नारद कें उपदेस।
अब भा झूठ तुम्हार पन, जारेउ काम महेस ॥"

नारद के उपदेश के कारण ही तो सप्तर्षि की सीख गौरी ने नहीं सुनी थी। अब जब 'काम' ही खाक में मिला दिया गया, तब तो शंकर से विवाह करने की बुनियाद सी ढह गई। फिर इस नादान लड़की का हठ कहाँ चला गया ? अब तो उसकी सारी हेठी हवा हो गई न !···

गौरी इस कशाघात से जरा भी अस्थिर न हुई—जैसे किसी ने मृणाल-जालसे उसे बाँध दिया हो। एक हलके झटके में ही उसे तोड़-फोड़ कर वह मुसकुरा उठी :

"तुम्हरे जान कामु अब जारा। अब लगि संभु रहे सविकारा ॥"

मुनियों की मति में शिव अब तक 'सकाम' ही थे। गौरी उनकी समझ पर तरस खाती है और अपनी धारणा की घोषणा करती है :

"हमरे जान सदा सिव जोगी। अज अनवद्य अकाम अभोगी ॥"

उसकी समझ में तो शिव सदासे योगी, अजन्मा, अनिंद्य, निष्काम और भोग लालसा से शून्य हैं।

फिर वह अपनी प्रीति और प्रतीति का ध्रुव परिणाम भी सूचित कर देती है :

"जौं मैं सिव सेये अस जानी। प्रीति समेत कर्म मन बानी ॥
तो हमार पन सुनहु मुनीसा। करिहहिं सत्य कृपानिधि ईसा ॥"

वराभिलाषिणी भारतीय कन्या का वह विश्वास कितना स्पृहणीय, कितना सात्त्विक और कितना दर्प-दीप्त है—मुग्ध रह जाना पड़ता है इसकी चिर सुन्दरता पर।

गौरी का दावा है, कि अगर उसने उसी निष्काम, निस्पृह और निस्स्वार्थ भावना से शिव की आराधना मन से, कर्म से और वचन से की है, तो उसका प्रण ईश्वर

अवश्य सत्य बनाएँगे—अर्थात् शिव को जीवन-संगिनी बनने का उसका हठ पूर्ण होकर ही रहेगा।

इसके आगे मुनियों को और क्या सुनना था, यह तो उनकी परीक्षा का अन्तिम पहलू था, अब उनके पास प्रश्न ही क्या रह गया था ?

आखिर :

"हियँ हरषे मुनि बचन सुनि, देखि प्रीति बिस्वास।
चले भवानिहि नाइ सिर, गए हिमाचल पास॥"

नत-सिर होने के सिवा और चारा ही क्या रह गया था उन महात्माओं के लिए ? प्रीति और विश्वास तो देख ही लिया—बस मुग्ध और मुदित होते वे अपनी राह चले गये।

यहाँ भारतीय विवाह-विधान का मूल उद्देश्य भी विशद रूप से विस्पष्ट हो जाता है। प्रीति और प्रतीति से नर-नारी का मिलना ही 'विवाह' कहा जाता है। प्रीति निस्पृह और निष्काम होती है, वह निर्मद और निर्विकार होती है, किसी प्रकार की कामना और स्वार्थ की उसमें छाया भी नहीं पड़ती है। और प्रतीति प्रेम-पात्र के किसी दुर्गुण को दृष्टिगत होने नहीं देती है। प्रीति अगर श्रद्धा है तो प्रतीति भी विश्वास का ही पर्याय है। विवाह में नर-नारी के मिलन में, एक से दो और दो से एक होने में, ये ही प्रधान तत्त्व प्रेरक होते हैं।

इसीलिए 'एक नारी सदा ब्रह्मचारी' वाली बात अनादि काल से इस पुण्य-भूमि में प्रचलित है। गांधीजी के 'आश्रम' में ऐसे ही 'आध्यात्मिक विवाह' स्तुत्य समझे जाते थे।

यों 'प्रीति' की परिणति रति में होती है और 'रति' केवल 'रत' होकर, केवल 'मिलकर' तृप्त हो जाती है—उसे और कुछ नहीं चाहिए।

अन्य बातें गौण हैं, नगण्य हैं, अप्रधान हैं।

विचित्र वर-यात्रा :

सप्तर्षि की दौड़-धूप से वर-कन्या का स्नेह-सम्बन्ध स्वस्थ और सुखी धरातल पर स्थापित हो गया। हिमवान् के कानों में भी सब बात पहुँची और वह हर्ष-विषाद के झूले पर झूलकर विवाह का आयोजन करने लग गये। शुभ घड़ी में लग्न-पत्रिका बाँटी गई। सबसे पहले 'विरंचि बाबा' के पास वह पत्रिका पहुँची—

"बाँचत प्रीति न हृदयँ समानी।"

फिर उन्होंने सब देवताओं को निमन्त्रित कर दिया। वर और बरात को सजाने की तैयारी धूम-धाम से होने लग गई।

वर की ख्याति यद्यपि कन्या के घर में बहुत पहले से फैली हुई थी, पर अड़ोसी-

पड़ोसी शायद उससे अनभिज्ञ ही रखे गये थे। माता 'मैना' भी उसकी गहराई से पूर्ण परिचित नहीं थीं—उन्होंने पति और पुत्री की इच्छा पर भार देकर कदाचित् अपनी इच्छा-अनिच्छा को गौण बना दिया था।

सब कानों सुनी बात थी, अब 'सब' अपने कलेजे की धड़कन को रोके वर के स्वागत की प्रतीक्षा में उत्सुक और व्यस्त से दीख रहे थे।

उधर वर-पक्ष में भी दो दल हो गये थे। एक दल तो शिव का अपना था—दूत-भूत, प्रेत-पिशाच और गण-गणेश वाला, दूसरा दल था विष्णु-विरंचि के सुसंस्कृत सुर-समुदाय वाला।

शिव का शृंगार हुआ उनके प्रिय-पात्रों के द्वारा। उनके अनुचर-सहचर गणों ने उनके जटा-जूट को सजाकर उस पर साँपों का मौर मढ़ दिया, साँप ही उनके कानों में कुण्डल बने और हाथ में कंगन। शरीर में उबटन और अंगराग के बतौर भभूत मल दिया गया और पाट-पटोर के बदले व्याघ्र-चर्म से उन्हें चमका दिया गया। उनके विशाल भाल पर दूज का चाँद, सिर पर गंगा, नेत्र तीन और भुजग-बेष्ठित यज्ञोपवीत। गले में नील गरल, वक्ष पर मुण्ड-माल, एक हाथ में त्रिशूल और दूसरे में डिम-डिम डमरू। यों सज-धज कर और विशाल-काय साँड़ पर सवार होकर शिव शादी के लिए तैयार हो गये।

दूसरी ओर से भद्र-वेश में विभूषित देवताओं का दल भी आ जुटा। शिव की साज-सज्जा देख कर सुघर सुरांगनाएँ मुसकुरा उठीं :

"बर लायक दुलहिनि जग नाहीं।"

दोनों दल के समागम से संस्कृत समाज के सदस्यों में काना-फूसी होने लगी :

"नहि बरात दूलह अनुरूपा।"

सुरों के उस सुसंस्कृत समाज के सर्व-मान्य नेता ते श्री और सौरभ के स्वामी विष्णुदेव। शिव की वेश-भूषा देख कर वह मुसकुराने लगे। देवांगनाओं की काना-फूसी-सी भी उनके कानों में पड़ चुकी थी। अतः उन्होंने अपने दल-नायकों को बुलाया और उनकी चुटकी ली :

"बर अनुहारि बरात न भाई। हँसी करैहहु पर पुर जाई॥"

कितनी मौजूँ बात है। वर के लायक ही तो बारात हो। अन्यथा दूसरे गाँव में जाकर हँसी तो उड़ेगी ही। वर तो व्याल-विभूषित होकर बेडौल बैल पर डमरू बजाता चले और बराती परिमल-पंखों पर बैठे वर के माथे पर मड़राते रहें! नहीं, ऐसा नहीं होना चाहिए। अतः उनका आदेश हुआ :

"बिलग बिलग होइ चलहु सब निज निज सहित समाज।"

अपने-अपने समाज को लेकर हमें अलग-अलग चलना ही ठीक होगा—

जिससे देखने वाले दुविधा में पड़कर सबकी हँसी न उड़ाने लगें—कैसी बेतुकी है यह बारात।

ठीक, कहाँ नंग-धड़ंग अनाकर्षक आदिवासी 'वर' और कहाँ अंगराग-चर्चित सफेद-पोश सुर-समुदाय। दोनों का साथ अब भी, इस युग में भी, तो संभव नहीं हो सका है!

यों सभ्य-शिरोमणि सुर-समाज बौड़म-दल से विलग हो गया—और उससे दूर-दूर चलने लगा।

अब वृषभ-वाहन का अपना दल दर्शनीय हो उठा :

"कोउ मुख हीन बिपुल मुख काहू। बिन पद कर कोउ बहुपद बाहू॥
बिपुल नयन कोउ नयन बिहीना। रिष्ट पुष्ट कोउ अति तनखीना॥"

खर स्वान सुअर सृगाल मुख गनवेष अगनित को गनै।
बहु जिनस प्रेत पिसाच जोगि जमात बरनत नहिं बनै॥"

विचित्र वेश-विन्यास और विचित्र भाव-भंगिमा वाले परम तरंगी दूत-भूत विचित्र बोली बोलते शिव को घेर कर खड़े हो गये और नाचते-गाते, बम-बम करते बरात में चल पड़े। यों :

"जस दूलह तस बनी बराता। कौतुक बिबिध होहिं मग जाता॥"

अब रास्ते में, 'तमाशा' तो होगा ही, क्योंकि मेल मिल गया था—जैसा वर, वैसी बरात।

दुलहिन के द्वार पर :

गिरिराज ने स्वागत-सत्कार की तैयारी धूम-धाम से की थी। सारे सगे-संबंधी आ जुटे थे। सर-सरिता, शैल-सागर, नद-निर्झर, जंगल-झाड़ :

"हिमगिरि सब कहुँ नेवत पठावा।"

हिमवान् आखिर पर्वत-राज ही तो ठहरे, फिर बिरादरी के लोगों को निमंत्रित क्यों न करते?

लेकिन सब-के-सब रच-सँवर कर, बन-ठन कर आये थे। आखिर विवाह में तो देखने-दिखाने का ही मुख्य कार्य-क्रम होता है न!

इसीलिए :

"कामरूप सुन्दर तन धारी। सहित समाज सहित बरनारी॥
गए सकल तुहिनाचल गेहा। गावहिं मंगल सहित सनेहा॥"

गाने-बजाने का भी दो रूप शादी-ब्याह में देखा जाता है : एक मांगलिक

और दूसरा औत्सविक। दूसरे रूप में वरांगनाएँ भी नाचती-गाती रही हैं सभ्य समाज में।

तो क्या पदोक्त 'बरनारी' शब्द उसीका पर्याय होकर आया है? न भी हो सकता है, क्योंकि सभ्य समाज में तो वैसा भेद-भाव रह नहीं जाता है—नाचना-गाना उनकी परिष्कृति रुचि और प्रवृत्ति का कलात्मक अंग बन जाता है। इसलिए भद्रोत्तम समाज की सुन्दरियाँ, सुरांगनाओं के सदृश, खुले-आम नाचने गाने में अपना विशेष गौरव मानती हैं।

हिमवान् की नगर-शोभा ऐसी उमड़ उठी थी, कि उसके वर्णन में कवि को कठिनाई हो रही है:

"लघु लाग बिधि की निपुनता अवलोकि पुरसोभा सही।
बन बाग कूप तड़ाग सरिता सुभग सब सक को कही॥
मंगल बिपुल तोरन पताका केतु गृह गृह सोहहीं।
बनिता पुरुष सुंदर चतुर छबि देखि मुनि मन मोहहीं॥"

गिरिराज-कुमारी गौरी का विवाह हो और उनकी नगरी उमंग से नाच न उठे। नगर नयनामिराम हो उठा है, घर-घर तोरण-पताकाएँ पवन में लहरा रही हैं और नर-नारी ऐसे निपुण तथा निरुपम हैं, कि उनका सौन्दर्य 'विरक्त बाबाओं' को भी विवश बना देता है।

उधर बरात आ पहुँची नगर की सीमा पर। समाचार पाते ही सारा नगर आन्दोलित और उद्वेलित हो उठा। सज-धज के साथ अगवानी की तैयारी हुई। सब-से पहले सुर-समाज की सवारी आई। नगर-निवासी सभ्य, सुन्दर, सुकुमार समाज और उसके सिर-मौर विष्णु भगवान् को देख कर कृतार्थ हो गए।

लेकिन दूल्हे का दल अभी दूर था। लोग उत्सुकता से आगे बढ़ गये स्वागतार्थ।

लेकिन यह क्या—वर-पक्ष को देखते ही उनके वाहन भड़क उठे और मुँह मोड़कर भाग खड़े हुए। बड़ी मुश्किल से कुछ समझदार व्यक्ति वहाँ ठहरे और बाल-वृन्द तो सिर पर पाँव रखकर नौ-दो-ग्यारह ही हो गया। वे बच्चे सिर्फ भागे ही नहीं, घर जाकर, काँपते हुए स्वर में कहने भी लगे:

"कहिअ काह कहि जात न बाता। जम कर धार किधौं बरिआता॥
बर बौराह बसहिं असवारा। ब्याल कपाल बिभूषन छारा॥"

इतना ही नहीं, उन्होंने घोर आतंक उपस्थित करते यह भी कह दिया:

"जो जिवत रहिहि बरात देखत पुण्य बड़ तेहिकर सही।
देखिहि सो उमा बिवाहु घर घर बात अस लरिकन्ह कही॥"

बारात क्या है—यमराज की सेना ही टूट पड़ी है। वर तो ऐसा पागल है, कि

बैल पर चढ़ा है, साँपों को गहना बनाए हुए है और राख से सराबोर है। भला इस बारात को देखकर जो जीता बचेगा, वही न गौरी का ब्याह देख सकेगा।

बाल-स्वभाव का कितना हृदय-हारी चित्रण किया है कवि ने यहाँ, क्योंकि यहाँ द्वन्द्व-दुविधा से परे होकर लौकिक चित्रांकन में वह मग्न हो गया है। इस समय केवल मन और मानव उसके सामने हैं शुद्ध सामाजिक स्तर पर, जहाँ उसने कभी आँखें खोलीं और चकित चितवन डाली थी।

मर्मज्ञ माँ-बाप ने अपने व्याकुल बच्चों को किसी तरह शांत किया और बारात जनवासा पहुँची। फिर आरती उतारने और परछन करने अनेक सुहागिनों के साथ मंगल-गान गाती शिवजी की सास महीयसी 'मेना' महारानी आ पहुँचीं। वह महारानी मोद से भरी थीं और उनके सुन्दर हाथों में सुवर्ण थाल मुसकुरा रहा था।

लेकिन—हाय :

"बिकट बेष रुद्रहिं जब देखा। अबलन्ह उर भय भयउ बिसेषा॥"

जैसे ही उस भयंकर रुद्र-रूप 'वर' को देखा, कि महारानी थर्रा उठीं। अब आरती कौन उतारे, परछन की रस्म-अदाई कौन करे? साथ की वे औरतें तो ऐसी डरीं, कि भाग कर घर में ही जा घुसीं। फिर दूलहदेव वहाँ कैसे रुकते? वह भी अपना-सा मुँह लिए जनवासे की ओर चल दिए।

दुलारे दुलहदेव, आपने यह बहुत बुरा किया। लड़कों को भड़काया, तो कोई हर्ज नहीं था, पर अब आपके गाल कौन सेंकेगी—आपने तो अपनी महीयसी सास को भड़का दिया। और ये सुन्दरियाँ जो भागीं—उनमें कितनी आपकी सलोनी सालियाँ होंगी, कितनी सस्मित सरहजें होंगी, कितनी हँसी-मजाक की सरस पुत्तलिकाएँ होंगी। अब सूने घर में 'ससुराल' का मजा ही क्या रह जाएगा आपके लिए?

और कहीं सभीत सास ने कोई अड़ंगा डाल दिया—तब? तब तो कहीं मूलधन से भी हाथ न धोना पड़ जाय!

माता की बौखलाहट :

शिव की सास ने आखिर अड़ंगा डाल ही तो दिया—सो भी साधारण अड़ंगा नहीं—जबर्दस्त-से-जबर्दस्त अड़ंगा डाला। पुत्री पर चाहे उसकी जितनी ममता रही हो, पर 'बौड़म-वर' के कारण समाज में उसकी जो तौहीनी हुई, सगे-सम्बन्धियों के बीच जो उसका सिर नीचा हुआ, अड़ोसी-पड़ोसी ने जो मुँह बिचकाया—यह सब उसके लिए मर्मान्तक पीड़ा पहुँचाने लगे और वह जान देने पर उतारू हो गई।

मर्माकुल ममता से बेटी को गोद में बिठा कर अत्यन्त कातर स्वर में भाग्य और भगवान् को कोसती 'मेना' ने भीष्म प्रतिज्ञा की :

"तुम्ह सहित गिरि तें गिरौं पावक जरौं जलनिधि महुँ परौं।
घरु जाउ अपजस होउ जग जीवत बिबाह न हौं करौं॥"

'बेटी, तुमको लिए हुए मैं पहाड़ पर से खड्ड में गिर पड़ूँगी, आग में कूद कर जल जाऊँगी, सागर में डूब मरूँगी, पर जीते-जी यह विवाह मैं नहीं होने दूँगी। इसके चलते घर जाय तो जाए, जगत् में अपयश हो तो हो, पर उस 'बौड़म वर' से मैं तुम्हारी शादी नहीं करूँगी।'

माता महारानी मोह से यों मतवाली हो गईं। उनको देख कर जितनी औरतें वहाँ जमा थीं, सब-की-सब, व्याकुल हो उठीं। रोती, बिलपती, बिसूरती हुई 'मेना' नारदमुनि को यों कोसने लगी—जैसे कोई सनकी हथिनी कदली-वन को तोड़ने-मरोड़ने लग जाए :

"नारद कर मैं काह बिगारा। भवनु मोर जिन्ह बसत उजारा॥
अस उपदेस उमहिं जिन्ह दीन्हा। बौरे बरहिं लागि तपु कीन्हा॥
साँचेहु उनके मोह न माया। उदासीन धनु धामु न जाया॥
पर घर घालक लाज म भीरा। बाँझ कि जान प्रसव कै पीरा॥"

सचमुच नारद के कारण ही तो 'मैना' का भरा-पूरा घर आज यों उजड़ता दीख रहा है। क्यों उस मूढ़-मुनि ने उसकी भोली-भाली बेटी को बहका कर एक पागल के लिए तप करने को लाचार कर दिया? न वह मूढ़ मन्त्र देता, न उस पर यह सनक सवार होती। सचमुच वह दाढ़ी-जार दूसरों का घर बिगाड़ता फिरता है—जैसा खुद घर-घरनी से शून्य है, मोह-छोह से रहित है, दूसरों को भी वैसा ही निर्मम बना देना चाहता है। भला बाँझ औरत प्रसव की वेदना क्या समझे?

अपमान, खीझ और रंजोगम से दर-असल माता मतवाली बन गई थी और गोद में बैठी गौरी मन-ही-मन मुसकुरा रही थी उसकी मोहाकुलता पर।

ज्ञानांकुश की गरिमा :

हाथी यों ही विशाल-काय और भयंकर दीख पड़ता है, और जब वह मतवाला हो जाता, बिगड़ जाता है, बेकाबू होने लगता है, तब उसके कन्धे पर बैठा ठिंगना महाउत, अपने हाथ का अति नगण्य गुप्त अंकुश उस बिगड़ैल जानवर की कन-पट्टी में दृढ़ता से घुसेड़ देता है और मस्त हाथी होश में आ जाता है। उसका सारा मद उतर जाता है और वह विनम्र बन जाता है।

यहाँ मेना और गौरी की भी वही दशा दीखती थी। मेना माता ही नहीं गिरिराज की महिषी भी थी, और गौरी पुत्री ही नहीं तपस्विनी और ज्ञान-गरिमा वाली 'मनस्विनी' भी थी। और वह उसकी गोद में बैठी भी थी अपने ज्ञानांकुश को छिपाए।

जब उसने देखा कि ममता और मोह से आकुल और अन्धी बन कर वह माँ प्यार का अत्याचार करना चाहती है—अपना और पराया सबका सत्यानाश करने पर उतारू है, सभी को जहन्नुम भेज देने पर तुली है; तब वह :

"जननिहि बिकल बिलोकि भवानी। बोली जुत बिबेक मृदु बानी॥"

वाणी की मृदुलता में लपेट कर, मद-भेदक अपने सूक्ष्म तथा तीक्ष्ण ज्ञानांकुश वह माता के कानों में लटका देती है :

"अस बिचारि सोचहि मति माता। सो न टरइ जो रचइ बिधाता ॥
करम लिखा जो बाउर नाहू। तो कत दोष लगाइअ काहू ॥"

क्रमशः वह अंकुश चुभनशील होता चला :

"तुम सन मिटहिं कि बिधि के अंका। मातु व्यर्थ जनि लेहु कलंका ॥"

ज्ञानांकुश अब गम्य और अगम्य की गहराई में जाकर सुखोन्मुख सुस्थिरता प्राप्त करने लगा :

"जनि लेहु मातु कलंक करुना परिहरहु अवसर नहीं।
दुखु सुखु जो लिखा लिलार हमरे जाब जहँ पाउब तहीं ॥"

'विवाह' तो साधारण वस्तु नहीं है—वह तो चिर-संचित संस्कारों का सुनिश्चित सूक्ष्म अनुक्रम है—जो अपनी गति-विधि में अबाधित और अवश्यम्भावी ही ही नहीं अमिट भी है। फिर मोहान्ध माँ अड़ंगा डाल कर व्यर्थ यह कलंक अपने ऊपर क्यों लेना चाहती है—निष्प्रयोजन निन्दा-भाजन क्यों बनती है ? क्या विधि-विधान को—नियति के निश्चय को—वह मिटा सकती है ? और शिवशंकर से उसका सम्बन्ध-सूत्र पहले से ही सुनिश्चित न होता, तो अन्तरात्मा का अनुराग उमड़ कर उसे तपस्याग्नि में कूदने को प्रेरित क्यों करता ? अतल-तल से फूट पड़ने वाले अजस्र-स्रोत को कोई अश्रु-विगलित माँ अपनी व्यग्रता की बालू से बाँधने की व्यर्थ चेष्टा क्यों करती है ? बेटी के ललाट की चमचमाती खल-लेखा को कोई मोहाकुला नारी क्या अपने उच्छ्वास के उफान से कभी छिपा सकेगी ?

और सयानी माँ को अवसर का भी तो खयाल होना चाहिए था। क्या अड़ंगा डालने का समय अब रह गया था। जब कि खूब सोच-विचार कर सम्बन्ध स्थिर कर लिया गया था, मंगल-मुहूर्त शोध लिया गया था, लग्न-पत्रिका प्रेषित कर दी गई थी, सगे-सम्बन्धी बुला लिए गए थे। बारात पहुँच गई थी, वर द्वार लग गया था, गाने-बाजे घहरा उठे थे—तब यह अड़ंगा !···

दुनिया क्या कहेगी ? दोष किसे दिया जायगा ? हँसी किसकी होगी ? पद-प्रतिष्ठा धूल में किसकी मिलेगी ? क्या सज्ञान माँ इतना भी सोच नहीं सकती थी ? और बेटी के भविष्य के लिए यह व्यर्थ का क्लेश क्यों ? वह तो जहाँ जाएगी, भाग्यानुसार सुख-दुःख पाएगी ही। फिर फिजूल के आँधी-तूफान उठाने की यह बौखलाहट क्यों ?

गौरी का वह ज्ञानांकुश बड़ा ही कारगर साबित हुआ—'मेना' का मोह-मद एकाएक उतर गया। वह गंभीर सोच में पड़ गई—'जब बेटी ही यों निरपेक्ष है, भाग्य पर अटल बैठी है, तब वही 'व्याकुल क्यों बने ?'

उसी समय, गड़बड़ी की खबर पाकर, सम्बन्ध-सूत्र जोड़ने वाले बहुज्ञ एवं बहु-श्रुत ऋषि-मुनि भी, व्यग्र-भाव से, आ पहुँचे और गौरी के पूर्वजन्म की भ्रम-भेद वाली अद्भुत कथा कहकर उन्होंने माता के मन की रही-सही झिझक-हिचक भी दूर कर दी। बस, अब महारानी मेना की मोहजनित ममता मिट गई, उनकी अज्ञान-जनित चिन्ता भी छूट गई और उमड़ पड़ी बेटीके प्रति ज्ञानगम्य गरिमा।

फिर तो, पलक मारते, हिमवान् के भवन में उत्साह, उमंग एवं उल्लास का सागर उमड़ा और देखते-देखते दृष्टि-भेद के भँवर में पड़ी, एक जन्म की बिछुड़ी, चिर-अनुरागी, दो आकुल-आत्माएँ, मंगल-नाद के बीच, परिणय के मृणाल-मसृण शाश्वत सूत्र में बँधीं और पुनः जन्म-जन्म के लिए 'एक' बन गईं।

विवाह इसी का नाम है—दो से 'एक' हो जाना—तन से, मन से और आत्मा से 'एक' होकर विश्वात्मा में लीन हो जाना। यही वास्तविक विवाह है।

इसके आगे की कथा संक्षिप्त और क्षिप्र हो गई है।

'जगतः पितरौ वन्दे', के परम-पूत शब्दों से काव्यारम्भ करने वाले कवि-कुल-तिलक कालिदास के विश्व-वन्द्य 'पार्वती-परमेश्वर' के पुनीत परिणय की पूर्ण परिणति 'कुमारसम्भव' के अभिधेयार्थ में आबद्ध हो गई है। किन्तु 'मानस' का श्रद्धाशील कवि उस ओर रसात्मक दृष्टि डालने में जाने क्यों क्रीड़ा के बदले व्रीड़ा का ही अनुभव करता है। ससंकोच उड़ती नजर डालता, वह बड़ी शीघ्रता से, अपने उदग्र-पथ पर बढ़ जाता है और जाते-जाते 'कुमारसम्भव' के रस-सम्राट् कवि के सामने एक प्रश्न-चिह्न भी ससंकोच खड़ा कर जाता है :

"जगत मातु पितु संभु भवानी। तेहिं सिंगारु न कहउँ बखानी॥"

यथार्थ, एकदम सोलह आने सत्य, क्योंकि जब साधारण-से-साधारण आदमी भी अपने माँ-बाप के श्रृङ्गार की ओर दृष्टि डालने में एकदम संकुचित हो जाता है, तब जो सारे संसार के 'जनक-जननी' हैं, परम पूज्य हैं—उन गौरी-शंकर के 'रस-विलास' का वर्णन एक 'श्रद्धालु' कवि कैसे करे?

कवि का यह संकोच चिन्तनीय है जरूर, पर उसका महत्त्व तो कोई महा मर्मज्ञ और रसज्ञ ही आँक सकते हैं। हम अल्पज्ञ गीर्वाण-गौरव कालिदास के सामने 'भाषा-कवि' तुलसी की तारीफ में मुँह कैसे खोलें? लेकिन हृदय तो उसी ओर भाग जाना चाहता है। कौन समझाए इस मूढ़, मतिमन्द और अन्ध नीहार को?

सतीत्व की सुदीप्त शिखा

"गिरा अरथ जल बीचि सम
कहिअत भिन्न न भिन्न।
बन्दउँ सीता राम पद
जिन्हहिं परम प्रिय खिन्न॥"

—तुलसीदास।

रक्तारुण राजस्व-घट :

जानकी के जन्म के सम्बन्ध में एक विचित्र और व्यापक धारणा भारतीय जन-समाज में बद्धमूल हो गई है। वह धारणा ऊपर-ऊपर से तो आलंकारिक दीखती है, किन्तु उसके भीतर झाँकने से, कारण और कार्य का विवेचन तथा विश्लेषण करने से, एक ऐसा महान् सत्य प्रतिभात होता है, जो सीता के स्वरूप को कान्ति-उज्ज्वल बना देता है—विपल्व-मूल में बिठा देता है।

यथार्थ तो यह है, कि भारतीय मनीषा साहित्य, दर्शन और शिल्प के माध्यम से 'सत्' और 'असत्' के सतत संघर्ष को ही विवेच्य बनाती आई है। क्रमशः वही 'धर्म' और 'अधर्म' की संज्ञा पा गया।

भारतीय चिन्तन, मनन और अनुशीलन के मूल में 'धर्माधर्म' का वही गहरा स्रोत 'आसेतु हिमाचल' कल-कल स्वर में मुखरित हो उठा है। उसी अगम्य मूल से, आगे चलकर, अवतारवाद का वटवृक्ष अंकुरित हुआ और, देखते-देखते, एक दिगन्त-विस्तृत रम्य-वनस्थली में बदल गया।

भारतीय मनीषी केवल शुष्क ऐतिहासिक, केवल सूक्ष्म दार्शनिक या रूखे तत्त्व-विवेचक वैज्ञानिक नहीं थे। वे सब उपाधियाँ उनकी विशेष विभूतियाँ थीं, किन्तु तत्त्वतः वे सरसहृदय वाले कल्पनाशील कवि थे और अपने प्रिय विषय को उन्होंने द्वन्द्व, रस तथा अलंकारों के आवरण में ही लपेट कर विवृत किया है—बोध-गम्य बनाया है। यही कारण है कि उन मनीषियों की सत्याश्रित दृष्टि भी कल्पना के रंगीन पंखों पर ही उड़ती आई है। इसीसे इतिहास-पुराण ही क्या व्याकरण, कोश तथा आयुर्वेद के सदृश शुष्क जीवनोपयोगी ग्रन्थ भी छन्दों में ही बाँध दिए गए हैं।

सच पूछा जाए, तो इस 'आसेतु हिमाचल' वाले भू-भाग का वातावरण ही सहज काव्यात्मक है। इसीलिए यहाँ कवि और मनीषी में कोई अन्तर नहीं पाया जाता है।

ऐसी स्थिति में, यदि कोई गणिताधारित वैज्ञानिक, इस देश के प्राचीन वाङ्मय में किसी शुष्क सत्य का दर्शन करना चाहे, तो उसे उसके काव्यात्मक आवरण को हटाकर ही अन्दर झाँकना पड़ेगा।

जानकी की जन्म-भूमि में प्रचलित उसकी जन्म-कथा को उसी कसौटी पर कसना होगा।

'अगस्त्य आश्रम' के प्रसंग में हम देख आए हैं, कि 'असत्' के अधीश्वर रावण के अन्याय और अत्याचार से त्रस्त और तप्त होकर 'सत्' के समर्थक मनस्वी-मानव गहन-अरण्य और दुर्गम गिरि-गह्वर में जा छिपे और अकिंचन होकर

'असतो मा सद्‌गमय' की आराधना करने लगे थे। राज के राज-कर्मचारी उन निरीह सत्याग्रहियों से भी 'राजस्व' उगाहने की उदण्डता दिखाने लगे जिससे उन त्यागी-तपस्वियों का असमंजस और विकट हो उठा।

उसका एक जबर्दस्त कारण था।

रावण, सहसा इधर-उधर से आ धमकने वाला, कोई लुटेरा तो था नहीं, वह आँधी-तूफान की तरह बवंडर उठाकर चल देने वाला कोई दिग्विजयी वीर भी नहीं था जिसका आतंक अस्थायी होता है, वह तो त्रिदिव और त्रिदेव को भी त्रास देने वाला एक असीम साम्राज्य का सार्वभौम सम्राट् था, जो सतर्क होकर शासन कर रहा था।

शासन, शान्ति और सुव्यवस्था के नाम पर संगठित प्रचण्ड शक्ति के सामने, जब आज का यह जन-तंत्रात्मक युग भी नत-मस्तक हो जाता है, तब उस धर्म-भीरु युग की बात ही व्यर्थ है, जो सहज भाव से 'नराणां च नराधिपः' का अधिकार अक्षुण्ण मान रहा था।

अतः अपूर्व पराक्रमशाली रावण के राज-कर्मचारी जब राजस्व-घट लेकर उन कौपीन-धारियों के आगे आ खड़े हुए और 'राजस्व' देनेका आग्रह ही नहीं, आक्रोश भी करने लगे, तब उन अकिंचनों का असमंजस और कितना अपार हो उठा होगा—अनुभव-गम्य है।

जिसके राज्य में वे बसते थे, उसको 'राजस्व' देने से वे धर्म-मर्मज्ञ इनकार कैसे करते ? 'राज-कर' देना तो उनके लिए धर्म में शामिल था; परन्तु जब अपनी स्थिति देखते, तब विवश हो जाते; क्योंकि देने के लिए तो उनके पास कुछ था नहीं।

और कुछ पास में हो या नहीं, पर धर्म-भीरुता और स्वाभिमान तो उनमें पर्याप्त था ही। इसलिए रोष और क्षोभ के बीच से उन्होंने धर्म-भाव को ढूँढ़ निकाला और राज-कर देने का निश्चय कर लिया। अब जैसे ही 'राजस्व-घट' उनके सामने मुँह बाए आ खड़ा होता, वे निश्चल मन से 'विश्वात्मा' को पुकारते और अपनी तपः-तप्त रूखी-सूखी हड्डियों से एक-एक बूँद रुधिर निकाल कर 'राजस्व-घट' में डाल देते।

यों निरीह नर-पीड़न से, अकिंचनों के रक्त-दान से, दमित रोष-क्षोभ की आह-उसाँस से, एक दिन, वह 'राजस्व-घट' पूरा हुआ और रावण के राज-कोष में लाया गया।

रावण उस अद्‌भुत राजस्व-घट को देखकर चौंक उठा। बात थी भी विस्मित करने वाली। मदान्ध और उत्पीड़क होते हुए भी रावण 'मूर्ख' तो था नहीं—वह उस रक्त-दान का गूढ़ अर्थ खूब समझता था। अत्याचारी तो वह था ही और उसका अत्याचार असत् के आतंक पर ही आधारित था। और रुधिर-रूप में 'राज-कर' चुकाने वाले वे गृह-त्यागी बनवासी ऋषि-मुनि 'असत्' के विरोध में ही तो 'सत्' की मौन उपासना कर रहे थे। उन नीरव विद्रोहियों का वह रक्त-दान दमित और शमित विपल्व-वृत्ति का वह उष्ण-उपहार—रावण जैसे विषम पराक्रमी को भी अस्थिर बना गया।

वह राजस्व-घट उसे उग्र अभिशाप-घट प्रतीत हुआ और वह अन्तर से काँप उठा—निर्दोष और निस्पृह नरों का मौन हाहाकार उसे ललकार जो रहा था।

बस, अपने सिर की बला को किसी दूसरे के सिर पटक देने के विचार से, अनुभवी दशमुख ने अपनी राजधानी से अति दूर, हिमालय की तराई के पास अनुपम अमराइयों के कुंज-पुंज में बसी हुई मिथिला-नगरी में जाकर, विपल्व के बीज उस लाल घड़े को, चुपचाप, जनक की धरती में गाड़ दिया।

यों 'असत्' के विरोध में 'सत्' के उपासकों की बूँद-बूँद करके गिरी हुई, वह संचित रक्त-राशि, विपल्व के सूक्ष्म बीज-स्वरूप, मिथिला की मसृण भूमि में आ बसी।

किन्तु उस उग्र ज्वलन को—अन्तर्दाह की उस तीव्र विपल्व-वह्नि को—रमणीय धरित्री का मृदुल-मंजुल हृदय कैसे सहन करता? उसकी अगम्य गरमी से भूमि का कोमल अन्तर दग्ध हो गया, उसकी अन्नदा उर्वरा-शक्ति नष्ट हो गई और उसका विषैला धुआँ वाष्प बन कर आकाश में छा गया। फलतः पावस के प्राण सूख गए और मिथिला में वर्षों पानी नहीं पड़ा तथा अकाल-पीड़ित जनक-राज्य की जनता में सर्वत्र हाहाकार मच गया—'अन्न दो, पानी दो।'

राजा जनक शान-शौकत वाले सामान्य राजा नहीं थे—वह यथार्थ ही गरीब जनता के जनक—प्रतिपालक पिता थे और सच्चे अर्थ में उनका प्रतिनिधित्व भी करते थे। कहा जा सकता है कि अपनी प्रजा के प्रतिपालन की चिन्ता करते-करते ही वह अपने देह-गेह की सुधि भूलकर 'विदेह' बन गए थे। जनता-जनार्दन का ऐसा सच्चा उपासक भला उसकी भूख-प्यास की ज्वाला को कैसे निरपेक्ष भाव से देखता रहता? वह भी चिन्ता के ज्वाला-जाल में जलने लगे।

राजा जनक 'विदेह' बन गए थे, पर वह वनवासी वैरागी नहीं थे। ज्ञान, कर्म और उपासना के चरम उत्कर्ष पर पहुँच कर भी वह सद्गृहस्थ थे और सच्चे अर्थ में जन-गणनायक थे। उनके राज्य का वह जन-समुदाय जी रहा था केवल हल के बल पर भूमि को जोत-बोकर। और वर्षा के अभाव में मिथिला की वह मनोरमा भूमि आज यों मरुभूमि में बदल चली थी!

राजा जनक ने यह सब देखा, बहुत-कुछ सुना, सोचा और समझा। विद्वान्-धीमान् तथा त्रिकाल-दर्शी ऋषि-मुनियों से परामर्श किया और जमीन की नष्ट-प्राय उर्वरा शक्ति को फिर से जगा कर, कृषि-कर्म में एक नवीन आदर्श और प्रोत्साहन के संकल्प से उस महान् जन-नायक जनक ने हल का हत्था अपने हाथों में लिया। जगन्माता धरती की चरण-सेवा का वह अभूत-पूर्व यज्ञानुष्ठान ऐसा अनूठा, ऐसा आश्चर्यमय और ऐसा आकर्षक हुआ कि देवता भी दंग रह गए।

राजा जनक ने जैसे ही हल के हत्थे पर हाथ रखा, अपार जन-समूह ने हर्षोन्माद की तुमुल ध्वनि से दिग्दिगन्त को गुँजा दिया—'जन-नायक जनक की जय!'

फिर तो हल का वह मस्त फाल भू-माता के अंक पर पत्थर-सी पड़ी पपड़ी को

तोड़ता उसके मृदुल अंशों को उभार-उभार कर अगल-बगल ढेर करता, सोल्लास आगे बढ़ने लगा।

हलवाहे राजा के भव्य-भाल पर श्रम के कण और समवेत जन-समागम के नयनों में मोद के कण नाचने लगे, क्योंकि आज राजा और प्रजा का भेद मिटकर एकरूपता स्थापित हो रही थी—दोनों कृषक हो रहे थे, दोनों हल और फाल से खेल रहे थे।

यों कठोरता को कोमलता में और जड़ता को चेतनता में परिणत करता जब वह मर्म-भेदी 'फाल' उत्फुल्ल भाव से गतिशील हो रहा था कि सहसा उसके मार्ग में एक भारी अवरोध का अनुभव हुआ। 'फाल' गहरे गड़ी-हुई किसी कठोर चीज से जा टकराया और उमंग में डूब कर उसने उसे ऊपर उछाल दिया।

वह था एक स्वर्ण-घट जिसके अन्दर अरुण-वर्ण छवि-उल्लास वाला एक अनुपम सुन्दर शिशु खेल रहा था।

हठात् हल रुक गया और सब-के-सब विस्मय-विमुग्ध नेत्रों से उस अद्भुत घट को निरखने लग गए।

राजा जनक निःसन्तान थे। उषा की अरुणिमा-सी, मधुमास की मधुरिमा-सी, उत्पल की उत्फुल्लता-सी और व्योम-विलासिनी विद्युल्लता-सी उस शिशु-सन्तान को स्वर्ण-घट से सिर निकालते जब उन्होंने देखा, तो उनके निष्प्रभ नेत्र दमक उठे, मुर्झाया मन उमड़ पड़ा और शिथिल भुजाएँ सहज स्नेह से आगे बढ़ गईं। निमिष-मात्र में वह भूमिजा 'सीता' (हल के फाल से उछली हुई) राजा जनक के बाहु-पाश में बद्ध हो गई।

कहा जाता है कि वह स्वर्ण-घट वही 'राजस्व-घट' था जिसमें संचित हुए थे मूक-विरोध में बूँद-बूँद करके गिरे हुए असत् के विरोधियों के अरुण उष्ण-कण!

यों तपःपूत 'सत्' के सम्मिलित शक्तिकण से निकलकर जो क्रान्ति-किरण भूतल के गर्भ में घुसी, वही मंजुल-ज्योति वसुधा के झुलसे वक्ष को सरस तथा उर्वर बनाती, कृषि-कर्म-आधार-भूत हल के दर्प-दीप्त तीक्ष्ण 'फाल' से उछल कर राजा जनक की गोद में खेलने लगी।

सीता की आत्मा में 'सत्' के दिव्य-कण संचित थे, उनके स्वर्णिम शरीर में शस्य-श्यामला, मधु-गन्धा धरित्री का स्निग्ध-सौन्दर्य उर्मिल हो रहा था और उनका सुकुमार अन्तर्जगत् उदधि-गर्भ में सोये वड़वानल-सी शान्त-विद्रोह की सम्भ्रम भावना से, अनजान में ही, आलोड़ित हो रहा था।

यों सीता में कृषि-कार्य पर आधारित तपोधनी भारतीय जन-जीवन की सरल, सात्त्विक, सतेज, सुकुमार और विप्लव-मूला संस्कृति सहसा उत्थित और उद्भासित हो उठी थी। वह विद्युत्-बाला जाने युग के किस ओर में चमकी और जाने क्रमागत युग के किस छोर तक चमकती चली जायगी।

चेतना की उस शीतल-चकाचौंध को वाङ्मय में बाँधने के अब तक जितने

प्रयत्न हुए हैं, सबों में अरण्यवासी 'आदिकवि', कंबन और तुलसी के प्रयत्न निराले हैं।

विश्वात्मा की वामांगिनी :

मानव के आदि-पुरुष मनु महाराज जब रस-लोलुप इन्द्रियों के विषय-विलास से ऊब उठे, तब उन्हें आत्म-ग्लानि की दारुण व्यथा सताने लगी :

"होइ न बिषय बिराग, भवन बसत भा चौथ पन।
हृदयँ बहुत दुख लाग, जनम गयउ हरि भगति बिनु॥"

भोग के बाद ही जरा-जर्जरों को प्रायः योग की बात ध्यान में आती है। मनु महाराज को भी भगवान् की भक्ति का अभाव खटका और उन्होंने अपने मन-मतंग को ज्ञान-अंकुश मार कर वश में कर लिया :

"बरबस राज सुतहिं तब दीन्हा। नारि समेत गवन बन कीन्हा॥"

विनयी पुत्र कदाचित् पिता की जिन्दगी में राज-सिंहासन पर बैठना नहीं चाहता होगा (क्योंकि वह पिता की भोगासक्ति से पूर्ण परिचित होगा), इसलिए मनु को उसे बलपूर्वक राजगद्दी पर बिटाना पड़ा और तत्पश्चात् पति-पत्नी दोनों अरण्य की ओर चल पड़े। मन-प्रधान वाले मनुदेव का भोग-विलास जैसा विशाल था, तपोवन में जाने के बाद उनका तप-त्याग उससे भी विशाल हो उठा। मन की इस प्रतिक्रिया को कोई मनस्वी ही महसूस कर सकता है।

तपस्या से तन तो क्षीण होता ही :

"अस्थि मात्र होइ रहे सरीरा। तदपि मनाग मनहिं नहिं पीरा॥"

किन्तु मनु का मन सबल होता चला, तपस्या के कष्ट-क्लेश का उसे जरा भी अनुभव न हुआ; अनुभव करने वाला तो मन ही होता है और जब वही दूसरी ओर रम गया, तब पार्थिव-पीड़ा का अनुभव करता ही कौन?

मन की उसी अद्भुत एवं उदग्र-गति के जोर पर दुर्धर साधक मनु ने अपने आराध्य-देव का अत्युच्च सिंहासन हिला दिया और वह परम आकर्षण रूप-रंग में उस दर्प-दीप्त साधक के पास आ उपस्थित हुए :

"नील सरोरुह नील मनि नील नीरधर स्याम।
लाजहिं तन सोभा निरखि कोटि कोटि सतकाम॥"

कितना अद्भुत सौन्दर्य था भक्त-वत्सल भगवान् का! नील कमल, नील मणि और नीले मेघ की भाँति उनका रंग भी श्याम था—जिसे देख कर करोड़ों कामदेव भी लज्जित हो जायँ।

सौन्दर्य-श्रृङ्ग वह 'राम' अकेले न थे—उनके साथ थीं उनकी चिर-संगिनी सीता :

"बाम भाग सोभति अनुकूला । आदि सक्ति छबिनिधि जगमूला ॥
जासु अंस उपजहिं गुनखानी । अगनित लच्छि उमा ब्रह्मानी ॥
भृकुटि बिलास जासु जग होई । राम बाम दिसि सीता सोई ॥"

वह 'सीता' साधारण स्त्री नहीं थीं। कवि उन्हें आदि शक्ति, सौन्दर्य-सागर और सृष्टि-मूला की उपाधि देता है—जिनके अंश-मात्र से असंख्य लक्ष्मी, भवानी और ब्रह्माणी उत्पन्न होती रहती हैं, तथा जिनके भ्रू-भंग से ही जगत् की रचना होने लग जाती है।

लेकिन इतनी शक्ति-शालिनी होते भी सीता संपृक्त-सत्तावाली हैं :

"गिरा अरथ जल बीचि सम, कहिअत भिन्न न भिन्न ।"

शब्द और उनके अर्थ अगग-अलग वर्ण और विवृति वाले जरूर होते हैं—बाहर से दोनों अलग-अलग अस्तित्व-व्यक्तित्व जरूर रखते हैं, फिर भी दोनों एक ही भाव के पूरक होते हैं—दोनों की आत्मा एक होती है। जल और तरंग की भी वही स्थिति होती है—बाहर से दो दीखनेवाली और भीतर से एक। जल ही उमड़ कर तरंग में परिणत होता है, और तरंग फिर जल में लीन होकर एकरूप हो जाती है। राम और सीता रूप-रंग में अलग-अलग दीख पड़ते हैं, पर उनकी आन्तरिक अभिन्नता उसी तरह स्वयं-सिद्ध है।

अलग-अलग शकल-सूरत रखने वाले पति-पत्नी के रूप में नर-नारी की एकात्मकता—उनकी अभिन्नता की मनोरम और मार्मिक व्याख्या यहाँ स्वयं हो जाती है। कवि-कुल-चूड़ामणि कालिदास ने भी 'वागार्थाविव संपृक्तौ' कहकर उसी महान् सत्य का उद्घोष किया है। फिर भी तुलसी की 'जल-बीचि' अपनी छटा अलग दिखा जाती है।

यों भिन्न-अभिन्न रूपवाली 'सीता' जनकपुरी में अवतरित हुईं :

"जनक सुता जग जननि जानकी । अतिसय प्रिय करुना निधान की ॥"

जो अभिन्न है, वह प्रिय क्यों न होगी ? किन्तु सीता करुणा-निधान राम की अतिशय प्रिय थीं, क्योंकि उनका सौन्दर्य, प्रेम और त्याग भी 'अति' की सीमा पर पहुँचा हुआ था।

यद्यपि जानकी जनक की औरस सन्तान न थीं, तथापि जनक महाराज ने उनका लालन-पालन इस ममत्व के साथ किया, कि उनका नाम ही जानकी—जनकात्मजा—हो गया।

पिता का प्रण :

यह लोक-प्रचलित कथा है, कि राजा जनक शिव-धनुष की पूजा प्रतिदिन करते थे। वह धनुष इतना भारी था कि कोई उसे उठाने का साहस नहीं करता

था। इसलिए जिस जगह वह रखा हुआ था, वहाँ ठीक से सफाई न हो पाती थी। धनुष के नीचे घास-पात उगे देखकर एक दिन राजा जनक चिन्तित हो उठे। लाड़ली जानकी उनकी चिन्ता भाँप गईं, और, जब जनक स्नान करने गये, उसी अभ्यन्तर में उस तन्वंगा ने धनुष को हटा कर सारी जगह साफ कर दी। स्नान करके जनक लौटे और सर्वत्र सफाई देखकर विस्मित हो उठे। साग्रह पूछने पर जानकी ने सच्ची बात बता दी। सब-कुछ सुनकर थोड़ी देर के लिए जनक मौन हो गये। हठात् उनके मुँह से निकल पड़ा—'अब जो धीर-वीर यह धनुष तोड़ेगा, उसीके साथ तुम्हारा ब्याह होगा!'

जानकी संकुचित हो गईं। जनक का वह प्रण क्रमशः लोकख्यात हुआ और देश-देश के शूर-वीर सोल्लास वीर्य-शुल्क देने मिथिला में आने और हतप्रभ होने लगे, तोड़ना तो दूर, कोई उसे टसका भी नहीं सका; क्योंकि वह साधारण धनुष तो था नहीं—वह तो उस महादेव का दिया हुआ दिव्य धनुष था जो विश्वात्मा सीता-राम के मर्मज्ञ और अनन्य प्रेमी थे। फिर वह धनुष मर्म-मूढ़ कैसे होता जिसे 'सीता' ने यों आसानी से उठा लिया था—फिर दूसरों के हाथ वह कैसे चढ़ता?

जनकपुरी में :

विश्वात्मा राम अपनी वामांगिनी सीता के प्रेमाकर्षण से, अनजान में ही, आकृष्ट होकर, विश्वामित्र मुनि के साथ, जनकपुर आ पहुँचे। उनके आने के पहले ही विश्वामित्र की यज्ञ-रक्षा में प्रदर्शित, अनेक शौर्य-वीर्य की कथा और अहल्या-उद्धार की महिमा मिथिला में पहुँच चुकी थी।

मिथिला की प्रकृति प्रायः यों ही उमड़ी रहती है। सीता के जन्म से तो यहाँ की भूमि और आकाश अप्रतिम अनुराग से भर गये थे। सघन अमराइयों में कोकिल का निरन्तर कल-कूजन होता था—मानों वह किसी अज्ञात प्रेम-पथिक को किसी स्वागतोत्सुक हृदय का आह्वान भेज रहा हो।

ऐसे ही उत्फुल्ल औत्सुक्य-मय वातावरण के बीच शक्ति, शील और सौन्दर्य के सुस्निग्ध प्रतीक 'राम' गुरु की आज्ञा लेकर, छोटे भाई लक्ष्मण के साथ नगर-निरीक्षण के लिए, निकल पड़े।

"देखन नगर भूप सुत आए। समाचार पुरबासिन्ह पाए॥
धाए धाम काम सब त्यागी। मनहु रंक निधि लूटन लागी॥"

विश्वात्मा की चिर अनुरागिनी जहाँ समस्त श्री-सौरभ के साथ विस्मय-विमुग्ध नयनों से अपने जन्म-जन्म के अनुरागी को ढूढ़ रही हो, वहाँ के प्रेम-पुलकित नगर-निवासियों के मनोभिलाष का वर्णन करते कवि जैसे सब-कुछ भूल जाता है :

"जुबती भवन झरोखन्हि लागीं। निरखहिं राम रूप अनुरागी॥"

कश्मीर की सुषमा संसार-प्रसिद्ध है सही और वहाँ का स्त्री-सौन्दर्य तो अनुपम ही माना जाता है, परन्तु मर्मज्ञों का कहना है, कि कश्मीर की वह सुषमा केवल बाहरी है—केवल चमड़ी की चमक है; और मिथिला की अमराइयों में तन-मन का जो सरल, मृदुल, मंजुल सौन्दर्य अज्ञात भाव से अंचल उड़ाता रहता है, उसकी तुलना तो भारत में ही क्या—फ्लोरेंस की अंगूर-वाटिका में भी नहीं ढूँढ़ी जा सकती है। कश्मीर, केरल और इटली के अंचलों में जितना सौन्दर्य है, उससे ज्यादा उसका बोध और विज्ञापन भी रहता है: किन्तु आम्र-कानन-स्थित मिथिला का सौन्दर्य केवल नयनाभिराम नहीं, मनोभिराम भी है, जो नेत्रों में घुस कर दर्शक के मन-प्राण को भी मुग्ध कर देता है। वह शिशु का सरल सौन्दर्य है जिसे उसका कोई ज्ञान या गर्व नहीं होता—एकदम भोला, एकदम अनासक्त, एकदम अनाक्रमी। वहाँ के नयन भी खूब अनियारे हैं, वे चुभते भी हैं; पर कलेजे में जाकर कसकते नहीं—टस-से-मस नहीं होते, पर टीस नहीं पैदा करते हैं।

ज्ञान-गर्व-शून्य ऐसी ही सुन्दर युवतियाँ, झरोखों से सटी:

"नख सिख सुन्दर बंधु दोउ, सोभा सकरु सुदेस।"

सौन्दर्यागार दोनों भाइयों को निरीह अनुराग से निहार रही थीं।

सरल सौन्दर्य में सहज-आकर्षण होता है। राम-लक्ष्मण का रूप बनावटी नहीं था, वेश-विन्यास के चमत्कार पर आधारित नहीं था—वह तो नव-यौवन का, शौर्य और शील का प्राकृतिक परिणाम था जिस पर युवतियों का मुग्ध होना कोई अनोखा नहीं था। वे खुद उसकी सफाई देती हैं:

"कहहु सखी अस को तनु धारी। जो न मोह यह रूप निहारी।"

और इस मोह में कवि का अन्तर भी तो भींगा हुआ दीख रहा है। लेकिन यह मोह इक्के-दुक्के की नयन-बाण-विद्ध 'मुग्धता' नहीं है, यह तो विराट् वनस्थली में विकसित सुमनों की मधुरिमा है, निर्मल निशीथ के पूर्ण चन्द्र का उज्ज्वल हास्य है—जिस पर व्यक्ति ही नहीं, समूह भी मुग्ध बन जाता है।

यों मिथिला का सामुदायिक सरल-मृदुल सौन्दर्य अयोध्या के अद्‌भुत सुषमा-सदन पर अकुण्ठित भाव से उत्सर्ग होने लगा।

सौन्दर्य-सम्भव व्यक्तिगत मोह प्रायः कुण्ठा के भँवर में जलकर अनुराग के सरल प्रवाह में आकुल अवरोध उत्पन्न कर देता है—व्यथा और व्यग्रता से नचाने लग जाता है। किन्तु सामुदायिक अनुराग का आकर्षण जो 'मुग्धता' दिखाता है, वह उसे योग्य कूलों में बाँध कर इस प्रकार मर्यादित और प्रतिष्ठित कर देना चाहता है जिससे उसका स्वाद-तोष सर्व-जन-सुलभ हो जाए।

अतिथि-रूप में आए अद्‌भुत सुन्दर 'राम' को मनोहारिणी-मिथिला में बाँध रखने का प्रस्ताव कितना आह्लाद-प्रद है:

"देखि राम छबि कोउ एक कहई। जोगु जानकिहि यह बरु अहई।
जौं सखि इन्हहि देख नरनाहू। प्रन परिहरि हठि करइ बिबाहू॥"

मिथिला में जानकी का ब्याह एक 'समस्या' बना हुआ था। नगर-निवासियों की उत्सुकता, अब, आकुलता का रूप धारण करने लगी थी। राजा जनक ने सीता को वीर्य-शुल्क से बाँध रखा था—जो शौर्य-वीर्य का शुल्क देगा—जो बल-विक्रम दिखा कर शिव का वह अगम्य-गुरु-गम्भीर धनुष तोड़ देगा, उसीके साथ सीता का विवाह हो सकेगा। राजा का वह 'प्रण' अब सबों को अखरने लग गया था। इसीसे योग्य वर देखकर युवतियाँ आपस में काना-फूसी करने लगीं कि राजा कितने भी हठी क्यों न हों, अगर वह एक बार इस परम मनोहर रूप को देख लें, तो उनका सारा प्रण ढीला पड़ जाए और वह साग्रह जानकी का ब्याह राम के साथ कर दें।

और जब :

"जौं बिधि बस अस बने सँजोगू। तो कृतकृत्य होइ सब लोगू॥
सखि हमरे अति आरति तातें। कबहुँक ए आवहिं एहि नातें॥"

ऐसा संयोग बने, तभी तो सब लोग कृतकृत्य हों, सभी की मनःकामना पूरी हो। सबकी मनः-कामना तो अनुराग से अनुराग को पूर्ण करने की ही थी, क्योंकि जिसे हम प्यार करते हैं, वह भी हमें प्यार करे, स्नेह की आँखों से देखें, अनुराग से उमड़ कर अपना साहचर्य दे, अन्तर के माधुर्य से हँसे-बोले—तभी तो अनुराग की आकुलता दूर हो। और यह सुयोग तो मिथिला-वासी नर-नारियों को तभी सुलभ हो सकता था, जब राम का स्नेह-सम्बन्ध सीता के साथ सुस्थिर हो जाए। इसीलिए अनुरागमयी अंगनाएँ आतुर हो उठीं जानकी की विवाह-कामना से। निकट-सम्बन्ध स्थापित करके राम के साथ रसालाप का सुस्थिर सुयोग तो उन्हें राम के 'वर-वेश' में आने पर ही मिलता। परन्तु जानकी तो वीर्य-शुल्क पर लटक रही थीं। और जब जगत्-जयी रावण और बाणासुर भी वह वीर्य-शुल्क न दे सके—धनुष को देखकर ही खिसक गए, तब 'बाल-मराल'-से लगने वाले श्यामल-मृदु-गात 'राम' उस दुर्धर चाप को कैसे उठा सकेंगे ?

उनमें कुछ सयानियाँ भी थीं जो बहुत-कुछ सुन चुकी थीं। वे मृदु वाणी से बोलीं :

"सखि इन्ह कहँ कोउ कोउ अस कहहीं। बड़ प्रभाउ देखत लघु अहहीं॥
परसि जासु पद पंकज धूरी। तरी अहिल्या कृत अघ-भूरी।
सो कि रहिहिं बिनु सिव धनु तोरें। अस प्रतीति परिहरिअ न भोरें॥"

देखने में ही राम छोटे हैं, प्रभाव उनका कितना बड़ा है, यह तो 'अहल्या-उद्धार' से ही प्रमाणित हो चुका था। विश्वामित्र की 'यज्ञशाला' तो जनकपुर से कुछ दूर थी, लेकिन 'अहल्यास्थान' तो जनकपुर के पड़ोस में ही था—फिर उसकी ख्याति

घर-घर क्यों न पहुँचे। जो इतना प्रभावशाली है, वह क्या उस शिव-धनुष को तोड़े बगैर रहेगा? नहीं, प्रेम-प्रतिमाओं का विश्वास तो यही कहता था कि तोड़ेगा ही। ऐसा अगर न हुआ :

"नाहि त हम कहुँ सुनहु सखि इन्ह कर दरसनु दूरि।
यह संघट तब होइ जब पुन्य पुराकृत भूरि॥"

नहीं तो सत्कुलीन नारियों के लिए यह अनुराग, यह मुग्धता, यह ममत्व, यह आकर्षण कोई मूल्य नहीं रखता है—केवल पछतावे का कारण बन जाता है। जैसे व्योम में विद्युल्लता छिटकाते हैं, और, आँखों में चकाचौंध पैदा करती, गायब हो जाती है—राम का दर्शन भी तो फिर वैसा ही दुर्लभ हो जायगा इस अनुराग-भूमि के लिए। और 'विवाह-संयोग' के लिए तो पूर्वजन्म की अपार पुण्य-राशि भी चाहिए।

अन्त में एक भाग्यवादिनी ने अपने विश्वास-कक्ष से सब का संशय-संकोच दूर कर दिया :

"जेहिं बिरंचि रचि सीय सँवारी। तेहिं स्यामरु बरु रचेउ बिचारी॥"

जिस विधाता ने यों रच-सँवार कर सीता-सी सौन्दर्य-मूर्ति गढ़ी है, उसीने उसके लायक विचार-पूर्वक राम-सा श्यामल वर भी रच दिया है।

"हियँ हरषहिं बरषहिं सुमन सुमुखि सुलोचनबृन्द।
जाहिं जहाँ जहँ बन्धु दोउ तहँ तहँ परमानंद॥"

इस मनोरम भूमिका पर खड़ी हुई जनकपुरी की सुमुखी और सुनयना स्त्रियाँ झरोखों से दोनों 'प्रेम-पथिकों' पर फूल के साथ 'सुमन' (सुन्दर मन) की वर्षा भी करती चलीं।

तदनन्तर कवि दोनों भाइयों को उस रंग-भूमि पर पहुँचा देता है जहाँ धनुष-यज्ञ हो रहा था। वहाँ बड़े-बड़े कंचन-मंच बने हुए थे राजा-महाराजाओं के निमित्त। आधुनिक 'स्टेडियम' की तरह दर्शकों के लिए सर्वोत्तम व्यवस्था की गई थी। सामाजिक मान-मर्यादा के अनुसार महिलाओं के लिए अलग प्रबन्ध किया गया था।

"पुर बालक कहि कहि मृदु बचना। सादर प्रभुहिं देखावहिं रचना॥"

बच्चों का प्रेम अनोखा है। वे उनको अपने साथ लेकर रंगभूमि का दिग्दर्शन कराते हैं और उनके शरीर का स्पर्श करके हर्षित और पुलकित होते हैं। नारियों ने केवल नयन ही जुड़ाए थे, शिशु-समुदाय स्पर्श-सुख भी लूट रहा है। जहाँ-जहाँ लड़के दोनों भाइयों को बुलाते हैं :

"सहित सनेह जाहिं दोउ भाई।"

युवतियों का स्नेह राम को मिला तो था सही पुष्प-वर्षा के द्वारा, पर वह

सर्वथा एकांगी था—मर्मज्ञ राम ने मन में अनुभव तो अवश्य किया होगा, किन्तु उनके संकोचशील नेत्र कदाचित् ही उनकी ओर उठे होंगे। उस अभाव की पूर्ति यहाँ बालक-वृन्द के सुकुमार साहचर्य से हो गई।

वीर्य-शुल्क वाले नगर में सौन्दर्य और प्रेम का यह पुनीत प्रसाद निःशुल्क प्राप्त कर लेना अभूत-पूर्व ही माना जाएगा। जिसके केन्द्र में गुरुत्व-आकर्षण लेकर स्नेह और सुषमा की विद्युत्-वल्लरी सीता बैठी हुई हैं, वह नगरी यों उमड़-उमड़कर यदि राम-लक्ष्मण को प्रेम-रस में सराबोर बना रही है, तो इसमें आश्चर्य ही क्या ?

प्रिय-पाहुन राम का यौवन-चुम्बित हृदय ऐसी गुदगुदी महसूस कर रहा होगा, श्री तथा सौरभ की इस नगरी में—वह अनुभव-गम्य है। प्रेम-पारखी कवि बड़ी साव-धानी से अपने नायक को इस रंगभूमि में घुमा रहा है। प्रेम का ऐसा स्फूर्तिमय वातावरण कोई कुशल कवि ही कर सकता था।

प्रेम-वृत्त के मूल में जाने के पहले उसकी परिधि का यह प्रसन्न आकर्षण कितना मोहक बन पड़ा है—धन्य तुलसी !

प्रथम दर्शन :

हिम-धवल पर्वत-पुंज के पद-तल में पड़ी मिथिला-नगरी, उन्नत हिमालय को विस्मय और आह्लाद से देखती अपनी परम-रम्य अमराइयों में करवट बदल रही थी।

उधर 'कहिअत भिन्न न भिन्न' रूपवाली अपनी अर्द्धांगिनी को खोजते हुए-से, अयोध्या से चलकर, किशोर-वय वाले 'राम' जनकपुरी की अनुराग-वाटिका में, खोए-से, घूम रहे थे।

उस अनुराग के आकाश में उन्होंने अब तक झिलमिलाते नक्षत्रों को ही देखा था, उन्हींकी निर्मल विभा से वे विमुग्ध हुए थे। पूर्णचन्द्र का उदय अब तक नहीं हुआ था। किन्तु राम ने पुलकित नेत्रों से उसके उदय के चिह्न देख लिए थे।

जनकपुरी की उनकी पहली रात किस सुखद-स्वप्न में कटी होगी, सहृदयों के लिए वह अगम्य नहीं है। स्वर्णिम प्रभात के प्रथम ही राम की नींद खुल गई और वे गुरु की आज्ञा लेकर :

"समय जानि गुरु आयसु पाई। लेन प्रसून चले दोउ भाई॥"

उद्देश्य कितना उज्ज्वल है, भाव कितने सात्विक हैं, मर्यादा कितनी मधुर है और 'समय जानि' में कितना मर्म-व्यंजक श्लेष है।

प्रातःकाल पूजा-पाठ का समय माना जाता है। राम गुरु के लिए प्रसून लेने चल देते हैं : और हाँ, उन्हें पता लग गया है, कि वे प्रोज्ज्वल प्रसून कहाँ मिलेंगे।

"भूप बागु बर देखेउ जाई। जहँ बसन्त रितु रही लुभाई॥"

वहाँ 'ऋतु' और उसकी 'लुभाई' मुद्रा दर्शनीय है। क्या इन शब्दों से मुग्धा सीता और उसकी नव-विकसित वसन्त-विभा का सुन्दर संकेत प्रसारित नहीं हो रहा

है ? उधर प्राकृतिक ऋतु-प्रकृति और नव-यौवन-सम्पन्न नारी-प्रकृति सीता तथा इधर परम मनोहर राम का अगम्य प्रेमाकर्षण—कैसा उर्म्मिल हो उठा है :

"लागे बिटप मनोहर नाना। बरन बरन बर बेलि बिताना॥
नव पल्लव फल सुमन सुहाए। निज संपति सुर-रूख लजाए॥"

मुग्ध राम नाना प्रकार के वृक्ष-वृन्द को, वर्ण-वर्ण के तम्बू की तरह तने हुए वेलि-वितानों को, फल और सुरभित सुमनों को—जो अपनी श्री-सम्पदा से देव-द्रुम को भी शरमाये दे रहे थे—कोमल किसलयों को, पुलक-हिल्लोल पर चढ़े, कौतूहल और उत्सुकता से देख रहे थे।

कोई रसानुरागी अभी रस और अलंकार के फेर में न पड़े और न आलम्बन-उद्दीपन की चर्चा से रस-भंग ही करने की चेष्टा करे। अभी तो साहित्यांग को भूलकर सिर्फ यह देखा जाय, कि किस उल्लास-भूमि पर दो बिछुड़ी आत्माओं का मुग्ध-मिलन होने जा रहा है। जैसे आह्लाद-भरी, स्वागतोत्सुक, सौन्दर्यशीला, सुकुमार प्रकृति ही, कुतूहल से रम्यावरण को धीरे-धीरे हटाकर, मिलन-मन्दिर का मनोरम द्वार खोलने जा रही हो।

प्रेम आत्मा का सूक्ष्म मधु-गन्ध माना जाता है। मानव-प्रकृति स्थूलोन्मुख होती है और कुछ विलम्ब से उसका पूर्वापर प्रसंग समझ पाती है। परन्तु विश्वात्मा विराट-विभु के निगूढ़ इंगितों पर नाचनेवाली इस गोचर-प्रकृति को उस रहस्य का पता पहले ही चल जाता है। इसीलिए नयनाभिराम गति से मचलती-मुसकुराती वह उस प्रेम-प्रसंग का अभिनन्दन करने दौड़ पड़ती है।

और यहाँ तो विराट्-विभु ही उतर आया था 'राम' के रूप में और 'गिरा-अर्थ जल-बीचि' वाली उसकी चिरानुगामिनी और चिर-प्रियतमा प्रकृति ही 'सीता' के रूप में, पुरातन-प्रीति की सूक्ष्म-रज्जु से बँधकर, स्वतः खिंची आ रही थी उस परम-प्रेममय पुरुष के पास। फिर सारी प्रकृति उमड़कर नाचने क्यों न लग जाती ?

"चातक कोकिल कीर चकोरा। कूजत बिहग नटत कल मोरा॥
बिमल सलिल सरसिज बहुरंगा। जल-खग कूजत गुंजत भृंगा॥"

क्या उपर्युक्त पदों में किसी रागानुरागिणी रानी के स्वागत की अपूर्व तैयारी नहीं दीखती है ? क्या समस्त वातावरण राग और अनुराग से, मर्म-मधुर ध्वनि और संकेतों से भरा हुआ नहीं प्रतिभात होता है ?

और उस मधुरिमा में विचर रहा था राम का मिलनोत्सुक अनजान मन। कोयल और कीर, चातक और चकोर का चहकना, रह-रहकर, राम के भोले मन को चौंका देता था, मन-हर मयूर को नाचते देख उनका मर्यादित मन भी थिरक उठता था और निर्मल-नीरवाली सरसियों में किलोलें करते जल-पक्षियों का कल-कूजन एवं उनमें खिले कमलों के ऊपर मँड़राने वाले भ्रमरों का मधुर-गुंजन राम के संयत स्वर को भी गुदगुदाने लग जाता था।

जन्म-योग के कारण जो अल्पकालीन भिन्नता उनकी चिर-अभिन्नता के ऊपर, झीनी, चादर की भाँति, फैल गई थी, वह खिसकती जान पड़ी।

उसी समय राम राजाजनक की प्रिय पुष्प-वाटिका में आ पहुँचे, क्योंकि उन्हें सुमन-संग्रह जो करना था!

"चहुँ दिसि चितइ पूँछि मालीगन। लगे लेन दल फूल मुदित मन॥"

राम ने सत्कुलोचित शिष्टता दिखा कर मालियों से पूछा, सुमन-चयन के लिए उनकी अनुमति ली और प्रसन्न मन से दल-फूल लेने लगे। यहाँ राम की गुप्त उत्सुकता, उत्कण्ठा तथा उल्लास क्या उमड़ता नजर नहीं आता है? कवि-प्रयुक्त 'मुदित-मन' क्या यह नहीं बता रहा है, कि अनुमति के साथ-साथ मालियों से उन्हें कुछ अन्य संकेत भी प्राप्त हुए हैं? और 'चहु दिशि चितइ' वाली दृष्टि क्या किसी के शुभागमन की प्रतिक्षा की ओर उँगली उठाती नहीं जान पड़ती है? यों ही 'लगे लेन दल-फूल' में दर्शनोत्सुक नयनों के मनोरम-व्यापार के साथ-साथ, गुन-गुन गान से भरे किसी के मुग्ध-मन की उमंग-भरी माधुरी ध्वनित नहीं हो उठती है?

राम के इस अन्तर्दर्शन और उनकी आनुभाविक चेष्टाओं से क्या यह स्पष्ट नहीं हो जाता है, कि उनके हृदयाकर्षण का आलम्बन, उनकी चिर-रति-प्रतिपालित प्रीति, उनका यौवनोल्लास, और उनका चिद्विलास अब शीघ्र ही गोचर होने वाला है—सामने आने वाला है? बस:

"तेहि अवसर सीता तहँ आई। गिरिजा पूजन जननि पठाई॥"

उसी समय सीता वहाँ आ पहुँची—किसी अन्य प्रेरणा या भावना से नहीं, सैर-सपाटे के इरादे से नहीं, विशुद्ध पूजा की भावना से, सो भी माता के आदेश का पालन करने।

मर्यादित, संयत और संस्कृत-आचरण का कितना गम्भीर संकेत हो रहा है!

और भी:

"संग सखी सब सुभग सयानी। गावहिं गीत मनोहर बानी॥"

सीता अकेली नहीं हैं—सयानी और सुन्दर सखियों से घिरी हुई हैं: और वे सहेलियाँ चुपचाप नहीं हैं, मांगलिक और औत्सविक गानों से दिशाओं को गुँजाती चल रही हैं।

अज्ञात 'प्रेमाभिसार' का कैसा पुनीत पथ है यह, जिस पर दिव्यानुभूति से अंगीकृत पूर्वानुरागिणी के मृदुल-चरण, स्वप्न और जागरण के बीच, सावधानी से पड़ रहे हैं!

"सर समीप गिरिजा गृह सोहा। बरनि न जाइ देखि मन मोहा॥
मज्जनु करि सर सखिन्ह समेता। गई मुदित मन गौरि निकेता॥"

सीता उस तालाब के पास पहुँची जहाँ पार्वती का सुन्दर मन्दिर बना हुआ था। मंदिर में पूजा करने के पूर्व उन्होंने सखियों के साथ सरोवर में स्नान किया और फिर मुदित-मन से वे सब मन्दिर में गईं।

यहाँ 'मुदित-मन' अपना साथी वहाँ ढूँढ़ रहा है—जहाँ कोई गुरु के लिए 'मुदित-मन' से दल-फूल का संग्रह कर रहा था।

दोनों के मन 'मुदित' हैं और दोनों दिव्य भावापन्न हैं।

"पूजा कीन्हि सहित अनुरागा। निज अनुरूप सुभग बर माँगा॥"

मन्दिर में जाकर सीता ने सानुराग पार्वती की पूजा की और अपने अनुरूप उनसे सुन्दर वर की याचना की।

'निज अनुरूप' स्पष्ट घोषित कर रहा है, कि सीता को अपनी स्थिति का सम्यक् ज्ञान है, इसीलिए वह 'सुभग वर' की माँग कर रही हैं। और वह 'सुभग वर' केवल रूप-रंग में ही नहीं, गुणोत्कर्ष में भी ढूँढ़ा जाता है।

कल सारे नगर की नयनाभिराम-नारियों ने फूलों के साथ जो अपने मुग्ध मन भी लुटा दिए थे, उसकी कथा क्या सीता के कानों में न पहुँची होगी? यों औरतों का न मन उतना गूढ़ होता है, न उनकी वाणी ही उतनी आत्मगत रहती है—जो अपने आमोद-प्रमोद की बातें अपने से बाहर न जाने दें। और जब कोई सामूहिक सम्महोन आ गया हो, तब तो उसकी चर्चा बिजली की चाल से चलेगी ही अपने सुकुमार समाज में। फिर सीता उस मर्म-मधुर कथा से अनभिज्ञ कैसे रह सकती थीं? तथापि वह दूर की बात थी।

इसी बीच एक नाटक हो जाता है। उसके साथ की सखियों में से :

"एक सखी सिय संगु बिहाई। गई रही देखन फुलवाई॥
तेहि दोउ बंधु बिलोके जाई। प्रेम बिबस सीता पहिं आई।"

एक सखी कुछ सैलानी थी और साथ छोड़ कर बाग में सैर करने चली गई थी। कवि की गम्भीर मुद्रा बता रही है, कि अन्तरंग होने पर भी सीता ने उसे कुछ इशारा नहीं किया था—वह अपने ही मन से बाग की शोभा में भटक गई थी।

वह लौट आई अपने समाज में, परन्तु न वह सीता के पास गई और न उसने कानों में ही कुछ कहा। उसकी दशा कुछ विचित्र-सी हो रही थी—वह पुलकित हो रही थी और उसके नयनों में आनन्दाश्रु उमड़ रहे थे।

यह देख कर दूसरी सखियाँ कुतूहल से भर गईं और पूछने लगीं :

"कहु कारनु निज हरष कर।"

उस विह्वल-सैलानी ने अपने हर्ष का कारण कहना शुरू किया :

"देखन बागु कुँअर दुइ आए। बय किसोर सब भाँति सुहाए॥
स्याम गौर किमि कहौं बखानी। गिरा अनयन नयन बिनु बानी॥"

श्याम और गौर-वर्ण वाले दो राजकुमार बाग देखने आए हैं—जिनकी शोभा का वर्णन वह किस प्रकार करे ? क्योंकि शोभा तो देखी थी उसके चकित नेत्रों ने—जो गूँगे हैं, कुछ कह नहीं सकते थे, और अगर उनकी ओर से वर्णन करने का प्रयत्न हुआ, तो उसके सहायता के लिए तैयार होगी उसकी वाणी जो अन्धी है—जिसने वह शोभा देखी नहीं थी। अब यथातथ्य वर्णन हो तो कैसे ? चश्म-दीद गवाह बोल नहीं सकता और जो बोलता है, उसने देखा ही नहीं—कितना मर्म-हारी कथन है यह ! उसकी यह असमर्थता ही कितनी समर्थ बन जाती है और कितनी सफाई एवं गहराई से उसके अन्तर की हलचल को खोल देती है।

यहाँ कवि का कौशल कितना अनोखा हो गया है।

"सुनि हरषी सब सखीं सयानी। सिय हियँ अति उतकंठा जानी॥"

उसकी बातें सुन कर सब सखियाँ हर्षित हुईं। उनके हर्ष का कारण कुछ दूसरा था : वे 'सयानी' थीं—बहुत-कुछ जान चुकी थीं। उन्होंने सीता की उत्कण्ठा भाँप ली—ओह, सीता उन्हें देखना चाहती हैं !

सीता की उत्कण्ठा उनके 'पूर्वानुराग' की सूचना देती है। अब तक जिनका गुण-श्रवण वह कर रही थी, वह उसी के बाग में, पास ही कहीं हैं—फिर वह उत्कण्ठित क्यों न हो जातीं ?

सीता की उमड़ती उत्कण्ठा का समर्थन-संवर्धन-सी करती उसकी एक मर्मज्ञ सखी बोल उठी :

"एक कहइ नृपसुत तेइ आली। सुने जे मुनि संग आए काली॥
जिन्ह निज रूप मोहनी डारी। कीन्हें स्वबस नगर नर नारी॥
बरनत छबि जहँ-तहँ सब लोगू। अवसि देखिअहिं देखन जोगू॥"

अवश्य वे वही राजकुमार होंगे—जो मुनि के साथ कल आये थे और जिनकी सुन्दरता का जादू ऐसा जबर्दस्त है, कि नगर के सभी नर-नारी वशीभूत हो गए हैं और जिसकी चर्चा नगर भर में हो रही है। तो फिर क्यों न उन्हें देख लिया जाय—जब इसी बाग में घूम रहे हैं हमारे इतने पास ?

उसका यह प्रस्ताव सीता को बहुत भाया। वह बोली तो कुछ नहीं, परन्तु :

"दरस लागि लोचन अकुलाने।"

यहाँ सामान्य शब्द मैत्री और साधारण भाव 'ललचाने' की माँग करते हैं, पर 'अकुलाने' कहकर कवि उस निगूढ़ भाव की रक्षा बड़ी सावधानी से करता है; क्योंकि वह 'मानस' का मर्मज्ञ है। 'ललचाने' में 'छिछलापन' छलकता है, पर 'अकुलाने' गम्भीर व्यथा की घोषणा करता है।

उनके दर्शनों के लिए सीता के ढुलमुल नेत्र विकल हो उठे और वह एक राजकुलोचित दृढ़ संकल्प के साथ :

है। उन्हें संकोच हो या न हो, पर पलकों पर रहने वाले निमिमहाराज (जो जनक के पूर्वज थे) संकोच से भाग खड़े हुए, क्योंकि अपने कुल की लाड़ली का यह प्रेम-प्रसंग अपनी आँखों वह कैसे देखते ? और जब निमि ही न रहे, तब पलकें झुकें कैसे ?

यहाँ कवि की सघन-अनुभूति में विश्वात्मा विराट्-विभु छिप गए—कदाचित् निमि के साथ वह भी नौ-दो-ग्यारह बन गए। और, बिना उस अलौकिक रंग के राम यहाँ कितने आकर्षक एवं ममत्व-मधुर दीख रहे हैं !

काश, कवि सर्वत्र ऐसा ही आत्म-विस्मृत दीखता।

कवि मुक्त कंठ से सूचित करता है, कि उसके रामने :

"देखि सीय सोभा सुखु पावा। हृदयँ सराहत बचनु न आवा॥"

सीता की शोभा देखी, सुख पाया, हृदय में उसकी सराहना की, लेकिन वे मौन रह गए—प्रशंसा के शब्द उनके मुँह से न निकले। इसका कारण भी कवि जान गया—उसने अपने अन्तर्यामी प्रभु का अन्तर भी देख लिया। जैसे राम मन ही मन सोच रहे हों :

"जनु बिरंचि सब निज निपुनाई। बिरचि बिस्व कहँ प्रगटि देखाई॥
सुन्दरता कहँ सुन्दर करई। छबि गृह दीप सिखा जनु बरई॥"

मानो ब्रह्मा ने अपनी सारी निपुणता—सारी सृष्टि-कला इसी एक रचना में प्रत्यक्ष करके संसार को दिखा दी हो। कवि के विश्व-विमोहक राम स्वयं ऐसे मुग्ध हैं उस अपरूप रूप पर कि, मन ही मन उत्प्रेक्षा ढूँढ़ने लग जाते हैं। विवश जो थे वह, क्योंकि सामने जो सुन्दर स्वरूप खड़ा था, वह तो :

"सुन्दरता कहुँ सुंदर करई। छबि गृह दीप सिखा जनु बरई॥"

सौन्दर्य को भी सुन्दर बना रहा था—शोभा को भी शोभित कर रहा था : जैसे चित्रशाला में दीपक की लौ जल रही हो—सृष्टि की सारी सुन्दरता मानो उसी के प्रकाश में प्रदीप्त हो उठी हो।

कवि से उसके जगनियन्ता-नायक की असमर्थता भी छिपी नहीं रहती है—उसके विश्वात्मा राम जैसे विवश बन कर पूछ रहे हों :

"सब उपमा कबि रहे जुठारी। केहि पटतरौं बिदेह कुमारी॥"

सीता के इस सौन्दर्य की समता वह किस चीज से करें ? तुलना के लायक सभी पदार्थों को तो कवियों ने अपनी जीभ पर रख लिया है—उपमान-उपमेय के द्वारा, प्रस्तुत-अप्रस्तुत के द्वारा-सभी को जूठा बना दिया है। फिर विदेह-कुमारी के लिए—विशेष देह वाली सीता की उस अनूठी शोभा की तुलना के लिए—तो कोई अनूठी उपमा ही चाहिए, जो अब तक कवियों के द्वारा प्रयुक्त न हुई हो—ऐसी उपमा कहाँ से लाई जाय ?

तुलसी के राम को कोई उपमा मिले या न मिले, पर राम के कवि को तो वह अनूठी 'उत्प्रेक्षा' मिल ही गई जिसमें जाने कैसी अनूठी उपमा समाई हुई है :

"सुंदरता कहुँ सुंदर करई । छबि गृह दीप सिखा जनु बरई ॥"

धन्य कवि तुलसी ! तुम्हारी यह अनूठी उक्ति रस-सृष्टि के अलंकार-आगार में सचमुच दीप-शिखा की भाँति जलती रहेगी और रस-मर्मज्ञ इस पर, जानें कब तक, सिर धुनते रह जाएँगे ।

कवि का नायक, 'विश्वात्मा-विभु' के साथ-साथ, 'मर्यादा-पुरुषोत्तम' की उपाधि भी रखता है । इसलिए मानसिक रस-भोग में भी वह एकान्त स्वार्थी नहीं रह सकता है :

"सिय सोभा हियँ बरनि प्रभु आपनि दसा बिचारि ।
बोले सुचि मन अनुज सन बचन समय अनुहारि ॥"

राम ने निश्छल मन से अपने सारे अन्तर्द्वन्द्व को सीता के परिचय के साथ, उसकी रूप-राशि पर अपने ढुलमुल मन की दशा को, अपने कुल-गौरव की प्रशंसा का पुल बाँधते हुए, अन्तरंग भाई के सामने, सब-कुछ खोलकर रख दिया । तुलसी के राम रघु-कुल में पैदा हुए थे और उनका दृढ़ विश्वास था कि उस कुल के लोगों का मन कभी कुमार्ग पर पाँव नहीं रखता ।

सबसे बड़ी बात तो यह है, कि उन्हें :

"मोहि अतिसय प्रतीति मन केरी । जेहिं सपनेहुँ परनारि न हेरी ॥"

अपने मन के ऊपर अत्यधिक भरोसा है—जिसने पराई-स्त्री के ऊपर कभी नजर नहीं डाली है । और उनका वही विश्वासी मन सीता के सौन्दर्य पर आज यों ढुलमुल हो रहा है !···

हाय राम ! आखिर आप भी तो 'मनु' की ही सन्तान ठहरे—खूब सिर धुन लीजिए मन की मनस्विता पर । आपका यह संयत गुण-गायक कवि क्या कम पड़ा था उस फेर में ? पूछ लीजिए न उससे उसकी अनुपमा 'रत्नावली' की भूली कथा । क्या आपके नेत्रों से वह उसी रूप-सुधा का स्वाद नहीं ले रहा है ?···

यों कवि का मनस्वी नायक, मन की विचित्रता पर अनुज से बातें करता जाता है, साथ ही सद्यः-प्रशंसित उसका मन बे-हाथ हो रहा है !

कवि अकुण्ठित भाव से कहता है :

"करत बतकही अनुज सन, मन सियरूप लुभान ।
मुख सरोज मकरन्द छबि, करइ मधुप इव पान ॥"

बात तो वह अपने भाई के साथ कर रहा था, किन्तु उसका मन-मधुप, दूर पर खड़ी सीता के मुख-कमल का मकरन्द मुग्ध-भाव से पी कर छक रहा था ।

यहाँ मन को 'भ्रमर' का रूप देकर मर्यादा-प्रिय कवि राम के लुब्ध नयनों को पर्दे में डाल देता है। रसज्ञ-पाठक उसके इस विफल-प्रयत्न पर विहँस देता है—'हाय, कवि! तुम कब तक अपने 'मर्यादा-पुरुषोत्तम' की रक्षा करते रहोगे? भूल कर भी तुम यह नहीं भूल रहे हो, कि तुम्हारा वह दर्प-दीप्त नायक नर-वेश में है, वह मनु-पुत्र मानव है, यौवन के उल्लास से उत्फुल्ल है, और देख रहा है दूर से अपनी पुरातन प्रेमिका को—जो दूर पर उसे ही ढूँढ़ रही थी। कवि, तुम भी कभी अपनी प्राणोपमा 'रत्नावली' को क्या इसी लुब्ध-दृष्टि से पहचानने का प्रयत्न नहीं कर रहे थे—अपने यौवन के उद्दाम-उपवन में?

कवि ने 'बतकही' और 'लुभान' ऐसे सरल और ठेठ शब्दों का प्रयोग कर जो मर्म-व्यंजना भर दी है प्रेम के उस मनोरम दृश्य में—वह देखते ही बनती है। कवि की अनुभूति सचमुच यहाँ निर्बन्ध होकर उमड़ पड़ी है—जिसकी चंचल जल-राशि में नायक, नायिका और कवि—सभी अनावश्यक ऊपरी आवरण उतारकर निरे निश्छल नर-नारी नजर आ रहे हैं।

नर-नारी—हाँ, निखालिस नर-नारी—विशुद्ध रागारुण तरुण-तरुणी। उत्पल कितना भी उत्फुल्ल हो, उसका मधुरस कितना भी मीठा हो, पर उसका प्रेमी भ्रमर भी उस पर अधिक देर तक बैठा नहीं रह सकता है—उसे उड़ना ही पड़ता है!

यों ही राम का मन 'मधुप' से चाहे जितनी भी होड़ कर रहा हो, था तो वह मर्यादा-प्रिय संयत राम का मन। बल-पूर्वक उसे खींच कर—काबू में लाकर—गर्वीले राम आगे बढ़ गए लता-वितान से भरे कुंज-पुंज में।

उधर :

"चितवति चकित चहूँ दिसि सीता। कहँ गए नृप किसोर मनु चींता॥"

यहाँ "च" में उलझा वृत्यनुप्रास सीता के चकित-नयनों की चंचलता को भी अपनी आवृत्ति में उलझता दीख रहा है। उनके मन में चिन्ता हो उठी—'कहाँ चले गए वे राजकुमार?' कवि की प्रतिभा पुलकित हो उठती है चकित चितवन के उस चतुर्दिक् अवलोकन पर और अपने उज्ज्वल उत्प्रेक्षण के बल पर वह भूतल और नभतल को एक अद्भुत समाँ में बाँध देती है।

कैसी अनूठी है वह उत्प्रेक्षा :

"जहँ बिलोक मृग-सावक नैनी। जनु तहँ बरिस कमल सित स्रेनी॥"

सीता के नयन मृग-छौने के नुकीले नेत्र के समान तो हैं ही, लेकिन उनका विस्मय-विमुग्ध अवलोकन ऐसा अद्भुत है—मानों श्वेत कमल की श्रेणियाँ ही बरस रही हों।

यहाँ उज्ज्वल उत्पल सीता के उत्फुल्ल नेत्रों की सात्त्विकता के साथ स्पर्द्धा करने आ गए हैं जिनका रागारुण अभी गाढ़ा नहीं हुआ है : और दो निर्मल नयनों का

चारों ओर चकित होकर घूमना राजीव की पंक्ति-बद्ध राशियों को सामने सजा देता है।

भूतल के अंक में अवस्थित निर्मल सरसी में खिले धवल कमल और नभतल से बरसती उनकी रम्य-राशियाँ कवि का उत्प्रेक्षण-कल्पना के बल पर धरती से उठ कर आकाश को छूने का प्रयत्न अनूठा है।

साधु कवि, तुम्हारी ही दत्त-दृष्टि ऐसा दिव्य दृश्य दिखा सकती है। अरुण-शिखा-स्नात सीता की झिल-मिल वयः-सन्धिका और उनके अमल अन्तर में हठात् उठे आकुल अनुराग का कैसा मनोरम चित्र खींच रहा है बाहर से भूला और भीतर से ऊला तुलसी का यह उल्लास !

किन्तु जो अपने छोटे भाई से अपने मन की गुप्त बात कह चुका था :

"जासु बिलोकि अलौकिक सोभा। सहज पुनीत मोर मन छोभा॥"

—वह आखिर जाता कहाँ ? कहीं वहीं चक्कर काट रहा था मन्त्रित-कील की परिधि पर। गुरुत्वाकर्षण से बेचैन बनी सयानी सखियों ने, इधर-उधर दौड़-धूप करके, उसे खोज लिया और आकर सीता को चुपचाप लखा दिया :

"लता ओट तब सखिन्ह लखाए। स्यामल गौर किसोर सुहाए॥"

—देखो, उधर—लतान्तराल में कौन दीख रहा है ?

जैसे राम ने लतान्तराल से, सीता के अनजान में ही, उसके मुख-चन्द्र का सुधा-पान किया था, सखियों की सावधानी से, सीता को भी वही सुयोग प्राप्त हो गया—राम के अनजान में ही उनके प्रेमोन्मुख सहज सौन्दर्य की रस-माधुरी उन्होंने निर्द्वन्द्व भाव से पी ली।

लेकिन सत्कुलीन सीता का वह रस-पान, राह-चलते किसी अनजान आदमी के साथ लोचन लड़-जाने का परिणाम नहीं था—जिसका पूर्वापर कोई सम्बन्ध-सूत्र खोजा नहीं जा सकता है। वह तो :

"देखि रूप लोचन ललचाने। हरषे जनु निज निधि पहिचाने॥"

साधना-सम्भूत स्नेह-संपदा की अधिकृत-पहचान थी—जिसके लिए सीता सुकुमारी के भोले लोचन चिर-काल से तरसते आ रहे थे। उन नेत्रों ने राम को क्या देखा—अपनी चिर-संचित नीधि को ही पहचान लिया और वे उल्लास से उछल पड़े—"अरे, ये ही तो 'निज अनुरूप सुभग वर' हैं !"

जन्म-जन्मान्तर से चले आते पति-पत्नी के शाश्वत-प्रेम का सहसा ऐसा ही सम्बन्ध जुड़ जाता है अनपेक्षित प्रथम-दर्शन में—जैसे बहुत दिन का भूला-भटका 'अपना' भीड़ में एकाएक दिख जाए !

प्रेमदेव प्रायः नेत्रों द्वारा ही हृदय-मन्दिर में प्रवेश किया करते हैं। उसके लिए प्रेरणा, पथ-प्रदर्शन और द्वारोद्घाटन का काम प्रकृति अवश्य कर देती है—जो कभी

कुछ नहीं भूलती है। सौन्दर्य प्रकृति का ही वह वरदान है जिसके फन्दे में फँस कर नेत्र सुलझना नहीं जानते ! विश्वास न होता हो, तो देख ही लिया जाय—प्रमाण में सीता के नेत्र सामने खड़े हैं :

"थके नयन रघुपति छबि देखे। पलकन्हि हूँ परिहरीं निमेषें ॥"

रस पीकर उड़ा जा सकता है। पर रस में पड़ कर—लथपथ हो जाने पर, तो निष्पन्द ही हो जाना पड़ता है। सीता के नयन राम के सौन्दर्य-रस-पान से ऐसे आत्म-विस्मृत हो गये, कि वे अपने पुलकित पलक पंखों को समेटना भी भूल गए—नयन खुले-के-खुले रह गए !

राम के नेत्रों की भी यह दशा हुई थी—जब 'निमि' लजाकर भाग खड़े हुए थे दृगंचल से।

जल और उसकी वीचि-विभा की हालत एक-सी दीख पड़ती है।

"अधिक सनेहँ देह भई भोरी। सरद ससिहिं जनु चितव चकोरी ॥"

वहाँ भी सीता का मुख चन्द्र बन गया था और यहाँ सीता स्वयं चकोरी हो रही हैं।

स्नेह का समागम ऐसा ही 'सम' हुआ करता है प्राकृतिक आश्रय और आलम्बन के हृदयों में। ध्वनि हो और उससे प्रतिध्वनि न निकले—असंभव है !

सीता सन्नारी थीं—निर्लज्ज-सी कबतक निर्निमेष निरखती रहतीं वह शोभा ?

अतः

"लोचन मग रामहि उर आनी। दीन्हे पलक कपाट सयानी ॥"

नयनों की राह राम को हृदय में ले आकर सयानी ने पलक-कपाट लगा दिए—किवाड़ के दोनों पल्ले अच्छी तरह भिड़ा दिए।

सीता सयानी थीं, इसलिए पलक बन्द करके राम-रूप का ध्यान करने लगीं। अब संकोच और स्नेह दोनों की रक्षा हो गई—टकटकी लगा कर देखने में जो संकोच था, वह भी दूर हो गया और हृदय में बैठे प्रिय का रूप भी सुस्थिरता से देखने को मिल गया। सयानपन इसे ही तो कहा जाता है। इसी दर्शन को सहज समाधि की संज्ञा मिलती है—अनन्त सौन्दर्य का अनन्त काल तक सुस्थिर सुधा-पान !

कंबन का चित्रांकन[1]

यहाँ द्रविड़-देश के तमिल-महाकवि 'कंबन' की रामायण से भी प्रथम दर्शन की कुछ झाँकी-झलक ले ली जाए, तो चित्रण का तुलनात्मक 'रस' भी आस्वाद्य हो।

"यज्ञ-रक्षा का कार्य सम्पन्न हो जाने पर मर्मज्ञ-मुनि कौशिक ने मन ही मन राम-लक्ष्मण को मिथिला ले जाने का निश्चय किया—जिससे राजा जनक के धनुष-यज्ञ में भी उनका शौर्य-वीर्य प्रदर्शित हो और राम वीर्य-शुल्क चुका कर सीता को प्राप्त करें।

उधर मुग्ध-मिथिला की आत्मा ही जैसे उसकी पुलकित पुकार मचा रही हो :

"मैंने अहर्निश जिसकी आराधना की थी, वही सुदीप्त शिखा-मणि पद्मजा लक्ष्मी, प्रसन्न होकर, आ गई हैं हमारे आम्र-कानन-कुंज में। आओ, हे दयालु देव, उस शुचितात्मा के दर्शनों से तृप्त होओ और उसे अपने प्रेम-पाश में बाँध कर लोक-जीवन को कृतार्थ करो।"

और अटा-अटारियों पर उड़ती पताकाएँ ऐसी प्रतीत हो रही थीं—जैसे दशरथ-दुलारे के स्वागत में उन (लक्ष्मी) की भुजाएँ फैली हुई हों।

कौशली कौशिक-मुनि राम और लक्ष्मण को ठीक उसी रास्ते ले गए—जहाँ कुसुम-कुंज वाला सीता का सौध बना हुआ था। संयोग भी ऐसा था कि सखी-सहेलियों से घिरी जनक-नन्दिनी उस समय अटारी के ऊपरी भाग में खड़ी थीं।

विश्वामित्र ने सोल्लास देखा, कि राम की दृष्टि उस ओर उठी और फिर वहीं अटक गई—जैसे देखने के लिए अब कुछ शेष न रह गया हो।

सौन्दर्य से अभिभूत विस्मय-विस्फारित मुग्ध और मूढ़ बने राम को देखकर 'कवि-कंबन' का कहना है :

"वसन्त-विभा की मधुरिमा-सदृश मधुर-मुख पर—जिसमें नील नयन की नीलिमा और वन-प्रान्तर की स्वर्णिम-सुषमा आँख-मिचौनी खेलती हो, जिसमें सहस्र-सहस्र सुमनों की सुरभि भीन रही हो, और जिसमें संगीत-मुखरा स्रोतस्विनी एवं कल-कूजिता कोकिला की स्मृति झिलमिलाती हो—उस मुखपर जिसकी दृष्टि एक बार पड़ गई, उसका हृदय मुग्ध हुए बगैर कैसे रह सकता है ?"

कवि उस अनिर्वचनीय एवं अपार सौन्दर्य-राशि की रमणीयता को देखकर स्तब्ध-सा हो जाता है—उसकी प्रतिभा के मृदुल पंख लथ-पथ हो जाते हैं और वह कुछ कुण्ठित-सा होकर कहने लगता है :

"संसार की किस वस्तु से उस रूप-माधुरी की तुलना की जाए ? क्योंकि सभी

---

१. इस चित्रांकन के लिए लेखक स्व० श्री वी० वी० एस० ऐयर का आभारी है।

सुन्दरता की कसौटी तो वही अप्रतिम रूप है। उस स्वर्गीय-सुधा के पान में मानवों की क्या बात—देव-दृष्टि भी असमर्थ हो जाती है। जिस प्रकार क्षीर-सिन्धु को मथकर अमृत निकाल लेने के पश्चात् वह और कुछ (अमृत से उत्तम) मधुर देने में असमर्थ हो जाता है, उसी प्रकार विरंचि-देव ने जब सीता का सृजन कर लिया, तब उससे और सुन्दर वह क्या बनाता? उसने तो जैसे सृजन-कला में सम्पूर्णता ही प्राप्त कर ली।"

सीता सहज भाव से खड़ी थीं अपने सौध-शिखर पर—जैसे रश्मियों की रानी ही खड़ी हो—जिसे देख पाषाण भी प्रेम से पिघल जाता। और सौन्दर्य का देवता भी अगर उस रूप-राशि का स्पर्श करता, तो वह भी एक अनूठी प्रियता प्राप्त कर लेता।

यों जब वह विद्युत्-वल्लरी शान्त खड़ी थी, कि नयन से नयन मिल गए और एक-दूसरे में ऐसे अन्तर्मुक्त हो गए—जैसे एक-दूसरे को निगल ही गए हों।[1]

विश्व-विमोहिनी सीता ने जब राम को देखा, तो—जैसे नुकीले भालों की जोड़ी ही प्रशस्त स्कन्ध वाले रमणीय राम के विशाल वक्ष में घुस गई। बदले में राम के राजीव नेत्रों ने सुकुमारी के कलेजे को भेद दिया। दोनों एक-दूसरे के दृग-जाल में उलझ गए। फिर दोनों सायुध योद्धा दर्प-दीप्त-से एक-दूसरे की ओर झुके—उनमें एक अगर दुर्धर्ष धनुर्धर था, तो दूसरी अनियारी आँखोंवाली असि-संचालन में अद्वितीया थी।

यों सौन्दर्य-सुधा-रस पान करने वाले नयनों के जाल में उलझ कर दोनों बारी-बारी से एक-दूसरे के अन्तरतम में प्रविष्ट हो गए।

वलय-वलयित विदेहकुमारी प्रतिमा-सदृश खड़ी थी और उसका हृदय, उसका सौन्दर्य एवं उसकी स्पृहा, मुनि के साथ जाते हुए राम का अनुगमन कर रही थी। देखते-देखते राम आँखों के ओझल हो गए और वैदेही सचमुच 'विदेह' बनी खड़ी रह गई अपनी अटारी पर।"

यहाँ मर्मज्ञ एवं रसज्ञ पाठक तुलसी की 'पुष्प-वाटिका' की दृश्यावली को सामने रख कर कंबन के चित्रण के साथ उसकी तुलना करें तो रस-मग्न हो जाएँगे। दोनों दृश्य उन्हें परम लुभावने दीख पड़ेंगे।

"चातक कोकिल कीर चकोरा।"

से उत्कंठित हो लें।

---

१. कंबन-कृत यह नयन-मिलन तमिल-साहित्य के सुरसिकों में परम आह्लादकारी माना जाता है। मूल का अधिकृत अंगरेजी अनुवाद यहाँ स्पृहणीय होगा :

So stood that maiden of rare loveliness
And eye caught eye and each the other ate,
As quiet they stood, minds into one were fused,
The hero looked at her and Sita looked at him."

—'Kamban Ramayanam—A study.'
(See page 311)

तो आएँ :

"चहुँ दिसि चितइ पूँछि मालीगन।"

पर हम थोड़ी देर अकचका लें और :

"तेहि अवसर सीता तहँ आई।"

के दिव्यदर्शन से अपनी दृष्टि धो लें।

"संग सखी सब सुभग सयानी। गावहिं गीत मनोहर बानी॥"

के बीच हम भी थोड़ा पुलकित हो लें।

"सर समीप गिरिजा गृह सोहा।"

की शुचिता में डूब, मुदित-मन, मन्दिर में प्रवेश करें।

पुनः

"पूजा कीन्ह सहित अनुरागा।"

के मंजु-कुंज में हम भी कुछ ध्यान-मग्न हो जाएँ।

"स्याम गौर किमि कहौं बखानी॥"

सुनकर विस्मय-विमुग्ध होते :

"अवसि देखिअहि देखन जोगू।"

का समर्थन कर हम भी उन्हें देखने चल दें।

फिर :

"कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि।"

पर राम और लक्ष्मण के साथ हम भी हो जाएँ।

और :

"सिय मुख ससि भए नयन चकोरा।"

के दुर्लभ दर्शन से कृतार्थ होते पुनः लौट आएँ वहाँ—जहाँ :

"सुन्दरता कहँ सुन्दर करई।"

खड़ी हैं सुषमा, शुचिता और सुकुमारता की रानी।

"चितवति चकित चहूँ दिसि सीता।"

का अनुसरण करते हम वहाँ पहुँच आएँगे—जहाँ :

"थके नयन रघुपति छबि देखी।"

राम के रूप को देखकर सीता के नयन उसी प्रकार सुध-बुध भूल गए हैं—

जैसे :

"सरद ससिहिं जनु चितव चकोरी।"

अन्त में :

"लोचन मग रामहिं उर आनी।"

सीता के सदृश हम भी अपने पलक-कपाट लगा देंगे।

'तुलसी' के ये चल-चित्र रसज्ञों को सौकुमार्य के शुचि-सागर में मन्थर-गति से तैरते जान पड़ेंगे—जहाँ एकान्त, मनोरम मनोविलास, संकोच का अवगुण्ठन डाले, अनुपम सुषमा और मुग्ध-मधुरिमा की ज्योत्स्ना में पुलक-हिल्लोल पर डोल रहा है।

उधर राज्याश्रित कवि-कुल-भूषण 'कंबन' का राजकुलोचित अद्‌भुत सौन्दर्य-संग्राम, उनका शस्त्र-संचालन और उनके चपल-चक्षुओं की अन्तर्बुभुक्षा :

"And eye caught eye and each the other ate."

—पर मुग्ध होते प्रतिमा-स्वरूप खड़ी वैदेही की सुन्दरता, स्पृहा और उसके स्नेह-स्निग्ध हृदय के साथ वे भी कौशिक के पीछे-पीछे जाते हुए 'राम' का अनुगमन करने लग जाएँगे।

एक में उन्हें केवल श्रद्धा-संकुल अन्तर्मन की सुकुमारता दीख पड़ेगी—जहाँ संकोचशीला भक्ति-बाला, अपने अनुपम सौन्दर्य से अनजान, एकान्त चन्द्र-ज्योत्स्ना में मन्द-मन्द विचरण कर रही है। दूसरी ओर कला-कौशल के आचार्य के दर्प-दीप्त नेत्रों से निर्झर-सी निःसृत और प्रतिपल प्रचण्ड होती अलंकाराकुल सौन्दर्य-सरिता में, मोद-मद से अवगाहन करते, पाठक कवि की पौरुष-प्रदीप्त प्रतिभा, उसकी सजी-धजी बंकिम कला, तड़क-भड़क वाली उसकी कोमल-कठोर कल्पना के कल-कोलाहल से पुलकित, उद्वेलित, चकित तथा विस्मित रह जाएँगे।

वस्तुतः काव्य की आत्मा रस-भूयिष्ठ होती है : और 'रस' आनन्द-मूल माना गया है। इससे यह अनायास 'ब्रह्म' के पूज्य-पद पर आसीन बन जाता है और फिर—'रसो वै सः' तथा—'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्'—एक-दूसरे का पर्याय बन जाते हैं।

सच तो यह है कि रस लचीली जीभ से लिपट कर ही अनुभूत होता है—वह चाहे 'षडरस' हो या 'नवरस'। उसका भेद-भाव ऊपरी तल पर ही उछल-कूद मचाता है—रंगमंच से उतर, गले में घुसते ही, उसका चरम लक्ष्य 'एक' हो जाता है—तल-स्पर्शी तृषित या आकण्ठ आप्लुत आनन्द की उपलब्धि।

सभी रसों के अन्तराल में 'आनन्द' ही अचल आसन जमाए दीख पड़ता है। बतख के बेडौल अण्डे के समान बंगाल के गोल-गोल रस-मान स्पंज 'रसगुल्ले', तमिल-नाड का तरल, तीखा उफनता क्षुधा-वर्धक 'रसम', महाराष्ट्र का मद-मोद-पूर्ण लसीला

'श्रीखण्ड'—आदि हमारे नेत्र तथा मुख के मंच पर ही अपनी विविधता का क्षण-स्थायी प्रदर्शन करते हैं। जहाँ कण्ठ-कूप में पड़े, कि सबसे एक ही डकार निकली—'वाह : वाह !'

यों ही सीता-राम के उपर्युक्त चित्रण से कोई 'तुलसी' के लिए तरसेगा, तो कोई कंबन के लिए कोलाहल करेगा; पर रस-मर्मज्ञ तो दोनों चित्रणों पर सम-भाव से यह कहते झूम उठेंगे :

"को बड़ छोट कहत अपराधू। सुनि गुन भेदु समुझिहिं साधू॥"

काव्य-कानन के 'साधु' कोई 'रसज्ञ' ही गुण-भेद को समझ सकते हैं। अल्पमति पाठक तो इतना ही ग्रहण कर सकता है :

कंबन और तुलसी दोनों साधनाशील साधु हैं, दोनों राम-भक्त हैं, और दोनों जन्म-जात महाकवि हैं। किन्तु यह स्पष्ट है, कि कंबन की भक्ति-भावना उनके कवित्व के 'संभार' से कुछ दबी-सी जान पड़ती है। ठीक इसके विपरीत, तुलसी का कवित्व उसकी उमड़ती भक्ति-भावना के 'अतिरेक' से कहीं-कहीं कुण्ठित हो गया है।

इस वैषम्य में काव्य-स्रष्टा के देश-काल, समाज-शासन, साधन-साधना और उसकी अपनी रुचि-प्रकृति का भी हाथ दीख रहा है।

हम साफ देख रहे हैं, कि उक्त-चित्रण में कंबन की सीता, तुलसी की सीता की अपेक्षा, अधिक स्वस्थ, स्वच्छन्द, सशक्त और सुदक्ष है; क्योंकि उसके कवि का दक्षिण-भारत, नारी के प्रति, तुलसी के उत्तरप्रदेश की अपेक्षा, अधिक उदार दृष्टि-कोण रखता आया है। दक्षिणी समाज में 'नारी' न नर की मनोरंजक-मंजूषा होती है, न वह उसकी क्रीड़ा-व्रीड़ा तथा संकोच-शर्म की बे-सम्हाल गठरी ही बनती है, न वह घूँघट काढ़कर लाज से गड़ती-गाड़ती है और न पालतू पशु-पक्षियों के समान सुरक्षित पिंजड़े में बन्द होकर चुगने-चहकने की ही वह आदी होती है। लजौनी लता की तरह छुई-मुई और आँख-मिचौनी के खेल खेलना भी वह नहीं जानती है। अपने सामान्य जीवन-क्रम में चटक-मटक, लोच-लचक, हाव-भाव, लाड़-प्यार, छोह-मोह, नाक-भौंह, पलक-पुतली आदि की बंकिम भंगिमाओं का अभिनय करने का भी अभ्यास उसका नहीं देखा जाता है। सबमें एक संयत मर्यादा उसे परिचालित रखती है।

भक्ति-भावना का जन्म यद्यपि 'दक्षिण' में ही हुआ, पर 'उत्तर' में आकर ही भक्ति-बाला यौवन के श्री-सौरभ से उमड़ी। स्वामी रामानन्द के शिष्य माने जाने वाले महात्मा कबीरदास ने भी इसकी साक्षी दी है :

"भक्ति द्राविड़ ऊपजी, लाए रामानन्द।"

कंबन की भक्ति-भावना उसी शैशव की झलक दिखाती है, क्योंकि दोनों में सैकड़ों साल का अन्तर है। तुलसी के समय में आकर, उत्तरभारत में, राम-भक्ति में अग-जग-व्यापी प्लावन-सा आ गया था।

दोनों की रुचि-प्रकृति भी अपनी विशेषता दिखा रही है। कंबन ने दृढ़ता से 'आदिकवि' को अपना आदर्श आधार बनाया था, किन्तु तुलसी ने 'स्वान्तः सुखाय' को ही अपना 'आदर्श' माना था।

दोनों की परिस्थिति भी पृथक्-पृथक् पुकार रही थी। एक के सामने राज-समाज का गरिमा-गौरव भीड़ लगाए खड़ा था तो दूसरा साधना की शून्य-गुहा में बैठ कर आत्म-मन्थन में डूब रहा था। एक ने कवि-सम्मेलन के समारोह में बैठकर अपनी रामायण का सस्वर पाठ किया और तब सुधी-समुदाय द्वारा समादृत होकर 'कवि-चक्रवर्ती' की उल्लासमयी उपाधि प्राप्त की थी, तो दूसरे के 'मानस' के ऊपर, अपने निर्जन-निलय में बन्द होकर बाबा विश्वनाथ ने निशीथ की निश्चिन्त नीरवता में, तुलनात्मक दृष्टि से खूब सोच-समझ कर, हस्ताक्षर कर दिया था।

इन्हीं विचित्र परिस्थितियों में पड़ कर कंबन की स्वर्ण-प्रतिमा-सी खड़ी सौन्दर्य की स्वस्थ-यष्टिका सीता, विश्वामित्र के साथ चलते हुए राम को देखकर, जब सहसा प्रेम-मग्न हो जाती है, तब अपन सहजास्त्र सम्हाल कर वह एक अद्‌भुत वीरोल्लास की मर्यादा का प्रदर्शन कर देती है और, बगैर आगे-पीछे देखे, रण-भूमि में उतर पड़ती है।

पुरातन प्रेमियों का वह 'संग्राम' कैसा अनूठा होता है, उसे पाठक देख चुके हैं। चतुर अहेरी की तरह, उनके क्षुधार्त नेत्र, हठात् अपने शिकार को लक्ष्य कर लेते हैं, देख कर चौंकते-चकित होते हैं, और फिर मस्त होकर अनोखे जोश-खरोश के साथ जूझने लग जाते हैं। लड़ते-भिड़ते परस्पर गुँथ जाते हैं, और पल मारते, एक-दूसरे को निगल जाते हैं—आत्मसात् कर लेते हैं।

पाठक चमत्कृत न हों, जरा मुड़ कर वह पंक्ति पुनः याद कर लें—

"And eye caught eye and each the other ate".

मानस-स्रष्टा तुलसी एकान्त-सेवी एवं आत्म-निष्ठ साधक अवश्य थे, पर उनके चित्रण में उनका उत्तरवाला 'संकोचावरण' भी उनके साथ लगा डोल रहा है।

"मूरति मुसुकानी" :

लक्ष्य-सिद्धि के पथ में मानव का दृढ़ संकल्प प्रायः एकांगी होता है, पर जब वह उत्कट और तीव्र होकर, अंगद के पाँव की तरह, प्राणों में धँस जाता है, तब, पृथ्वी के प्राणी चाहे जो समझें, अन्तरिक्ष के अधिवासी उस पर अवश्य प्रसन्न हो जाते हैं।

सीता की वही दशा हुई। लतान्तराल से छन कर आते हुए सुधांशु-शीतल रूप को देख कर ही उन्होंने चकोरी की भाँति, चिर-तृप्ति-प्राप्ति के लिए अपने पलक-कपाट लगा लिए थे। उनकी यह प्रेम-परवशता साथ की सखियों पर प्रकट हो गई, मन में वे संकुचित हो गईं, पर मुँह से कुछ बोल न सकीं, क्योंकि स्थिति ही कुछ ऐसी नाजुक हो गई थी। ज्ञानी-ध्यानी, पूज्य-प्रतिष्ठित एक बड़े बाप की बेटी जब यों अपना-

पन खो रही थीं, तब उनकी अन्तरंग सखियाँ संकोच अनुभव करने के सिवा और क्या करतीं ? यहाँ सखियों के साथ उनका पारदर्शी-कवि भी कुछ संकुचित दीख रहा है :

"जब सिय-सखिन्ह प्रेम बस जानी। कहि न सकहिं कछु मन सकुचानी ॥"

लेकिन सीता का शुद्ध संकल्प उठ कर, अज्ञात रूप से, चराचर के स्वामी के प्राणों से जा टकराया और वे :

"लता भवन तें प्रकट भे तेहि अवसर दोउ भाइ।
निकसे जनु जुग बिमल बिधु जलद पटल बिलगाइ ॥"

सहसा यों प्रकट हो गए, जैसे—बादल-दल को हटा कर दो चन्द्रमा निकल पड़े हों। सीता के नेत्र बन्द थे—वे तो स्वाति-बूँद को ही मोती बनाने में लीन थीं, पर उनकी सखियाँ तो उस रूप-माधुरी पर बिक-सी रही थीं :

"चारु चिबुक नासिका कपोला। हास बिलास लेत मनु मोला ॥"

एक सखी तो राम की ओर देख कर खास संकेत करने लगी :

"सुमन समेत बाम कर दोना। साँवर कुअँर सखी सुठि लोना ॥"

वह देखो—जिसके बाएँ हाथ में फूल का दोना है, वह साँवला राजकुमार कितना सलोना है !

यों शोभा और शील की प्रसन्न राशि को सामने देख कर सीता की सखियाँ अपने आपको भूल गईं :

"बिसरा सखिन्ह अपान।"

राकेन्दु आकाश से उतर आया है, सामने खड़ा हो गया है, चराचर उस पर लुब्ध-मुग्ध है, पर आपूर्यमान सागर के मानस-पटल पर पड़े प्रतिबिम्ब के दर्शन में सीता बाहरी दुनिया से एकदम बे-खबर हैं। इस दुर्लभ सुयोग के सुवर्ण क्षण भाग रहे हैं और सखियाँ आकुल हैं, कि सीता नयन नहीं खोल रही हैं—जाने कब यह सुयोग, यह दिव्य दर्शन, आँखों से ओझल हो जाए और सीता दर्शन-लाभ से वंचित रह जाएँ। किन्तु उनका ध्यान-भंग कैसे किया जाए ? कवि ने यहाँ बड़ी स्निग्ध कोमलता से काम लिया है :

"धरि धीरज एक आलि सयानी। सीता सन बोली गहि पानी।"

सीता की एक चतुर सखी ने धीरे से उसका हाथ पकड़ा और कानों में कहा :

"बहुरि गौरि कर ध्यान करेहू। भूप किसोर देखि किन लेहू।"

सीता की वह सखी सयानी है और सौजन्य की मूर्ति है। इसलिए वह सीता की प्रेम-विवशता को गौरी का ध्यान बता रही है। गौरी तो मन्दिर में सुस्थिर हैं :

उनका ध्यान फिर सुस्थिरता से किया जा सकता है; पर यह राजकुमार तो हाथ में फूल का दोना लिए आए हैं—जाने कब चल दें। इसलिए नेत्र खोलकर पहले इन्हीं को क्यों न देख लिया जाए ?

इस संलाप में स्नेह, शिक्षा, शील, सुरुचि, समयता तथा संस्कृति की मुग्धकर छवि किस कोमलता के साथ झाँक रही है ! सीता की मुग्ध आत्मा आह्लाद के किस अद्‌भुत आलोक में उठ आई होगी—सहृदयसंवेद्य है।

हाय रे कोमल-कांत कवि ! कहाँ से पाई तुमने यह मनोज्ञ मंजुलता ? क्या 'रत्नावली' के सुख-सहाग के दिनवाली स्मृतियाँ अपनी रत्न-राजियाँ नहीं उड़ेल रही हैं यहाँ ? संकोच न करना, तपोधन ! साफ बता देना—क्या इस सुकुमार भावना-वीचियों में तुम्हारी प्रियतमा आँख-मिचौनी नहीं खेल रही है ?

सीता का ध्यान भंग हुआ :

"सकुचि सीयँ तब नयन उघारे। सनमुख दोउ रघुसिंघ निहारे॥"

ससंकोच उन्होंने नयन खोले और शोभा-सिन्धु राजकुमारों को सामने खड़े देखकर उन्हें जो आह्लाद हुआ, वह तुरत गायब हो गया; क्योंकि प्रेम उनका अपना था, उसकी गहराई में जाकर वह चाहे जितनी देर गोते लगा सकती थीं। परन्तु सखियों के बीच जो श्यामल खड़ा था, वह तो समाजिकता की स्वस्थ माँग कर रहा था। एक सत्कुलीन युवक और युवती की वह माँग तो विवाह के बल पर ही पूरी हो सकती थी : और सीता का ब्याह तो पिता के प्रेम पर निर्धारित था। इसलिए :

"नख सिख देखि राम कै सोभा। सुमिरि पिता पनु मनु अति छोभा॥"

यों मुग्धता और क्षुब्धता के बीच खोई-सी खड़ी सीता को देखकर सखियाँ सभीत और सचेत हो गईं। सीता को यों द्वन्द्व-दुविधा में देखना उन्हें न भाया और एक सखी ने धीरे से कह दिया :

"पुनि आउब एहि बेरियाँ काली। अस कहि मन बिहँसी एक आली॥"

'हम कल फिर इसी समय यहाँ आएँगे।'—यह कह कर वह सखी अपने मन में मुसकाने लगी। किन्तु कवि से उसकी मुसकान छिपी न रह सकी—कितना अन्तरंग सहचर है यह साधु-कवि अपने पात्रों का !

सखीके उस कथन में जो गूढ़ता थी, बड़ी ममता और मधुरता से बता गई कि सीता की यह खुली मुग्धता अब आवरण चाहती है—इस रंगमंच से अब उसे तुरत हट जाना चाहिए। बस, सीता सम्हल गईं :

"गूढ़ गिरा सुनि सिय सकुचानी। भयउ बिलंब मातु भय मानी॥"

माता का भय ही बेटी के लिए प्रधान होता है। माँ की आज्ञा लेकर ही तो वह आई थी और इतनी देर हो गई ! लेकिन मन तो बेहाथ हो रहा था, फिर भी उस

पर लगाम लगाना जरूरी जान पड़ा। इसलिए राम को हृदय में बिठाकर वह लौट पड़ीं, क्योंकि अपना वश तो कुछ था नहीं—उनका भाग्य-विधाता तो था पिता का प्रण—जो धनुष का रूप धारण कर कठोरता से उनकी ओर घूर रहा था।

सीता का प्रेम एकांगी तो था नहीं—राम भी उनके ऊपर उसी भाँति न्यौछावर थे। कवि ने उनके 'सम-प्रेम' का चित्रण बड़ी चातुरी से किया है। सुख, स्नेह, शोभा और गुणों की खान सीता जब वहाँ से जाने लगीं, तब मुग्ध राम ने :

"परम प्रेममय मृदु मसि कीन्हीं। चारु चित्त भीती लिखि लीन्हीं॥"

परम 'प्रेम' को मृदुल मसि बनाया और उसी के द्वारा अपने सुन्दर चित्तरूपी भित्ति (दीवार) पर उनका चित्र अंकित कर लिया।

कंबन की सीता अपने सौध पर निश्चल खड़ी रहीं और तुलसी की सीता यों चलचित्र बन गईं—तुलना पुलकित करती है!

"जानि कठिन सिवचाप बिसूरति। चली राखि उर स्यामल मूरति॥"

राजा जनक का प्रण था, कि जो वीर उनके शिव-धनुष को बाहु-बल से तोड़ेगा, उसी के साथ सीता ब्याही जाएगी। अब सीता चक्की के दो पाटों में पिसने लगीं। एक ओर उनके मन-प्राण राम पर उत्सर्ग हो गये और दूसरी ओर वह कठोर शिव-धनुष ब्याह का रास्ता रोके, पहाड़ की तरह, अडिग खड़ा हुआ था। एक सुसंस्कृत कन्या के लिए यह सम्भव तो नहीं था, कि वह अपने दुर्भाग्य के लिए पिताको कोसती, इसीलिए शिव-धनुष पर ही अपना रोष और क्षोभ उतारती, सीता वहाँ से चल पड़ीं। किन्तु वह जातीं कहाँ? घर में जाकर माँ से कुछ कहना असंगत था, क्योंकि हठी पिता के प्रण को माता की मनुहार डिगा नहीं सकती थी। फिर व्यर्थ संघर्ष का द्वार खोलकर वह अशोभन काण्ड क्यों खड़ा कर देतीं? नहीं, वह माँ से कुछ नहीं कहेंगी। किन्तु चुप भी तो नहीं रह सकतीं—प्रेम किया है, तो उसके लिए कुछ प्रयत्न भी करना होगा, और जब लौकिक माँ काम नहीं आ सकती, तो वह जगत्-जननी को ही रिझाएँगी—उसी को अपना अन्तर खोलकर दिखाएँगी। बस :

"गई भवानी भवन बहोरी। बन्दि चरन बोली कर जोरी॥"

सीता पुनः भवानी-मन्दिर में पहुँचीं और स्तुति-प्रार्थना के पश्चात् आवेदन-निवेदन सुनाने लगीं। लेकिन उन्होंने गौरी से भी सिर्फ इतना ही कहा :

"मोर मनोरथ जानहुँ नीके। बसहु सदा उर पुर सबही के॥"

जो सबके उर-पुर में रहती है, उसके सामने मुँह वह क्यों खोलती—देख न लें वह देवी, कि उसके अन्तर्गत् में कौन-सा द्वन्द्व मचा हुआ है!

अन्तर्यामिनी भवानी ने खूब गौर से सीता का हृदय देख, उसके प्रेम को पहचाना और उसकी दुविधा का रहस्य जाना—और :

"बिनय प्रेम बस भई भवानी। खसी माल मूरति मुसुकानी॥"

सीता के प्रति अनुराग से उमड़ पड़ीं गौरी देवी। उनके गले की माला गिरी और पत्थर की मूर्ति मुसकरा उठी।

सीता ने प्रसाद-स्वरूप उस माल को सिर पर चढ़ाया और साथ ही दिव्य आशीर्वचन भी सुना :

"सुनि सिय सत्य असीस हमारी। पूजहि मन कामना तुम्हारी।
नारद बचन सदा सुचि साँचा। सो बरु मिलहि जाहि मनु राचा॥"

मन में जो बस गया है, वह 'वर' तुम्हें जरूर मिलेगा और वह मन-राँचा तो तुम्हारा सहज-सुन्दर साँवला ही है न !

इस दुलार में 'नारद बाबा' कहाँ से घुस आए, 'मानस' के पाठक विस्मय से देखने लग जाते हैं। पहले भी सीता ने नारद का स्मरण किया था और अब गौरी भी उसे प्रमाणित कर रही हैं। लगता है, कवि ने कलात्मक कौशल के लिए, जान-बूझ कर, उसका चित्रण नहीं किया है। और नारद बाबा का जब यह पेशा ही है, तब पाठक उसका अध्याहार करके आश्वस्त हो ही जाएँगे।

"जानि गौरि अनुकूल सिय हिय हरषु न जाइ कहि।
मंजुल मंगल मूल बाम अंग फरकन लगे॥"

गौरी को अनुकूल करने में ही तो सीता ने अपनी कृतार्थता समझी थी; क्योंकि उनके मार्ग में शिव का धनुष ही तो अड़ा हुआ था, और जब भवानी अनुकूल हुईं, तब क्या शिव-धनुष उससे कुछ संकेत न ले सकेगा ? बड़े अफसरों को खुश करने के लिए सयाने लोग तो, उनकी मेम साहबा को कौन कहे, उनके प्यारे पिल्ले को भी पुचकारने लग जाते हैं !

मूर्ति मुसकुराई भी थी। कदाचित् गौरी को सती वाला अपना वह अशोभन अभिनय याद आ गया होगा। उसी 'साँवले' के सामने तो वह भी एक दिन निर्लज्ज होकर, सीता के नकली वेष में, जा खड़ी हुई थीं। आज असली सीता को वर देने में उनका मन कितना गुदगुदा रहा होगा—कितना कसमसा रहा होगा। 'मूरति मुस-कानी' में यह सब चल-चित्र दीख जाते हैं।

शिव-प्रिया गौरी के प्रसन्न होते ही सीता का हृदय हलका हुआ और हर्ष उभरने लगा उनके शुभांगों में—

"बाम अंग फरकन लगे।"
"सीय बदन सम हिमकर नाहीं"

सीता का सौन्दर्य सामान्य तो था नहीं, जो आसानी से आया-गया हो जाता। उसकी सराहना करते हुए दोनों भाई गुरु के पास पहुँचे और सुमनांजलि के साथ राम ने अपने मन के उत्फुल्ल भाव-पुष्प भी उन्हें समर्पित कर दिए :

"राम कहा सब कौसिक पाहीं। सरल सुभाव छुआ छल नाहीं॥"

आज के युवक-युवती राम से बहुत-कुछ सीख सकते हैं। प्रायः वे छिप कर प्रेम का नाटक खेलते हैं और अपने अभिभावकों के सामने अक्सर कुछ कहने का साहस संग्रह नहीं कर पाते हैं। इसी से जीवन-पर्यन्त वे घुटकते रह जाते हैं और, अपने पूज्यों के आशीर्वाद से वंचित रह कर, विफल-मनोरथ बन जाते हैं।

राम का व्यक्तिगत प्रेम भी कितना निश्छल और सरल था। भाई तो छोटा था—उससे कहा सो कहा ही, गुरु विश्वामित्र से भी जाकर सब कुछ कह दिया। सुमन पाकर मुनि ने पूजा की और खुश होकर उन्होंने आशीर्वाद दिया :

"सुफल मनोरथ होहुँ तुम्हारे।"

यह आशीर्वाद सामाजिकता की दृष्टि से कितना स्वस्थ और पुष्ट जँचता है !

दिवस बीता और दोनों भाई सन्ध्या-वन्दन करने चले।

इतने में :

"प्राची दिसि ससि उयउ सुहावा। सिय मुख सरिस देखि सुखु पावा॥"

पूरब दिशा में चन्द्रमा का उदय हुआ।

राम ने उसे देखा और सहसा उन्हें सीता का मुख याद हो आया। उसके साथ की तुलना प्रथम दृष्टि में तो उन्हें भली मालूम हुई, परन्तु जब उस उपमान पर उन्होंने सर्वांग दृष्टि डाली, तब उसमें उन्हें अनेक दोष दीख पड़े और उनके मन ने कह दिया :

"सीय बदन सम हिमकर नाहीं॥"

जो खारे सागर में पैदा हुआ हो, विष जिसका सहोदर भाई हो, जो दिन में मलिन बन जाता हो, भला वह :

"सिय मुख समता पाव किमि चंदु बापुरो रंक।"

बेचारा अकिंचन चन्द्रमा सीता के मुख का उपमान कैसे हो सकता है ?

यही नहीं :

"घटइ बढ़इ बिरहिन दुखदाई। ग्रसइ राहु निज संधिहिं पाई॥
कोक सोक प्रद पंकज द्रोही। अवगुन बहुत चंद्रमा तोही॥"

राम ने चन्द्रमा को फटकारा—अरे, तुझमें तो अनेकों दोष हैं, तू सदा घटता-बढ़ता रहता है, विरही-बालाओं को सताता है, मौका पाकर राहु तुझे निगल जाता है। तू चकवा-चकई को शोक में डाल देता है और कमलों से तेरी दुश्मनी रहती आई है। सीता से तेरी तुलना कैसी—यह तो अनुचित ही नहीं, भारी अपराध भी होगा।

पहले तुलना करना, पीछे उपमान का उपहास करके उसकी फजीहत कर डालना—अलंकार के अभ्यासियों को यह 'प्रतीप' कितना हर्षित करता है!

"रंगभूमि जब सिय पगु धारी" :

दूसरे दिन धनुष-यज्ञ की धूम-धाम से तैयारी हुई। गुरु और भाई दोनों राम के मन की बात जान चुके थे। इसलिए अरुणोदय होते ही लक्ष्य ने सूचित किया :

"अरुनोदय सकुचे कुमुद उगडन जोति मलीन।
जिमि तुम्हारा आगमन सुनि भए नृपति बलहीन ॥"

'सूर्योदय के साथ कुमुद गण संकुचित हो गए और तारे कान्ति-हीन होने लगे जैसे तुम्हारा आगमन सुनकर ही सब राजे-महाराजे बलहीन बन गए हैं।'

लक्ष्मण ने अपने रूपक को 'सांग' बनाया और निश्चित स्वर में निर्देश कर दिया :

"तव भुजबल महिमा उदघाटी। प्रगटी धनु बिघटन परिपाटी ॥"

आपकी भुज-शक्ति को उदघाटित करने के लिए ही धनुष—भंग की यह परिपाटी चल पड़ी है।

लक्ष्मण ने अपने उक्त कथन में यह स्पष्ट कर दिया, कि राम शिव-धनुष को अवश्य तोड़ेंगे और समवेत राजाओं का मान-मर्दन होगा।

इधर जनक ने अपने पुरोहित शतानन्द के द्वारा विश्वामित्र और राम-लक्ष्मण को बुलवा भेजा। शतानन्द को राम ने प्रणाम तो जरूर किया, पर बैठे अपने गुरु के ही पास जाकर। कवि राम के आचरण में भारतीय संस्कृति का रूप अंकित करता चलता है। 'मानस' को दूसरे शब्दों में 'संस्कृति-चित्रण' भी कहा जा सकता है।

विश्वामित्र ने आदेश दिया :

"चलहु तात मुनि कहेउ तब पठवा जनक बोलाइ।"

'चलो, भाई-जनक महाराज ने बुलावा भेजा है।'

मुनियों के साथ दोनों भाई चल पड़े। दोनों मुनि आगे-आगे जा रहे थे और पीछे-पीछे, परस्पर वार्तालाप करते हुए, दोनों भाई चल रहे थे।

राम ने धीरे से कहा :

"सीय स्वयंबरु देखिअ जाई। ईसु काहि धौं देइ बड़ाई।"

चल कर सीता का स्वयंवर देखा जाए, पता नहीं, ईश्वर किसे यशस्वी बनाता है। उक्त कथन में राम की सरल निस्पृहता ही व्यक्त हो रही है—किसी प्रकार की छल-चातुरी नहीं, जैसे सचमुच उनको अपनी शक्ति का कोई भान न हो।

लेकिन लक्ष्मण ने तुरत कह दिया :

"लखन कहा जस भाजुन सोई । नाथ कृपा तव जा पर होई ॥"

जिस पर, हे नाथ आपकी कृपा होगी, वही यश-भाजन होगा। अर्थात्—ईश-शक्ति तो आप में ही है, अन्यत्र नहीं।

दोनों मुनि बहुत दूर तो थे नहीं, दोनों भाइयों की बात-चीत उनके कानों में भी पड़ी और वे परम प्रसन्न होकर आशीर्वाद देने लगे।

सब लोग रंगभूमि में पधारे। उनके प्रवेश करते ही भीड़ बढ़ गई और जनक को विशेष व्यवस्था करनी पड़ी। उन्होंने अपने शुचि-सेवकों को तुरत आदेश दिया :

"तुरत सकल लोगन्ह पहिं जाहू । आसन उचित देहु सब काहू ॥"

यहाँ 'सेवक' के साथ 'शुचि' विशेषण कवि की चित्रण-सतर्कता को सूचित करता है। इस शुचिता में तन-मन की पवित्रता समाई हुई है।

उस राज-समाज में दोनों भाई यों जा विराजे, जैसे नक्षत्रों के बीच दो पूर्ण चन्द्र विराजमान हों।

सारी सभा की दृष्टि उन दोनों भाइयों पर केन्द्रित हो गई और :

"जिन्हके रही भावना जैसी । प्रभु मूरति देखी तिन्ह तैसी ॥"

जो जिस भाव को लेकर वहाँ आया था, उसे राम वैसा ही दीख पड़े। बल-विक्रम के गर्वीलों को राम 'वीर-रस' के अवतार ही जान पड़े, दुष्ट राजाओं को वह भारी भयानक मूर्ति मालूम हुए, छद्म-वेशी असुरों को महाकाल दीख पड़े और पुरवासियों को नयनाभिराम नर-भूषण प्रतीत हुए। नारियों को, अपनी रुचि-प्रकृति के अनुसार वह शृंगार-रस की प्रतिमा ही प्रतिभात हुए। विद्वानों को उनमें विराट्-प्रभु के दर्शन हुए और जनक-जाति के लोगों को वह प्रिय स्वजन ही जान पड़े। विदेह और उनकी रानियाँ शिशु-सम प्रीति से उमड़े पड़ते थे। और सीता :

"रामहिं चितव भायँ जेहि सीया । सो सनेहु सुखु नहिं कथनीया ॥"

राम को सीता जिस भाव से देख रही थीं, कवि उनके उस स्नेह और सुख के कथन में असमर्थ हो जाता है।

"उर अनुभवति न कहि सक सोऊ । कवन प्रकार कहै कवि कोऊ ।"

जब खुद सीता ही उसके वणन में असमर्थ हैं, तो कोई कवि उसे कैसे कह सकता है !

कवि यहाँ मुक्त-कण्ठ से राम के रूप का वर्णन करता है—जिसे देख कर सब लोगों के :

"एक टक लोचन चलत न टारे ।"

नेत्र एक टक हैं—उनके तारे (पुतलियाँ) भी नहीं चल रहे हैं।

इसके बाद राजा जनक उठे, अपनी बात बताकर उन्होंने मुनि के साथ दोनों भाइयों को रंगभूमि का निरीक्षण कराया और फिर :

"सब मंचन्ह तें मंचु एक सुंदर बिसद बिसाल।
मुनि समेत दोउ बंधु तहँ बैठारे महिपाल॥"

इधर दोनों भाई ऊँचे मंच पर बैठे, उधर उनके देखते ही राजा-समाज की हिम्मत टूट गई। फिर भी उनका गाल बजाना बन्द न हुआ। उनमें कुछ समझदार व्यक्ति भी थे, जो सद्भावना की स्थापना का प्रयास करने लगे, पर वे दुष्ट-मतियों से पार न पा सके।

शुभ समय में जनक ने सीता को लाने का आदेश दिया। चतुर और सुन्दर सखियों के बीच जब :

"रंग भूमि जब सिय पगु धारी। देखि रूप मोहे नर नारी॥"

सीता रंगभूमि में पधारीं, तब उनके अपरूप रूप को देखकर नर-नारी सब मुग्ध हो गए।

कैसा था वह रूप? कवि उसके वर्णन में अपने को अयोग्य पाता है, क्योंकि एक तो वह जगदम्बिका हैं, दूसरे रूप और गुण की खान हैं। रूप-वर्णन के लिए उपमानों की खोज की जाती है और कवि उन्हें अनुपयुक्त मानता है, क्योंकि :

"उपमा सकल मोहि लघु लागी। प्राकृत नारि अंग अनुरागी॥"

उपमाएँ बहुत पहले से सामान्य नारी के अंगों के साथ अपनी अनुरक्ति रखती आ रही हैं, फिर एक सुकवि उन अयोग्य उपमानों के साथ सीता के सौन्दर्य की समता कैसे दिखाए :

"सीय बरनि तेहि उपमा देई। कुकवि कहाइ अजसु को लेई॥"

और ज्ञात लोक में ऐसी कौन दूसरी सुन्दरी है—जिसके साथ सीता की तुलना की जाए? साधारण स्त्रियों की तो बात ही क्या, स्वर्ग-लोक की सरस्वती, रति तथा लक्ष्मी, जगत् में अत्यन्त पूज्य और प्रतिष्ठित हैं। तो जरा उन्हीं की ओर दृष्टि-पात किया जाए :

"गिरा मुखर तन अरध भवानी। रति अति दुखित अतनु पति जानी॥
बिष बारुनी बंधु प्रिय जेही। कहिअ रमा सम किमि बैदेही॥"

सरस्वती अति वाचाल हैं—भला वह सीता की समता में कैसे आ सकती हैं? भवानी अर्धांगिनी हैं—आधी स्त्री से सीता की तुलना कैसे की जाएगी? और रति रानी का पति अनंग है—जिससे वह सदा दुःखित रहती हैं—फिर ऐसी दुःखिनी नारी से

उत्फुल्ल-वदना सीता की उपमा कैसे दी जा सकती है; और लक्ष्मी उनके प्यारे बन्धु-द्वय हैं विष और वारुणी। और वह जगत्-प्रसिद्ध लक्ष्मी तो नमकीन सागर से निकली थीं, जिसके मथने में कठोर और कुरूप कछुआ, भयंकर विषधर सर्प और बेडौल मन्दराचल काम में लाए गए थे। भला ऐसे खुरापाती भाइयों की बहन और इन अशोभन उपकरणों से उत्पन्न लक्ष्मी जनक-नन्दिनी के समकक्ष कैसे बिठाई जायँ?

हाँ, अगर लक्ष्मी की उत्पत्ति का संयोग कभी कुछ ऐसा हो:

"जौं छबि सुधा पयोनिधि होई। परम रूपमय कच्छप सोई॥
सोभा रजु मंदर सिंगारू। मथै पानि पंकज निज मारू॥"

कैसा?

सौन्दर्य का (नमक वाला नहीं) सुधा-सागर हो, परम रूपवान् (कुत्सित कदर्य नहीं) कछुआ हो, शोभा ही (साँप नहीं) रज्जु का रूप ले, शृंगार-रस ही (झाड़-झंखाड़ तथा रोड़े-पत्थर वाला नहीं) उन्नत पर्वत बन जाए और खुद रतिनाथ ही (देव-दानव नहीं) उसे अपने कमल-कोमल हाथों से मथें:

"एहि बिधि उपजै लच्छि जब सुंदरता सुख मूल।
तदपि सकोच समेत कबि कहहि सीय समतूल॥"

इस प्रणाली से यदि सुन्दरता और सुख-मूल लक्ष्मी उत्पन्न हों, तब भी कविगण कुछ संकोच के साथ ही उनको सीता के समतूल कहेंगे।

कवि का यह सौन्दर्य-मन्थन उसकी उषः-स्नात दिव्य कल्पना, अननुभूत अनुभूति एवं सुकोमल अभिव्यक्ति की अदभुत आकुलता का परिचय देता है। सचमुच:

"सब उपमा कबि रहेउ जुठारी। केहिं पटतरौं बिदेह कुमारी॥"

कवि ने अपने उक्त कथन को यहाँ सोलह आने सत्य करके दिखा दिया। सीता के दिव्य सौन्दर्य का यह शब्द-शिल्प यथार्थ ही उसके आकुल अन्वेषण को प्रत्यक्ष कर रहा है। यहाँ कवि की अपूर्व अनुरक्ति, गहरी भक्ति और असीम शक्ति, अंचल उड़ा कर, नृत्य-सी करती जान पड़ती है। लेकिन यहाँ यह भी छिपा नहीं रह जाता है, कि सीता का नक्षत्रोज्ज्वल शोभा-नभ इतना अद्भुत और इतना अपार है, कि कवि उसे कल्पना में समेट नहीं पा रहा है, समेटने का उसका प्रयास बार-बार विफल हो रहा है और इसकी कुण्ठा उसके चित्रण में कसमसा उठी है।

सचमुच सौन्दर्य की गम्भीर अनुभूति में कवि की अभिव्यक्ति के साधन खो-से जाते हैं और वह असमर्थ होकर सिर धुनता रह जाता है।

अन्धी अनुभूति की दुनिया से निकल कर कवि जब उस सुषमा-लोक में आँखें खोलता है, तब वह सिर्फ इतना ही देख पाता है:

"चलीं संग लै सखी सयानी। गावत गीत मनोहर बानी॥
सोह नवल तन सुंदर सारी। जगत जननि अतुलित छबि भारी।
भूषन सकल सुदेस सुहाए। अंग अंग रचि सखिन्ह बनाए॥"

संग में सयानी सखियाँ हैं। वे मन-हर वाणी से गीत गा रही हैं। सीता का नवल तन है और वह सुन्दर साड़ी से आच्छादित हैं। वह जगज्जननी हैं, उनकी शोभा अद्भुत एवं अतुलनीय है। यों उनके रंगभूमि में प्रवेश करते ही सर्वत्र मुग्धता छा गई। देवों ने दुन्दुभि बजाईं, और अप्सराओं ने फूल बरसा कर नाच-गान किया।

सीता के कर-कमलों में 'जयमाल' डोल रही थी। सब राजागण अकचका कर उनकी ओर देखने लग गये। लेकिन सीता ने तो चकित चित्त से राम की ओर दृष्टि दौड़ाई; और मुनि के पास दोनों भाइयों को बैठे देख, उनके नेत्र दौड़ कर अपनी निधि से जा लगे।

किन्तु वहाँ तो :

"गुरु जन लाज समाज बड़ देखि सीय सकुचानि।
लागि बिलोकन सखिन्ह तन रघुबीरहिं उर आनि॥"

गुरुजन बैठे हैं और समाज जुटा हुआ है। लज्जा ने सीता को दबोच दिया और वह राम को हृदय में बिठाकर सखियों को देखने लगीं।

यह कवि के अपने समाज का प्रभाव है। राम और सीता को देख कर लोगों की टकटकी लग गयी और वे सोच में पड़ गए। कुछ कहने में उन्हें संकोच होता था, पर मन ही मन वे भगवान् को मनाने लग गए :

"हरु बिधि बेगि जनक जड़ताई। मति हमारि असि देहि सुहाई॥
बिनु बिचार पनु तजि नरनाहू। सीय राम कर करै बिबाहू॥"

हे विधाता, जनक की जड़ता छुड़ाओ और हमारी सुमति उन्हें दो। हठ छोड़ कर राजा, विना कुछ सोचे-विचारे, सीता का ब्याह राम के साथ कर दें। ऐसा करने से संसार उन्हें भला ही कहेगा—सबको पसन्द पड़ेगा। हठ करने से तो हृदय जलेगा ही।

सारी रंगभूमि में यह लालसा फैली हुई थी और लोग मग्न होकर मना रहे थे :

"बरु साँवरो जानकी जोगू।"

"तजहु आस निज निज गृह जाहू" :

अनिन्द्य सुन्दरी सुता-सीता को सामने देखकर राजा जनक ने अपने वन्दीजनों को बुलाया और उन्हें अपने प्रण की घोषणा करने का आदेश दिया। वन्दीजनों ने अपनी विशाल भुजाएँ उठाकर सभा के सामने राजा का प्रण घोषित कर दिया :

"नृप भुजबलु बिधु सिव धनु राहू । गरुअ कठोर बिदित सब काहू ।
रावन बानु महाभट भारे । देखि सरासन गवँहि सिधारे ॥
सोइ पुरारि को दंडु कठोरा । राज समाज आजु जेइ तोरा ॥
त्रिभुवन जय समेत बैदेही । बिनहि बिचार बरइ हठि तेही ॥"

यह शिव-धनुष राज-शक्ति-रूपी चन्द्रमा के लिए राहु बन गया था। कैसा भारी और कठोर वह है—सब को मालूम था। महावीर रावण और बाणासुर भी इसको देख कर चुपके-से खिसक गए थे—उन्होंने इसमें हाथ तक न लगाया। वही धनुष आज लोगों के सामने था। राज-समाज में से आज जो भी इसे तोड़ेगा, त्रिभुवन-जय के साथ, जानकी उसे बिना विचार साग्रह वरण करेंगी—आगा-पीछा कुछ भी नहीं सोचेंगी।

यह घोषणा सुनते ही मन-चले राजा ललचा उठे और धनुष को हिलाने-डुलाने लगे। लेकिन वह तो :

"उठइ न कोटि भाँति बल करहीं।"

कोटि उपाय होते हैं, पर वह टसकता तक नहीं, उठाना तो दूर। जितना जोर लगाया जाता है, वह उतना ही और भारी बनता जाता है।

तब हजारों-हजार राजा जोश में आकर एक बार उठे और एक साथ धनुष को उठाने लगे। लेकिन वह हिला तक नहीं। कवि यहाँ एक मर्म-स्पर्शी उदाहरण देता है :

"डिगइ न संभु सरासनु कैसे । कामी बचन सती मनु जैसे ॥"

शिव-धनुष उसी भाँति अडिग है, जैसे कामी के वचन सती के मन को नहीं डिगा सकते।

कैसा सुन्दर संकेत है—मानों इस भरी सभा में सीता को ही सतीत्व का पाठ पढ़ाया जा रहा हो। आगे के प्रसंग के साथ इसका कितना अद्भुत मेल दीख रहा है।

यों :

"सब नृप भए जोगु उपहासी । जैसे बिनु बिराग संन्यासी ॥
कीरति बिजय बीरता भारी । चले चाप कर बरबस हारी ॥"

जैसे बिना ज्ञान-वैराग्य वाला साधु-संन्यासी उपहास का पात्र हो जाता है, वही दुर्दशा उन राजाओं की भी हुई—उनकी कीर्ति, विजय और वीरता—सभी विभूतियाँ—उस धनुष ने छीन लीं, और वे श्रीहत होकर अपने समाज में जा बैठे।

राजाओं की यह दशा देख कर जनक आकुल हो उठे और रोष से भरकर बोले :

"दीप दीप के भूपति नाना । आए सुनि हम जो पनु ठाना ॥
देव दनुज धरि मनुज सरीरा । बिपुल बीर आए रनधीरा ॥"

जनक का प्रण सुनकर देश-विदेश के अनेक राजा आए थे। केवल राजा ही नहीं, बड़े-बड़े देवता और दानव भी नर-रूप धारण कर सभा में पधारे थे। उसका जबर्दस्त आकर्षण था :

"कुँबरि मनोहर बिजय बड़ि, कीरति अति कमनीय।
पावनि हार बिरंचि जनु, रचेउ न धनु दमनीय॥"

मनोहर राजकुमारी, बड़ी विजय और कमनीय कीर्ति-तीन-तीन आकर्षण; परन्तु विधाता ने उनके पाने वाले को तो बनाया ही नहीं—जो इस धनुष को तोड़ कर तीनों पुरस्कार प्राप्त करता।

राजा जनक का व्यंग्य कुछ और तीखा हुआ :

"कहहु काहि यहु लाभु न भावा। काहुँ न संकर चाप चढ़ावा॥
रहउ चढ़ाउब तोरब भाई। तिलु भर भूमि न सके छुड़ाई॥"

यह लाभ किसे नहीं प्रिय था, पर किसी ने भी तो शंकर का चाप नहीं चढ़ाया। चढ़ाना और तोड़ना दूर रहे—कोई उसे तिल भर भी तो खिसका न सका।

इसका निष्कर्ष यह निकला :

"अब जनि कोउ माखै भट मानी। बीर बिहीन मही मैं जानी।"

—कि यह पृथ्वी ही वीर-विहीन है—कोई स्वाभिमानी योद्धा इस कथन से नाराज न हो, और :

"तजहु आस निज निज गृह जाहू। लिखा न बिधि बैदेहि बिबाहू॥"

सब लोग अपना-अपना मुँह लेकर घर चले जाएँ। लगता है—विधि ने वैदेही का विवाह लिखा ही नहीं है।

जनक के सामने प्रण छोड़ने का कोई प्रश्न ही नहीं था—प्रण जो किया, किया। उसके कारण अगर बेटी बिन ब्याही रहती है, रहे। क्या किया जाए—लाचारी है। प्रण तोड़ने से तो पुण्य नष्ट होगा। यह कहते-कहते व्यंग्य-प्रिय जनक कुछ विषाद में पड़ गए :

"जौं जनतेउँ बिनु भट भुवि भाई। तौ पनु करि होतेउँ न हँसाई॥"

अगर वह जानते, कि यह वसुधा वीर-विहीन है, तो ऐसा प्रण करके यों हास्यास्पद क्यों होते?

सभा-मध्य जानकी जयमाला लिए खड़ी हैं और जनक ऐसी बातें बोल रहे हैं। जानकी की मनोदशा अनुभवगम्य है। सब की दृष्टि उन्हीं की ओर जा लगी और सब-के-सब उनको देख कर सन्तप्त हो उठे—हाय, जानकी!

"उठहु राम भंजहु भव चापू" :

जनक की बातें लक्ष्मण को बहुत बुरी लगीं और वह दर्प-दीप्त होकर अपने पौरुष का जय-घोष करने लग गए। उनके रोष-घोष से एक ओर जहाँ राजा लोग सन्न रह गए, वहाँ दूसरी ओर सीता पुलकित हो उठीं और जनक संकोच में पड़ गए। गुरु विश्वामित्र और राम, मन ही मन खुश हुए, साथ ही राम ने इशारे से लक्ष्मण को शान्त कर दिया। फिर मर्मज्ञ मुनि ने, शुभ समय में, राम को आदेश दिया :

"उठहु राम भंजहु भव चापू"

गुरु का आदेश पाकर राम सहज भाव से उठे। उन्होंने गुरुवर के चरणों का स्पर्श किया और बिना हर्ष-विषाद के, मुनिजनों से आज्ञा लेकर, सहज गम्भीर चाल से वह धनुष की ओर चल पड़े।

राम को यों बढ़ते हुए देख कर पुर-नर-नारी पुलकित हुए और पुराकृत पुण्य की याद करके गणेशादि को मनाने लगे :

"जौं कछु पुन्य प्रभाउ हमारे
तौ सिव-धनु मृनाल की नाईं। तोरहुँ रामु गनेस गोसाईं॥"

यदि उनके पुण्यों का कुछ भी प्रभाव हो, तो उसके फल-स्वरूप रामचन्द्र इस धनुष को कमल-नाल की तरह तोड़ दें।

लेकिन सीता की माँ की दशा कुछ दूसरी ही हो गई। राम को तो उन्होंने प्रेम-दृष्टि से ही देखा, किन्तु सोचकर सखियों से, कातर स्वर में, कहने लगीं :

"सखि सब कौतुकु देखनि हारे। जेउ कहावत हितू हमारे॥
कोउ न बुझाइ कहइ गुर पाहीं। ए बालक असि हठ भलि नाहीं॥
रावन बान छुआ नहिं चापा। हारे सकल भूप करि दापा॥
सो धनु राजकुँअर कर देहीं। बाल मराल कि मंदर लेहीं॥"

माँ के कहने का मर्म इतना ही था, कि राम तो बालक है, जिस धनुष को रावण और बाणासुर जैसे बड़े-बड़े वीरों ने नहीं छुआ, विश्वामित्र उस धनुष के पास बाल-मराल को भेज रहे हैं। और हमारे हितैषी भी उन्हें समझाने-बुझाने की कोशिश नहीं करते—केवल तमाशा देख रहे हैं।

सखी सयानी थी। उसने बहुत तरह के उदाहरण देकर उनके विषाद और भय को दूर कर दिया।

उसी समय सीता ने राम को देखा और शंकित हृदय से जिस-तिस की बिनती करने लगीं। आखिर उन्हें शिव, पार्वती और गणेश की याद आ गई और धनुष को हलका बना देने की आकुल प्रार्थना करने लगीं। एक ओर वह देव-देवी को मना रही थीं, दूसरी ओर राम को प्रेमाकुल दृष्टि से देखती जाती थीं, साथ ही पिता के प्रण पर क्षुब्ध भी हो रही थीं :

"अहह तात दारुनि हठ ठानी। समुझत नहिं कछु लाभु न हानी ॥"

अहो, सीता के पिता ने कैसा कठिन हठ ठान लिया है! अरे, वे तो लाभ-हानि कुछ भी नहीं समझ रहे हैं। मन्त्री भी डर कर उन्हें सच्ची बात नहीं बता रहे हैं। कहाँ वज्र से भी भीषण कठोर वह धनुष और कहाँ ये श्यामल कोमलांग किशोर! सीता कैसे : धीरज धरें? क्या सुमन-पंखुड़ी से कहीं हीरा छेदा जा सकता है? बेटी भी माँ की कातरता अपना रही थी।

सीता को सारी सभा ही "मति-भोरी" दीख रही थी—कोई भी उसे होश-हवास में नहीं जान पड़ता था। इसलिए सबकी आशा छोड़ वह शंभु-चाप को ही गुहराने लगी :

"निज जड़ता लोगन्ह पर डारी। होहि हरुअ रघुपतिहि निहारी।"

हे सीता के सर्वस्व शिव-धनुष, तुम जड़ हो जरूर—अति भारी और कठोर हो। किंतु, राम की ओर देख कर कुछ हल्के हो जाओ।

कवि कहता है, कि सीता के मन में भारी सन्ताप है। लव-निमेष (पलांश) सौ-सौ युग के समान बीत रहा है। फिर वह एक अति अनूठी उत्प्रेक्षा उपस्थित कर देता है।

"प्रभुहि चितइ पुनि चितव महि राजत लोचन लोल।
खेलत मनसिज मीन जुग जनु बिधु मंडल डोल ॥"

सीता कभी रामचन्द्र की ओर देखती हैं और फिर तुरन्त नजर नीचे करके धरती को देखने लग जाती हैं। यों उनका नेत्र चंचल हो रहा है और ऐसा लगता है—जैसे चन्द्रमण्डल के डोल (बाल्टी) में कामदेव की दो मछलियाँ खेल रही हों।

इस उत्प्रेक्षा से भी उसको संतोष नहीं होता है और विस्मय-विमुग्ध होकर वह एक अनुपम रूपक खड़ा कर देता है :

"गिरा अलिनि मुख पंकज रोकी। प्रगट न लाज निसा अवलोकी ॥
लोचन जलु रह लोचन कोना। जैसे परम कृपन कर सोना ॥"

सीता जी के वाणी-रूपी भ्रमर को उनके मुख-रूपी कमल ने रोक रखा है। लज्जारूपी रात्रि को देखकर वह प्रकट नहीं हो रही है—सीता कुछ बोल नहीं रही हैं। लोचन सजल हैं, पर जल नेत्रों के कोने में ही छिपे हैं—जैसे वे किसी कृपण के स्वर्ण-कण हों।

यहाँ हमारा कवि सीता को विशुद्ध सामाजिक पृष्ठभूमि पर रख कर देख रहा है—जहाँ कलात्मक मनोविज्ञान उस पर पूर्णतया हावी है। काश, कवि का वह नशा कभी नहीं उतरता!

यों सीता अत्यन्त व्याकुल हो उठीं और अपनी दशा देखकर वह खुद संकुचित

भी होने लगीं। फिर प्रीति ने प्रतीति का हाथ पकड़ा—अगर राम में उनकी अनुरक्ति सच्ची है, तो भगवान् उन्हें उनकी दासी (संगिनी) अवश्य बनाएँगे। क्योंकि :

"जेहि कें जेहि पर सत्य सनेहू। सो तेहि मिलइ न कछु संदेहू॥"

जिसके ऊपर जिसका सच्चा स्नेह होता है, वह उसे अवश्य मिलता है—इसमें कोई सन्देह नहीं। इसी विश्वास से उन्होंने राम की ओर देखा। राम ने उनकी अन्तर्दशा समझ ली और धनुष की ओर इस अवहेला से देखा—जैसे गरुड़ छोटे साँप की ओर देखे :

"सियहिं बिलोकि तकेउ धनु कैसे। चितव गरुड़ लघु ब्यालहिं जैसे।"

"का बरषा सब कृषि सुखाने" :

महा भयंकर सर्प-सा वह जड़ धनुष राम के सामने पड़ा हुआ था और राम उसे गरुड की दृष्टि से देख रहे थे।

समय बड़ा विकट बन गया था। दृश्य बड़ा दुविधा-जनक उपस्थित था। सामान्य जन की ही नहीं, बड़े-बड़े ज्ञानी-ध्यानी, धीर-धुरन्धरों की भी धड़कनें बन्द-सी थीं और उनकी साँसें टँग रही थीं—इतने कोमलांग यह किशोर उस दुर्धर धनुष को कैसे तोड़ेंगे—जिसे रावण और बाणासुर भी छू नहीं सके!

केवल एक लक्ष्मण सहर्ष सक्रिय दीख रहे थे। ज्यों ही उन्होंने लक्ष्य किया, कि राम ने धनुष की ओर देखा, त्यों ही पुलकित होकर उन्होंने धरित्री को सम्हालने वाले हाथियों, कच्छप, शेष और शूकर को सावधान कर दिया :

"राम चहहिं संकर धनु तोरा। होहु सजग सुनि आयसु मोरा॥"

यहाँ कवि उस धनुष को एक बड़ा जहाज बनाता है और एक अद्‌भुत 'रूपक' खड़ा कर देता है। उस जहाज पर बहुत तरह के माल लदे हुए थे। उसकी सूची बड़ी मार्मिक है :

"सब कर संसउ अरु अग्यानू। मंद महीपन्ह कर अभिमानू॥
भृगुपति केरि गरब गरुआई। सुर मुनि बरन्ह केरि कदराई॥
सिय कर सोचु जनक पछितावा। रानिन्ह कर दारुन दुख दावा॥"

राम ने देखा—इस धनुष-रूपी जहाज पर नर-नारियों का संशय और अज्ञान भरा हुआ है—राम की शक्ति पर लोगों को भरोसा नहीं होता है, वे अज्ञानी बन रहे हैं। महत्त्वाकांक्षी राजाओं का अभिमान भी इस पर आ बैठा है—'हमसे जब नहीं उठा, तब यह नन्हा बालक इसे कैसे तोड़ सकेगा? नहीं, यह हो नहीं सकता।' लोगों ने यह भी भाँप लिया, कि यह धनुष परशुराम का भी प्रिय है और उनकी गर्व-गरुता भी इस पर आ चढ़ी है—कैसे तोड़ेंगे इसे यह सुकुमार राम? सीता की चिन्ता

उस पर जम कर बैठी ही थी, साथ ही उस पर महाराज जनक का करुण पछतावा और रानियों का भीषण दुःख-दावानल भी दीख रहा था।

यों अद्भुत सामानों से भरा हुआ वह भारी जहाज अपार समुद्र को पार करना चाहता था। राम का बाहु-बल ही अपार सागर था, लेकिन कोई खेने वाला भी तो मिलता उसको!

राम ने देखा—सभा के सब लोग चित्रांकित-से हो रहे थे—निश्चल एवं, निर्निमेष होकर उन्हें देख रहे थे। और सीता की ओर जब उन्होंने दृष्टि दौड़ाई, तब तो :

"जानी बिकल बिसेषि।"

वह उन्हें विशेष रूप से व्याकुल जान पड़ीं। और सो भी कैसी थी उनकी वह व्याकुलता :

"देखी बिपुल बिकल बैदेही। निमिष बिहात कलप सम तेही।
तृषित बारि बिनु जो तनु त्यागा। मुएँ करइ का सुधा तड़ागा॥"

सीता के लिए एक-एक पल एक-एक कल्प-सा बनता जा रहा था और वह जैसे कह रही हों—'यदि प्यासा पानी के अभाव में शरीर छोड़ दे, तो, उसके मर जाने पर कोई उसके सामने सुधा का सरोवर ही उमड़ा दे, तो क्या फायदा? सचमुच सीता के वे क्षण अत्यन्त प्राणान्तक-से हो रहे थे—सन्देह और शंका के सघन बादल तो उमड़े हुए थे ही, और उस विषाक्त वातावरण में धनुष के प्रति राम की अवहेला वाली दृष्टि सीता को एक जादू की अविश्वनीय करामात ही जान पड़ती थी। और अगर यह जादू छूमन्तर हो गया—अगर राम से धनुष न टूटा, तब? तब, औरों की चाहे जो दशा हो, सीता तो कहीं की न रहेंगी—जिन्होंने गहरे विश्वास और विषम विवशता के बीच अपने मन और प्राण राम के ऊपर चढ़ा दिए थे। तब तो धरती में समा जाने के सिवा और कोई चारा नहीं रह जाएगा उनके लिए। यों जितनी देर हो रही थी, सीता की साँसें उतनी ही ऊँची उड़ती जा रही थीं और वह अन्तर की आकुलता के बीच जैसे कह रही थीं :

"का बरषा जब कृषी सुखानें। समय चूकि पुनि का पछितानें॥"

फसल सूख जाने के बाद वर्षा होने से ही क्या लाभ? समय पर चूक जाने से फिर पछताने से ही क्या, अगर सीता के प्राण ही छूट गए, तो फिर धनुष तोड़ने से ही क्या लाभ? यों राम ने सीता की कातर दृष्टि देखी, और सहसा उनकी भुजाएँ फड़क उठीं।

इस विशाल वसुधा के अछोर अंचल में मानव या दानव—चाहे जिसके विक्रम-पराक्रम की अद्भुत गाथाएँ गायी जाती हों, आकाश-पाताल के कुलाबे मिलाने वाली

चाहे जैसी भी कहानियाँ कही-सुनी जाती हों, सब के ताने-बाने में, सबकी तह में, बीज रूप से छिपी नारी की वही आर्त-दृष्टि, उसकी वही मौन-मनुहार, उसकी वही पागल-पुकार, नर की भुजाओं में, विद्युद्गति का संचार करती दीख पड़ती है।

सच, नर की उत्प्रेरक शक्ति है नारी। वह चाहे तो नर को नरक से उठा कर स्वर्गतक पहुँचा दे अथवा ऊँचे से लुढ़का कर रसातल में ढकेल दे।

और नर के भाग्य से अगर वह नारी प्रेम करने वाली भी हुई, तब फिर उस नर के गर्व और गौरव का क्या पूछना—स्वर्ग उसके पग-तल को चूमने के लिए भूतल पर उतर आता है; और अगर कहीं वह द्रोह करने पर उतारू हो गई, तब फिर नर की नरक-यन्त्रणा भी देखने लायक हो जाती है।

मानस में दोनों के दिव्य तथा दारुण दर्शन होते हैं:

यहाँ प्रेममयी सीता की दीन दृष्टि ने शक्ति-पुंज अमृत का अमर-घट जब सीधे राम के अन्तरतम में उतार दिया, तब उनकी उत्फुल्लता, स्फूर्ति और कुशलता का क्या कहना था!

उन्होंने:

"गुरुहिं प्रनामु मनहिं मन कीन्हा। अति लाघव उठाइ धनु लीन्हा॥"

पैनी दृष्टि वाले अंतरंग कवि से यह छिपा नहीं रहा कि राम ने धनुष में हाथ लगाने के पहले अपने अन्तर-आराध्य गुरुदेव को मन ही मन प्रणाम किया (भला ऐसा संयोग जोड़ने वाले उस मर्मज्ञ गुरु के प्रति राम की कृतज्ञता शतधा होकर क्यों न उमड़ पड़ती!) और फिर इतनी लाघवता के साथ धनुष को उठा लिया, इतनी फुर्ती से उस पर प्रत्यंचा चढ़ा दी और इतनी तेजी से उसे खींचा—कि कोई कुछ देख न सका—सब-के-सब चकित चित्रित रह गए।

इतने में सारा दिग्दिगन्त एक अत्यन्त कठोर ध्वनि से भर गया। लोगों ने आँखें खोल कर महान् विस्मय से देखा:

"तेहि छन राम मध्य धनु तोरा।"

वह महा-महिमामय शिव-धनुष दो खण्डों में टूटकर धूल में लोट रहा था। कवि को जहाज वाला अपना वह अद्भुत रूपक भूला नहीं था। अतः उपसंहार के रूप में वह उसे पुनः सामने लाता है:

"संकर चापु जहाजु सागर रघुबर बाहु बलु।
बूड़ सो सकल समाजु चढ़े जे प्रथमहि मोह बस॥"

सागर में वह जहाज डूब गया और उस पर चढ़ा हुआ सारा समाज भी डूब गया—जो पहले अज्ञानवश उस पर आ बैठा था।

कहते हैं—उपर्युक्त दोहे की पूर्ति में सूक्ष्म शरीर वाले देवताओं का भी दिव्य हाथ था। क्योंकि जब वह 'सांगरूपक' पूरा होने आया, तब देखा गया—कि

जहाज तो डूबा, और उसके साथ-साथ अगर उस पर चढ़ा सारा समाज डूब गया, तो फिर सीता, जनक, रानियाँ, मुनि-आदि भलें आदमियों की दशा क्या हुई ? बस, तीसरे चरण पर आकर कवि की लेखनी रुक गई और सोरठा अधूरा रह गया। लाख सिर मारने पर भी जब कोई उपाय न सूझा, तब हार कर कवि, कलम हाथ में लिए ही, सो गया।

सबेरा होते ही जब कवि की दृष्टि अपनी उस अधूरे सोरठे पर पड़ी, तब वह चमत्कृत हो उठा—सोरठा के चारों चरण चुस्त-दुरुस्त थे और चौथा चरण कह रहा था :

"चढ़े जो प्रथमहिं मोह बस।"

और कवि कृतार्थ होकर उछल पड़ा।

"सूखत धान परा जनु पानी" :

शिव धनुष के दो टुकड़े हो गए, यह देखकर लोगों की साँसें पलट आईं—सब लोग सहसा सुखी हो गए।

इस सामूहिक महा-सुख को कवि पुनः 'सांग रूपक में बाँधता है :

"कौसिक रूप पयोनिधि पावन। प्रेम बारि अवगाहु सुहावन॥
राम रूप राकेसु निहारी। बढ़त बीचि पुलकावलि भारी॥"

विश्वामित्र के पास रामचन्द्र हैं, तो विश्वामित्र समुद्र हुए, विश्वामित्र के हृदय में राम के प्रति अपार प्रेम है, तो प्रेम समुद्र का अगाध जल हुआ। चन्द्रमा को देखकर जैसे समुद्र तरंगित हो उठता है, उसी प्रकार विश्वामित्र भी पुलकित हो रहे हैं राम को देखकर।

अलंकार के धरातल पर उतरने में कवि-कर्म की कुशलता और कुण्ठा—दोनों सामने आ खड़ी होती हैं। अलंकार चमत्कार-प्रधान होते हैं। उनके सफल प्रयोग से कवि का काव्य चमक उठता है, साथ ही उसकी कल्पना की भी थाह मिल जाती है, पाठक को विषय का बोध भी स्पष्ट हो जाता है। यह तो हुई कुशलता।

कुण्ठा का कारण यह है कि कवि सीधे शब्दों में अपनी अनुभूति को व्यक्त न कर सका और लाचार होकर अलंकारों की शरण जोहने लगा। उसकी सहज शक्ति प्रतिहत हो गई। लेकिन कवि की यह कमजोरी ही रसज्ञों की जयमाल मानी जाती है।

जो भी हो, 'मानस' के पाठकों ने अगाध तृप्ति के साथ देखा—कि धनुष-छेत्ता राम को देख-देख कर महामुनि विश्वामित्र का सुख किस तरह उमड़ रहा है। आखिर इस विजय में मुनि की विजय भी तो समाई हुई है—उन्हीं की शिक्षा-दीक्षा और उन्हीं की सदिच्छा का ही तो यह सुमधुर फल है।

अन्तरिक्ष के रहने वाले देवगण तथा साधना-सुख से सुखी सिद्ध-मुनि, सब-के-सब बधाइयाँ दे रहे हैं—धनुष-भंग की ध्वनि सुनकर सब बगलें बजा रहे हैं :

"भंजेउ राम संभु धनु भारी।"

फिर नाच-गान, गाजे-बाजे, झाँझ-मृदंग, शंख-सहनाई, ढोल-दुंदुभी का वर्णन करने कौन चले।

मृदुल रानियाँ, जो बिना पानी के धान की तरह, सूखी चली जा रही थीं, एकाएक लहलहा उठीं :

"सूखत धान परा जनु पानी।"

और महामहिम महाराज जनक की दशा क्या थी? जैसे कोई कुशल तैराक अगाध जल में तैरता-तैरता एकदम थक जाए, निराश होकर डूबने लगे, और हठात् थाह पा जाए :

"पैरत थके थाह जनु पाई।"

इसके विपरीत कुछ लोगों का रंग ही उड़ गया। अब तक तो होड़ में हारे राजा अभिमान में फूले थे, कि राम से धनुष न टूट सकेगा; अब उनके मुँह पर हवाइयाँ उड़ने लगीं और उनकी सारी शेखी मिट गई।

यहाँ भी कवि अलंकार के आलोक में उन्हें देखता है :

"श्रीहत भए भूप धनु टूटे। जैसे दिवस दीप छबि छूटे॥

जैसे दिन में दीपक की लौ मलिन पड़ जाती है, धनुष के टूटने से राजा लोग भी वैसे ही श्री-शून्य हो गए।

और सीता के सुख की थाह कवि कैसे लेता है? वहाँ भी वह असमर्थ हो जाता है—कैसे उस सुख का वह वर्णन करे? यहाँ भी अलंकार उसकी सहायता करने आ जाते हैं—

"जनु चातकी पाइ जलु स्वाती।"

मानो पपीहे को स्वाती नक्षत्र का पानी प्राप्त हो गया है। एक बूँद स्वाती के जल के लिए ही पपीहा बारहों महीना रटता और गला सुखाता रहता है। सीता का भी वही अनन्य प्रेम-भाव था— वह पूर्ण हो गया, वह राम की हो गईं।

लक्ष्मण किस दृष्टि से राम को देख रहे थे—यहाँ कवि का कौशल मनोविज्ञान के सहारे बड़ी सावधानी से पर्दा उठाता है :

"ससिहिं चकोर किसोरकु जैसे।"

जैसे कोई चकोर का बच्चा चन्द्रमा को देख रहा हो—अगम्य आह्लाद का कैसा मार्मिक चित्रण हुआ यह। भला चकोर का नादान बच्चा चन्द्रमा को क्या जानता है, पर खुशी तो उसको होती है अवश्य। यहाँ कवि ने लक्ष्मण को प्रेम की सुषमा के पास रख कर भी उसकी ऊष्मा से कितनी दूर रखा है। आश्चर्य!—न उम्र

में कोई फर्क है, न बुद्धि-विकास में कोई अन्तर है, फिर भी भाव-जगत् का—छोटे भाई के नाते भाव का निर्वाह कितनी सफाई तथा सुघराई के साथ होता है।

"सिय जयमाल राम उर मेली" :

धनुष टूटा, सुख उमड़ा, बाजे बजे। अब विजयी को पुरस्कार मिलना था। सीता वहाँ खड़ी ही थीं। शतानन्द ने आज्ञा दी और सीता राम के पास चलीं :

"गवनी बाल मराल गति, सुषमा अंग अपार।"

यहाँ कवि ने बड़ी दृढ़ता से जनक की उपेक्षा की है, क्योंकि अब पुरोहित का ही आदेश आवश्यक था। भारतीय संस्कृति ! कहाँ सोई हो ? क्यों न अपने इस रक्षक की अतिरिक्त कुशलता पर खुशी से उछल पड़ती हो ? ऐसा सूक्ष्मदर्शी पहरेदार तुम्हारा और कहाँ मिलेगा ?

मंगल-गान करती हुई सुन्दर और सुचतुर सखियाँ, बाल मराल की गति से चलने वाली, सीता को घेर कर चल रही थीं और सीता यों दीख रही थीं, जैसे :

"छबिगन मध्य महाछबि जैसे।"

उनके सुकुमार हाथों में सुन्दर जयमाल थी, शरीर संकोच से भरा था, पर मन परम प्रफुल्लित था। उनका प्रेम अत्यन्त निगूढ़ था जो किसी की दृष्टि में नहीं जाता था।

सीता के दिव्य सौन्दर्य से कवि इतना अभिभूत है कि वह शब्द-शून्य हो जाता है। उसकी असमर्थता देखने लायक होती है—'सुषमा अंग अपार।'

राम के पास पहुँच कर सीता यों खड़ी हो गईं :

"रहि जनु कुँअरि चित्र अवरेखी।"

जैसे कोई चित्र में अंकित राजकुमारी खड़ी हो। वह न हिलती-डुलती थीं, न कुछ बोलती थीं—एकटक राम की छवि देख रही थीं।

चतुर सखियों ने उनकी मुग्धता देखी और धीरे से कहा—'जयमाल डाल दो गले में।'

यह सुनकर सीता ने माला उठाई, पर वह ऐसी प्रेम-विवश हो रही थीं, कि पहनाना पार नहीं लग रहा था। उनके दोनों हाथ उठे थे राम की ओर और उनमें माला लटक रही थी। कवि यह दृश्य देख कर स्वयं भाव-विह्वल हो जाता है और कोई उपयुक्त शब्द न पाकर उत्प्रेक्षा पर उतर आता है :

"सोहत जनु जुग जलज सनाला। ससिहि सभीत देत जयमाला।"

मानो सनाल दो कमल भयभीत होकर चन्द्रमा को जयमाल दे रहे हों।

सीता के सुकुमार हाथ सनाल कमल हैं जो राम के चन्द्रमुख की ओर

जममाल के साथ बढ़ रहे हैं। कमल और चन्द्रमा के बीच जो सहज संकोच का सम्बन्ध स्थापित है, वह विश्व-विदित है ही।

यहाँ एक सत्कुलीन प्रेममयी भारतीय बाला का संकोचशील चित्रण कितना मर्म-मधुर हो उठा है।

इस संकोचावरण से उन्हें मुक्त करने के लिए सखियों ने सोत्साह गाना शुरू कर दिया और इससे स्फूर्ति पाकर :

"सिय जयमाल राम उर मेली।"

यों जयमाला डालकर जब सीता राम के सामने खड़ी हो गईं, तब उनकी युगल-जोड़ी कैसी दीख पड़ी :

"छबि सिंगारु मनहुँ एक ठोरी।"

मानो सुन्दरता और शृंगार-रस एक साथ हो गए हों।

यहाँ भी कवि की भाव-विह्वलता उसे असमर्थ बना देती है और यह उत्प्रेक्षा कुछ विशेष मदद नहीं कर रही है उसकी। जब दो-दो 'टॉर्च' आँखों में लग जाएँ तब चकाचौंध क्यों न हो जाए ? राम और सीता की वह एकत्र शोभा भला किस कवि के बूते की बात है, जो यथातथ वर्णन कर दे उसकी दिव्य अनुपमता का ?

माला पहना कर सीता चुपचाप खड़ी थीं। सखियाँ धीरे-धीरे उनसे कह रही हैं—'राम के चरणों का स्पर्श करो।' किन्तु :

"करति न चरन परस अति भीता।"

उनके डर का कारण है। वह सुन चुकी हैं, कि गौतममुनि की पत्नी अहल्या इन्हीं चरणों को छू कर कुछ-से-कुछ हो गई थी। फिर सीता की भी अगर यह स्थिति (जो उन्हें इतनी प्यारी है) बदल जाए, तब !

कितनी सुकुमारता और कितनी चातुरी से कवि की कलम यहाँ चल रही है !

जयमाल पहनाते ही दिवान्ध राज-सभा में खलबली मची और सखियाँ शीघ्रता से सीता को अन्दर ले गईं। इधर परशुराम का आगमन हुआ और उनके जाने के बाद विवाह की अद्भुत तैयारी हुई। भाँवर का दृश्य कैसा अद्भुत था :

"राम सीय सुन्दर परिछाहीं। जगमगात मनि खंभन माहीं॥
मनहुँ मदन रति धरि बहु रूपा। देखत राम बिआहु अनूपा॥
दरस लालसा सकुच न थोरी। प्रगटत दुरत बहोरि बहोरी॥"

मण्डप के मणि-खम्भों में राम और सीता की अनुपम छवियाँ प्रतिबिम्बित हो रही हैं, मानो कामदेव और रति विविध रूप धारण करके यह अनुपम विवाह देख रहे हों। दोनों में देखने का उत्साह और संकोच कम नहीं है, इसीलिए वे बार-बार छिपते और प्रकट हो रहे हैं।

यह उत्प्रेक्षा कवि को तृप्त करती जान पड़ती है। यथार्थ ही संकोच और उत्साह का जैसा मार्मिक तथा मनोवैज्ञानिक अंकन किया गया है—देखते ही बनता है!

विवाह के समय सिन्दूर-दान पर कवि की कल्पना जिस चमत्कार के धरातल का अन्वेषण करती है, वह वास्तव में विमूढ़ बनाने वाली है। कोई वासना का विराट्-विभु ही इस भावुकता के साथ कौशल दिखा सकता है :

"अरुन पराग जलज भर नीके। ससिहि भूष अहिलोभ अमी के।"

राम के कमल-कर में सिन्दूर भरा है—जो पराग की समता कर रहा है, उनकी दोनों भुजाएँ साँप-सी स्निग्ध दीखती हैं—जो कमल के दोने को उठाए चन्द्रमा को भूषित कर रहे हैं, क्योंकि वे अमृत के लोभी हैं। यों उत्फुल्ल राम संकोचशील सीता की माँग में सिन्दूर डाल रहे हैं।

यहाँ पाठक कुछ रुक कर जयमाल वाले दृश्य का जरा सिंहावलोकन भी कर लें—कमल और चन्द्रमा का कैसा विचित्र चमत्कार दीखता है!

यों साँप, अमृत और लोभ—बहुत-कुछ कहते-सुनते जान पड़ते हैं—जिनका सम्बन्ध वर्तमान, भविष्य और भूत से एक-सा है।

"तुम्हहि उचित तप मो कहुँ भोगू":

जीवन एक उच्छृंखल रंगस्थल है—जिसकी यवनिका मनमाने ढंग से बराबर बदलती रहती है। उसके इस स्वच्छन्द परिवर्तन-क्रम में कभी कोई विपर्यय नहीं हो सकता है। सचमुच जीवन-नाटक नित्य परिवर्तन चाहता है और सदा अपनी धारा अकल्पित रूप से बदलता रहता है। जो मर्मज्ञ मानव-जीवन की इस सहज प्रकृति को पहचानते हैं, परिवर्तन उपस्थित होने पर, घबराते नहीं—अपना मानसिक सन्तुलन नहीं खोते, प्रत्युत दृढ़ होकर, उत्फुल्ल मन से, उसके आघातों का स्वागत करते हैं और उसके प्रतिकार के लिए कमर कस कर तैयार हो जाते हैं।

सरला सीता ने पुष्पोपम यौवनागम के प्रभात में, प्रफुल्ल प्रकृति के गन्ध-मुग्ध वातावरण के बीच, मनोहर राम को देखा और अन्तर की समस्त शक्तियोंसे उन्हें वरण कर लिया—नहीं सोचा कि हृदय की यह उतावली उसे कहाँ उड़ा ले जाएगी। दिव्य शक्तियों ने दया करके, प्रतिकूल परिस्थितियों के विपरीत उसके सत्संकल्प को पूरा कर दिया और वह स्वयंवर-सभा में, राम के गले में, जयमाल डालकर कृतार्थ हो गई। सरला, सुकुमारमना, प्रेम के रंग में रँगी जीवन के रंगमंच पर आ खड़ी हुई। पहला पर्दा उठा—प्रेममयी ने प्रेम का प्रसाद पाया, दूसरा पर्दा उठा—दुलहिन बनकर वह नई दुनिया में आ गई—सास-ससुर का घर बसाने। तीसरा पर्दा उठा। इस पर्दे ने सीता को काफी देर तक जन-मानस से दूर रखा। किन्तु यह आसानी से अन्दाज लगाया जा सकता है कि अयोध्या के राजमहल का उसका वह वैवाहिक

जीवन कितना सुखमय रहा होगा। अगर कहीं कोई अभाव था, तो वह अभावों का ही अभाव था, अगर कहीं कोई अत्याचार था, तो वह प्यार का ही अत्याचार था, और अगर किसी का आधिक्य कहीं रहा होगा, तो वह भोग और विलास का ही आधिक्य होगा।

किन्तु यह आधिक्य कदाचित् उस सहज सारल्य को उबा गया था, उसकी अन्तःप्रकृति ने कदाचित् उससे मुँह मोड़ लिया था। इसीलिए आखिर वह पर्दा भी उठा और ऐसा अद्‌भुत दृश्य सामने आ खड़ा हुआ, जिसकी कभी कल्पना भी किसी ने न की होगी।

कुछ दिन पहले गुरु वशिष्ठ के मुख से उसने सुना था कि राजा दशरथ राम को युवराज-पद देने जा रहे हैं। राम की बगल में बैठकर वह राजरानी होगी, उसकी इस सुखानुभूति की भी कल्पना की जा सकती है। लेकिन यह तो कोई सोच नहीं सकता था, कि राज-पाट छोड़कर उसे जंगल जाने की तैयारी करनी होगी, सो भी एक-दो दिनके वास्ते नहीं—पूरे उतने दिन के वास्ते—जितने दिन वह अयोध्या के राजमहल में मौज कर चुकी थी।

यह खबर उसके कानों में तब पड़ी, जब राम अपनी माँ से जंगल जाने की आज्ञा सुना कर बिदा माँगने आए थे। किसी ने सीता को बुलाया नहीं, वह खुद आकर सास के पास बैठ गई और सिर नीचा करके धरती खोदने लगीं। मर्मज्ञा कौसल्या समझ गईं और उन्होंने पुत्र को इंगित किया :

"पलँग पीठ तजि गोद हिंडोरा। सियँ न दीन्ह पगु अवनि कठोरा॥
सोइ सिय चलन चहति बन साथा। आयसु काह होइ रघुनाथा॥"

सीता ने कठोर भूमि पर कभी पैर नहीं रखा था और वही अब राम के साथ जंगल जाने को तैयार हैं—जाने राम अब उन्हें क्या आज्ञा दें।

सास ने जहाँ सीता का संकल्प भाँप लिया, वहाँ उनकी सुकुमारता की आड़ में उन्हें वन-यात्रा के लिए अयोग्य भी ठहरा दिया। इसमें उनका कुछ स्वार्थ भी था—जिसे कवि ने खोल भी दिया है :

"जौं सिय भवन रहै कह अंबा। मो कहँ होइ बहुत अवलंबा॥"

ऐसी सुशीला पुतोहु से सास को आराम क्यों न होता—बुढ़ापे के इस पुत्र-वियोग में सहारा क्यों न मिलता?

माता का संकेत पाकर पुत्र ने भी पत्नी को खूब समझाया-बुझाया, जंगल की कष्ट-कथा कह-कह कर खूब डराया-धमकाया, सास के साथ रहने पर जितना जोर दिया जा सकता था, पूरा दिया, और अन्त में कुछ तीखी चेतावनी भी दे दी :

"सहज सुहृद गुरु स्वामि सिख जो न करइ सिर मानि।
सो पछिताइ अघाइ उर अवसि होइ हित हानि॥"

शुभैषी गुरुजनों की सलाह को जो शिरोधार्य नहीं करता है, वह खूब पछताता है और उसकी बुराई निश्चय रूप से होती है—इतनी कड़ी धमकी पाकर भी सीता अपने संकल्प से जरा भी नहीं डिगीं। वह मूढ़ या मूर्ख तो थीं नहीं—योगीश्वरों और ज्ञानियों में परम-पूज्य राजा जनक की दुलारी बेटी एवं याज्ञवल्क्य तथा शतानन्द ऐसे ज्ञान-गरिमावान् शास्त्र-मर्मज्ञों की शिष्या होकर अपनी अन्तरात्मा के विरोध में पड़ने वाली किसी भी बड़े की बात वह क्यों मानतीं ? इसलिए पूर्ण शालीनता के शब्दों में राम की बातों का जवाब उन्होंने बड़ी दृढ़ता के साथ दिया। उनकी तर्क-शैली शास्त्र-सम्मत तथा भावुकता—दोनों तटों को छूती चलती है। सबसे पहले उन्होंने अपनी श्रद्धेया सास से, अपनी ढिठाई के लिए, क्षमा-याचना की :

"लागि सासु पग कह कर जोरी। छमबि देवि बड़ि अविनय मोरी॥
दीन्ह प्रान पति मोहि सिख सोई। जेहि बिधि मोर परम हित होई॥
मैं पुनि समुझि दीख मन माहीं। पिय बियोग सम दुखु जग नाहीं॥"

यहाँ "मैं पुनि समुझि दीख मन माहीं"—यह वाक्यांश अत्यन्त मार्मिक और विचारणीय है; क्योंकि यही उनके अन्तर्विरोध को स्पष्ट करता है—यही आत्मा की आवाज को सबसे आगे ले आता है। कोई कुछ कहे, सबकी सुन ली जाए, और मन-मन्दिर में बैठ उस पर सोच-विचार कर जो ठीक जँचे, उस पर अमल किया जाए। सीता के कथन का यही निष्कर्ष है—जिसे प्रत्येक भारतीय नारी अपना ले, तो उसकी सारी समस्याओं का समुचित समाधान हो जाए। केवल भारतीय नारी का ही नहीं, सीता के उक्त कथन में विश्व के समस्त नर-नारी की समस्याओं का समाधान छिपा हुआ है :

"आत्मा वा अरे बोधव्यम्॥"

सीता ने राम की बातों का जो जवाब दिया, उसे मुख्यतया दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—तर्क और भावुकता। पहले तर्क को ही तौल लिया जाए :

एक सती-साध्वी स्त्री के लिए माता-पिता, भाई-बहन, प्रिय-परिवार, सुहृद्-समुदाय तथा सुशील पुत्र के रूप में :

"जहँ लगि नाथ नेह अरु नाते। प्रिय बिनु तियहि तरनि ते ताते॥"

जितने नेह-नाते हैं, सब-के-सब, बिना पति के, ग्रीष्मकालीन प्रचण्ड सूर्य से भी अधिक दाहक बन जाते हैं।
यही नहीं :

"तनु धनु धामु धरनि पुर राजू। पति बिहीन सबु सोक समाजू॥
भोग रोग सम भूषन भारू। जम जातना सरिस संसारू॥"

नारी के लिए सुख के जितने साधन संसार में उपलब्ध हैं, एक पति के बिना,

सब शोक के साधन हो जाते हैं। भोग रोग के समान पीड़ा देने वाला, भूषण-वसन भार और दुनिया नरक बन जाती है।

इतना कहकर वह अपना अन्तिम निर्णय सुना देती हैं :

"प्राणनाथ तुम्ह बिनु जग माहीं। मो कहुँ सुखद कतहुँ जग नाहीं॥"

सुन लें राम, उनके अभाव में सीता को कहीं कोई सुख नहीं है। और यह कोई एक सीता की बात नहीं :

"जिय बिनु देह नदी बिनु बारी। तैसिअ नाथ पुरुष बिनु नारी॥"

जिस प्रकार बिना प्राण के शरीर की दुर्दशा हो जाती है और बिना पानी के नदी निकम्मी बन जाती है, पति के बिना दुनिया में पत्नी की भी वही फजीहत होती है।

इस साधारणीकरण के बाद वह फिर अपनी बात पर आ जाती हैं :

"नाथ सकल सुख साथ तुम्हारे। सरद बिमल बिधु बदनु निहारे॥"

तत्पश्चात् राम के गिनाए वन-जीवन की सारी विपत्तियों को वह सुख के उपकरणों में बदल देती हैं :

"खग मृग परिजन नगरु बनु बलकल बिमल दुकूल।
नाथ साथ सुर सदन सम परन साल सुख मूल॥"

जंगल में पशु-पंछी ही बन्धु-बान्धव बन जाएँगे, जंगल ही नगर के समान सुख देगा, पेड़ों के छाल के कपड़े ही सुन्दर रेशमी वस्त्र-से मुलायम जान पड़ेंगे और घास-फूस की बनी झोपड़ी ही देव-दुर्लभ, भव्य-भवन की समानता करेगी—लेकिन शर्त यह कि राम का साथ सीता को रहे।

तदन्तर सीता अपने सुखों का कुछ और विस्तृत वर्णन उपस्थित करती हैं और फिर कुछ कातरता दिखाती अनुनय करने लग जाती हैं :

"बन दुख नाथ कहे बहुतेरे। भय बिषाद परिताप घनेरे॥
प्रभु वियोग लवलेस समाना। सब मिलि होहिं न कृपा निधाना॥"

राम ने वन-जीवन के अनेक कष्ट गिनाये थे, सीता ने एक-एक करके सबका निराकरण किया और अन्त में कह दिया कि वे सब कष्ट मिलकर भी पति-वियोग के एक पल के कष्ट की बराबरी नहीं कर सकते। अतः राम उन्हें छोड़ें नहीं—साथ ले लें। राम ने सीता की सुकुमारता की ओर भी संकेत किया था, इसके उत्तर में वह कहती हैं कि मार्ग का कोई कष्ट उन्हें असह्य नहीं होगा, क्योंकि साथ रहने से उनका मन जो प्रसन्न होगा, और जब मन प्रसन्न रहेगा, तब शरीर का कष्ट अनुभव ही कौन करेगा ?

मनोविज्ञान का कितना बड़ा नग्न सत्य यहाँ घोषित हो रहा है—दर्शनीय है। भावुकता के साथ कुछ सेवा-भावना भी पुरस्सर हो रही है :

"सबहि भाँति पिय सेवा करिहौं। मारग जनित सकल श्रम हरिहौं ॥
पाय पखारि बैठि तरु छाहीं। करिहउँ बाउ मुदित मन माहीं ॥"

राम ने शायद सन्देह किया होगा, सुकुमारी सीता जंगल में उनके लिए बोझ बन जाएँगी और उनकी देख-भाल में उन्हें परेशान होना पड़ेगा। लेकिन सीता तो उनकी ही थकावट दूर करने की उमंग दिखा रही हैं। वह उनके धूल भरे चरणों को धो देंगी, छाया में बैठ कर अपने अंचल से हवा करेंगी और खुश रहेंगी। सम-भूमि पर घास-पात बिछा कर बिछौना करेंगी और सारी रात दासी की भाँति पैर पलोटती जरा भी कष्ट का अनुभव नहीं करेंगी। राम की मृदुल-मंजुल मूर्ति देख कर वह इतनी प्रफुल्ल रहेंगी कि लू-लपट उन्हें छू भी न जाएगी।

राम इस उमंगपूर्ण प्रलोभन पर मन ही मन कितने मुदित हुए होंगे, यह तो कोई अनुभवी ही समझ सकता है। भला ऐसी स्नेह-स्निग्ध संगिनी को कोई स्वप्न में भी अपने अंग से कैसे हटाना चाहेगा ?

सीता प्रलोभन देकर ही चुप न रह गईं, उन्होंने राम के पौरुष को भी ललकारा :

"को प्रभु सँग मोहि चितवनिहारा। सिंघ बधुहिं जिमि ससक सिआरा ॥"

राम ने जंगल के दुष्ट प्राणियों का भी भय उन्हें दिखाया था, सीता उसका निराकरण यों करती हैं कि राम को निरुत्तर रह जाना पड़ता है—'भला आप के साथ रहने पर मेरी ओर कुदृष्टि डालने वाला कौन है ? क्या सिंह-संगिनी की ओर खरहे और सियार आँखें उठा सकते हैं ?'

यहाँ 'सिंह बधुहिं' से पति के पौरुष के साथ पत्नी की अपरिमित शक्ति का भी बहुत-कुछ पता चल जाता है। पिछले पृष्ठों में हम देख आये हैं कि लोक-धारणानुसार राम के धनुष-भंग करने के बहुत पहले ही, सीता ने लीलयां उस धनुष को उठा कर, एक जगह से दूसरी जगह रख दिया था—जिसको देख कर ही जनक ने सीता-विवाह की वह शर्त लगाई थी।

और अन्त में मानव के सबसे प्रिय और पैने हथियार को वह अपने हाथ लेती हैं—जो, काकूक्ति के सहारे, सीधे हृदय को वेध कर अपना लक्ष्य साध लेता है :

"मैं सुकुमारि नाथ बन जोगू। तुम्हहिं उचित तप मो कहुँ भोगू ॥"

नर और नारी जब एक ही पूर्णांग के दो भाग हैं, तब एक को सुकुमार बना कर पिटारी में बन्द कर दिया जाय—गरम हवा से भी उसे बचाया जाय, और दूसरे भाग को कठोर कह कर आँधी-तूफान तथा ओले-पत्थर में भी यों ही छोड़ दिया जाय,—यह कहाँ का न्याय ? सुकुमारी सीता घर में रह कर समस्त सुख भोगें, और उन्हींके जीवन-संगी राम, जंगल-जंगल की खाक छानते फिरें—वाह, कैसा उचित कहा राम ने !

मधु-रस में भींगे इस तीक्ष्ण व्यंग्य का आघात पाकर मर्मज्ञ और भावज्ञ राम

कितना मुसकराये होंगे, सीता के सामने उन्होंने अपने को कितना छोटा समझा होगा, कितना गर्व और उल्लास उन्हें हो आया होगा—कल्पना करने की बात है। क्या एक सीता को साथ रख कर वह शत-शत जीवन के अनन्त जंजाल को शौक से नहीं झेल सकते हैं? सचमुच ऐसी संगिनी के साथ वह जंगल में मंगल क्यों नहीं मना सकते?

इसकी सचाई में द्वन्द्व और दुविधा के लिए जगह ही कहाँ रह जाती है? राम यहाँ पूरी तरह हारे, पर इस हार में ही उनकी कितनी बड़ी जीत समाई हुई है।

पर, क्या इस जीत का भार एक सहज परुष 'पुरुष' सम्हाल सकता है—भले वह राम ही क्यों न हों?

देखें, प्रतिध्वनि क्या उत्तर लाती है।

"पितु बैभव बिलास मैं डीठा":

सीता की सास पतिप्राणा थीं—पति-पत्नी के बीच वह अनावश्यक दखल देना नहीं चाहती थीं, इसीसे दबी जबान कुछ कह कर वह चुप हो गईं। राम के साथ वाद-विवाद तथा अनुनय-विनय करके सीता ने अपना मार्ग प्रशस्त कर लिया। किन्तु जब सुमन्त ने राजा दशरथ का करुण कातर सन्देश रखा, तब राम ने दुगुने उत्साह से उसका समर्थन कर दिया। अब सीता का संकट अति अपार हो उठा।

मरणासन्न दसरथ ने राम को कहला भेजा था:

"जेहि बिधि अवध आव फिरि सीया। सोइ रघुबीर तुम्हहिं करनीया॥
न तरु निपट अवलंब बिहीना। मैं न जियब जिमि जल बिनु मीना॥"

जिस उपाय से हो, राम सीता को अवश्य अयोध्या लौटा दें, नहीं तो दशरथ निरावलंब हो जाएँगे और बचेंगे नहीं।

यही नहीं,

"मइकें ससुरे सकल सुख जबहिं जहाँ मनु मान।
तहँ तब रहिहिं सुखेन सिय जब लगि बिपति बिहान॥"

अयोध्या या मिथिला—सीता जहाँ रहना चाहेंगी, सुख से रहेंगी, इसमें कोई बाधा उपस्थित नहीं होगी। जब तक वनवास की विपत्ति दूर नहीं हो जाती, सीता ससुर की बात मान कर अयोध्या आ जाएँ—जिससे दसरथ के प्राण बचें।

अगर केवल ससुर के प्राण बचाने की बात होती, तो शायद नारी का कोमल हृदय कुछ पिघल भी जाता, पर पुरुष-प्रकृति ने नारी-हृदय को, अनजान में ही, एक ऐसी ठेस लगा दी, जिससे उसका हृदय, पिघलने के बजाय, और पत्थर हो गया। राजा दशरथ ने उसके सुख की ओर संकेत क्यों किया? उन्होंने केवल अपनी व्याकुलता की बात क्यों न कही?

राम के आग्रह करने पर सीता ने कुछ निरपेक्ष भाव से प्रस्तुत-अप्रस्तुत के बीच अपनी तर्क-पूर्ण बात पेश कर दी:

"प्रभु करुनामय परम बिबेकी। तनु तजि रहति छाँह किमि रोकी॥
प्रभा जाइ कहँ भानु बिहाई। कहँ चन्द्रिका चंदु तजि जाई॥"

राम करुणामय हैं, सीता की बात वह सहानुभूति के साथ सुनें : साथ ही वह विवेकवान् भी हैं—न्याय के पथ से न विचलें (जब कि अपने लिए उन्होंने यही पथ चुना है, तब सीता के साथ भी वह न्याय करें)। भला बताएँ तो वह कि आधार को छोड़ कर उसकी छाया कहाँ जा सकती है ? सूर्य को छोड़ कर उसकी प्रभा कहाँ जाएगी ? चन्द्रिका चंद्रमा से कैसे विलग की जा सकती है ?

पति का मुँह बन्द करके वह सुमन्तकी ओर मुड़ी और बड़ी विनय-शीलता के साथ कहने लगी :

"तुम्ह पितु ससुर सरिस हितकारी। उतरु देउँ फिरि अनुचित भारी।
आरति बस सनमुख भइउँ बिलग न मानव तात।
आरज सुत पद कमल बिनु बादि जहाँ लगि नात॥"

सुमन्त दशरथ के समवयस्क मंत्री थे, अतः सीता के लिए वह पिता और ससुर के समान उनकी भलाई चाहने वाले थे। उनके सामने उत्तर-प्रत्युत्तर तथा तर्क-वितर्क करने को तैयार होना, भारतीय नारी के लिए, सहज संकोच का कारण हो जाता है। उत्तरभारतमें पुतोह सामान्यतया ससुर के सामने नहीं आती है—पर्दा करती है। तुलसी के समय तो मुसलमानी सल्तनत थी और पर्दा की प्रथा उत्तरभारत में उन्हीं लोगों की देन कही जाती है। इसलिए सीता को भी सुमन्त के सामने आकर कुछ सवाल-जवाब करने में शर्म हो रही थी, पर वह इस समय संकट में थी; और जब कोई आर्त हो जाता है, तब साधारण नियम टूट-से जाते हैं। इसीलिए सीता क्षमा-याचना करती हैं कि सुमन्त कुछ अन्यथा न समझें। इसके बाद ही वह अपनी बात दृढ़ता के साथ स्पष्ट कर देती हैं—'उसके लिए आर्यपुत्र रामचन्द्र के चरणों को छोड़ कर अन्य सभी नाते-रिश्ते व्यर्थ हैं।'

सीता का यह उत्तर कुछ निर्मम-सा लगता है, पर है यह समय की माँग। सुख का लालच और सुकुमारता का सहारा लेकर कोई उसे अपने कर्तव्य-पथ से विचलित नहीं कर सकता है। इसकी गन्ध जहाँ उसे मिली कि उसकी दर्प-दीप्त आत्मा, संकोच के सारे आवरण को उतार कर, वज्र घोष करने लग गई :

"पितु बैभव बिलास मैं डीठा। नृप मनि मुकुट मिलित पद पीठा॥
सुख निधान अस पितु गृह मोरें। पिय बिहीन मन भाव न भोरें॥"

सीता ने अपने पिता का अपार वैभव-विलास भी देखा है—जहाँ जनक के चरणों में बड़े-बड़े राजा-महाराजा लोटते रहते थे। ऐसा सुख-निधान उसका पितृ-गृह है, पर पति के विना उसका मन भूल से भी वहाँ जाना पसन्द नहीं करेगा।

फिर वह श्वसुर-गृह पर आती हैं :

"ससुर चक्कवइ कोसल राऊ। भुवन चारिदस प्रगट प्रभाऊ॥
आगे होइ जेहि सुरपति लेई। अरध सिंहासन आसनु देई॥
ससुरु एतादृस अवध निवासू। प्रिय परिवारु मातु सम सासू॥
बिनु रघुपति पद पदुम परागा। मोहि कोउ सपनेहुँ सुखद न लागा॥"

चक्रवर्ती दशरथ का प्रभाव चौदहों भुवन में विख्यात था—जिनका सम्मान देवेन्द्र भी करते थे। उनके समान महामहिम उनके ससुर और माता के समान सब सासें एवं भरा-पूरा प्यारा परिवार—सब कुछ एक रामचन्द्र के बिना उन्हें स्वप्न में भी सुखद नहीं जान पड़ते थे। और राम के साथ :

"अगम पंथ बन भूमि पहारा। करि केहरि सर सरित अपारा॥
कोल किरात कुरंग बिहंगा। मोहि सब सुखद प्रान पति संगा॥"

जंगल-पहाड़ के बीहड़ रास्ते, भयंकर बाघ-सिंह, भालू-हाथी, दुर्लंघ्य नदी-नद-सब सुख-प्रद प्रतीत हो रहे थे। अतः उन्होंने बड़ी विनय के साथ कहा :

"सास ससुर सन मोरि हुँति बिनय करबि परि पायँ।
मोर सोच जानि करिअ कछु मैं बन सुखी सुभायँ॥"

सुमंत को ही सीता ने अपना वकील बना लिया। अब वह जाएँ अयोध्या और उनकी ओर से चरण पकड़ कर राज-परिवासे विनय करें कि सीता के लिए वे लोग कोई चिन्ता न करें : वह जंगल में सब तरह से सुखी रहेंगी।

सुमंत आए थे समझा-बुझाकर सीता को लौटा ले जाने, पर अब उलटे बेचारे उन्हें ही जाकर समझना-बुझाना पड़ेगा!

हाय, सती नारी का यह दर्प; पुरुष के प्रति उसकी यह आस्था-निष्ठा, उसका यह अटल संकल्प, साहचर्य-सुख के लिए कुसुम-कोमला का घोर-से-घोर कष्ट सहन की यह तैयारी मान-सम्मान तथा पद-प्रतिष्ठा का भूखा-भिखारी 'पुरुष' क्या सती-साध्वी नारी का यह अद्भुत उत्सर्ग सम्हाल सकेगा?

प्रतिध्वनि उत्तर लाए!

"पर्णकुटी करिहौ कित ह्वै?" :

सीता की शीतल वाणी से जलते हुए उधर सुमन्त्र लौटे और इधर ये तीनों वन-यात्री गंगा पार करने लगे। केवट के प्रेम को देख कर जानकी मन ही मन कुछ मर्माहत भी हुई होंगी—उनका गर्व कुछ गल भी गया होगा; क्योंकि राम ने गूढ़ भाव से उनकी ओर देख लिया था। सीता ने उस गँवार केवट को कुछ देना भी चाहा, पर वह वैसा गँवार न था कि सूद के लिए मूल भी गँवा बैठता!

सीता अपने अतुल मनोबल से सत्याग्रह कर के राम के साथ हुई थीं, लेकिन

शरीर तो उनका सुकुमार था ही। कवि की दृष्टि उस पर पड़ती है और—'कवितावली' में यथा-स्थान वह इसका एक बड़ा ही मर्म-स्पर्शी चित्रण प्रस्तुत करता है :

"पुरतें निकसीं रघुबीर बधू धरि धीर दए मग में डग द्वै।
झलकीं भरि भाल कनी जल की पुट सूखि गए मधुराधर वै॥
फिर बूझति हैं चलनो अब केतिक पर्णकुटी करिहौ कित ह्वै।
तिय की लखि आतुरता पिय की अँखियाँ अति चारु चलीं जल च्वै॥"

रघुवीर-वधू सीता ने नगर से निकल कर, बड़ी वीरता से, वन-पंथ में दो कदम रखे। इतने में ही उनके मधुर अधराधर के पुट (होंठ) सूख गए और ललाट पर पसीने की बूँदें झलकने लगीं। फिर वह रामचन्द्र से पूछने लगीं—'अब कहाँ जाकर पर्णकुटी बनाओगे ?'

कुसुमांगी स्त्री की यह कोमलता, हिमालय-सा उसका वह मनःसंकल्प; और पर्णकुटी की यह आतुर खोज मर्मज्ञ एवं परम-स्नेही साथी की आँखों में आँसू ले आई ! हाय, नारी ! इसी बल-बूते पर तूने वन-यात्रा के लिए इतना आँधी-तूफान खड़ा किया था !

भोली-भाली पत्नी की इस अद्भुत स्थिति को देख पुरुष असमंजस में पड़ गया—रुके या चलता चले। चलना जरूरी था, अतः देखी अनदेखी और सुनी अनसुनी करके वह आहत-हृदय से कदम बढ़ाता गया। इधर नवनीत-कोमला नारी की आतुरता बढ़ती गई, लेकिन वह मुँह खोल कर कैसे कहे कि थक गई हैं ? कवि ने बड़ी कुशलता के साथ इस प्रसंग का चित्रण 'कवितावली' में किया है :

जल को गए लक्खन हैं लरिका परिखौ पिय छाँह घरीक ह्वै ठाढ़े।
पोंछि पसेउ बयारि करौं अरु पाँय पखारि हौं भूभुरि डाढ़े।
तुलसी रघुबीर पिया स्रम जानि कै बैठि बिलंब लौं कंटक काढ़े।
जानकी नाह को नेह लख्यौ पुलकौ तनु बारि बिलोचन बाढ़े॥"

राम ने लक्ष्मण को पानी लाने भेज दिया था, परन्तु खुद बढ़ते चले जा रहे थे। फलतः सीता भी उनके साथ घिसट रही थीं। मानिनी महिला अपनी कमजोरी कैसे प्रकट करती ? इसलिए लक्ष्मण की ओर संकेत करके उसने राम से अनुनय किया—'बच्चा लक्ष्मण पानी लाने गया है और तुम बढ़ते ही चले जा रहे हो ! (जरा भी खयाल नहीं करते कि उसे कितनी तकलीफ होगी इस कड़ी धूप में) अतएव, हे नाथ, एक क्षण यहाँ इस छाया में खड़े हो जाओ। मैं तुम्हारे मुख पर फैले पसीने को पोंछ कर हवा करती हूँ (जरूर अपने अंचल से)। फिर पानी आने पर, भूभुर में जले तुम्हारे पाँव भी धो डालूँगी।' इस पर कवि टिप्पणी करता है कि राम ने अपनी प्यारी सीता का श्रम जान लिया और बैठ कर, बड़ी देर तक वह अपने पैर के काल्पनिक काँटे निकालते रहे। जानकी ने अपने प्रियतम का यह सौजन्यमय स्नेह देखा और उनका शरीर पुलकित हो उठा तथा उनकी आँखों में स्नेह-जल उमड़ पड़ा।

प्रेम-पुलकित पति-पत्नी के मानसिक जगत् की उथल-पुथल की—उनके उमड़ते स्नेह, सघन-सहानुभूति, अगम्य कृतज्ञता, अप्रकट अकुलता—आदि की कैसी सौजन्य-पूर्ण एवं मर्म-मधुर कहानी कह दी गई है इन कतिपय शब्दों में। कवि की लेखनी-लघिमा पर मर्मज्ञ सिर धुनते रह जाते हैं। कहाँ से पाई थी यह सुकुमार मर्मानुभूति, कवि ? क्या अनजाने 'रत्नावली' कानों में कुछ कह जाती है ?

आज के सभ्य पतिदेव राम के इस आचरण में क्या कुछ शिक्षा नहीं ग्रहण कर सकते ? क्या आज का नारी-सम्मान वाला यह युग तुलसी की उस कल्पना से कुछ भी आगे जा सकता है ?

तुलसी की भाँति राम और सीता के जीवन में समा जाता और अपने जीवन में राम और सीता को उतार लेना ही क्या सच्ची राम-भक्ति और सच्ची मानस-पूजा नहीं होगी ? क्या हम—'मानस' के श्रद्धालु पाठक—इसका सत्संकल्प करें ?

"सुमुखि कहहु को आहि तुम्हारे ?" :

वन-यात्रा शुरू हो गई। गंगा पार करके प्रयाग की पावन भूमि से चलते हुए तीनों यात्री ग्रामीणों के बीच से गुजर रहे थे। गाँव के लोग इन अद्‌भुत यात्रियों को देखते हैं और दंग रह जाते हैं। सबको महान् आश्चर्य होता है।

"अगमु पंथु गिरि कानन भारी। तेहि महँ साथ नारि सुकुमारी ॥
करि केहरि बन जाइ न जोई। हम संग चलहिं जो आयसु होई ॥"

कठिन रास्ता, भयानक वन-पर्वत और साथ में सुकुमारी स्त्री—सरल ग्रामीण सहानुभूति से भर कर यथा-साध्य सहयोग देने को आतुर हो उठते हैं :

"जाब जहाँ लगि तहँ पहुँचाई। फिरबि बहोरि तुम्हहिं सिरु नाई ॥"

जहाँ तक जाना है, ग्रामीण भी उनके साथ जाएँगे और ठिकाने पहुँचा कर पुनः लौट आएँगे—भारतीय गाँवों की सरल सहयोग-सभ्यता का कितना सुन्दर रूप निखर उठा है !

जिस गाँव में ये वन-पथिक टिक जाते हैं, वह ग्राम धन्य हो जाता है, जिस पेड़ के नीचे वे बैठ जाते हैं, वह पादप पुण्यमय हो उठता है, जिस नदी-तालाब में वे नहा लेते हैं, वे सर-सरित तीर्थोपम हो जाते हैं। उनके मृदुल चरणों को स्पर्श करके भूमि भी सुख-सुषमा से सिहर उठती है !

जो उन्हें देखता है, देखता ही रह जाता है। कोई सस्नेह उनके साथ हो जाता है; और कोई-कोई तो :

"एक देखि बट छाँह भलि डासि मृदुल तृन पात।
कहहिं गँवाइअ छिनुकु स्रम गवनब अबहि कि प्रात ॥"

बरगद की घनी छाँह में मुलायम घास-पात डालकर उनके लिए बिछौना बिछा देते हैं और कुछ क्षण विश्राम करने का आकुल अनुनय करने लग जाते हैं।

कोई :

"एक कलस भरि आनहिं पानी। अँचइअ नाथ कहहिं मृदुबानी॥"

एक घड़ा पानी ले आता है और हाथ-पाँव धोने का आग्रह करने लगता है। कभी-कभी उनके आग्रह तथा :

"जानी स्रमित सीय मन माहीं। घरिक बिलंबु कीन्हु बट छाहीं॥"

जानकी की थकावट देखकर राम थोड़ी देर के लिए छाया में बैठ भी जाते हैं। उस समय सब लोग :

"एकन्ह एक बोलि सिख देहीं। लोचन लाहु लेहु छन एहीं॥

सब पुरुष एक-दूसरे को नेत्रानन्द प्राप्त करने की शिक्षा देने लग जाते हैं। फिर कुतूहल-प्रिया नारियों की दशा कौन कहे? वे तो भीड़ लगा कर खड़ी हो जाती हैं और :

"सब चितवहिं चित मन मति लाई।"

सीता के समीप जाकर गाँव की स्त्रियाँ कुछ पूछना भी चाहती हैं, पर संकोच वश पूछ नहीं पाती हैं। कवि की तल्लीनता यहाँ देखने लायक है :

"राजकुमारि बिनय हम करहीं। तिय सुभाँय कछु पूँछत डरहीं॥"
स्वामिनि अबिनय छमबि हमारी। बिलगु न मानब जानि गँवारी॥"

इतनी भूमिका के बाद वे अपनी बात पर आती हैं और दोनों राजकुमारों के सौन्दर्य की सराहना करके पूछ बैठती हैं :

"कोटि मनोज लजावनिहारे। सुमुखि कहहु को आहि तुम्हारे।"

कोटि कामदेव को लजाने वाले ये दोनों राजकुमार सीता के कौन होते हैं—उन ग्रामीण वधुओं की यही जिज्ञासा है, और वे कितने स्वाभाविक ढंग से पूछती हैं!

सीता ने उनकी प्रेमभरी वाणी सुनी और वह कुछ संकुचित होकर मन-ही-मन मुसकराने लगीं। यहाँ कवि ने सीता के संकोच, स्नेह और प्रसन्नता की जैसी आनुभाविक चेष्टाएँ दिखाई हैं, उनसे उत्तरभारत की सत्कुलीन नारियों का स्वाभाविक चित्रण सजीव हो उठा है :

"तिन्हहिं बिलोकि बिलोकति धरनी। दुहुँ सँकोच सकुचति बर बरनी॥
सकुचि सप्रेम बाल मृग नयनी। बोली मधुर बचन पिक बयनी॥
सहज सुभाय सुभग तन गोरे। नामु लखनु लघु देवर मोरे॥"

पति के सामने, दूसरी स्त्रियों से अपने बारे में कुछ कहना या पति का परिचय देना यह उत्तरभारत की सामाजिक पार्श्वभूमि में संकोच का विषय माना जाता है। 'मानस' का कवि उसी पार्श्वभूमि का प्राणी है, अतः वह उससे सम्पृक्त ही नहीं, ओत-प्रोत भी है :

"बहुरि बदनु बिधु अंचल ढाँकी। पिय तन चितइ भौंह करि बाँकी॥
खंजन मंजु तिरीछे नयननि। निज पति कहेउ तिन्हहिं सिय सयननि॥"

सीता ने अपना चन्द्रमुख अंचल से ढँक लिया, और फिर भौंहें टेढ़ी करके, पति की ओर देखा। उनके खंजन-नयन कुछ तिरछे हुए और उन्होंने इशारे से बता दिया, कि वही उनके पति हैं।

जितने मनोयोग से कवि ने यह चित्र खींचा है, वह उसके अन्तर के चित्रपट को स्पष्ट करता है। यह चित्र आदिकवि कंबन या रंगनाथ (तेलुगु) की रामायण में नहीं मिलेगा। क्योंकि उन सबके साथ तत्कालीन सामाजिक पृष्ठभूमि लगी हुई है। कवि की यह लाचारी ऐतिहासिक वातावरण को कुछ अगम्य अवश्य कर देती है—किन्तु यह तो कला-जगत् में सदा से क्षम्य ही मानी गयी है। अतः कुछ दूरस्थ दर्शकों को इस तस्वीर से आश्चर्य हो सकता है, पर इसमें अनुताप का कोई कारण नहीं है।

सीता के इंगित से सब ग्राम-वधुएँ प्रसन्न हुईं और अनेक तरह से आशीर्वाद देने लगीं। उन्होंने पुनः अत्यन्त आग्रह से कहा, कि इस रास्ते अगर वे लौटें तो :

"दरसनु देब जानि निज दासी।"

सीता ने प्रेम की प्यासी इन स्त्रियों को देखा, और वह मुग्ध रह गईं; तथा :

"मधुर बचन कहि कहि परितोषी। जनु कुमुदिनी कौमुदी पोषी॥"

जैसे चन्द्र-ज्योत्स्ना कुमुदिनियों को उत्फुल्ल बना देती है, उसी प्रकार सीता ने भी, अपनी मृदु मधुर बातों से, उन्हें संतुष्ट कर दिया।

"पुत्रि पवित्र किए कुल दोऊ" :

चित्रकूट की पर्णकुटी में रहते समय जब एकाएक अयोध्या से भरत का और मिथिला से जनक का स्नेही समाज वहाँ आ जुटा, तब सब आत्मीयों की ममतामयी दृष्टि सीता पर केन्द्रित हो गई।

सीता पहले से ही कुछ चकित थीं। उस आदर्श राजकुल में कैकेयी के कुचक्र के कारण सहसा राज्य-विप्लव का जो आँधी-तूफान उठा, उसमें उस भोली-भाली जनकतनया का दम घुँटने लगा और वह उस दम-घोंट वातावरण से निकल भागने के लिए जैसी आतुर, व्यग्र और आग्रही हो गई, वह सब हम देख आए हैं। उसने एक ही आधार पकड़ा—वह अपने पति के साथ रहेगी जो उसके जीवन-मरण का शाश्वत साथी है। उसको किसी ने वनवास नहीं दिया था, वह सबकी प्यारी थी, सब उसे

आराम से रहने देने के पक्ष में थे—यहाँ तक कि कैकेयी भी यह नहीं सोच सकी थी कि सुषमा-राशि सुकुमारी सीता अकारण जंगल जाने को यों हठ कर बैठेगी। उसकी इस उतावली और उत्सुक तत्परता को देखकर, मन ही मन वह निर्मम नारी भी दाँतों तले जीभ दबाने लगी—उसका पत्थर-सा कलेजा भी कसक उठा और वह एक मौन-विस्मय से उसकी ओर देखती भर रह गई ! सीता का यह अद्‌भुत आचरण, अपनी मौन भाषा में, जैसे उस क्रूरमना कैकेयी को ललकार रहा था—'देख, नादान नारी ! एक तू है—जो तुच्छ राज्य के लोभ में पड़कर एक सम्भ्रान्त कुल को यों नष्ट-भ्रष्ट कर रही है, प्रीति के पुतले भाई-भाई में यों विरोध का बीज बो रही है, प्राणों से प्रिय अपने यशस्वी पति को यों दुर्दशा-ग्रस्त बना रही है : और उसी कुल की एक मैं भी अबोध वधू हूँ—जो आग्रह करके, दुर्गम गिरि-कानन में भी, अपने पति की छाया बनने जा रही हूँ।'

अविनय, निर्ममता, दुराग्रह, दुरभिसन्धि तथा स्वार्थ-परता के उस घनान्धकार में, विद्युल्लता-सी चमक कर, जनकनन्दिनी ने जो वह अभूतपूर्व आलोक बिखेरा, क्या उसकी चतुर्दिक् व्याप्त वह चकाचौंध कभी मिट सकती है ?

उस विद्युत्-बाला को वल्कल-वसना तपस्विनी के वेश में देख कर, अयोध्या और मिथिला ही क्या, त्रिभुवन के समस्त चर-अचर, मुँह बाए रह गये ? क्या कैकेयी के सामने खड़े भरत इससे विस्मित तथा उत्प्रेरित नहीं हुए होंगे ? और जब चित्रकूट के समीप पहुँच कर केवट ने भरत को पर्णकुटी का दर्शन कराया—जहाँ :

"बट छायाँ बेदिका बनाई। सियँ निज पानि सरोज सुहाई॥"

सघन छाया वाले बरगद के पेड़ के नीचे सीता ने यहाँ अपने कमल-कोमल हाथों से सुन्दर चबूतरा बनाया था—जिसे देखकर भरत क्या यों ही भावाकुल हो उठे थे :

"सखा बचन सुनि बिटप निहारी। उमगे भरत बिलोचन बारी॥"

उसी चबूतरे पर सीता के साथ रामचन्द्र विराजमान थे और ऋषि-मुनियों का समाज उन्हें घेर कर बैठा था :

"लसत मंजु मुनि मंडली मध्य सीय रघुचंदु।"

इस दृश्य ने क्या भरत को कोई दिव्य पाठ नहीं पढ़ाया होगा ? उसी उच्च भूमिका से सीता ने राम के चरणों में लोटते हुए भरत को देखा और विस्मय की स्थिति से उठ कर विह्वल हो गई—'अरे, इन्हीं के लिए न इतनी उथल-पुथल मचाई गई थी।'

और जब वही भरत उसके पैरों पर भी जा गिरे, तब तो सीता की विह्वलता व्याकुलता का रूप लेने लगी :

"पुनि पुनि करत प्रनाम उठाए। सिर कर कमल परसि बैठाए॥
सीयँ असीस दीन्ह मन माँहीं। मगन सनेह देह सुधि नाहीं॥"

प्रणाम करते हुए भरत को उन्होंने अपने सुकोमल हाथों से अपने पास बिठा लिया, मन ही मन आशीर्वाद दिया और वह देह की सब सुध-बुध भूल बैठीं :

वाणी अनुभूति को अभिव्यक्त करती है और जब अनुभूति ही अन्धी हो जाती है—आकुल हो उठती है, तब वाणी कहती क्या ? इसीसे सीता ने मौन भाषा में ही भरत को आशीर्वाद दिया।

भरत की सारी भीति इसी मंजुल मूर्ति में समाई हुई थी : क्योंकि जो अपनी अपराजित इच्छा-शक्ति से राम को प्रभावित करके वनवास में यों साथ हो गई थीं, उसकी भ्रू-भंगिमा पर ही तो भरत का अन्ध-भाग्य प्रकाश का स्वप्न देख सकता था।

अतः जब भरत ने देखा :

"सब बिधि सानुकूल लखि सीता। भे निसोच उर अपडर बीता॥"

सीता उन पर पूर्ण प्रसन्न हैं, तब उनका सारा कल्पित भय दूर हो गया और वह चिन्ता-रहित हो गए।

सीता का विस्मय, जो तेजी से विषाद में बदलता जा रहा था, अब कुतूहल में परिणत हो गया—'अरे, यह सब क्या हो रहा है !'

उधर सीता ने यह भी देखा :

"प्रथम राम भेंटी कैकेई। सरल सुभायँ भगति मति भेई॥"

राम ने पहले कैकेयी के ही चरण छूए और अपने निश्छल स्वभाव तथा भक्ति-भावना से उन्होंने उनकी बुद्धि को भेद दिया—उसकी दुर्बुद्धि का पर्दा हटा दिया।

सीता तो मानो सबसे स्पर्धा करने ही निकल पड़ी थीं; स्पर्धा—हाँ, सौजन्य और सारल्य, सेवा और शुश्रूषा, त्याग और तपस्या, सहनशीलता और सन्तोष, मृदुलता तथा दृढ़ता—आदि में सबसे आगे बढ़ जाने का शुद्ध संकल्प लेकर ही जैसे वह हठ करके राम के साथ हो गई थीं :

"बन्दि बन्दि पग सिय सबही के। आसिर बचन लहे प्रिय जी के॥"

सासों का वैधव्य देखकर सीता सहम गईं; और जब सासों ने उन्हें देखा, तो वे एकदम व्याकुल हो उठीं—'हाय, जो उनकी आँखों की पुतली थी, वह आज रन-बन में यों फटेहाल घूम रही है !'

सीता ने सब सासों की सेवा ऐसी तत्परता तथा समादर के साथ की कि वह सबको अपने ही पास दीख पड़ीं। कवि इसे सीता की माया-शक्ति कह कर संतोष कर लेता है, पर यह युग तो उसे उनकी तत्परता और तल्लीनता ही कहेगा।

सेवा का सर्वोत्तम पुरस्कार होता है अन्तर से निकला शुभाशीर्वाद :

"सीयँ सासु सेवा बस कीन्हीं। तिन्ह लहि सुख सिख आसिष दीन्हीं ॥"

सीता की सेवा से सासों ने सुख प्राप्त किया और बदले में उन्होंने उसे सीख और शुभकामना दी। उन सासों में कैकेयी भी थी। उसने जब :

"लखि सिय सहित सरल दोउ भाई। कुटिल रानि पछतानि अघाई ॥
अवनि जमहि जाँचति कैकेई। महि न बीचु बिधि मीचु न देई ॥"

सीता के साथ उन दोनों भाइयों को जब निश्छल सरलता से व्यवहार करते देखा, तब कैकेयी एकदम कट गई—'हाय, मैंने क्या किया! वह धरती और ध्वंस दोनों से याचना करने लगी; पर न धरती ही धँसी कि वह उसमें घुस जाती, सबकी आँखों से ओझल हो जाती—और न विधाता ने मौत को ही उसके पास भेजा, कि वह मुर्दा हो जाती!

सीता ने कैकेयी का यह मनस्ताप देखा, उधर भरत के प्रति प्रेम-परवश राम का वह महान् विस्मयोत्पादक आश्वासन सुना :

"मन प्रसन्न करि सकुच तजि कहहु करौं सोइ आजु ॥"

तब उनके आश्चर्य में एक आकुल उत्कण्ठा आ घुसी—'क्या सचमुच दृढ़-प्रतिज्ञ राम, अपनी प्रतिज्ञा भूल कर, भरत का कहना मान लेंगे?' सीता का अन्तर इसे स्वीकार नहीं करता था, पर प्रेम की यह स्पर्द्धा—सब-कुछ लुटा देने की यह अन्धी बाजी—तो उन्हें एक अद्भुत आह्लाद तथा एक स्वस्थ स्पर्द्धा से भर कर पुलकाकुल करने लगी; और उस समय जो क्षण मौन में बीते, उनकी तीक्ष्ण सक्रियता का क्या कोई अन्दाजा लगा सकता है? सीता ने ही नहीं, उनके साथ सारी सृष्टि ने भी उत्सुक, उत्कर्ण और उग्रीव होकर ही नहीं, कलेजे की धड़कन दबा कर भी, भरत की ओर देखा।

और जब सीता ने सुना :

"प्रभु प्रसन्न मन सकुच तजि जो जेहि आयसु देब।
सो सिर धरि धरि करिहि सबु मिटहि अनट अबरेब ॥"

प्रसन्न मन से राम जिसे जो आज्ञा देंगे, तब लोग उसे ही सिर-आँखों पर लेंगे—इसी में सब की शान्ति और सन्तुष्टि समाई हुई है; तब उनकी स्पर्धा सनकी और पंख लगालर अनन्त गगन में उड़ने लगी—'इसे कहते हैं मनस्विता, उत्सर्ग इसका नाम है, प्रेम और आत्मीयता इसे कहा जाएगा—अपना सब कुछ छोड़ कर दूसरे में समा जाना!'

सीता ने देखा—जो राम सबको छोड़ कर जंगल चले आए थे, वही भरत में समा गए; और जो भरत सबसे मुँह मोड़ कर, बड़ी तैयारी के साथ, राम को लौटाने

आए थे, वह सब-कुछ भूल कर पुनः राम में समा गए। त्यागमयी सुकोमल भावनाओं की यह भिड़न्त कैसी अनूठी थी—हार में जीत और जीतमें हार का यह कैसा प्रोज्ज्वल प्रदर्शन था !

"बस, उनकी सुकुमार स्पर्धा, इस समाकुल समारोह में साँस लेकर, स्वस्थ, सुस्थिर, सूक्ष्म तथा सशक्त हो गई, जैसे अखाड़े में लड़कर किसी की मसृणता मजबूती में बदल जाती है। इस जीवन्त शिक्षा-शाला में उन्होंने जो पाठ पढ़ा, वह पाठ उन्हें कभी न भूला, और दर्प-दीप्त होकर स्पर्द्धाके प्रांगण में, वह सदा सबके आगे-आगे चलने लगीं।

भरत ने माता को छोड़ कर राम को अपनाया था, बदले में राम ने अपनी टेक भूलकर भरत को अपनाया; पर सीता ने तो अन्तर के समस्त आकुल-आह्लाद के साथ केवल राम को वरण किया था, इसलिए उन्होंने चुपचाप पहले राजमहल को छोड़ा, फिर हाथ-पैर पकड़ कर सास-ससुर को छोड़ा, और कौन जाने आगे-आगे उन्हें और क्या-क्या छोड़ना पड़ता है !

अयोध्या के शोक-सन्तप्त समाज को देख कर सीता का उत्साह गुप-चुप उल्लास का ही रूप लेता रहा, लेकिन जब जनक का स्नेह-सागर वाला समाज आ जुटा, तब उनका उल्लास कुछ उन्मत्त होने लगा—'माता-पिता कहीं आग्रह करके उन्हें अपने साथ न ले जाएँ।'

और यह आशंका अनहोनी तो थी नहीं। दृश्य भी कुछ ऐसा उपस्थित हुआ, कि सीता भीतर-ही-भीतर डोल उठीं।

जगत-प्रसिद्ध ज्ञानी की पत्नी, जानकी की जननी, जब अयोध्या की राज-महिषी को सान्त्वना देकर लौटीं, तो सीता भी माँ के साथ आईं। भला मायके के लोगों से वह कैसे नहीं मिलतीं ? पिता का ज्ञान उन्हें भरोसा देता था—राजर्षि जनक का प्यार उनके मार्ग में बाधक नहीं बनेगा; लेकिन माँ—वह क्या उन्हें जंगल जाने देंगी ? यह दुविधा उसके दिल को डगमगा रही थी, लेकिन दिखाना तो था उन्हें अपना उमड़ता हुआ उत्साह ही सबको !

आह, प्रेम और कर्तव्य का अनभीप्सित अभिनय कितना कठोर होता है—सो भी सत्संकल्प के ऊपर उत्सर्गित सत्कुलीन नारी के जीवन-नाटक का यह अभिनय !

"सिय समेत सियमातु तब चली सुआयसु पाइ।"

माता के साथ सीता आईं, और :

"प्रिय परिजनहिं मिली बैदेही। जो जेहि जोग भाँति तेहि तेही॥
तापस बेष जानकी देखी। भा सबु बिकल बिषाद बिसेषी॥"

शादी के बाद जो देव-दुर्लभ सुषमा सीता को घेर कर मिथिला में खड़ी हुई थी, अब उसका यह तापस-कन्या वाला वेश किसे व्याकुल नहीं बनाता ! सीता इस व्याकुलता से उतना नहीं घबड़ाईं, लेकिन जब जनक भी वहाँ आ पहुँचे—और :

"लीन्ह लाइ उर जनक जानकी। पाहुनि पावन प्रेम प्रानकी ॥
उर उमगेउ अंबुधि अनुरागू। भयउ भूप मन मनहुँ पयागू ॥"

जनक ने जब अपने प्राणों की पवित्र प्रेम-मूर्ति उस दुलारी सीता को देखा, तो ललक कर उसे छाती से चिपका लिया। उनके हृदय में अनुराग का सागर उमड़ पड़ा और उनका मन जैसे तीर्थराज प्रयाग हो गया हो!

यहाँ कवि जनक की प्रेमाकुलता को एक पौराणिक आख्यान के आधार पर रूपक के रूप में खड़ा करता है, जब मार्कण्डेय मुनि डूबते-डूबते बच गए थे—प्रलय-कालीन प्लावन में अक्षयवट को बढ़ते देख कर :

"सिय सनेह बटु बाढ़त जोहा। तापर राम पेम सिसु सोहा ॥
चिरजीवी मुनि ग्यान बिकल जनु। बूड़त लहेउ बाल अवलंबनु ॥"

मार्कण्डेय मुनि चिरंजीवी थे, लेकिन महाप्रलय में जब उमड़ कर सागर समस्त संसार को निगलने लग गया, तब मार्कण्डेय मुनि का ज्ञान भी विकल हो उठा—'अब तो हम भी डूबे।' उसी समय प्रयाग के संगम स्थल में समुन्नत महा अक्षयवट जैसे बढ़ा और उसके पत्ते पर पौढ़े शिशु-स्वरूप परमात्मा को देख कर जैसे मार्कण्डेय मुनि के प्राण बच गये : जनक ने भी सीता के बढ़ते स्नेहरूपी अक्षयवट के पर्ण पर रामरूपी शिशु को देखा और सहसा वह सुख की साँस लेने लग गए।

बड़ा ही मर्म-स्पर्शी यह सांग रूपक है। प्रलयकालीन प्रयाग का कैसा अनूठा चित्रण प्रस्तुत करता है कवि, जो जनक महाराज के उमड़ते हृदय की समता में खड़ा होता है। अक्षयवट प्रयाग में ही बढ़ कर विशाल हुआ था—जानकी का स्नेह उसकी होड़ कर रहा है। उसके पत्ते पर ही तो राम-परमात्मा सुखासीन हैं—जिन्हें देख कर जनक के विकल प्राण बच गए।

आह, तुलसी के राम को किस मंजुल ममत्व से सीता प्यार करती हैं—क्या इसमें कवि का भी कुछ भाग नहीं रहा है!

परम ज्ञानी जनक की यह व्याकुलता सीता को व्याकुल क्यों न बनाती :

"सिय पितु मातु सनेह बस बिकल न सकी सँभारि।
धरनि सुता धीरज धरेउ समउ सुधरमु बिचारि ॥"

लेकिन समय और सुधर्म का विचार करके उस सहन-शील धरित्री-पुत्री ने अपने को सम्हाला। उसके प्रेम और उसके तापसी वेश को देखकर जनक के सन्तोष की सीमा न रही और आह्लाद के गर्व से भर कर उन्होंने गद्-गद् कण्ठ से कहा :

"पुत्रि पवित्र किए कुल दोऊ। सुजस धवल जगु कह सबु कोऊ ॥
जिति सुरसरि कीरति सरि तोरी। गवनु कीन्ह बिधि अंड करोरी ॥"

जिसके सुयश से सारा संसार उज्ज्वल हो रहा हो, जिसकी कीर्तिकलस्विनी ने

गंगा को भी जीत लिया हो और जो शत-सहस्र धाराओं में उमड़ कर करोड़ों ब्रह्माण्ड में फैल गई हो—उस बेटी के बाप की खुशी को नापने का दुस्साहस कौन करे !

पिता ने पुत्री की जो प्रशंसा की, उसने उसे संकोचावरण में ढँक लिया। यों संकुचित होते देख कर माता-पिता ने पुनः उसे छाती से लगा लिया। इस प्रेमाधिक्य से सीता और सशंक हो उठीं— कहीं रात में ये लोग मुझे रोक न लें, फिर तो मैं दुःखिनी सासों की सेवा से भी वंचित हो जाऊँगी। अतः उनकी भीति उभरने लगी :

"कहति न सीयँ सकुचि मन माहीं। इहाँ बसब रजनी भल नाहीं ॥"

मुँह खोल कर वह कहती तो कुछ नहीं, पर उनका रोम-रोम जैसे जता रहा हो—'रात में यहाँ रहना अच्छा नहीं होगा।'

समय और सुधर्म की यह दूसरी माँग थी, जो माता और पिता को और भी पुलकित करने लगी :

"लखि रुख रानि बनायउ राऊ। हृदय सराहत सील सुभाऊ ॥"

रानी ने इशारे से राजा को सब-कुछ बता दिया। और सीता सप्रेम लौट आईं अपने कुटिया में।

धन्य धरित्री, और धन्य उसका यह भरतखण्ड, जिसने उस 'दीप-शिखा' को अपनी कोख में धारण किया था !

"सीता चरन चोंच हति भागा" :

पुरुष पौरुष-प्रधान कहा गया है अवश्य, पर उसके पौरुष में सृजन-संहार की जो अद्‌भुत शक्ति छिपी पाई जाती है, वह नारी की देन है। विद्युत् की अन्धी और अजेय शक्ति जैसे स्थूल का आधार पाकर उन्मत्त हो जाती है—कौंधती, गरजती एवं अग-जग को नापती फिरती है : नेहमयी नारी का आकुल आनन देख पुरुष का पौरुष भी मचल कर प्रचण्ड बन जाता है।

प्रेममयी प्रमदा की प्रेरणा पुरुष के पौरुष को कैसा अपार और अपराजेय बना देती है, इसका अपूर्व निदर्शन हमें सीता की स्वयंवर-सभामें मिल चुका है। अब चित्रकूट-स्थित पर्णकुटी का भी एक दृश्य देख लिया जाए।

चौदह वर्ष वन में बसने का व्रत लेकर आए हुए स्नेह, सुषमा एवं शील की मंजुल मूर्तियों की उस निर्जन पर्णकुटी में अयोध्या और मिथिला से जो भावाकुल जन-समागम हुआ था, उसमें उन व्रतधारियों का स्वाभाविक जीवन-क्रम कुछ खो-सा गया था। भीड़ के छँट जाने पर वह यथावत् हो गया है।

स्नेह का सबसे बड़ा स्वार्थ, उसकी उत्कट भूख या उसकी सहज प्रवृत्ति होती है—साथ-साथ रहने की भूख। सीता इसी कामना से आकुल

होकर राम के साथ हो गई थीं। अयोध्या के सेवा-तत्पर प्रहरी और उन्नत प्राचीरों से घिरे राज-भवनों में जो वर्ष उनके बीते थे, उस दीर्घावधि में सीता को कोई कष्ट था, यह तो कल्पनातीत ही है; फिर भी दोनों को आवश्यक अवकाश बहुत कम अवश्य था, बन्ध-प्रतिबन्ध भी कम न थे, मिलने-जुलने की स्वच्छन्दता भी सीमित थी, जिससे सीता की आत्मा की वह भूख, राम के साहचर्य की वह कामना-कलक, कदाचित् ही आज की तरह कभी परितृप्त हो सकी होगी। सीता की वह संतृप्ति कैसी स्पृहणीय थी, कवि के शब्दोंमें ही उसकी झाँकी-झलक ली जाए :

"एक बार चुनि कुसुम सुहाए। निज कर भूषन राम बनाए।।
सीतहि पहिराए प्रभु सादर। बैठे फटिक सिला पर सुंदर।।"

दुपहरी की बेला आ पहुँची थी। आहार के बाद सीता और राम के अवकाशमय जीवन में विपुल विहार ही आकर्षक हो रहा था। निरभ्र नीलाकाश के नीचे की चित्रकूटस्थ कुसुमित वनश्रेणी, अपने अनन्त वैभव को बिखेर कर, उन्हें आकुल आह्वान जो दे रही थी !

दोनों पुलक-प्रफुल्ल प्राणी वन-विहार के लिए निकले। उन अपूर्व अतिथियों को अपने बीच देख कर वन सादर बिहँस उठे, शत-सहस्र सुमन एक साथ हृदय खोल कर सौरभ लुटाने लगे, चिड़ियाँ चहक उठीं, पर्ण-पुंजों में छिप कर बैठी कोकिला उन्मत्त होकर कूकने लगी, शीतल समीरण चंचल हो उठा। जैसे आभामय सारा अरण्य ही उनके स्वागत में ससंभ्रम उठ खड़ा हुआ हो। दोनों पुलकाकुल होने लगे। पुष्पित लताएँ झूम-झूम कर दोनों पर गिरने लगीं।

राम ने उनका संकेत समझ कर सुन्दर-सुन्दर फूल चुने और अपने हाथों से सीता के लिए कई किस्म के भूषण बनाए और आदर के साथ जनक-नन्दिनी सीता को उनसे सजा दिया।

मिथिला में उनकी ममतामयी माँ ने और अवध में सम्भ्रान्त सासों ने भी, यदा-कदा, सस्नेह सजा दिया होगा। लाड़ली को उससे आह्लाद भी कम न हुआ होगा, लेकिन आज उसके स्नेही-संगी ने जिस दिव्य दुलार से उन्हें सजाया, इसके सामने उनके मायके तथा सासुरे के सारे लाड़-प्यार क्या सेमल की रुई की तरह उड़ कर अनन्त में विलीन नहीं हो जाते हैं ?

अहा, प्राणोपम प्रियतम ने उमड़ते अन्तस्तल से, सिहरती उँगलियों से तथा उत्सुक नयनों से देख-परख कर सुमन-संग्रह किये होंगे, मुग्ध भाव से यत्न-पूर्वक उन्हें गूँथा होगा और पुनः विह्वल हाथों से उनसे सस्मित-आनना सीता का साज-शृंगार किया होगा। सुमन की रानी एक सती-साध्वी तथा जीवन-संगिनी के लिए इससे बड़ा सुख और क्या हो सकता है ?

क्षण-क्षण ऊर्ध्वोन्मुख उनका स्नेह, पूर्णेन्दु-सा उमड़ता उनका स्वस्थ, शीतल एवं सरल सौन्दर्य, विशाल कुसुमित कानन-सा उनका उपेक्षामय नवल-यौवन और इन

सत्वों का शान्त-संयत संगम कवि के उस 'सादर' शब्द में कितना मर्म-मधुर, कितना व्यंजना-विशाल तथा कितना भावोर्म्मिल हो रहा है !

उत्फुल्ल-नयना सीता को यों सजाकर राम उनके साथ एक स्फटिक-शिला पर जा बैठे। वह शिला साधारण स्फटिक नहीं, सुन्दर भी थी।

स्फटिक-शिला यों ही आरसी बन जाती है, और जब वह सुन्दर भी हो, तब वह सुन्दरता की प्रेमल प्रतिमाओं को अपने अंक में किस मनोहरता के साथ प्रतिबिम्बित करेगी, अनुभव-सिद्ध है। जैसे धरती ने ही अपना सुकोमल वक्ष खोल कर उन्हें मुग्ध भाव से उस पर बिठा लिया हो !

उस स्फटिक शिला पर बैठे दोनों स्नेही कभी शिला के सौन्दर्य को देखते हैं, कभी एक-दूसरे का सस्मित वदन देखते हैं और कभी उस शिला में झिलमिलाते अपने अंग-विन्यास पर आप मुग्ध हो जाते हैं।

धन्य वह शिला, जो सुषमा-सिन्धु को यों अपनी स्निग्ध गोद में हलरा रही है; धन्य वह स्त्री, जिसको फूलों से सजा कर उसने बगल में बिठा लिया है; और धन्य वह पुरुष—जिसने आज अपने पौरुष-पाषाण के भीतर से इस स्नेह-निर्झर को निकाला और उसमें अवगाहन करके जीवन की कृतार्थता प्राप्त की ! उसकी भुजाओं ने धनुष तोड़ कर चराचर को दिङ्मूढ़ बना दिया था, पर आज का उसका वह पुष्प-चयन, अपने हाथों उनसे भूषण बनाना और फिर प्रेमाकुल तन-मन से अपनी प्रेयसी को उनसे सजा, उसे बगल में लेकर सुन्दर शिला पर यों जा बैठना—मूक प्रकृति, मूक-मानस तथा मूक भुजाओं को कितना धन्य बना रहा है ! सुषमा-शिरोमणि सीते, चूस लो अपनी सारी शक्ति लगाकर इन चपल क्षणों की एक-एक स्वरूपकनिका को; क्योंकि कौन जाने अन्तरिक्ष के अंचल में छिपा असहनशील विधाता, धूल की इस धरती में लोटने का मंसूबा लेकर आए हुए नर-नारियों का यह असीम सौभाग्य शान्त भाव से देखता रह सकेगा ?

स्फटिक-शिला पर बैठे हुए राम और सीता जब प्रेमामृत का पान करके परस्पर यों मुग्ध हो रहे थे, तब वे अपने विकसित मंजुल मुख-कंज और कण्टकित कोमल काया को देख कर जाने किस मोद-उदधि में डूब गए।

अहा, कौन ऐसी नादान नारी होगी जो इस पार्थिव सुख के सामने स्वर्ग की कामना करेगी ?

यों साहचर्य का अनुपम सुख लूटते-लूटते राम की पलकें भारी हुईं और वह संगिनी की गोद में सुख से सो गए। सीता सजग होकर उनका मन-हर मुख देखती अपने अंचल से हवा कर रही थीं। उनके मुग्ध मानस में उस समय क्या-क्या भाव उठ रहे थे, यह तो विधाता भी नहीं बता सकता है, पर यह तो स्पष्ट है कि इसी सरल साहचर्य-सुख के लिए हठ करके, वह वन-पथ पर चल पड़ी हैं। फिर ऐसी कृतार्थता से वह अपने आप में क्यों न खो जातीं।

तभी हठात् एक कौआ वहाँ आया और इधर-उधर देख कर सीता के ऊपर झपट पड़ा। कवि के शब्दों में :

"सुरपति सुत धरि वायस बेषा। सठ चाहत रघुपति बल देखा॥
जिमि पिपीलिका सागर थाहा। महा मंद मति पावन चाहा॥"

देवेन्द्र के मनचले सपूत जयन्त कौआ बन कर वहाँ आ पहुँचे और सीता को देख-देख कर उछल-कूद करने लगे। महापराक्रमी राम उनकी गोद में विश्राम कर रहे हैं, उस उद्धत जयन्त ने इसकी कोई परवाह न की और दुष्टता से चोंच चलाने लग गया। इसीसे कवि उसे 'महामंद' और शठ कहता है। जैसे कोई चींटी सागर की थाह लेने चले, वह मूढ़ भी सीता के साथ छेड़खानी करके राम का बल परखना चाहता है।

कवि के शब्दों में :

"सीता चरण चोंच हति भागा। मूढ़ मंदमति कारन कागा॥"

भक्ति कवि ने यहाँ संकोच-वश चरण का ही उल्लेख किया है—उनकी भक्ति-भावना ने सीता के चरण से ऊपर उन्हें जाने नहीं दिया, किन्तु अरण्यवासी आदिकवि को इन सब बातों में कोई संकोच नहीं सताता है। वह स्पष्ट कहते हैं :

"सुखसुप्ता त्वया सार्धं जानकी पूर्वमुत्थिता।
वायसः सहसोत्पत्य विददार स्तनान्तरम्॥"

कौए ने जानकी के उन्नत उरोजों में चंचु-आघात किया था—सो भी एक बार नहीं :

"ततः पुनरुपागम्य विददार भृशं किल॥"

बार-बार झपट कर उनके स्तन को नोंच डाला। राम विश्रब्ध-विश्राम थे—गाढ़ी नींद में सोए हुए थे और सीता उनका सिर यत्नपूर्वक अपनी गोद में सम्हाले हुए थीं। कौए ने तंग करना शुरू किया, उसके दुष्टता-पूर्ण आक्रमण से उन्हें असह्य पीड़ा होने लगी, पर वह सती-साध्वी जरा भी हिली-डुलीं नहीं—कौए के क्रूर कर्म से जरा विचलित नहीं बनीं, इस भय से कि कहीं राम की नींद न खुल जाए। उन्हें मर्मान्तक पीड़ा हो ही रही थी, परन्तु, पति को सुख देने के लिए, वह सुस्थिर रह कर सब व्यथा झेलती जा रही थीं!

पुरुष के प्रति ममतामयी का यह मौन आत्मसमर्पण—क्या किसी ऋषि-मुनि की कठिन तपस्या से कम कहा जाएगा? किन्तु पुरुष इसकी याद रख सकेगा?

सीता भले ही अपने मनोबल से अपने अंगों को सुस्थिर किए रहतीं, पर उनका सुकोमल वक्ष उन आघातों से कैसे विदीर्ण नहीं होता? आदिकवि ने इसका बड़ा ही

प्रभावोत्पादक विवरण उपस्थित किया है; लेकिन हमारे कवि ने थोड़े ही शब्दों में उसे व्यक्त कर दिया है :

"चला रुधिर रघुनायक जाना। सींक धनुष सायक संधाना॥"

सीता के पाँव से रुधिर की धारा बही और राम ने सींक (तृण) का बाण अपने धनुष पर चढ़ाया।

अब जरा आदिकवि का वर्णन भी देख लिया जाए :

"वायसेन च तेनैव सततं बाध्यमानया।
बोधितः किल देव्या त्वं सुखसुप्तः परंतप॥"

देवी के बार-बार पीड़ित होने पर, सुख से सोए रामचन्द्र, सीता के द्वारा जगाए गए। जग जाने पर रामचन्द्र की अवस्था :

"तां च दृष्ट्वा महाबाहो दारितां च स्तनान्तरे।
आशीविष इव क्रुद्धस्ततो वाक्यं त्वमूचिवान्॥
नखाग्रैः केन ते भीरु दारितं वै स्तनान्तरम्।
कः क्रीडति सरोषेण पचंवक्त्रेण भोगिना॥"

जागते ही उनकी दृष्टि सर्वप्रथम सीता के क्षत-विक्षत स्तनों पर पड़ी—जिनसे रुधिर निकल रहा था, बस और वह आग-बबूला होकर बोले—'कोमलांगी, बताओ, किसने नखों से तेरे ये स्तन विदीर्ण कर दिए हैं?'

स्नेहमयी नारी की यह दुर्दशा देखते ही पुरुष का पौरुष प्रचण्ड हो गया और सामने ढीठ अपराधी को बैठा देख कर तो वह महाकाल ही बन गया।

दक्षिण के महाकवि कंबन के मुख से भी कुछ लेना यहाँ अप्रासंगिक न होगा। उनके परम भक्त श्री वी० वी० एस० ऐयर का अंगरेजी अनुवाद यहाँ उपस्थित किया जाता है :

"Once on the mountain side where elephants
Do range, a raven came and clawed me sore
With cruel toes, and lo, in fiery rage
He took a blade of grass that lay at hand,
And one relentless the dart he sped."

कंबन भी भक्त थे, यद्यपि उन्होंने आँख मूँद कर आदिकवि का अनुसरण किया है, पर यहाँ वह भी कुछ कतराते दीख रहे हैं—स्तन का उल्लेख वह नहीं कर सके।

तदनन्तर सभी कवियों ने मुक्त-कण्ठ से पुरुष के पराक्रम और दुष्ट जयन्त की दुःस्थिति के गान गाए हैं—जिनसे हमारा यहाँ सीधा सम्बन्ध नहीं। लेकिन इतना तो कह ही देना है कि महावीर राम ने बड़ी आसानी से सीता के अपमान का बदला

लिया। पैरों पर गिरने से उस दुष्ट की जान तो बच गई, लेकिन एक आँख सदा के लिए जाती रही—

"एक नयन करि तजा भवानी।"

आज भी लोक-धारणा है कि जयन्त के अपराध के फलस्वरूप केवल उसी की एक आँख नहीं गई, बल्कि कौए की जाति ही 'एकाक्षी' हो गई !

इस घटना के बाद राम ने चित्रकूट छोड़ दिया और सब लोग अत्रि के आश्रम में आ गए।

सीता के सुख और सौभाग्य का सूरज ऊपर ही चढ़ता जा रहा था।

"सपनेहु आन पुरुष जग नाहीं"

अत्रि मुनि की धर्म-संगिनी अनसूया के सतीत्व की, उस समय बड़ी ख्याति थी। उनके आश्रम में जाकर सीता ने उनसे सतीत्व का पाठ पढ़ा। ऋषि-पत्नी ने वेद-पुराण के आधार पर पतिव्रता के चार भेद बताए :

"उत्तम के अस बस मन माहीं। सपनेहु आन पुरुष जग नाहीं॥
मध्यम परपति देखइ कैसे। भ्राता पिता पुत्र निज जैसे॥
धर्म बिचारि समुझि कुल रहई। सो निकृष्ट त्रिय स्रुति अस कहई॥
बिनु अवसर भय तें रह जोई। जानेहु अधम नारि जग सोई॥"

उत्तम पतिव्रता वही है, जिसके मन में दूसरे पुरुष का कभी ध्यान भी न आता हो। लेकिन कौन ऐसी नारी होगी जिसे भ्राता, पिता, चाचा, मामा, ससुर, देवर आदि का ध्यान कभी न हो आए! ऐसी स्त्री मध्यम मानी जाएगी। निम्न श्रेणी की पतिव्रता वह है, जो धर्म और कुल की मर्यादा के विचार से अपनी भोग-लालसा तथा काम-वासना पर लगाम लगाए रहती है। सबसे निकृष्ट नारी वह है, जो मौका न मिलने के कारण एवं भयवश अपने पतिके अधीन रहती है।

अनसूया ने पतिवंचक नारी को खूब कोसा। उनके दण्ड-विधान का वर्णन किया और उन पाप-मूर्तियों पर तरस भी खाया :

"छन सुख लागि जनम सत कोटी। दुख न समुझ तेहि सम को खोटी॥"

सच, एक क्षण के सुख के लिए जो शत कोटि जन्म तक दुःख भोगने को तैयार हो जाए, उससे बढ़कर नीच-नादान नारी और कौन हो सकती है?

तपस्विनी अनसूया ने पातिव्रत्य की महिमा और उसके पुरस्कार का भी दिल खोलकर वर्णन किया :

"बिनु स्रम नारि परम गति लहई। पतिब्रत धर्म छाँड़ि छल गहई॥"

उस स्त्री को अनायास परमगति—मोक्ष—की प्राप्ति हो जाती है, जो निश्छल मन से पति में रत रहती है।

देवी अनसूया ने नारी को 'सहज अपावन' माना और उसके उद्धार का एक-मात्र साधन पति-सेवा में निहित पाया। इसे उन्हें एक पौराणिक गाथा के साथ सीता के सामने रखा :

"सहज अपावनि नारि पति सेवत सुभ गति लहइ।
जसु गावत स्रुति चारि अजहुँ तुलसिका हरिहि प्रिय॥"

लेकिन सीता कुछ न बोलीं—चुपचाप सुनती रहीं। ऋषि-पत्नी उनके इस मौन से कुछ संकुचित हुईं और क्षमा-याचना के स्वर में कहने लगीं :

"सुनु सीता तव नाम सुमिरि नारि पतिब्रत करहिं।
तोहि प्रानप्रिय राम कहिउँ कथा संसार हित॥"

सीता को अब तक भीतर-ही-भीतर कुछ चुभ-सा रहा था—मुनि-पत्नी ये सब बातें उन्हें क्यों सुना रही हैं? लेकिन, जब 'संसार-हित' का उल्लेख हुआ, तब उनकी वह कसक दूर हुई और प्रणाम करके, बिना कुछ कहे ही वह चल दीं।

किसी भी कला-कृति में 'उपदेश' काँटा बन जाता है, किन्तु कवि जिस धरातल पर सोचता-विचारता रहता है, उसकी विह्वलता, अनुभूति और उसकी ममता उसको बहका देती है और वह जोश में आकर उपदेश देने लग जाता है।

कला-मर्मज्ञ तुलसी भी इस बहकावे से बच नहीं सके हैं—यह चिन्तनीय है। यद्यपि उन्होंने एक नारी के मुख से, निर्जन अरण्य में, एक नारी के सामने ही, वे सब बातें कहलवाई हैं, पर उनका यह उपदेश न उस समय की सतीत्व-शिक्षा को रुचा और न आज की कोई नारी उसे धैर्य के साथ सुन सकेगी। क्योंकि 'पातिव्रत्य' पति-पत्नी के बीच का अत्यन्त सूक्ष्म एवं सौरभमय सम्बन्ध है—जिसे यों चीर-फाड़ कर दिखाना, साथ ही समस्त जाति को 'अपावन' बना देना, कभी शोभन नहीं माना जाएगा। सीता का उपेक्षा-जनित वह 'मौन' यही सूचित करता है। उस महाप्राणा को यह सुन कर अच्छा नहीं लगा, उसका जी मचला उठा और वह शालीनता के साथ चुपचाप उठ खड़ी हुई।

काश! हमारा कवि इससे बच पाता!

"उभय बीच श्री सोहत कैसी" :

वन-पथ पर आगे-आगे राम चल रहे हैं, पीछे-पीछे लक्ष्मण जा रहे हैं और दोनों के बीच सीता चल रही हैं—जैसे ब्रह्म और जीव के बीच माया हो।

रास्ते में विराध नामक असुर का संहार हुआ। शरभंग मुनि के समागम और उनका योगाग्नि में समा जाने का दृश्य उपस्थित हुआ। तीनों पथिक बढ़ते गए और मुनि-गण आ-आकर उन्हें अपनी कष्ट-कथा सुनाने लगे। हड्डियों का ढेर देख कर राम को बताया गया कि यह मुनियों की हड्डियों का ढेर है, जिन्हें राक्षसों ने खाया है। राम ने उसी समय प्रतिज्ञा की :

"निसिचर हीन करउँ महि भुज उठाइ पन कीन्ह।
सकल मुनिन्ह के आश्रमन्हि जाइ जाइ सुख दीन्ह॥"

राम ने भुजा उठा कर प्रण किया कि वह पृथ्वी को राक्षस-शून्य कर देंगे—अर्थात् दण्डकारण्य में प्रवेश करके मुनि-द्रोही निशाचरों का संहार करेंगे।

ऐसा कह और शस्त्रों से सज्जित होकर तीनों सुतीक्ष्ण (अगस्त्य के शिष्य) के साथ 'दण्डकवन' की ओर चल पड़े।

यहाँ तुलसी की सीता चुप हैं, लेकिन आदिकवि की सीता राम के शस्त्र-धारण और उनकी हिंसा-प्रवृत्ति का गम्भीर विरोध करती हैं। जाने क्यों, तुलसी ने उस प्रसंग को छोड़ दिया ? वस्तुतः वह प्रसंग बड़ा ही अनोखा है और उसमें युग-युग के मानवों के लिए शाश्वत सीख भरी हुई है। इसीलिए उसके उद्धरण का लोभ संवरण नहीं हो रहा है।

सीता ने ही कुटी से शस्त्र निकाल कर दोनों भाइयों को दिया; और जैसे ही वे लोग निकले, सीता ने मृदु-मनोहर वाणी से शस्त्र की समस्या राम के सामने रख दी। कवि के शब्दों में :

"अधर्मस्तु सुसूक्ष्मेण विधिना प्राप्यते महान्।
निवृत्तेन तु शक्योऽयं व्यसनात् कामजादिह ॥"

"राम महान् हैं, पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर वह अवश्य अधर्मभागी होंगे। और वह अगर चाहें, तो इच्छा-पूर्वक किए जाने वाले, पाप से निवृत्त होकर ही वह अधर्म से बच सकते हैं।"

सहधर्मचारिणी को ऐसा कहने का अधिकार है और सीता तो उस वातावरण में पली ही थीं। फिर वह धर्म-अधर्म के विश्लेषण में क्यों न उतरतीं ? इसीकी आशा तो पुरुष अपनी सज्ञान पत्नी से रखता है कि वह उसे धर्म-पथ पर आरूढ़ रखे।

राम सादर सीता की बातें सुनते रहे और बहुश्रुत सीता अपना अनुभव मुक्त भाव से कहती गईं :

"त्रीण्येव व्यसनान्यद्य कामजानि भवन्त्युत।
मिथ्या वाक्यं तु परमं तस्माद्गुरुतरावुभौ ॥"

सीता यहाँ इच्छा-कृत तीन पापों का उल्लेख करने जा रही हैं। सबसे पहला पाप है मिथ्यालाप जो सब पापों से बड़ा है, किन्तु शेष जो दो हैं, वे पहले (मिथ्यालाप) से भी बड़े हैं।

अब वह उन दोनों का नाम भी बता देती हैं :

"परदाराभिगमनं विना वैरं च रौद्रता ॥"

पराई स्त्री के साथ सहवास और बिना वैर-विरोध के क्रूर कर्म—सबसे बड़े पाप कहे जाते हैं।

जानकी पहले दो पापों से राम को बरी बना कर मुक्त कण्ठ से उनकी बड़ाई करती हैं :

"मिथ्यावाक्यं न ते भूतं न भविष्यति राघव।"

राम न कभी झूठ बोले हैं, न आगे कभी बोलेंगे। उसी प्रकार :

"कुतोऽभिलषणं स्त्रीणां परेषां धर्मनाशनम्।
तव नास्ति मनुष्येन्द्र न चाभूत्ते कदाचन॥"

मानवोत्तम राम ने धर्मनाशक पर-स्त्री-संसर्ग की तो कभी कामना ही नहीं की; और जब रात-दिन की प्रहरी वही यों प्रमाण-पत्र दे रही हैं, तो उस मानव के भाग्य की बड़ाई और कौन करे ? इस विषय में पत्नी का प्रमाण-पत्र ही सबसे बड़ा आह्लाद किसी पति को दे सकता है।

सीता अब तीसरे पाप पर आती हैं और स्पष्ट शब्दों में राम को उसका अपराधी बता कर उनसे अनुरोध करती हैं कि उस पाप से वह विरत हो जाएँ :

"तृतीयं यदिदं रौद्रं परप्राणाभिहिंसनम्।
निर्वैरं क्रियते मोहात्तच्च ते समुपस्थितम्॥"

तीसरा पाप है रौद्र—जिस मोह के वशीभूत होकर बिना वैर-विरोध के दूसरों के प्राण लिए जाते हैं, वही प्रसंग यहाँ आ उपस्थित है :

"प्रतिज्ञातस्त्वया वीर दण्डकारण्य वासिनाम्।
ऋषीणां रक्षणार्थाय वधः संयति रक्षसाम्॥"

राम ने ऋषियों के सामने राक्षस-वध की प्रतिज्ञा की है और इसी उद्देश्य से वे दण्डकारण्य में प्रवेश कर रहे हैं। जानकी स्पष्ट विरोध करती हैं :

"नहि मे रोचते वीर गमनं दण्डकान्प्रति।
कारणं तत्र वक्ष्यामि वदन्त्याः श्रूयतां मम॥
त्वंहि बाण धनुष्पाणिर्भ्रात्रा सह वनं गतः।
दृष्ट्वा वनचरान्सर्वान् किञ्चित्कुर्याः शरव्ययम्॥
क्षत्रियाणामिह धनुर्हुताशस्येन्धनानि च।
समीपतः स्थितं तेजो बलमुच्छ्रयते भृशम्॥"

सीता को यह दण्डक-अभियान पसन्द नहीं है, अपनी नापसन्दगी का वह कारण भी देती हैं और अनुनय के स्वर में कहती हैं कि राम ध्यान से सुनें। राम भाई के साथ जा रहे हैं धनुष-बाण के साथ और जंगली जीवों पर वह शर-संचालन करेंगे ही; क्योंकि जिस प्रकार आग के पास लकड़ी हो, तो उसका बल बढ़ जाता है, उसी प्रकार क्षत्रिय के बल को धनुष-बाण उच्छृंखल बना देते हैं।

इतना कह कर सीता सत्यवान नामक ऋषि के पतन की कहानी सुनाती हैं—जो इन्द्र की माया में पड़ कर तपस्वी से वधिक बन गए और अन्त में नरक-गामी हुए। इन्द्र को उस ऋषि की कठोर तपस्या से भय हुआ। सिपाही का वेश बना कर वह आया और ऋषि के सामने अपनी चम-चमाती तलवार धरोहर रख कर चला गया

कि लौट कर वह अपनी चीज ले जाएगा—तब तक ऋषि उसकी रक्षा करें। वचन-बद्ध ऋषि तलवार को साथ लेकर घूमने लगे और फल-मूल संचय करने में उसका प्रयोग भी करने लगे। धीरे-धीरे वह उसकी चमक-दमक और तीव्रता-तीक्ष्णता पर मुग्ध हो गए और सोत्साह उसका प्रयोग करने लगे। अब तपस्या का पुण्य-संचय तो भूला और हिंसा का पाप प्रिय हुआ। परिणाम निश्चित था—ऋषि नरकगामी हुए।

कहानी सुना कर उन्होंने अपने स्नेह को आगे बढ़ाया और आग्रह के स्वर में कहा :

"स्नेहाच्च बहुमानाच्च स्मारये त्वां न शिक्षये।
न कथंचन सा कार्या गृहीतधनुषात्वया॥
बुद्धिर्वैरं बिना हन्तुं राक्षसान्दण्डकाश्रितान्।
अपराधं विना हन्तुं लोको बीर न मंस्यते॥"

स्नेह और आदर के आधिक्य से ही सीता ऐसा कहती हैं, वह उपदेश देने नहीं बैठी हैं। वह तो शास्त्रज्ञ राम को केवल धर्माधर्म का स्मरणमात्र करा रही हैं। किन्तु स्वर उनका इतना सुस्थिर है कि वह आग्रह असाधारण हो जाता है—धनुर्धारी राम हिंसा-कार्य कदापि न करें—दण्डकारण्य में रहने वाले राक्षसों को बिना विरोध तथा बिना अपराध के वह हर्गिज न मारें।

राम को माँ-बाप ने तपस्वी-जीवन बिताने के लिए वनवास दिया था—हत्या-हिंसा करने के लिए नहीं। अभी तो उन्हें ऋषि-मुनियों की भाँति तपस्या-रत होना चाहिए—फिर मार-काट की यह मन्त्रणा क्यों, यह शस्त्र-सज्जा क्यों? कोमल-प्राणा सीता को इसमें अधर्म ही दीख रहा है और वैर-विरोध के कटु परिणाम की आशंका भी उन्हें अस्थिर बना रही है। वन तो तप के लिए है, फिर यह युद्ध की तैयारी क्यों? अगर उन्हें क्षात्र-धर्म का पालन ही करना है, तो अयोध्या लौट कर उसका पालन करें—यहाँ तो वह तापस-धर्म का ही पालन करने आए हैं, और पति के सामने शास्त्रोचित तर्क-वितर्क पर उन्हें स्वयं कुछ संकोच दबोच लेता है :

"स्त्रीचापलादेतदुदाहृतं मे धर्मं च वक्तुं कः समर्थः।
विचार्य बुद्ध्या तु सहानुजेन यद्रोचते तत्कुरु माचिरेण।"

सीता कितनी भी विदुषी हों, धर्म-अधर्म का उनका ज्ञान कितना भी परिपक्व क्यों न हो, पर हैं तो आखिर स्त्री ही। और स्त्री को पुरुष-वर्ग अनादि काल से चंचल और नासमझ ही मानता आया है और आज उसी वर्ग के प्रथित व्यक्ति को वह यों पाठ पढ़ा रही हैं—इसकी स्मृति उन्हें संकुचित कर देती है और उनकी वाग्धारा रुक जाती है। स्त्री तो चपल होती ही है, इसी से वह इतना कह गई। अब राम को जो रुचे, करें। सीता में धर्मोपदेश की योग्यता कहाँ? फिर भी वह (राम) विवेक-बुद्धि से विचार कर तथा अपने भाई (जो पुरुष हैं) से राय लेकर कदम उठाएँ—लेकिन ध्यान रखें, निर्णय करने में वह विलम्ब न करें।

धन्य राम, जिन्होंने ऐसी बुद्धिमती पत्नी पाई और धन्य वह कवि जिसने इस रस-मग्नता से उसका चित्र खींचा। साथ ही धन्य वह देश—जहाँ ये तीनों पैदा हुए !!

यह है सच्ची सहधर्मिणी या जीवन-संगिनी का काम। राम सबसे बड़ा कदम उठाने जा रहे थे। अपने प्रशान्त जीवन को अनावश्यक संघर्ष-शील बनाने की तैयारी थी उनकी। राक्षसों ने अब तक राम का तो कुछ नहीं बिगाड़ा था, फिर ऋषि-मुनियों से मिल कर वह मानवेन्द्र अकारण हिंसा-पथ पर क्यों उतर रहे हैं ? शास्त्र इस अकारण हिंसा को अधर्म बता रहे हैं, परिस्थिति उसे अनुचित बताती है, माँ-बाप का आदेश भी कुछ दूसरा है और सबसे बड़ी बात है कि सीता (सहधर्मचारिणी) उसे पसंद नहीं कर रही हैं। ऐसी स्थिति में राम का रुख क्या होगा, वह सीता के विरोध से ऊबेंगे या उसका स्वागत करेंगे। कलेजे की धड़कन रोककर राम के प्रत्युत्तर की प्रतीक्षा करनी होगी। राम ने अपना हठ तो नहीं छोड़ा, पर सीता की, हृदयोल्लास के साथ, प्रशंसा की :

"मम स्नेहाच्च सौहार्दादिदमुक्तं त्वया वचः।
परितुष्टोऽस्म्यहं सीते न ह्यनिष्टोऽनुशिष्यते ॥
सदृश्यं चानुरूपं च कुलस्य तव चात्मनः।
सधर्मचारिणी मे त्वं प्राणेभ्योऽपि गरीयसी ॥"

राम ने कहा कि सीता ने जो कुछ कहा है, उनके ऊपर स्नेहाधिक्य और सौहार्द के कारण कहा है। इससे राम उनसे सन्तुष्ट हैं, क्योंकि जो प्रिय नहीं है, वह उपदेश नहीं देता है—कुछ सीख-सलाह नहीं देता। सीता ने जो कुछ कहा है, वह दोनों के कुलोचित गौरव के अनुकूल है। सीता उनकी सहधर्मचारिणी हैं और उनके प्राणों से भी प्रिय हैं—फिर भला वह ऐसा क्यों न कहें।

सभी पतियों का राम के इस प्रत्युत्तर से परितोष होगा और सभी पति-प्राणा नारियाँ राम को हृदय से धन्यवाद देंगी। इस प्रत्युत्तर में पर्याप्त स्नेह है, समादर है और शील उमड़ा पड़ता है। आधुनिक पति इससे बहुत-कुछ सीख सकते हैं और इस तरह के बर्ताव से अपने परिवार को सुसंस्कृत बनाने में समर्थ हो सकते हैं।

"पावन पंचवटी तेहि नाऊँ" :

तीनों प्रिय पथिक 'अगस्त्य के आश्रम' में पहुँचे—जिसका वर्णन हो चुका है। किन्तु वहाँ एक प्रश्न अनुत्तरित ही रह गया था—जिसके समाधान का यही उपयुक्त स्थल दीखता है।

आदिकवि के कथनानुसार राम सोत्साह अगस्त्य के आश्रम में रहने गए थे; उन्होंने, आश्रम में जाते ही, अपनी वह इच्छा ऋषि अगस्त्य से व्यक्त भी कर दी थी। अगस्त्य ने सहर्ष उनकी उस इच्छा का स्वागत भी किया था, फिर सहसा राम ने अपना विचार क्यों बदल दिया ?

मर्मज्ञों से खोल कर कुछ कहना, उसका अनादर करना है; पर अब तक यह स्पष्ट हो गया होगा कि राम और अगस्त्य में जो मन्त्रणा हुई, अगस्त्य ने राम को जो शस्त्र प्रदान किया, निशिचर-नाश की जो योजना बनी—ये सब बातें सीता को बिलकुल न भाईं—वह मन ही मन विरक्त हो उठीं और राम को उनके अन्तर्भाव भाँपने में जरा भी देर न लगी। उन्होंने तुरत ऋषि से दूसरी जगह जाने की बात चला दी। अगस्त्य भी तो कम अनुभवी न थे—सीता का मुख देखते ही वह समझ गए कि सीता उनके आश्रम में सुखी नहीं रह सकती हैं। इसलिए उन्होंने पंचवटी का नाम प्रस्तावित किया और सीता की ओर देखते, सस्मित वदन से कहा :

"अतश्च त्वामहं ब्रूमि गच्छ पंचवटीमिति।
स हि रम्यो वनोद्देशे मैथिली तत्र रंस्यते॥"

अगस्त्य ने मैथिला का दुबारा उल्लेख किया :

"स देशः श्लाघनीयश्च नाति दूरे च राघव।
गोदावर्याः समीपे च मैथिली तत्र रंस्यते॥"

"मैथिली तत्र रंस्यते"—(जानकी वहाँ प्रसन्न रहेंगी) मुनि ने इसे दुहरा दिया, इसी से उक्त प्रश्न का रहस्योद्घाटन हो जाता है।

सीता उस षडयन्त्र-सीमा से दूर रहना चाहती थीं—जहाँ हिंसा और संघर्ष की कोई चर्चा न हो।

मुनि से बिदा लेकर तीनों स्नेही पंचवटी पहुँचे। वहीं उनकी जटायु से भेंट हुई और दोनों में गाढ़ी प्रीति स्थापित हुई। फिर राम ने लक्ष्मण से कहा—'यही पंचवटी है। यहाँ का वन पुष्पित है। देख-भाल कर वहाँ आश्रम बनाओ, जहाँ जानकी के साथ हम लोग प्रसन्नतापूर्वक रह सकें।'

मानस के कवि ने स्वल्प शब्दों में उसका वर्णन किया है :

"गोदावरी निकट प्रभु रहे परन गृह छाइ।"

राम ने गोदावरी नदी के निकट पर्ण-शाला बना कर निवास किया। नीचे की पंक्तियों में कवि उस रम्यस्थल का सूक्ष्म संकेत करता है :

"जब ते राम कीन्ह तहँ बासा। सुखी भए मुनि बीती त्रासा॥"

हमारे कवि का ध्यान राम पर है। वहाँ की प्रकृति भी उसे सुन्दर तब से दीखती है, जब से राम वहाँ रहने लगे हैं :

"गिरिबन नदी ताल छबि छाए। दिन प्रति दिन अति होहिं सुहाए॥
खग मृग बृन्द अनंदित रहहीं। मधुप मधुर गुंजत छबि लहहीं॥"

पहाड़, जंगल, नदी-नाले-सब छविमय हो उठे और दिन-दिन उनकी रमणीयता बढ़ती गई।

इसके अनन्तर हमारा कवि तुरत उपसंहार कर देता है :

"सो वन बरनि न सक अहिराजा। जहाँ प्रगट रघुबीर बिराजा॥"

उस वन का वर्णन जब सहस्र-मुख शेषनाग भी नहीं कर सकते, तब एक मुख वाला कवि कैसे करे!

प्रकृति के प्रति 'मानस-कवि' की यह अक्षम्य उपेक्षा रसानुरागियों को कुण्ठा से भर देती है।

किन्तु आदिकवि का हृदयोल्लास देखने लायक है :

"स तं रुचिरमागम्य देशमाश्रमकर्मणि। हस्ते गृहीत्वा हस्तेन राम सौमित्रिमब्रवीत्॥"

आश्रम बनाने के लिए योग्य और सुन्दर स्थान पर जाकर रामचन्द्र ने अपने भाई का हाथ अपने हाथ में लिया और बड़े प्रेम से कहा :

"अयं देशः समः श्रीमान्पुष्पितैस्तरुर्भिवृतः। इहाश्रमपदं रम्यं यथावत्कर्तुमर्हसि॥"

'यह स्थान समतल है, श्रीयुक्त है, कुसुमित द्रुमराजियों से घिरा हुआ है, यहाँ तुम रमणीक आश्रम बना सकते हो।' फिर उन्होंने पास के जलाशय को दिखाया :

"इयमादित्य संकाशो पद्मः सुरभिगन्धिभिः। अदूरे दृश्यते रम्या पद्मिनी पद्मशोभिता॥"

'वह देखो—पास ही वह जलाशय है, जहाँ सूर्य के सदृश श्वेत एवं सौरभ-मय कमल खिले हुए हैं—कैसा सुशोभित हो रहा है वह सरोवर!'

तदनन्तर उनकी दृष्टि गहरी गोदावरी और गहन गिरिवर पर पड़ती है :

"यथाख्यातमगस्त्येन मुनिना भावितात्मना। इयं गोदावरी रम्या पुष्पितैर्तरुभिर्वृता॥
हंस कारण्डवाकीर्णा चक्रवाकोपशोभिता। नातिदूरे न चासन्ने मृगयूथ निपीड़िता॥
मयूरनादिता रम्याः प्रांशवो बहुकन्दराः। दृश्यन्ते गिरयः सौम्या फुल्लैस्तरुभिरावृताः॥

ज्ञानी अगस्त्य ने जिसका उल्लेख किया था, वह गोदावरी यही है, जो पुष्पित तरुओं से आच्छादित है। उसमें हंस तथा जल-कुक्कुट भरे हैं, वह चक्रवाकों से शोभित है और जिसमें मृग-मण्डली पानी पीने के लिए चौकड़ी भर रही है। मयूर बोल रहे हैं, पास ही रमणीय एवं उन्नत पर्वतराजि है, जिसमें उत्फुल्ल द्रुम-दलों से घिरी अनेक कन्दराएँ दीख रही हैं।

आदिकवि के राम पंचवटी की प्राकृतिक शोभा से अघाते नहीं दीखते हैं :

"सालैस्तालैस्तमालैश्च खर्जूरैः पनसद्रुमैः। नीवारैस्तिनिशैश्चैव पुंनागैश्चोपशोभिताः॥
चूतैरशोकैस्तिलकैः केतकैरपि चम्पकैः। पुष्पगुल्मलतोपेतैस्तैस्तैस्तरुभिरावृताः॥"

साल, ताल, तमाल, खर्जूर, कटहल, निवार, तिनिश और सुपारी, आम अशोक, तिलक, केतक, चम्पक एवं पुष्पित लता-गुल्मों से यह पर्वत शोभित हो रहा है।

राम ने निश्चय किया :

"इदं पुण्यमिदं रम्यमिदं बहुमृगद्विजम्। इहवत्स्याम सौमित्रे सार्धमेतेन पक्षिणा ॥"

'यह अत्यन्त पावन भूमि है, रमणीय भी है, मृग एवं पक्षियों से परिपूर्ण है सुहृद जटायु के साथ हम यहीं निवास करेंगे।'

राम का रुख देखकर लक्ष्मण ने अकेले ही, बड़ी कुशलता से वहाँ एक सुन्दर एवं सुदृढ़ पर्णशाला खड़ी कर दी—जिसे देखकर, पुरस्कारस्वरूप, राम ने लक्ष्मण को अपना एक गाढ़ालिंगन दिया !

अहा, इससे बढ़कर प्रेम-प्यासे लक्ष्मण को और क्या चाहिए था ?

लक्ष्मण अपने प्राणोपम भाई-भौजाई को सुखी बनाने में प्राण-पण से जुटे रहते थे। आहार के लिए फल-मूल का संचय करना उनका काम था। पर्णशाला को पुष्पित लता-गुल्मों से सजाना, सुख-साथरी बिछाना, सुरक्षा का प्रबंध, रमणीय एवं दर्शनीय स्थानों का अनुसन्धान—सभी काम लक्ष्मण ने स्वेच्छा-पूर्वक अपने जिम्मे कर लिया था और राम-सीता को स्वच्छन्द, निश्चिन्त, सुख-पूर्वक विचरने के लिए छोड़ दिया था।

उधर उल्लास से उमड़ रहे सघन-श्यामल असीम अरण्य की प्रशान्त प्रकृति अपनी स्निग्ध सुषमाओं से, वनाच्छादित ऊँची पहाड़ियों से, गगन-चुम्बी विशाल वृक्ष वृन्दों से, हाहाकार-स्वर से उच्छलते झरनों से, कल-कलस्वन से भरी सर-सरिताओं से, विविध वर्ण एवं बोली के पक्षियों के कल-कूजन से, रात्रि में झिलमिलाते तारक तारिकाओं से, पर्णपुञ्जों से छन-छन कर आती चन्द्र-जोत्स्ना से, दिन में लुक-छिप कर प्रवेश करने वाली सूर्य की सुनहली रश्मियों से, लहराते सुखद समीरण से, सौंदर्य की खान सस्मित असंख्य सुमन-राशियों से—उन दोनों प्रेमी प्राणियों के प्राणों को लबालब भरने लगी।

आहार के बाद, दुपहरी बिताकर, दोनों कभी किसी पहाड़ी पर चले जाते उधर कोयल कूकती और इधर, राम के आग्रह से, सीता कोई मर्म-मधुर रागिनी छेड़ देतीं—बस, कोकिला अप्रतिभ होकर चुप्पी साध लेती और राम के साथ सारी वनराजि संगीत की मधुरिमा में खो-सी जाती। कभी मृग-यूथ उछलता-कूदता उधर आ जाता और सीता के सामने विस्मित-सा खड़ा हो जाता। जैसे मौन भाषा में पूछ रहे हो—'कौन हो तुम—जो हमारी आँखों से यों होड़ कर रही हो ?' कभी सीता किसी उछलते मृग-छौने को पकड़ लेतीं और गोद में लेकर दुलराने लग जातीं। कभी दोनों प्राणी नदी में होड़ लगाकर तैरते; और कभी झुकी डालियों को पकड़कर सीता सरस आमोद से झूलने लग जातीं।

सान्ध्य वेला में कभी दोनों किसी निर्झर का अविरल संगीत सुनते, कभी बाघ-सिंह के गम्भीर गर्जन से सीता सहम कर राम के अंक में समा-सी जातीं, कभी पेड़ों पर उछलते बन्दरों की क्रीड़ा देखकर वह हँसने लग जातीं। राम उन्हें इतिहास-पुराण की कथाएँ सुनाते, कभी पुष्पित लता से उन्हें लिपट देते, कभी मयूरों का नृत्य देखते-देखते उमंग में आकर सीता भी नृत्य-निरत हो जातीं।

यों पंचवटी उन्हें आपार प्यार के साथ पालने में हलराने लगी।

सीता के सुख-सुहाग के ये ही सर्वोत्तम दिवस थे। एक ओर मनोज्ञ प्रियतम का अक्षय मधुमय प्रेम और दूसरी ओर सघन-श्यामल प्रकृति का उमड़ता सौंदर्य—सीता मानो आह्लाद और उल्लास के विह्वल बादलों पर तैरने लगीं। रात और दिन का कोई व्यवधान उनके स्वच्छन्द साहचर्य में बाधक नहीं था, आकाश और अवकाश मिलकर एक हो रहे थे—जैसे अखण्ड काल सीता की मुट्ठी में आ गया हो। इसी सुख की कल्पना करके तो, राज-भोग को छोड़कर, वह भाग खड़ी हुई थीं वन-पथ पर!

यों तेरह वर्षों तक सौभाग्य सुन्दरी सीता पति के साथ तीन-तीन बार गोदावरी में जाकर स्नान-ध्यान करतीं, पति के साथ वन-विहार करतीं, पति के साथ भोजन और भजन करतीं। प्रकृति के परम रम्य आवरण में लिपटकर अपने जीवन और यौवन को कृतार्थ करती रहीं।

"तुम्ह सम पुरुष न मो सम नारी"

मध्याह्न के बाद सूरज ढलता है। पंचवटी की पर्णशाला में सीता को उतने दिन तक सुख-सुधा का यों आकण्ठ पान करते देख, शायद विधाता की भृकुटी वक्र हो गई; और एक दिन :

"सूपनखा रावन कै बहिनी। दुष्ट हृदय दारुन जस अहिनी॥
पंचवटी सो गइ एक बारा। देखि विकल भई जुगल कुमारा॥"

सीता के साथ राम-लक्ष्मण अपने आश्रम में बैठे थे कि रावण की बहन शूर्पणखा वहाँ आ पहुँची—जिसे हमारा कवि नागिन की उपाधि देता है; क्योंकि वह सीता-राम के सुख में काँटा बोने आई थी।

शूर्पणखा ने मनोहर राम को देखा और वह उन पर मोहासक्त हो गई। आते ही उसने सीता की ओर तिरस्कार से देखा और राम से कहा :

"तुम्ह सम पुरुष न मो सम नारी। यह संजोग बिधि रचा बिचारी॥
मम अनुरूप पुरुष जग नाहीं। देखेउँ खोजि लोक तिहु माहीं॥
ताते अब लगि रहिउँ कुमारी। मनु माना कछु तुम्हहिं निहारी॥"

संसार में न राम-सा कोई पुरुष है, न शूर्पनखा-सी कोई स्त्री है। तीनों लोक में उसने अपने अनुरूप पुरुष ढूँढ़ा, पर उसे कोई नहीं मिला—इसीलिए वह अब तक क्वाँरी है। राम को देखकर उसका मन कुछ मान गया है।

कवि नारी की यह उच्छृंखलता देख कर चिढ़ जाता है और आवेश में आकर नारी-मात्र को भला-बुरा कहने लग जाता है। सीता भी तो आखिर नारी ही हैं—कवि यह क्यों भूल जाता है!

हाँ, समाज में शूर्पणखा-सी नारियों की भी कमी नहीं है; पर एक अन्तर्दर्शी कवि को इतना असहनशील तो न हो जाना चाहिए, कि सबको एक ही झाड़ू से झाड़ने लग जाए!

वह कहता है :

"भ्राता पिता पुत्र उरगारी। पुरुष मनोहर निरखत नारी॥
होइ बिकल सक मनहिं न रोकी। जिमि रबि मनि द्रव रबिहिं बिलोकी॥"

सुन्दर पुरुष को—चाहे वह भाई हो, पिता हो या पुत्र ही क्यों न हो—देखकर नारी चञ्चल हो जाती है और उसका मन बेहाथ हो जाता है!

कवि को यहाँ नारी के पहले 'शूर्पणखा-सी' विशेषण अवश्य जोड़ देना चाहिए था। इस युग का मनोविज्ञान भले ही कवि के कथन का समर्थन 'फ्रायड' के आधार

पर कर दे, किन्तु किसी भी युग का कोई सुसंस्कृत मानव कवि के उक्त कथन के समर्थन के लिए तैयार नहीं होगा।

सच तो यह है, कि मन-हर सौन्दर्य किसे मुग्ध नहीं करता है? कोई पुरुष हो या स्त्री—सुन्दरता को देखकर वह अवश्य अनुरक्त होगा। देखने में तो यही आता है कि कवि की जाति का विश्रुत वर्ग (पुरुष) ही इस विषय में आगे रहता आया है—किसी भी सुन्दरी को देखकर झट वही लोचन लड़ाने लग जाता है।

शूर्पणखा की इस उच्छृंखलता से सतीत्व और शील की मूर्ति सीता कितनी विस्मित, कितनी संकुचित और कितकी व्यथित हुई होंगी—कल्पना की जा सकती है। वह एकदम स्तब्ध हो रहीं—क्योंकि वह 'सौत' बनकर उनका सुख-सुहाग छीनना चाहती थी।

उस चंचल नारी की निर्लज्जता के साथ पुरुष-प्रकृति ने सहज ही कुछ खेलवाड़ किया और जब वह मोहान्ध नारी चिढ़ गई, तब विकराल बनकर स्तब्ध सीता ही पर आक्रमण कर बैठी; क्योंकि उन्हीं के कारण तो वह असफल हो रही थी। तब :

"सीतहि समय देखि रघुराई। कहा अनुज सन सैन बुझाई॥"

सीता बेहद डर गईं। राम ने यह देखकर लक्ष्मण को कुछ गूढ़ संकेत किया और वह स्वयं सीता को सम्हाले रहे। वीर लक्ष्मण ने जो पुरुषार्थ किया, वह जगत्प्रसिद्ध है :

"लछिमन अति लाघवँ सो नाक कान बिनु कीन्हि।
ताके कर रावन कहँ मनो चुनौती दीन्हि॥"

बड़ी फुर्ती से छोटे भाई ने उसके नाक-कान काट लिए : कवि इसे रावण के लिए चुनौती मानता है।

अब देखना है, रावण इस चुनौती को किस भाँति स्वीकार करता है; और उसका फल निरपराधिनी सीता को कैसा भोगना पड़ता है।

"देहु तुरत निज नारि दुराई" :

पंचवटी से अपमानित और विकलांग होकर, रोती-पीटती शूर्पणखा, जनस्थान में रहनेवाले अपने भाई खरदूषण के पास पहुँची। खरदूषण रावण के समान ही वीर था। उसने सेना साजी और शूर्पणखा को आगे करके अपराधियों पर आक्रमण करने चल पड़ा।

दोनों भाई इसके लिए तैयार थे ही। गर्द-गुबार में हल्ला सुनाई पड़ा :

"धरि मारहु तिय लेहु छड़ाई।"

दोनों भाइयों को जीता पकड़ लो और फिर क्रूरता से उन्हें मार डालो : और उनकी स्त्री को छीन लो!

सीता ने यह हो-हल्ला सुना और उनके प्राण सूख गए। मन ही मन वह शंकित तो थीं ही कि नारी के अपमान का बदला लिया ही जाएगा और सबसे कड़ुवा फल शायद उन्हीं को चखना पड़ेगा। और जब आक्रमणकारियों ने उन्हीं को पकड़ने का संकल्प किया, तब तो उनकी दशा अनुभव-गम्य हो जाती है!

राम ने भाई को बुलाकर आदेश दिया कि सीता को ले जाकर वह किसी गहन कन्दरा में छिपाकर रखें—जिससे शत्रुओं की दृष्टि उन पर न पड़े। आज्ञाकारी लक्ष्मण ने वैसा ही किया।

रणांगण में अकेले मनोहर राम को देखकर शत्रुओं को उन पर दया आ गई और उन्होंने समझौते का प्रस्ताव कर दिया :

"जद्यपि भगिनी कीन्हि कुरूपा। बध लायक नहिं पुरुष अनूपा॥
देहु तुरत निज नारि दुराई। जीअत भवन जाहु दोउ भाई॥"

हाय नारी, अपराध करे पुरुष और सजा पाओ तुम। शत्रु-सैन्य तुम्हीं को लेकर, दोनों भाइयों को छोड़ने पर तैयार है!

क्रुद्ध राम ने अकेले शत्रुओं का सामना किया और, एक-एक करके सब का संहार करके, जब वह लौटे, तब लक्ष्मण सीता को आश्रम में ले आए। विजयी राम को देखकर सीता परम प्रसन्न हुईं और उनके चरणों पर गिर पड़ीं। राम ने उठाकर उन्हें गले से लगा लिया।

आदिकवि ने सीता के द्वारा ही राम का आलिंगन करवाया है—जो ज्यादा मनोज्ञ है :

"बभूव हृष्टा वैदेही भर्तारं परिषस्वजे॥"

इन सब लाड-प्यार में प्रायः पुरुष ही अग्रणी होता आया है, पर परम सौभाग्य-शाली है वह पति—जिसकी सहधर्मचारिणी यों उमड़ कर उसका आलिंगन करे और पुरुष का पौरुष यों पुरस्कृत हो!

किन्तु, सावधान, सीते! तुमने अपने इस आलिंगन-पुरस्कार से पुरुष की पौरुषाग्नि में घी ही डाला है; और अनजान में शस्त्र-पूजा का गौरव बढ़ा दिया है—जिसका कभी तुमने डट कर विरोध किया था! क्या समझती हो कि राम की यह अद्‌भुत 'विजय' तुम्हें 'पंचवटी' में शान्त रहने देगी? नहीं, याद कर लो—अपनी कही हुई वह असिकथा—जिसने एक तपस्वी को हिंसक बनाकर नरक में भेजा था। तुमने अपने उस अगम्य अनुरोध में अनागत युगों को भी शास्वत सन्देश दिया था—'शस्त्र-अस्त्र का सोल्लास संचय और उसका सतत संसर्ग—कभी किसी को शान्त नहीं रहने देगा।' तुमको तो अभी बहुत-कुछ देखना-सुनना बाकी है, किन्तु तुम्हारे बाद के युगों ने शस्त्र-पूजा का जो फल पाया, वह इतिहास के पन्नों में लोम-हर्षण लिपि में लिखा हुआ है : और हमारा यह युग तो उसका अद्‌भुत तमाशा दिखा ही रहा है।

अतएव असि-झंकार पर मोहित होने वाले युग को खूब सावधान हो जाना चाहिए—वह उसके सर्वनाश का मोहक निनाद है। और इसका नियन्त्रण सीता-सी समझदार नारियाँ ही कर सकती हैं।

"सीता परम रुचिर मृग देखा" :

इधर राम ने विजय प्राप्त की, शूर्पणखा लंका पहुँची; और अपनी दुर्दशा, सीता की सुन्दरता तथा खर-दूषण का संहार सुना कर उसने भरी राज-सभा में रावण को ललकारा, उभारा, भड़काया और सीता के प्रति अन्धी आँधी के आवेग से प्रेरित किया। तुलसी ने उसका सामान्य वर्णन किया है; आदिकवि का वर्णन विशाल है, पर तमिल के महाकवि का चित्रण अनुपम है। कंबन ने शूर्पणखा का लंका-प्रवेश, उसकी दुर्दशा देखकर लंका-निवासियों के क्षोभ, रावण के साथ उसका वार्तालाप तथा राम के प्रति अपनी मनोदशा का इतना मर्म-स्पर्शी अंकन किया है कि मुग्ध रह जाना पड़ता है। कंबन का रावण सीता के प्रेम में सब-कुछ भूल जाता है और उसकी प्राप्ति के लिए डरा-धमका कर मारीच नामक राक्षस को माया-मृग बनने को तैयार कर लेता है।

यहाँ पंचवटी आश्रम में राम, सीता और लक्ष्मण दुपहरी बिता रहे थे कि वह माया-मृग उछलता-कूदता आ पहुँचा। आदिकवि ने उसका बड़ा ही हृदय-ग्राही वर्णन किया है, पर हमारे कवि का मन उसमें नहीं रमा है। वह केवल इतना कह कर आगे बढ़ जाता है :

"अति बिचित्र कछु बरनि न जाई। कनक देह मनि रचित बनाई॥"

मृग अत्यन्त अद्भुत था—जिसका वर्णन नहीं हो सकता है। उसकी देह सोने की थी और उसमें मणियाँ खचित थीं। सीता ने उसे देखा और वह उस पर मुग्ध हो गईं। उन्होंने राम से कहा :

"सुनहु देव रघुबीर कृपाला। एहि मृग कर अति सुन्दर छाला॥
सत्यसंध प्रभु बधि करि एही। आनहु चर्म कहति बैदेही॥"

इस मृग का चर्म बहुत सुन्दर है, मारकर राम ले आएँ।

आदिकवि की सीता पुष्प-चयन कर रही थीं कि अशोक, आम और कर्णिकार के पास उन्हें वह रत्नमय मृग दीख पड़ा। उसको देखकर वह मुग्ध हो गईं और पति तथा देवर को सायुध आने को पुकारा। सीता के आह्वान पर दोनों भाई वहाँ पहुँचे और मृग को देखकर लक्ष्मण सशंक हो गए :

"मृगोह्येवंविधो रत्नविचित्रो नास्ति राघव। जगत्यां जगतीनाथ मायैषा हि न संशयः॥"

निःसंशय यह माया-मृग है, क्योंकि रत्न-खचित ऐसा मृग कहीं भी देखा नहीं जाता है।

लेकिन मुग्ध-मति सीता ने लक्ष्मण को रोककर लाड़ से कहा :

"आर्यपुत्राभिरामोऽसौ मृगो हरति मे मनः। आनयेनं महाबाहो क्रीड़ार्थं नो भविष्यति ॥"

यह मनोहर मृग सीता का मन मोह रहा है, राम अवश्य इसे ले आएँ—यह सीता के लिए क्रीड़ा की वस्तु (खिलौना) होगा।

"अहो रूपमहो लक्ष्मीः स्वरसंपच्च शोभना। मृगोऽद्भुतो विचित्रांगो हृदयं हरतीव मे ॥
यदि ग्रहणमभ्येति जीवन्नेव मृगस्तव। आश्चर्यभूतं भवति विस्मयं जनयिष्यति ॥"

सीता उसके रूप, उसकी शोभा और उसकी बोली की प्रशंसा करके कहने लगीं—'विचित्र अंगोंवाला यह मृग मेरा हृदय हर रहा है। यदि यह जीवित ही पकड़ा जाए, तो आश्चर्य की वस्तु बनेगा।'

"समाप्त वनवासानां राज्यस्थानां च नः पुनः। अन्तः पुरे विभूषार्थो मृग एष भविष्यति ॥
भरतस्यार्यपुत्रस्य श्वश्रूणां मम च प्रभो। मृगरूपमिदं दिव्यं विस्मयं जनयिष्यति ॥"

वनवास की समाप्ति पर, जब सीता राजधानी वापस जाएँगी, तब उनके अन्तःपुर की शोभा यह मृग बढ़ाएगा। भरत, राम और उनकी सासों को भी यह मृग विस्मित बनाएगा।

"जीवन्न यदि तेऽभ्येति ग्रहणं मृगसत्तमः। अजिनं नरशार्दूल रुचिरं तु भवष्यति ॥"

अगर जीवित न पकड़ा जाए, तो इसका चर्म भी बड़ा सुन्दर होगा। इसके चर्म को साथरी पर बिछा कर सीता राम के पास बैठेंगी—यह संकेत भी वह कर देती हैं। इस अद्भुत मृग पर अधिकार पाना उन्हें कुछ असंभव अवश्य दीख रहा है; और उनका यह अनुरोध उन्हें स्वयं भी कुछ अनुचित जँच रहा है। इसको भी वह स्पष्ट कर देती हैं :

"कामवृत्तमिदं रौद्रं स्त्रीणामसदृशं मतम्। बपुषात्वस्य सत्वस्य विस्मयो जनितो मम ॥"

सीता की लुब्ध आँखों से जब रामने उस मृग को देखा, तो उनका मन भी मुग्ध हो गया और वह लक्ष्मण से कह उठे।

"पश्य लक्ष्मण वैदेह्याः स्पृहामुल्लसितामिमाम्। रूपश्रेष्ठतया ह्येष मृगोऽद्य न भविष्यति ॥
न वने नन्दनोद्देशे न चैत्ररथसंश्रये। कुतः पृथिव्यां सौमित्रे योऽस्यकश्चित्समो मृगः ॥"

सीता का वह उल्लास अब राम का भी उल्लास बन गया और उन्होंने उस अभूत-पूर्व मृग को मारने का निश्चय कर लिया। उनकी दृष्टि में उस मृग का रूप कैसा लुभावना हो उठा था :

"प्रतिलोमानुलोमाश्च रुचिरा रोमराजयः। शोभन्ते मृगमाश्रित्य चित्राः कनकबिंदुभिः ॥
पश्यास्य जृम्भमाणस्य दीप्तामग्निशिखोपमाम्। जिह्वां मुखान्निःसरन्तीं मेघादिवशतह्रदाम् ॥"

कुछ सीधे और कुछ टेढ़े उसके रुचिर रोम कनकविन्दुओं से खचित हो रहे थे और जब वह जम्हाई लेता था, तब उसके मुँह से जीभ यों अग्निशिखा-सी निकल पड़ती थी—जैसे मेघ में बिजली चमक जाती है।

इसी प्रकार राम उसके इन्द्रनील मणि के समान मुँह तथा शंख और मोती के समान उसके पेट पर मुग्ध होते हैं। फिर राज-धर्मानुसार वन-सम्पत्ति को अपने अधिकार में करने का औचित्य बताकर, साथ ही अगर वह माया-मृग अत्याचारी मारीच राक्षस हुआ, तो भी उसका वध करना आवश्यक मानकर और अन्त में सीता को प्रसन्न करना अपना कर्तव्य समझ कर, राम ने लक्ष्मण से कहा :

"अहमेनं वधिष्यामि ग्रहीष्याम्यथवा मृगम्।"

उस मृग को राम मारेंगे या पकड़ लाएँगे—ऐसा कह और लक्ष्मण को सीता की रक्षा के लिए विशेष सावधान रहने की चेतावनी देकर, राम मृग के पीछे दौड़ पड़े।

यहाँ कंबन वाल्मीकि से भी कुछ आगे दीख पड़ते हैं। उनके लक्ष्मण उस माया-मृग को खुद मार लाने का प्रस्ताव करते हैं, किन्तु सीता :

"Pouting her ambrosia-dropping ruby lips,
Like a sweet tongued parrot young she lisped, 'Then thou
Wouldst not thyself pursue and capture him
For me ?' and left him with tears flowing down
Her cheeks. But Ram could not bear to see
Her in pet, and said, 'My golden love,
Behold I myself go and I shall bring,
Him in a trice.—"

शिशु-सी मचलती हुई, सुधा-स्रवित अपने लालमणि के-से अधरों से, नवल तोते के सुमधुर स्वर में, विह्वल होकर सीता गुनगुनाने लगीं—'तो क्या तुम खुद आखेट करके मेरे लिए इसे न पकड़ लाओगे ?'—और अश्रुसिक्त कपोलों से वह वहाँ से चली गईं। राम से उनकी यह मुग्ध-मचल देखी न गई और उन्होंने कहा—'अच्छा, तो देखो—मेरी स्वर्णिम प्रिये, मैं अभी उसे लाता हूँ !'

जाने क्यों, तुलसी यों रस-मग्न न हो सके ? कंबन को आखिर राज-सभा का सौरभ भी तो प्राप्त था !

"मरम बचन सीता जब बोला" :

वह माया-मृग राम को बहुत दूर ले गया, और मरते समय भी उसने पहले राम के स्वर में; आर्त होकर, लक्ष्मण को पुकारा—जिसको सुनकर सीता सभीत हो

गईं और घबरा कर उन्होंने लक्ष्मण से कहा—'जाहु बेगि संकट अति भ्राता ।' लेकिन लक्ष्मण ने उनकी बातों को हँसी में उड़ा दिया और वह राम के अनन्त पराक्रम के गुण गाने लगे ! सीता को क्रोध आ गया और वह लक्ष्मण को खरी-खोटी सुनाने लग गईं ।

तुलसीदास सिर्फ इतना कहकर मौन हो जाते हैं :

"मरम बचन सीता जब बोला । हरि प्रेरित लछिमन मन डोला ।।"

लेकिन आदिकवि का वर्णन बड़ा ही मर्म-स्पर्शी है । घबराई हुई सीता माया मृग की पुकार सुनकर लक्ष्मण से कहती हैं :

"आक्रन्दमानं तु वने भ्रातरं त्रातुमर्हसि । तं क्षिप्रमविधाव त्वं भ्रातरं शरणैषिणम् ।।"

रक्षा के लिए आर्त स्वर में भाई पुकार रहा है, सीता लक्ष्मण को दौड़कर राम के पास जाने का अनुरोध करती हैं :

"रक्षसां वशमापन्नं सिंहानामिव गोवृषम् ।।"

जैसे गाय-बैल सिंह के पंजे में आ जाते हैं, लक्ष्मण के भाई भी राक्षसों के पंजे में आ गए हैं । लेकिन :

"न जगाम तथोक्तस्तु भ्रातुराज्ञाय शासनम् ।"

भाई की आज्ञा न होने के कारण लक्ष्मण वहाँ से टस-से-मस नहीं हुए । तब जनकात्मजा क्षुब्ध होकर बोलीं :

"सौमित्रे मित्ररूपेण भ्रातुस्त्वमसि शत्रुवत् ।।"
यस्त्वमस्यावस्थायां भ्रातरं नाभिपद्यसे । इच्छसि त्वं विनश्यन्तं रामं लक्ष्मण मत्कृते ।।
लोभात्तु मत्कृते नूनं नानुगच्छसि राघवम् । व्यसनं ते प्रियं मन्ये स्नेहो भ्रातरि नास्ति ते ।।
तेन तिष्ठसि विस्रब्धं तमपश्यन्महाद्युतिम् । किं हि संशयमापन्ने तस्मिन्निहमया भवेत् ।।"

'इसीलिए तुम यहाँ निश्चिन्त बैठे हो, महा तेजस्वी रामचन्द्र को न देखकर भी उनकी रक्षा का कोई उपाय नहीं कर रहे हो—उन्हीं के जीवन पर संकट आ जाए, तो मेरी रक्षा से ही क्या लाभ ? क्योंकि, हम सब के प्रधान तो वही हैं । उन्हीं के साथ तुम आए हो । उनके न रहने पर मैं क्या कर सकूँगी ?

सीता ने बिलकुल वस्तुवादी दृष्टि से परिस्थिति को देखा और वह आह और आँसू से भर गईं ।

लक्ष्मण ने फिर राम के अलौकिक बल-विक्रम का अम्बार लगाकर अपने निश्चय को दुहरा दिया कि बिना राम की आज्ञा से वह उन्हें छोड़कर कहीं नहीं जा सकते हैं । साथ ही उन्होंने अनजान में, यह कहकर उन्हें और भी डरा दिया कि खर-दूषण के मारे जाने के कारण जनस्थान के राक्षसों का उनसे बहुत प्रबल विरोध

उठ खड़ा हुआ है और वे तरह-तरह के उपाय करके उन्हें पीड़ित करने पर तुले हुए हैं। अतएव सीता चिन्ता न करें—राम शीघ्र आएँगे।

भला ऐसी स्थिति में सीता निश्चिन्त कैसे होतीं ?

सीता के सामने तीन प्रधान तथ्य नाच रहे थे—वह अद्‌भुत माया-मृग, उसके पीछे अकेले राम का जाना और राम का वह आर्तस्वर। ऊपर से लक्ष्मण के कथनानुसार राक्षसों का प्रबल विरोध उनकी आशंकाओं को और भी दृढ़ करता जाता था। इसलिए लक्ष्मण की अलौकिक बातें उन्हें बिल्कुल नहीं भाती थीं। ज्यों-ज्यों लक्ष्मण ने उपेक्षा और निश्चिन्तता दिखाई, सीता का क्रोध बढ़ता गया, और वह आपे से बाहर होकर लक्ष्मण पर उबल पड़ीं :

"नैव चित्रं सपत्नेषु पापं लक्ष्मण यद्भवेत्। त्वद्विधेषु नृशंसेषु नित्यं प्रच्छन्नचारिषु ॥
सुदुष्टस्त्वं वने राममेकमेकोऽनुगच्छसि। ममहेतोः प्रतिच्छन्नः प्रयुक्तो भरतेन वा ॥"

क्रोध से पागल होकर सीता ने पहले लक्ष्मण को अनार्य, क्रूर, घातक, कुल-कलंक आदि से सम्बोधित किया; फिर वह मर्म-वेधक वाणी बोलने लगीं—'जान पड़ता है, तुम प्रच्छन्न रूप से, मुझे प्राप्त करने के लिए, एकाकी राम के साथ हो गए हो अथवा भरत के ही द्वारा किसी गुप्त अभिप्राय से तुम नियुक्त किए गए हो!'

इतना कहकर सीता ने स्पष्ट कह दिया, कि वह किसी की इच्छा पूरी न होने देंगी; और वह गरज उठीं :

"समक्षं तव सौमित्रे प्राणांस्त्यक्षाम्यसंशयम्।
रामं विना क्षणमपि नैव जीवामि भूतले ॥"

'निश्चय-पूर्वक मैं अभी तुम्हारे सामने प्राण त्याग दूँगी—राम के बिना एक क्षण भी मैं पृथ्वी में जी न सकूँगी।'

इसके बाद लक्ष्मण भी असहनशील हो उठे और उन्होंने मैथिली को ही नहीं, समस्त स्त्री-जाति को भी कोस दिया :

"वाक्यमप्रतिरूपं तु न चित्रं स्त्रीषु मैथिलि। स्वभावस्त्वेषु नारीणामेषु लोकेषु दृश्यते।
विमुक्तधर्माश्चापलास्तीक्ष्णा भेदकराः स्त्रियः। न सहे हीदृशं वाक्यं वैदेहि जनकात्मजे ॥"

'सीते, तुम भी आखिर स्त्री हो; और स्त्रियों के लिए ऐसे अनुचित वचन कोई विस्मय की बात नहीं—स्त्रियों का स्वभाव ही कुछ ऐसा होता है! उनमें धर्माधर्म का विचार नहीं रहता, वे चपल और चण्ड होती हैं, परस्पर फूट डाल देती हैं। वैदेही, मैं ऐसी बातें सुन नहीं सकता!'

लक्ष्मण ने सीता को बारम्बार धिक्कारा और अन्त में कहा :

"अपि त्वां सह रामेण पश्येयं पुनरागतः।"

क्या राम के साथ लौटने पर लक्ष्मण सीता को यहाँ देख सकेंगे ? ऐसी शंका प्रकट करके वह वहाँ से चले गए।

इधर रोती हुई जानकी ने उन्हें सुना कर अपना संकल्प दुहराया :

"गोदावरीं प्रवेक्ष्यामि हीना रामेण लक्ष्मण। आबन्धिष्येऽथवा त्यक्ष्ये विषमे देहमात्मनः ॥
पिबामि वा विषं तीक्ष्णं प्रवेक्ष्यामि हुताशनम्। नत्वहं राघवादन्यं कदापि पुरुषं स्पृशे ॥"

राम के न रहने पर सीता गोदावरीमें डूब मरेंगी; फाँसी पर लटक जाएँगी, पहाड़ से कूद पड़ेंगी, संखिया खा लेंगी, ज्वाला में प्रवेश कर जाएँगी; पर, राम के सिवा किसी अन्य पुरुष का वह स्पर्श नहीं करेंगी।

कंबन ने भी वाल्मीकि का ही अनुसरण किया है, पर तुलसी को यह छीछा-लेदर नहीं रुचा और वह केवल 'मरम बचन' के द्वारा आँधी-तूफान का आभास देकर आगे बढ़ गए। लेकिन अन्यत्र, स्त्रियों पर व्यंग्य-बाण छोड़ने का पाठ, तो उन्होंने आदिकवि से पढ़ा ही !

हाय, आदिकवे, सीता का क्रोधावेश सकारण था, राम के प्रति प्रेमाधिक्य और परिस्थिति की पुकार पर आधारित था; पर कहो तो—पुत्रवत् आचरण करनेवाले लक्ष्मण का यह प्रलाप पुरुष को कहाँ उड़ा ले जाता है ?

ऐसी परिस्थिति में सीधा रास्ता तो यही था कि लक्ष्मण सीता को भी अपने साथ कर लेते और साथ जाते राम की खोज में—तब तो न यह छीछालेदर होती, न आश्रम पर कोई आपत्ति ही आती !

लेकिन, तब कथा का सूत्र आगे कैसे बढ़ता ?

"क्रोधवन्त तब रावन लीन्हेसि रथ बैठाइ"

इधर लक्ष्मण चले, उधर घात में लगा रावण :

"सून बीच दसकंधर देखा। आवा निकट जती के बेषा।"

यती-योगी का वेश बनाकर सीता के पास पहुँचा। यहाँ 'मानस' का कवि, रावण की गति-विधि का, बड़ा ही मार्मिक वर्णन करता है :

"जा के डर सुर असुर डेराहीं। निसि न नींद दिन अन्न न खाहीं।
सो दससीस स्वान की नाईं। इत उत चितइ चला भड़िहाईं॥"

जिसके डर से देव और दानव इतना कम्पित रहते हैं कि उन्हें न रात में नींद आती है और न दिन में वे भर-पेट भोजन कर पाते हैं; वही रावण आज अधम कुत्ते की भाँति, इधर-उधर देखता, भड़िहाईं करने चला है!

"भड़िहाईं" उसे कहते हैं, जब कुत्ता चुपके से पाकशाला के बर्तन-भाड़ों में मुँह डालने चलता है। सिर्फ एक "भड़िहाईं" के प्रयोग से रावण के अन्तर और बाहर की समस्त दशा 'एक्सरे' की भाँति, कितनी स्पष्ट हो जाती है। इसे कहते हैं शब्द-चयन की चातुरी—जिसमें चित्रमयी लाक्षणिकता सहसा सजीव हो उठती है।

रावण ने आकर सीता के सामने अपना जाल फैलाया :

"नाना बिधि करि कथा सुहाई। राजनीति भय प्रीति देखाई॥"

अनेक प्रकार की सुन्दर-सुन्दर कथाएँ कहकर उसने सीताजी को राजनीति, भीति और प्रीति दिखाई।

कवि तुलसी ने सिर्फ एक वाक्य में रावण के कथन को समाप्त कर दिया है, परन्तु वाल्मीकि और कंबन ने रावण की वेश-भूषा, सीता के रूप का उस पर प्रभाव, और उसके द्वारा सीता की सुन्दरता की प्रशंसा, सीता के द्वारा उसका स्वागत आदि का संश्लिष्ट वर्णन किया है।

आदिकवि के कथन का सारांश है :

"रावण उज्ज्वल काषाय वस्त्र पहने था, मस्तक पर शिखा, छाता और पैरों में जूता। कन्धे पर डण्डा और हाथ में कमण्डलु। राम-लक्ष्मण से शून्य सीता को देखकर वह उसी प्रकार बढ़ा—जैसे सूर्य-चन्द्र से शून्य सन्ध्या पर घनान्धकार हावी हो जाता है। उस भयानक पापी को देखकर जनस्थान के पेड़-पौधों ने हिलना-डुलना छोड़ दिया, हवा रुक गई, उसकी रक्तारुण आँखें देखकर गोदावरी भी मन्द-गामिनी बन गई। शनैश्चर जैसे चित्रा के पास जाता है, तृणराजि से ढँके कूप की तरह, भव्यवेश में वह सीता के पास जा खड़ा हुआ। उसने गौर से सीता को देखा—बड़ी सुन्दर

दीख पड़ीं वह। पर्णशाला में बैठी वह रो रही थीं। पीताम्बर-धारिणी सीता के पास जाकर वह भीतर से कामासक्त हो गया और मुख से वेद-मन्त्र का उच्चारण करने लगा। फिर उनकी रूप-राशि की प्रशंसा में वह बोला—'हे कनकांगी, तुम कौन हो? तुम्हारे धवल दन्त सम हैं, आँखें उज्ज्वल, छोर पर लाल और पुतली काली, जाँघें हाथी की सूँड़ के समान लम्बी और मोटी हैं, स्तन गोल-गोल, परस्पर सटे, कुछ-कुछ हिलते-डुलते-से, ताड़-फल की भाँति मोटे-ऊँचे और श्रेष्ठ मणियों से भूषित हैं। हे विलासिनी, तुम सुन्दर मुसकान, आँख और दाँतों से उसी भाँति मेरा मन हरण कर रही हो—जैसे जल की तेज धारा नदी के कूलों को ढाह देती है। तुम्हारी कमर ऐसी पतली है कि मुट्ठी में आ जाए।

"यह श्रेष्ठ सौंदर्य, यह सुकुमारता, यह आयु और वनवास! तुम यहाँ से लौट जाओ—यह स्थान क्रूर राक्षसों के रहने योग्य है। तुम्हें तो सौरभमय समृद्ध नगरों और उपवनों में रहना चाहिए। तुम यहाँ कैसे आईं! तुम वानर, सिंह, चीते, भेड़िए, भालू, कंक आदि से क्यों नहीं डरतीं? धावमान मतवाले हाथियों से तुम भय क्यों न खाती हो? तुम कौन हो, किसकी हो, किस कारण इस घोरारण्य में रहती हो!"

सीता ने रावण को संन्यासी और ब्राह्मण जानकर यथोचित सत्कार किया, बैठने के लिए आसन, पैर धोने को जल, वन-सुलभ भोजन दिया; और फिर उन्होंने राम और लक्ष्मण के आगमन की प्रतीक्षा में इधर-उधर देखा, पर उन्हें दिखाई दिए केवल शून्य दिशाएँ और विशाल वन!

तदनन्तर आतिथ्य-धर्मानुसार सीता ने संन्यासी को अपना पूर्ण परिचय दिया और थोड़ी देर ठहरकर उससे विश्राम करने का अनुरोध कर दिया, जब तक राम और लक्ष्मण नहीं आ जाते। फिर सीता ने भी अपने मान्य अतिथि के नाम, कुल, गोत्र और दण्डकारण्य में घूमने के कारण पूछे।

आदिकवि के रावण ने इसका कठोर उत्तर दिया सीता को—'मैं राक्षस राजा रावण हूँ, तुमको देखकर मुझे अपनी स्त्रियाँ नापसन्द हो गईं, मैं इधर-उधर से बहुत-सी स्त्रियों को हर लाया हूँ, तुम चलकर उनमें पटरानी बनो। समुद्र के बीच लंका मेरी राजधानी है, तुम मेरे साथ वन-विहार करना, पाँच हजार सजी-सजाई दासियाँ तुम्हारी सेवा में रहेंगी।'

यह सुनकर अनवद्यांगी जानकी को क्रोध आ गया और वह तिरस्कार के स्वर में कहने लगीं—'मैं नरशार्दूल राम की अनुरागिनी हूँ, तू शृगाल होकर सिंहिनी को वश में करना चाहता है? तू सूई से आँखें खुजला रहा है, उस्तरे को जीभ से चाट रहा है। कालकूट विष पीकर बच जाना चाहता है? गले में पत्थर बाँधकर समुद्र तैरना चाहता है? सूर्य-चन्द्र को हाथों से खींच लेना चाहता है? आग को कपड़े में बाँध कर ले जाना चाहता है?'

तदनन्तर सीता राम और रावण में अन्तर दिखाकर रावण की भर्त्सना करने

लगीं—'तुम में और राम में वही अन्तर है जो स्यार और सिंह में होता है जो नदी और सिन्धु में, सोने और शीशे में; अमृत और काँजी में, कौए और गरुड़ में, बिल्ली और हाथी में, गीध और हंस में, कीचड़ और चन्दन में होता है।'

इसका जवाब रावण और भयंकर देता है—जिसमें अपने बल-वैभव की बड़ाई और राम की निन्दा का ही आधिक्य रहता है।

महाकवि कंबन का यह प्रसंग बड़ा ही उत्कृष्ट बन पड़ा है। उनका रावण आदिकवि-सा उद्धत और अशिष्ट नहीं है; वह एक सच्चे प्रेमी के रूप में अपने को सीता के सामने उपस्थित करता है। संन्यासी का नकली वेश उससे कैसे छूट जाता है, उसका चित्रण भी बड़ा ही स्वाभाविक हुआ है। आदिकवि का वर्णन उसके सामने फीका पड़ जाता है।

घात में लगे रावण को देखकर पंचवटी के गिरि-कानन तथा जीव-जन्तुओं की क्या दशा हो जाती है :

"The mountains trembled at the Raksha's sight,
And trees a tremor felt from lowest root
Up to Their topmost height. The birds grew dumb,
While beasts in terror crouched, and cobras stole
With shrunken hoods !'

पहाड़ काँप उठे, वृक्ष जड़-मूल से फुनगी तक हिल उठे, पक्षी मूक हो गए, जानवरों ने भय से सिर झुका लिया और विषधर सर्प फण समेट कर खिसक गए !

कंबन के सीता—रावण का वार्तालाप भी कुछ सुन लिया जाए :

सीता के सामने बैठते हुए रावण ने पूछा—'कौन महात्मा यहाँ रहते हैं ?'

सीता ने उत्तर दिया—'दशरथ महाराज के वंश-विश्रुत पुरुष-पुंगव सहानुज यहाँ निवास करते हैं। उन्होंने अपनी महीयसी माता की आज्ञा से यह वनवास लिया है। ऋषिवर, आपने उनका नाम अवश्य सुना होगा।'

रावण ने उनके बारे में कुछ सुना है जरूर किन्तु ठीक-ठीक उन्हें नहीं जानता—यद्यपि वह पावन गंगा के तटवर्ती राज्यों में परिभ्रमण कर चुका है। तब वह सहसा पूछ बैठता है—'सुलोचने ! तुम कौन हो और तुम किस महाभाग की पत्नी हो ?'

पिता जनक और पति राम का नाम लेकर जानकी ने अपना पूर्ण परिचय दिया और फिर थके-माँदे दीख पड़ने वाले, उस संन्यासी का परिचय जानना चाहती हैं।

इसके उत्तर में वह छलिया दूर की कौड़ी लाता है और अपने भ्रमण-वृत्तान्त सुनाने के सिलसिले में लंका और उसके अधीश्वर रावण के राज्य, उसके बल-वैभव तथा उसके रूप-रंग का गान मुक्त-कण्ठ से करने लग जाता है।

उसके कहने का सारांश है कि रावण को अपना पति बनाने के लिए यद्यपि अनगिनत सुन्दरियाँ सिर मार रही हैं, किन्तु उसने अब तक किसी को अपना हृदय

नहीं दिया है, और वह आकाश-पाताल एक कर रहा है एक ऐसी रमणी की खोज में जो उसके हृदय को आह्लादित कर सके। वह यति रावण के राज्य में कुछ दिनों के लिए चला गया था, अब फिर यहाँ लौट आया है अपने सुहृद् जनों के बीच इस जनस्थान में तपस्या करने। सरल सीता, उस कपटी की दुरभिसन्धि को न पहचान कर, विस्मय प्रकट करती हैं कि एक तपस्वी तपोवन छोड़कर, वेद और ब्राह्मण के द्रोही, जीवित प्राणियों को खा जाने वाले, पापी और क्रूर राक्षसों के देश में क्यों कर गया?

संन्यासी ने रावण और राक्षसों की बड़ी बड़ाई की और उन्हें ऋषि-मुनियों का शुभैषी बताया और उनसे मिलकर रहने में ही सज्जनों का कल्याण घोषित किया। इस पर सीता ने, राक्षस-विनाश के लिए राम ने जो प्रतिज्ञा की थी, उसका उल्लेख कर जब उसे निर्भय होने की बात कही, तब संन्यासी ने व्यंग्य किया—'क्या खरगोश मत्त मातंग को मार सकता है और क्या मृग वनराज सिंह को अपने सींगों से छेद सकता है? अगर नहीं, तो फिर आदमी राक्षसों का विनाश कैसे करेगा? और उस राक्षस-राज रावण के तो दस सिर और बीस भुजाएँ हैं!'

सीता ने अवहेलना से सहस्रार्जुन के विनाश का उल्लेख करके बताया कि कैसे रावण उसके यहाँ वर्षों बन्दी रहा और कैसे परशुराम ने कार्तवीर्य के हजारों हाथ काट डालें।

अपनी हार की चर्चा उसे शर्म में दबोच गई और वह क्रोध से पागल हो उठा—बस, गुस्सा आते ही उसका नकली वेश क्षणान्तर में उड़ गया और वह अपने असली रूप में सीता के समक्ष प्रकट हो गया :

"When she these stinging words did speak, his eyes
Flashed five: he ground his lightning laden teeth
Which crashed out thunder : and his false form burst,
Revealing all his branching arms and crowns
Upreaching to the sky."

जब सीता ने उसे ऐसी चुभीली बातें कहीं, तो उसकी आँखों से ज्वाला फूट पड़ी, वज्रपात की कड़क के समान उसके विद्युत्-से चमकीले दाँत बज उठे; बस—उसका नकली वेश उड़ गया और शाखा-प्रशाखा की तरह आकाश को छूने वाली उसकी भुजाएँ निकल पड़ीं।

कितना स्वाभाविक तथा कितना प्रभावोत्पादक चित्रण है! क्रोध में आदमी अपना बाल भी नोच डालता है, फिर रोषानल में जलते हुए रावण का नकली वेश क्यों न उड़ जाता?

इसे कहते हैं कवि की रस-मग्नता!

तुलसी की सीता पहले इतना ही कहती हैं :

"कह सीता सुनु जती गोसाईं। बोलेहु वचन दुष्ट की नाईं॥"

सुनो, यती, तुम तो दुष्ट की तरह बोलते हो !

यह सुनते ही :

"तब रावन निज रूप देखावा । भई सभय जब नाम सुनावा ॥"

रावण ने अपना असली रूप दिखा दिया और जब उसने अपना नाम भी बता दिया, तब सीता भयभीत हो उठीं ।

"कह सीता धरि धीरज गाढ़ा । आइ गयउ प्रभु रहु खल ठाढ़ा ॥
जिमि हरि बधुहि छुद्र सस चाहा । भएसि काल बस निसिचर नाहा ॥"

जरा तुम खड़े तो रहो—आ ही पहुँचे राम ! जैसे तुच्छ खरगोश सिंहिनी पर नजर डाले, वैसे ही निशिचर-नाथ, तू भी मौत का मेहमान होना चाहता है ।

इतना सुनते ही वह राक्षस रिस से भर गया, और :

"क्रोधवंत तब रावण लीन्हिसि रथ बैठाइ ।
चला गगन पथ आतुर भयँ रथ हाँकि न जाइ ॥"

उसने उन्हें अपने रथ में बिठा लिया और फिर भयातुर होकर वह आकाश-मार्ग से भागा, पर भयवश उससे रथ हाँका नहीं जा रहा था ।

वाल्मीकि की सीता जब रावण की भर्त्सना करती हैं, तब वह अपने बल-वैभव के वर्णन के साथ रामचन्द्र की हीनता का भी उल्लेख करता है, जिससे सीता का मन उनसे फिर जाए । वह कहता है—'राम दुर्बल है, इसीसे राजा ने उसे वनवास दे दिया ! यों जो राज्य-भ्रष्ट और बुद्धि-भ्रष्ट है, उसे लेकर सीते तुम क्या सुख भोगोगी ?'

सीता पुनः राम के पौरुष और पराक्रम का गान करके रावण को कालवश बताती हैं । यह सुनकर वह भाषण-निपुण कहता है—'मैं आकाश में ठहर कर अपनी भुजाओं से पृथ्वी को उठा सकता हूँ, समुद्र को पी जा सकता हूँ, युद्ध में मृत्यु को भी मार सकता हूँ, सूर्य को बाणों से भेद सकता हूँ, धरती की धज्जियाँ उड़ा सकता हूँ । देखो—मैं इच्छानुसार कैसा-कैसा रूप धारण कर सकता हूँ ।'

ऐसा कहते ही उसकी आँखें मोर-पंख के समान हो गईं । तुरत संन्यासी का वेश छोड़ कर वह उग्र काल हो गया—दस सिर और बीस भुजा वाला रावण बन गया और जानकी को देखकर बोला—'सीते, तुम तीनों लोक के नाथ मुझे अपना पति बनाओ; मैं तुम्हारा प्रिय पति हूँगा, कभी कोई प्रतिकूल बात नहीं कहूँगा । तुम किस गुण से राम पर अनुरक्त हो ? मूर्खे, तुम अपने को पण्डिता समझती हो, पर वास्तव में हो तुम महामूर्ख !'

ऐसा कह कर, उसने पास जाकर बाएँ हाथ से सीता का सिर और दाहिने हाथ से उनके उरु (जाँघ) पकड़े; डरा-धमका कर गोद में उठाया और फिर ले जाकर रथ में बिठा दिया ।

लेकिन, आदिकवि के अनन्य अनुगामी होकर भी कंबन ने क्रुद्ध रावण से वह कुटिया ही उखड़वा ली है :

'जिस प्रकार मृत्यु को मुँह बाए देखकर साधारण जीव काँप उठते हैं, सीता भी रावण को देखकर भय से काँप उठीं। लेकिन रावण ने झट वह झोपड़ी ही उखाड़ ली और अपने रथ पर उसे रखकर वह लंका की ओर उड़ चला।'

जो शिव के गगन-भेदी कैलाश को तोड़ सकता है, उसे एक तुच्छ झोपड़ी उखाड़ने में क्या दिक्कत होती? यों कंबन की कल्पना ने रावण को बलात्कार के अपराध से, और सीता को स्पर्श-दोष से भी, बचा लिया।

तुलसी इन झंझटों में नहीं पड़े—यह हम देख आए हैं। उन्होंने कल्पना के संस्कार में ही अपनी सुरुचि दिखाई है!

"सीते पुत्रि करसि जनि त्रासा" :

रावण का रथ, मनोरथ की भाँति, नभ-पथ से उड़ चला :

"हा लछिमन तुम्हार नहिं दोसा। सो फलु पायउँ कीन्हेउँ रोसा॥
बिपति मोरि को प्रभुहि सुनावा। पुरोडास चह रासभ खावा॥"

सीता लक्ष्मण के प्रति अपना अपराध स्वीकार करती हैं। उनके क्रोध का ही तो यह दुष्परिणाम है। वह अत्यन्त व्याकुल हो रही हैं, कि कौन उनकी विपत्ति राम से कह सुनाए? अरे, यज्ञ की हवि को गधा खाना चाहता है!

"सीता कै बिलाप सुनि भारी। भए चराचर सकल दुखारी॥
गीधराज सुनि आरत बानी। रघुकुल तिलक नारि पहिचानी॥
अधम निसाचर लीन्हें जाई। जिमि मलेछबस कपिला गाई॥
सीते पुत्रि करसि जनि त्रासा। करिहउँ जातुधान कर नासा॥"

सीता का करुण-क्रन्दन सुनकर जड़-चेतन सब दुःखी हो उठे। जटायु पास में था। उसने सीता को पहचान लिया और ढाढ़स दिया कि वह घबराएँ नहीं; राक्षस के साथ युद्ध करके वह उसका नाश करेगा।

जटायु ने रावण के साथ युद्ध किया, सीता को छुड़ाया, रावण को गिराया; किन्तु अन्त में राक्षस ने प्रबल पराक्रम से उसके पंख काट डाले! लाचार जटायु धरती पर गिर गया :

"सीतहि जान चढ़ाइ बहोरी। चला उताइल त्रास न थोरी॥"

सीता को फिर से विमान पर चढ़ा कर रावण अति उतावली से भाग खड़ा हुआ। तुलसी की दृष्टि में वह अत्यन्त डर गया था :

"करति बिलाप जाति नभ सीता। ब्याध बिबस जनु मृगी सभीता॥
गिरि पर बैठे कपिन्ह निहारी। कहि हरि नाम दीन्ह पट डारी॥"

पहाड़ों पर बैठे हुए कुछ बानर दीख पड़े और सीता ने राम का नाम लेकर झट अपने कुछ गहने-कपड़े उनके सामने गिरा गिए :

"एहि बिधि सीतहि सो लै गयऊ। बन असोक महँ राखत भयऊ॥"

इस प्रकार तुलसी का रावण सीता को ले जाकर सीधे अशोक-वन में रखता है :

"हारि परा खल बहुबिधि भय अरु प्रीति दिखाइ।
तब असोक पादप तर राखिसि जतन कराइ॥"

किन्तु यहाँ आदिकवि का वर्णन विशाल और अद्भुत है। रावण से पकड़ी जाने पर सीता सर्पिणी-सी छटपटाती हुई जोर-जोर से राम को पुकार कर कहने लगीं कि आज कैकेयी और उसके बन्धु-बान्धवों का मनोरथ पूर्ण हुआ; क्योंकि रामचन्द्र की पत्नी आज हरी गई। फिर वह उस जनस्थान से, वहाँ के पुष्पित कर्णिकारों से, हंस एवं सारसों से पूर्ण गोदावरी नदी से, पशु-पक्षी से, वन के देवी-देवताओं से प्रार्थना करती हैं कि वे सब सीता के हरे जाने का समाचार राम को शीघ्र सुना दें। राम को मालूम हो जाने पर, सीता का अटल विश्वास है कि यमलोक से भी वह उसे लौटा लाएँगे।

उसी समय पेड़ पर जटायु को देख कर वह कहने लगीं—'देखो, आर्य यह पापी मुझे निर्दयता से उठाए लिए जा रहा है : तुम वृद्ध हो; इस क्रूर को रोक तो नहीं सकते, किन्तु राम से मेरी दुर्दशा अवश्य बता देना।'

जटायु और रावण में जो घोर युद्ध हुआ, उसमें तुलसी ने कुछ दूसरा ही दृश्य दिखाया है, पर आदिकवि का कथन है :

"स भग्नधन्वा विरथो हताश्वो हतसारथिः।
अङ्केनादाय वैदेहीं पपात भुवि रावणः॥"

धनुष, रथ, घोड़ों और सारथी के नष्ट हो जाने पर, सीता को गोद में लिए हुए ही, रावण पृथ्वी पर गिरा; किन्तु जटायु को थका देख कर :

"उत्पपात पुनर्हृष्टो मैथिलीं गृह्य रावणः॥"

सीता को गोद में लिए हुए ही वह पुनः आकाश में उठा और सीता को छोड़ कर, जटायु को लातों और मुक्कों से मारने लगा; और फिर तलवार से उसके पंख, पाँव तथा पार्श्व काट डाले। जटायु धरती पर गिरा, और :

"तं दृष्ट्वा पतितं भूमौ क्षतजार्द्रं जटायुषम्। अभ्यधावत वैदेही स्वबन्धुमिव दुःखिता॥"

उसको यों गिरते देख सीता आत्मीय जनों की तरह दौड़ीं और जटायु का सिर स्पर्श कर रोने लगीं। रावण सीता को पकड़ने दौड़ा। सीता लता की तरह विटपों से जा लिपटीं; किन्तु 'छोड़ो-छोड़ो' कहता हुआ रावण उनके पास पहुँच गया और कालान्तक यमराज की भाँति उनका केश पकड़ कर खींचने लगा :

"प्रधर्षितायां वैदेह्यां बभूव सचराचरम्। जगत्सर्वं मर्यादं तमसाऽन्धेन संवृतम्॥
न वाति मारुतस्तत्र निष्प्रभोऽभूद्दिवाकरः॥"

सीता का वह घोर अपमान देख कर समस्त सराचर घनान्धकार में डूब गया, वायु का चलना रुक गया और सूर्य निष्प्रभ हो गया।

उस समय सीता कैसी दीखती थीं :

"तप्ताभरणवर्णांगी पीतकौषेयवासिनी। रराज राजपुत्री तु विद्युत्सौदामिनी यथा॥"

तपाए हुए स्वर्णाभरण के समान अंगोंवाली एवं पीताम्बर पहने सीता विद्युत् ही जान पड़ती थीं। जैसे पहाड़ दावाग्नि से जल उठे, सीता के उड़ते हुए पीताम्बर से रावण भी वैसा ही ज्वाला-दीप्त दीखने लगा। आकाश में उड़ा हुआ स्वर्ण सदृश सीता का वस्त्र, सन्ध्या-काल में सूर्य के रंग से लाल हो रहे मेघ के समान मालूम पड़ता था। रावण की गोद में पड़ी हुई सीता का मुख बिना नाल का कमल जान पड़ता था। काले राक्षस-राज के साथ कनकांगी सीता ऐसी दीखती थीं—जैसे काले हाथी को किसी ने स्वर्ण-मेखला पहना दी हो :

"तां महोल्कामिवाकाशे दीप्यमानां स्वतेजसा। जहाराकाशमाविश्य सीता वैश्रवणानुजः॥"

यों महोल्का के समान भासमान सीता को रावण ने हरण किया।

"तस्याः स्तनान्तराद् भ्रष्टो हारस्ताराधिपद्युतिः। वैदेह्या निपतन्भाति गङ्गेव गगनच्युता॥"

सीता के वक्ष के बीच से गिरा हुआ, चन्द्र-सा चमकीला वह हार, गगन से गिरती हुई गंगा के समान दीख पड़ा :

"उत्पातवाताभिरता नाना द्विजगणायुताः। मा भैरिति विधूताग्रा व्याजह्रुरिव पादपाः॥
नलिन्यो ध्वस्त कमलास्त्रस्तमीन जलेचराः। सखीमिव गतोत्साहां शोचन्तीव स्म मैथिलीम्॥
समन्तादभिसंपत्य सिंहव्याघ्रमृगद्विजाः। अन्वधावंस्तदा रोषात्सीताच्छायानुगामिनः॥
जलप्रपातास्रमुखाः शृङ्गैरुच्छ्रितबाहुभिः। सीतायां ह्रियमाणायां विक्रोशन्तीव पर्वताः॥"

नाना विहगावली से युक्त तथा उत्पात-वायु से विकम्पित वृक्षावली अपनी प्रकम्पित शाखा-प्रशाखाओं को हिला-हिलाकर सीता को मानो ढाढ़स दे रहे हों—'मत डरो—मत डरो!' सरोवरों के सरोज ध्वस्त हो गए, मीन-मत्स्य जलचर जीव त्रस्त और निरुत्साहित होकर अपनी सखी सीता के लिए शोकाकुल बन गए। बाघ, सिंह, हरिन वगैरह जमा होकर सीता की छाया के पीछे-पीछे रोष-पूर्ण वेग से दौड़ने

लगे। पर्वत-पुंज अपने निर्झर-रूपी अश्रु बहा कर और शिखर-सदृश अपने करों को उठाकर सीता के लिए जैसे रुदन कर रहे हों। प्राणी-मात्र अपनी टोलियों से जैसे पूछ रहे हों—'धर्म कहाँ है, सत्य कहाँ है, सरलता और दयालुता कहाँ है? अगर इनका अस्तित्व कहीं होता, तो सीता को रावण आज यों उठा ले जाता!'

सीता का रुदन देखकर जैसे सारी वनस्थली ही रो उठी!

आदिकविके अनुसार अपहृता सीताको वहाँ कोई उनका रक्षक नहीं दीख पड़ा। एक पर्वत-शिखर पर कुछ वानरों को देख सीता ने अपने कुछ गहने-कपड़े गिरा दिए; घबड़ाहट के कारण रावण इसका रहस्य न समझ सका। उन वानरों की भूरी-भूरी आँखों में सीता को आशा की कुछ ज्योति दीख पड़ी। रावण सीता को अपनी गोद में रखकर प्रसन्न-मुद्रा से लंका की ओर चला—जैसे वह तीक्ष्ण दाँतवाली काल-सर्पिणी को ही गोद में उठाए ले जा रहा हो। धनुष से छूटे तीव्रगामी तीर की तरह वन, पर्वत, नद, नदी, समुद्र को लाँघता गगन-पथ से, वह तिमि, मगर, वरुण और सरिताओं का शरणालय सागर को भी पार कर गया। सीता के शोक के कारण क्षोभाक्रान्त सागर में तरंगों का उठना बन्द हो गया, मछलियों और भीषण सर्पों की उछल-कूद रुक गई।

ओह, कैसा वह विश्व-व्यापी शोक-सन्ताप था!

तड़पती सीता को गोद में लिए रावण चौड़ी सड़कों में विभक्त, जन-संकुल द्वार वाली लंकापुरी में प्रवेश करके, अपने अन्तःपुर में चला गया और वहाँ उसने दासियों को समझा-बुझाकर, सीता को सुख-पूर्वक रहने की सुविधा कर दी।

"एक बार बिलोकु मम ओरा":

'मानस' की सीता अशोक-तरु-तले बैठी बिसूर रही हैं। उसी समय रामदूत हनुमान, विभीषण की सहायता से, अशोक वन में प्रवेश करते हैं; और पर्ण-पुंजों में छिप कर वहाँ का दृश्य देखने लग जाते हैं:

"कृस तनु सीस जटा एक बेनी। जपति हृदयँ रघुपति गुन श्रेनी॥
निज पद नयन दिएँ मन राम पद कमल लीन।
परम दुखी भा पवनसुत देखि जानकी दीन॥"

सीता का शरीर दुर्बल हो गया है, सिर पर जटिल एक वेणी है और मुख से राम का गुण-कीर्तन हो रहा है। उनके नेत्र निज चरण-लीन हैं और मन राम के चरणों में विचरण कर रहा है। यों जानकी को दीन-हीन देखकर हनुमान परम दुःखी हो गए, और:

"तरु पल्लव महुँ रहा लुकाई। करइ बिचार करौं का भाई॥"

पेड़ों के पत्तों में छिपकर बैठ गए और सोचने लगे—अब क्या किया जाए:

"तेहि अवसर रावनु तहँ आवा। संग नारि बहु किएँ बनावा ॥
बहु बिधि खल सीतहि समुझावा। साम दाम भय भेदु दिखावा ॥"

उसी समय बहुत-सी स्त्रियों को साथ लिए हुए, खूब सज-धज कर, रावण वहाँ आया और अनेक प्रकार से साम-दाम तथा भय-भेद आदि की बातें कह कर वह उन्हें मनाने लगा :

"कह रावन सुनु सुमुखि सयानी। मंदोदरी आदि सब रानी ॥
तव अनुचरीं करउँ पन मोरा। एक बार बिलोकु मम ओरा ॥"

'सुमुखी' और 'सयानी' कह कर पहले उसने सीता की स्तुति की, फिर मन्दोदरी आदि अपनी समस्त रानियों को उनकी अनुचरी बनानेका प्रलोभन दिया; और बदले में सिर्फ इतनी याचना की—कि वह (सीता) एक बार उसकी ओर देख भर लें।

यहाँ तक वह स्नेह और शील का ही प्रदर्शन करता रहा, जिसका प्रभाव पड़ना अवश्यंभावी था। अतः

"तृन धरि ओट कहति बैदेही। सुमिरि अवधपति परम सनेही ॥
सुनु दसमुख खद्योत प्रकासा। कबहुँ कि नलिनी करइ बिकासा ॥
अस मन समुझु कहति जानकी। खल सुधि नहिं रघुबीर बान की ॥
सठ सूनें हरि आनेसि मोही। अधम निलज्ज लाज नहिं तोही ॥"

अब यह आवश्यक हो गया कि सीता रावण को कुछ जवाब दें। इसलिए तृण की आड़ लेकर तथा अपने परम प्रियतम (राम) का ध्यान धर कर उन्होंने रावण से कहा—कि जुगनू की ज्योति से क्या किसी ने कभी कमलिनी को खिलते देखा है—अर्थात् लल्लो-चप्पो की इन बातों से क्या वह सीता को पिघलाना चाहता है? यह मूढ़ाशा वह छोड़ दे। इसके बाद 'खल' कह कर वह उसे राम के बाणों की याद दिलाती हैं। तदनन्तर उनका क्रोध उफन उठता है और वह उसे 'शठ', 'अधम' तथा 'निर्लज्ज' तक कह बैठती हैं; और इसके लिए प्रमाण भी देती हैं कि वह उन्हें सूने में (राम-लक्ष्मण की अनुपस्थिति में) हर लाया है।

जगत्-जयी रावण, अपने घर में घिरी, एक निस्सहाया भारतीय नारीकी यह निरुपम पति-भक्ति, उसकी यह दर्पोक्ति और उसका यह अप्रतिम साहस देखकर, पहले एकदम हक्का-बक्का बन गया; फिर उसका आहत अभिमान विषधर की भाँति फुफकार उठा और उसका हाथ तलवार पर चल गया :

"सीता तैं मम कृत अपमाना। कटिहउँ तव सिर कठिन कृपाना ॥
नाहिं त सपदि मानु मम बानी। सुमुखि होति न त जीवन हानी ॥"

सीता ने लंकेश्वर रावण की केवल प्रेम-याचना ही न ठुकरा दी; प्रत्युत उसका

घोर अपमान भी कर दिया—सो भी उसके घर में ! वह कामान्ध अभिमानी अब भीषण क्रोध में आ गया और बौखलाकर सीता का सिर काटने को उद्यत हो गया। उसने तुरन्त फैसला चाहा—या तो सीता उसकी बात मानें या अपना सिर दें।

सारा सचराचर ही नहीं, अन्तरिक्ष के देवी-देवता भी एक बन्दिनी भारतीय अबला का उत्तर सुनने को उत्कर्ण हो गए; हवा भी ठिठक कर खड़ी हो गई; देखें, अब सीता क्या करती हैं—अपना शील देती हैं या सिर ?

सहसा संसार की स्तब्धता भंग हुई और सबने सहर्ष सती सीता का उद्घोष सुना :

"स्याम सरोज दाम सम सुंदर। प्रभु भुज करि कर सम दसकंधर॥
सो भुज कंठ कि तव असि घोरा। सुनु सठ अस प्रवान पन मोरा॥"

जरा भी न सहम कर, तनिक भी द्विविधा-ग्रस्त न होकर, साथ ही सिंहिनी के दर्प से दहाड़ कर, भारतीय बाला ने उस दुर्धर दानवेश को फटकार दिया—सीता के गले में दो ही चीजें पड़ेंगी, या तो राम की सुन्दर-सुपुष्ट भुजाएँ या रावण की वह तीक्ष्ण तलवार !

फिर वह (सीता) रावण की उस चमचमाती और लपलपाती तलवार से अनुनय करने लगीं कि वह चन्द्रहास (रावण की तलवार) शीतल, तीक्ष्ण और दर्पोद्धत धार वाली है—वही क्यों न उनका ताप और परिताप हरण कर ले और उन्हें सदा के लिए शीतल बना दे !

चन्द्रहास (शीतल चाँदिनी) के कण्ठ में पड़ते ही सीता ठंढी हो जाएँगी—निष्प्राण होते ही उनकी सारी जलन-तड़पन भी दूर हो जाएगी।

सतीत्व की उस सुदीप्त-शिखा का वह अप्रतिम उत्तर सुनकर सारी सृष्टि उल्लास से नाच उठी; समीर-लहरी श्यामल वनस्थली का अंचल उड़ाती दौड़ पड़ी दिगदिगन्त को यह सुसंवाद सुनाने; पंछी पुलकाकुल होकर फुर्र-फुर्र उड़े और चहचहाते हुए सीता की उस दर्पोक्ति से गिरि-कानन को गुँजाने लग गए। उस बन्दिनी नारी की बन्दना में उन्नत आकाश धरती पर उतर आया, सूर्य शीतल हो रहा और धरित्री अपनी कोख पर गर्व से झूम उठी—धन्य सीते !

उसी साध्वी सीता का नाम जप कर भारत की असंख्य स्त्रियाँ सुदूर अतीत के आँगन से सतीत्व को पहचानने लगीं और आज भी यहाँ की शत-सहस्र नारियाँ मूक भाव से, सीता के सहारे ही, सब-कुछ सहन करके, अपने शील की रक्षा कर रही हैं। और जो ढुल-मुल ललनाएँ, आज गीदर-भभकी या बन्दर-घुड़की से डर कर, अपना शील दुष्टों के हाथों में सौंप देती हैं, उन्हें अपनी सजातीया उस दर्प-दीप्ता सीता से सबक लेना चाहिए और शील के बदले सिर देने की उत्कट उतावली दिखानी चाहिए—तभी वे भारत-भूमि की 'पुत्री' कहला सकती हैं और सती सीता की आत्मा तभी तृप्त होगी और 'सतीत्व' भी तभी व्यापक बनेगा। तत्त्वतः भारत की आत्मा हैं

इसकी पुनीत नारियाँ और उन नारियों की आत्मा हैं भूमिजा सीता। जब तक सीता हैं, तभी तक भारत-भूमि भी जीवित है।

रावण कामान्ध था; अपनी कामना असफल होते देख, वह क्रोध से पागल हो उठा। और, अगर मन्दोदरी उसके पास न होती, तो संभवतः वह मदहोश तलवार चला ही देता सीता पर; पर वहाँ लंकेश की महीयसी मन्दोदरी उस सताई हुई अपहृता सन्नारी की अतुल आत्मा को पहचान कर मुग्ध रह गई; और समझा-बुझाकर वह रावण को अपने साथ अन्तःपुर में ले चली।

चलते-चलते रावण ने सीता को फिर धमकाया :

"मास दिवस महँ कहा न माना। तो मैं मारबि काढ़ि कृपाना॥"

अगर एक मास तक भी सीता ने उसकी बात न मानी, तो वह उन्हें तलवार के घाट अवश्य उतार देगा। उसने केवल धमकी ही नहीं दी, प्रहरी राक्षसियों से कह भी दिया :

"सीतहि बहुबिधि त्रासहु जाई।"

सीता को अनेक प्रकार से डराया-धमकाया जाए।

यहाँ वाल्मीकि तथा कंबन की भी कुछ झलक ले ली जाए। हम देख आए हैं कि आदिकवि का रावण सीता को लेकर पहले सीधे अपने सौध में जाता है। वहाँ वह असितेक्षणा तथा शोक-मोहसमन्विता उस महामाया को रख देता है और अपनी प्रियप्रवीण अनुचरियों को उनकी सेवा-शुश्रूषा में नियुक्त करके उन्हें कड़ी चेतावनी दे देता है कि कोई सीता से अप्रिय वचन न बोले; सब सदा उनकी सेवा में प्रस्तुत रहें; मोती, मणि, सुवर्ण, वस्त्राभूषण, जो भी सीता चाहें, तुरन्त दे दिए जाएँ। तदनन्तर वह अपने आठ विश्वासी तथा बली गुप्तचरों को समझा-बुझाकर, रामचन्द्र के वधार्थ जनस्थान भेज देता है और मदनार्दित होकर वह शीघ्रता से पुनः उस रम्य-गृह में प्रवेश करता है, जहाँ राक्षसियों के बीच वह अश्रु-मुखी, दीना, दुःखिनी, वाताहता नाव-सी समुद्र में ऊब-डूब होती, सीता बैठी थीं। रावण ने उस शोक में डूबी, अधोमुखी सीता को बलपूर्वक अपने उस वैभव-विलसित, चित्र-विचित्र देव-दुर्लभ गृह का परिदर्शन कराया। फिर सीता को लेकर सौध की सीढ़ियों पर चढ़ा; और मणि-माणिक तथा मूँगे-मोतियों से निर्मित अपने मनोहर महलों एवं नाना-विध पुष्पों से समावृत सरोवरों को दिखा कर उसने उन्हें मुग्ध-लुब्ध करना चाहा। अतः अपने बड़प्पन और राम की बुराइयों का अबार लगाता वह बोल उठा :

"त्रयाणामपि लोकानां न तं पश्यामि शोभने। विक्रमेण नयेद्यस्त्वां मद्बाहुपरिपालिताम्।"

तीनों लोकों में ऐसा कोई नहीं है, जो अपने बल-विक्रम के द्वारा रावण की लंकापुरी से सीता को छुड़ा ले जा सके।

इधर रावण यों प्रलाप कर रहा था, उधर सीता अंचल में मुँह छिपाए सिसक रही थीं। यह देख कर रावण प्रेम से पागल हो उठा और बोला :

"अलं व्रीडेन वैदेहि धर्म लोप कृतेन ते।"

इसमें लज्जा की क्या बात है ? यह तो ऋषि-सम्मत प्रेम है उसका—इसमें धर्म-लोप का भय व्यर्थ है। ऐसा कह कर उस महाकामी ने अपने प्रेम का एक अद्भुत अभिनय कर दिखाया।

"एतौ पादौ मया स्निग्धौ शिरोभिः परिपीड़ितौ।"

उसने सीता के चरणों पर अपने उन्नत सिर रख दिए और गिड़-गिड़ाने लग गया :

"प्रसादं कुरु मे क्षिप्रं वश्यो दासोऽहमस्मि ते।"

अपने को अधीन और दास मान कर रावण सीता की प्रसन्नता का प्रसाद चाहता है और अपने अभिनय का महत्त्व भी बखानता है :

"न चापि रावणः कांचिन्मूर्ध्ना स्त्रीं प्रणमेत ह।"

रावण किसी स्त्री के सामने मस्तक नहीं झुकाता।

कितना संश्लिष्ट चित्र खींचा है वाल्मीकि मुनि ने !

तदनन्तर सीता का चित्र सामने आता है; वह और भी अपूर्व है। रावण के इस प्रेमाभिनय को देख शोकाकुला सीता ने, तृण का अन्तर डालकर, रावण को जो उत्तर दिया, उसका सारांश है : राम से विरोध करके रावण का सर्वनाश होना ध्रुव-सत्य है। रावण पापी है, वह धर्मात्मा राम की यज्ञ-पूता तथा दृढ़व्रता पत्नी का स्पर्श भी नहीं कर सकता है :

"तथाहं धर्म नित्यस्य धर्मपत्नी दृढ़व्रता। त्वया स्प्रष्टुं न शक्याहं राक्षसाधम पापिना॥"

हाय, सती, तुम्हारे इस शरीर को वह बल-पूर्वक उठा जो लाया है; उसका क्या समाधान देती हो तुम ?

सीता ने अपनी उस विवशता का जो विवरण दिया है, उसे स्वर्णाक्षरों में लिख-कर प्रत्येक नारी अपने शयन-कक्ष में टाँग ले :

"इदं शरीरं निःसंज्ञं बन्ध वा घातयस्व वा। नेदं शरीरं रक्ष्यं मे जीवितं वापि राक्षस॥"

सीता का वह शरीर संज्ञा-शून्य है; राक्षस उसे बाँधे या काट डाले—उसे इसकी कोई परवाह नहीं; वह खुद जीना नहीं चाहती है।

यों कठोर वचन बोलकर वह मौन हो गईं।

धन्य आदिकवि, तुमने जिस अन्तर्नयन से सीता को देखा, वह अद्भुत और अपूर्व ही नहीं, मानव-बुद्धि के अनधिगम्य भी है। कहाँ से यह दिव्य-ज्योति जगी उस अरण्यवासी के विराट् कल्पनाकाश में—जिसने एक राम को ही नहीं, उनके एक देश को ही नहीं, उनके एक युग को ही नहीं, प्रत्युत युग-युग की नारी को धन्य बना दिया!

कुसुम से भी कोमल सीता के वह "वज्रादपि कठोरानि" वचन सुनकर राक्षसाधिप सहसा हत-प्रभ होकर किंकर्तव्य-विमूढ़ बन गया। क्रोधाभिभूत तो वह था ही, किन्तु उस आवेग को वह सम्हाल-सम्हाल कर ही निकालने लगा:

"शृणु मैथिलि मद्वाक्यं मासान्द्वादश भामिनि।
कालेनानेन नाभ्येषि यदि मां चारुहासिनि।
ततस्त्वां प्रातराशार्थं सूदाश्छेत्स्यन्ति लेशशः॥"

जानकी सुन लें—बारह महीने तक लंकेश उनकी धैर्य के साथ प्रतीक्षा करेगा। अगर उस अवधि में सीता उसके पास न आईं, तो उसके रसोइए, प्रातः-कालीन जलपान के लिए, उनकी बोटी-बोटी काट लेंगे!

यों धमकी देकर राजेश्वर ने क्रोध-पूर्वक उन राक्षसियों से कहा:

"अशोकवनिकामध्ये मैथिलीं नीयतामिति। तत्रेयं रक्ष्यतां गूढं युष्माभिः परिवारिता॥
तत्रैनां तर्जनैर्घोरैः पुनः सान्त्वैश्च मैथिलीम्। आनयध्वं वशं सर्वा वन्यां गजवधूमिव॥"

राक्षसियाँ सीता को अशोक बन में ले जाएँ, सदा उनके साथ रहें, सजग रह कर उनकी रक्षा करें; और जैसे जंगली हथिनी फँसाई जाती है, वे उन्हें भी वश में लाने का प्रयत्न करें।

आदिकवि की सीता यों अशोक-वाटिका में पहुँचाई गईं।

कंबन का रावण जब दूसरी बार सीता के पास पहुँचता है, तब विनय और शील को अपनाए अपनी प्रेमाकुलता प्रदर्शित करता है। उसका तर्क कुछ अनोखा है। सीता रावण द्वारा प्रदत्त राज्य, ऐश्वर्य, भोग, मानमद आदि ठुकरा कर त्याग और तपस्या के पीछे यों पागल क्यों हो रही हैं? आखिर तपस्वी भी तो उन्हीं (देवताओं) के स्वर्ग-सुख की आकांक्षा करते हैं, जो (देवता) दिन-रात उसी (रावण) की सेवा में खड़े होकर अनुकम्पा की भीख माँगते रहते हैं:

"And what's the highest bleissings Tapasvins
Desire? It is the Joyous life of those
That do my favours win by service leal!"

और अगर वह (सीता) जीवन के सर्व-श्रेष्ठ प्रसाद यौवन-सुख को भोगना नहीं चाहती हैं और यों ही रो-धोकर फटे-हाली में अपना यौवन गँवा देना चाहती हैं, तो उन्हें याद रहे:

"O Sita, life and youth are transient,
Thou canst not youth enjoy for long : if all
Thy days of youth are wasted thus, when dost
Thou hope to reap the fruits of life ?..."

इसी कथन-क्रम में वह (रावण) एक कोमल व्यंग्य भी कर बैठता है: क्या जनक-कुल की महिलाएँ केवल सुषमा, सुकुमारता, हठ तथा अनन्य-मधुर मोहक आकर्षणों की ही धनी होती हैं ? क्या कोमलता और दयालुता में उनका हृदय अति-कृपण होता है ? और जब सीता के पूर्वजन्म के समस्त पुण्य-कर्मों के सुफल आकर सामने उपस्थित हो गए हैं, तब क्या वह नादानी करके उन्हें यों ठुकरा देंगी ?

"When all thy good deeds of the past, betimes
Matured, are come to yield thee golden fruit,
Will thou for spite despise the fruit and sulk
Away ? ... ..."

अगर सीता रावण की याचना स्वीकार कर लेती हैं, तो बड़ी आसानी से राक्षस-कुल की 'त्राता' का होने का गर्व और गौरव उन्हें प्राप्त हो जाता है। अन्यथा क्या वह (सीता) 'संहारिणी' की संज्ञा पाकर ही सन्तुष्ट होना चाहती हैं ?

सीता के समान शायद ही कोई मूर्खा होगी, जो अयाचित आई हुई भाग्य-श्री को, पगतल में पड़े त्रिभुवन के राज्य-मुकुट को, और सुरांगनाओं की सेवाओं को यों ठुकरा दे !

सीता अपने इस प्रेमी को और देवांगनाओं को भी जो दुर्लभ है उस सर्वोच्च स्थान को ठुकराएँ नहीं, उसे अङ्गीकार करें : देखें—वह उनके चरणों में नत हो रहा है :

" 'O Goddess thou to her on lotus bloom !
To my body racked by the ill called love of thee,
Give lif; and take the place cxalted for—
Not e'en the Deva damsels giv'n to reach !'
So saying, he fall prostrate at her feet—"

और सचमुच वह उन चरणों पर लोट गया।

कवि कंबन के चित्रण में देश, काल और राजाश्रय का स्पष्ट प्रभाव लक्षित होता है। रावण का हाव-भाव, वार्ता-बर्ताव सब उसके गहरे वासना-विलोल प्रेम का परिचय देते हैं। वाल्मीकि के रावण का व्यवहार उदण्ड असुरोचित-सा दीखता है; और तुलसी के दशकंठ ने तो खूब सोच-समझ कर ही निश्चय किया था :

"सुर नर असुर नाग खग माहीं । मोरे अनुचर कहँ कोउ नाहीं ॥"

बल-विक्रम में तो कोई उसके अनुचरों का भी मुकाबला नहीं कर सकता है। फिर :

"खर दूषन मोहि सम बलवंता । तिन्हहि को मारइ बिनु भगवंता ॥"

खर-दूषण तो रावण के समबल थे, उन्हें भगवान् के अतिरिक्त और कौन मार सकता है ? अतः

"सुर रंजन भंजन महि भारा । जौं भगवंत लीन्ह अवतारा ॥
तौ मैं जाइ बैर हठि करऊँ । प्रभु सर प्रान तजें भव तरऊँ ॥"

और अगर भगवान् ही भू-भार उतारने आ गए हैं, तो रावण जाकर उनसे हठपूर्वक वैर करेगा । क्योंकि :

"होइहिं भजन न तामस देहा । मन क्रम बचन मंत्र दृढ़ एहा ॥"

उसकी देह तामसी है, ऋषि-मुनियों के समान तपस्या करके ईश्वर को पाना उससे संभव नहीं । मनसा, वाचा, कर्मणा उसने यह संकल्प किया । और अगर वह कोई नर हैं :

"जौं नररूप भूपसुत कोऊ । हरिहौं नारि जीति रन दोऊ ॥"

तब तो दोनों भाइयों को युद्ध में जीत कर वह सीता का हरण करेगा ही । जो भी हो, वर्णन और चित्रण की दृष्टि से, कंचन का कथन चमकीला जरूर दीखता है ।

"सुनै को श्रवन सूल सम बानी" :

यों सीता को लुभा-ललचा और डरा-धमका कर रावण जब अपने राज-भवन में चला गया, तब उसकी अनुचारियाँ अनेक भयानक रूप धर कर सीता को त्रास देने लगीं । उनमें एक 'त्रिजटा' राक्षसी भली थी । उसने एक अद्भुत स्वप्न देखा और सब राक्षसियों को बुला कर वह अपना सपना सुनाने लगी । एक बन्दर ने सारी लंका को जला डाला और राक्षस-सेना का संहार कर दिया । रावण को उसने किस दशा में देखा :

"खर आरुढ़ नगन दस सीसा । मुंडित सिर खण्डित भुज बीसा ॥"

लंका का राज्य विभीषण को मिला और सीता रामके पास पहुँचीं । त्रिजटा ने दृढ़ विश्वास के स्वर में कहा :

"यह सपना मैं कहउँ पुकारी । होइहि सत्य गएँ दिन चारी ॥"

त्रिजटा की बात सुनकर भयातुरा राक्षसियाँ जानकी के चरणों में जा पड़ीं और फिर उठ कर वहाँ से इधर-उधर चली गईं।

"जहँ तहँ गईं सकल तब सीता कर मन सोच।
मास दिवस बीतें मोहि मारिहि निसिचर पोच॥"

एक मास बीत जाने पर नीच निशाचर उसको मार डालेंगे—यह सोचकर सीता उसी स्वप्न-दर्शिनी त्रिजटा से बोलीं :

"........................मातु बिपति संगिनि तैं मोरी॥
तजौं देह करु बेगि उपाई। दुसह बिरहु अब नहि सहि जाई॥"

त्रिजटा उनकी सच्ची संगिनी तो थी ही, इसलिए उसीसे मरण का उपाय सीता पूछ रही हैं; क्योंकि विरह अब उनके लिए असह्य हो गया था। त्रिजटा को चुप देखकर वह उपाय भी खुद बता देती हैं :

"आनि काठ रचु चिता बनाई। मातु अनल पुनि देहि लगाई॥"

सीता त्रिजटा को 'माता' कहती हैं और आतुरता से याचना करती हैं कि वह लकड़ियाँ लाकर चिता बना दे और फिर उसमें आग भी लगा देने की दया करे। अन्त में वह अपनी मर्मान्तक व्यथा का रहस्य भी खोल देती हैं :

"सत्य करहि मम प्रीति सयानी। सुनै को श्रवन सूल सम बानी॥"

त्रिजटा सयानी (सज्ञान) तो मानी ही जाएगी; क्योंकि उसने स्वप्न में सीताका भविष्य देखा था और राक्षसियों के त्रास से उनकी रक्षा भी की थी। उसके स्वप्न सीता के लिए यद्यपि परम सुखदायी थे, अपने प्रियतम से पुनर्मिलन की आशा भी उससे हुई थी, फिर भी उनका जीना दुर्भार हो रहा था; क्योंकि विरह-व्यथा से भी अधिक चुभनेवाली हो रही थीं रावण की वे विषाक्त बातें—

"सुनै को श्रवन सूल सम बानी!"

एक सती-साध्वी के लिए कामी-लोलुप की लोभ और लालच से भरी लल्लो-चप्पो की बातें कितनी कटु, इतनी मर्म-भेदिनी, इतनी हृदय-विदारिणी बन जाती हैं कि मरण की यन्त्रणा से भी भीषण प्रतीत होने लगती हैं। उन गर्हित वचनों के सामने मरण सच ही सुखकर दीखने लगता है! इसका मर्म कोई सती ही समझ सकती है।

सीता की मृत्यु-याचना सुनकर त्रिजटा सहम गई; और रामचन्द्र के बल, प्रताप और सुयश का वर्णन करके उसने सीता को समझाया-बुझाया और अन्त में कुछ बहाना भी बना दिया :

"निसि न अनल मिल सुनु सुकुमारी।"

सुकुमारी सीते ! रात में आग यहाँ (अशोक वन में) कहाँ मिलेगी ? ऐसा कहकर वह अपने घर चली गई।

इधर जानकी अकेली रह गयीं और चतुर्दिक् देखकर वह अपने भाग्य की बामता पर विलाप करने लगीं। न आग मिलेगी, न उनका दुःख दूर होगा। आकाश के अगणित तारे उन्हें अग्नि-कण के सदृश ही दीख रहे थे, पर पृथ्वी पर उनका एक कण भी नहीं आता था ! चन्द्रमा भी उन्हें ज्वालामय ही जान पड़ता था, पर वह भी उन्हें अभागिनी जानकर आग नहीं देता था। तब वह अशोक वृक्ष से ही विनय करने लगीं :

"सुनहि बिनय मम बिटप असोका। सत्य नाम करु हरु मम सोका॥"

अशोक के नूतन किसलय अग्नि-सम दीखते थे, अगर वही सार्थकनामा एक कण गिरा दे, तो उनके दुःख-दाह का अन्त हो जाए; किन्तु वह भी उनका सर्वनाश करने पर ही तुला हुआ था :

"नूतन किसलय अनल समाना। देहि अगिनि जनि करहि निदाना॥"

आग न देकर अशोक उनके शोक को बढ़ा ही रहा है; क्योंकि जब तक वह जल नहीं जाती हैं, तब तक रावण उनको अपनी बातों से यों सालता ही रहेगा—जो वास्तव में उनका सर्वनाश है !

सीते, कठोरता का अपर नाम ही तो पुरुष है; और रावण तो आखिर राक्षस ही ठहरा ! किन्तु, तुमने अपनी निरीह निष्ठा में कभी यह भी सोचा है कि तुम्हारा मनहर, मनोज्ञ तथा महान् राम भी इसके अपवाद हो सकेंगे—जिनके लिए तुम यों अश्रुगंगा में तैर कर जीवन के उस पार पहुँच जाना चाहती हो ? हाय सीते, क्या तुम यह नहीं जानतीं कि पुरुष की पुष्पोपम कोमलता प्राकृतिक नहीं, केवल दिखावटी होती है—वह कब कोमलता का केंचुल उतार फेंकेगा और कब अपने सहज रूप में रावण जैसा, सामने आ खड़ा होगा; याद रखना—विधाता भी तुम्हें नहीं बता सकेगा !

कवि कंबन का रावण सीता की फटकार सुनकर यों आसानी से वापस नहीं जाता है। वह ईंट का जवाब पत्थर से देता है और सीता की प्रत्येक बातों का सटीक उत्तर देकर वह उन्हें निरुत्तर ही नहीं बनाता है, बल्कि कुछ ऐसी बातें भी कहता है, जो उन्हें निस्तब्ध भी बना देती हैं।

पहली प्रेरणा तो उस राक्षस में मार डालने की ही उत्पन्न हुई; परन्तु सीता को मारना उसके लिए आत्म-घात के ही समान था। सीता ने उसकी जिन अपजयों का जिक्र किया था, वे उसकी व्रीड़ाएँ नहीं, केवल क्रीड़ा-मात्र थीं। सीता क्या यह सोच रही थीं कि वह (रावण) राम से युद्ध-भीत होकर उनको यों चुपचाप उठा लाया

है ? नहीं, नहीं; उसने तो सीता के ऊपर दया से उमड़ कर ही ऐसा किया है— अन्यथा युद्ध होने पर उनके राम अवश्य मारे जाते; और उनके मरते ही, सीता अवश्य उसी समय प्राण त्याग कर देतीं—जो अब भी उनके लिए यों आँसू बहा रही हैं। अगर सीता को उसकी बातों का विश्वास नहीं होता है, तो विवश होकर उसे उन तुच्छ नरों पर भी अपना त्रिदेव-जयी हाथ उठाना पड़ेगा। किन्तु उन क्षुद्र-जीवों (राम-लक्ष्मण) को वह मारेगा नहीं; रणांगन से पकड़ लाकर उन्हें अपना दास बनाएगा; क्योंकि भले ही वे तुच्छ प्राणी हों, पर कुछ कृपा तो उनकी अवश्य उस पर हुई— जिनकी बदौलत वह सीता तक पहुँच सका। किन्तु अगर सीता को उसकी शक्ति पर विश्वास नहीं होता है, तो वह उन्हें मार ही डालेगा।

मार-काट की बात चलते ही उस राक्षस का रक्त खौल उठा और वह सीता को इस अभिप्राय से धमकाने लगा—देखे तो सही कि धमकियों का क्या असर पड़ता है उस हठी नारी पर :

"I shall even go to Ayodhya and, putting to death Bharta with all his host, I shall march on Mithila like the Fire of the Day of Dissolution, and after uprooting thy kith and kin I shall drink thy blood also ! Thou art bringing thy own end nearer by provoking me, O Sita !"

रावण अयोध्या पर आक्रमण करके ससैन्य भरत को मार डालेगा; फिर प्रलयाग्नि की तरह फैलकर मिथिला पर चढ़ धाएगा और सीता के सभी सगे-सम्बन्धियों का संहार करके लौटेगा, और फिर उसका भी रक्त पी जाएगा ! रावण को उत्तेजित करने का यही फल सीता को चखना पड़ेगा।

मात्र दो मास की अवधि दी गई। अगर इस अवधि में सीता ने रावण की बात मान ली, तब तो ठीक; अन्यथा वह अत्यन्त निर्ममता से उनकी हत्या कर डालेगा।

"So Saying he frowned and went his way, bearing her image in his heart.

यों धमकाता, क्रूर दृष्टि से देखता तथा सीता की मूर्ति को हृदय में सुप्रतिष्ठ करता वह चला गया।

नैहर और पीहर पर पहाड़-सी आ पड़ने वाली भयावनी भावी विपत्ति को देख तथा उसके साथ अपना और अपने प्रियतम का अन्त भी आसन्न जान कर सीता कितनी भयभीत, कितनी उद्विग्न, कितनी भग्न-हृदया, कितनी आकुलमना हो गई होंगी—यह सहज ही अनुगम्य हो जाता है। सीता अपनी इस दुर्दशा से एकदम निराश हो गईं और जैसे ही रावण वहाँ से हटा, वह (सीता) अपना अन्त कर डालने के दारुण उद्देश्य से एक पेड़ के नीचे आ खड़ी हुईं।

निश्चय ही कंबन की कल्पना अत्यधिक सहज, सजीव और मर्म-स्पर्शिनी है।

हैं। प्रियतम का श्रवण-सुधा नाम उन्हें अप्सराओं के मधुर संगीत-सा मालूम हुआ; और नैराश्य से निहत और निश्चेष्ट उनका हृदय अमृत-वारि-वर्षण से लहलहा उठा। इसी समय हनुमान् ने प्रमाण-स्वरूप वह अँगूठी उनके हाथों में रख दी—जिससे सीता को उनकी बातों पर विश्वास हो जाए। सीता उसे गौर से देखने लगीं।

यहाँ दाक्षिणात्य कवि सीता के अनधिगम्य हाव-भावों के वर्णन में अपने को एकदम असमर्थ पाता है। आह कैसा था उनका वह आह्लाद :

"What will be the joy of the dead man if he starts back in to life ? what will be the joy of the bereaved mother when she sees her deceased child brought back to life ? what will be the delight of the blind man when he gains use the of his eyes ? Even such joy and such delight were Sita's when she saw that mute messenger of Rama's love."

मुर्दा अगर जी उठे, माँ का मृत-पुत्र अगर पुनर्जीवन पा जाए, अन्धे की आँखों में अगर नवज्योति जग पड़े, तब जो आनन्द उस मुर्दे, उस माँ और उस नेत्रहीन को होगा, वही हर्ष और आह्लाद सीता की आँखों में भी उमड़ आया राम के प्रेमके प्रतीक उस मूक-दूत को देखकर। उस आनन्द को सीता ने व्यक्त किया :

"She took it (ring) in to her hand, pressed it to her eyes, pressed it to her lips, pressed it to her bosom. Her whole frame swelled with joy—she smiled, she wept. Rama's ring was the philosopher's stone that turned her fading colour to gold."

अँगूठी उन्होंने पहले हाथों में ली, फिर आँखों से लगाई, फिर उसे ओठों से सटाया, पुनः छाती से लगा लिया। उनका सारा शरीर आनन्द से उमड़ उठा—वह हँसीं और विलख पड़ीं। राम की वह मुद्रिका उनके लिए जादू की वह छड़ी बन गई—जिसके छूते ही उनका विवर्ण मुख कनकाभा से दमकने लग गया!

किसी को तुलसी की उस संक्षिप्त चिन्ता में ही मनोजगत् के सारे व्यापार ध्वनित दीख पड़ेंगे; और कोई कंबन के इस नित्य-निरत निर्झर में रस-स्नात होकर कृतार्थ हो जाएगा।

मानस की सीता अँगूठी को लेकर जब दुविधा में पड़ी हुई थीं, तभी अगोचर हनुमान् राचचन्द्र के गुण गाने लग गए और सीता कान पात कर, मुग्ध मन से, सुनने लगीं। छिपे-छिपे ही हनुमान् ने शुरू से आखिर तक की सब कथा कह सुनाई, जिसे—

"सुनतहि सीता कर दुख भागा।"

सीता ने वृक्ष की ओर उन्मुख और उद्ग्रीव होकर कहा :

"श्रवनामृत जेहि कथा सुहाई। कही सो प्रगट होत किन भाई॥"

जिसने कानों में यह अमृतोपम कथा डाली है, वह दयालु भाई प्रकट क्यों नहीं होता है ?

कितना शीलपूर्ण और कितना मधुर यह आह्वान् है, जो 'भाई' शब्द के द्वारा ध्वनित हो उठा है ! भाई से बढ़ कर प्यारा रक्षक नारी का और कौन हो सकता है ?

भाई शब्द सुनते ही :

"तब हनुमंत निकट चलि गयऊ। फिरि बैठीं मन बिस्मय भयऊ॥"

हनुमान् पेड़ से कूद पड़े और सीता के समीप चले आए। रात में सहसा एक बन्दर को सामने खड़ा देखकर कोई भी आपद-ग्रस्त महिला विस्मित हुए बिना रहेगी।

सीता ने तो वे मधुर बातें सुनकर किसी सज्जन-सुहृद के शुभागमन की प्रतीक्षा की होगी। और सामने आ खड़ा हुआ लम्बी पूँछ और लाल मुँह वाला एक वानर। फिर भला वह करुण-कातर देवी मुँह फेर क्यों न बैठ जातीं ?

कितना स्वाभाविक चित्रण है एक सहमी अबला का—सो भी संकोचावरण में सिमटी एक उत्तरभारतीय सताई हुई सती-साध्वी का !

सीता का यह संकोच, भय और विस्मय देखकर हनुमान् संकट में पड़ गए और 'माता' कह कर शपथ खाने लगे :

"राम दूत मैं मातु जानकी। सत्य सपथ करुणा निधान की॥
यह मुद्रिका मातु मैं आनी। दीन्हि राम तुम्ह कहँ सहिदानी॥"

'माता' संबोधन की पुनरावृत्ति के सहारे—जब हनुमान् ने करुणा-निधान राम की सत्य शपथ खा कर यह बताया कि यह अँगूठी वही लाए हैं; और राम ने सीता के लिए ही यह निशानी दी है, तब जाकर सीता कुछ आश्वस्त हुईं और सहज जिज्ञासा से बोलीं :

"नर बानरहि संग कहु कैसे॥"

हनुमान् ने नर-वानर की संगति (राम-सुग्रीव की मित्रता) की सारी कथा कह सुनाई; तब जाकर :

"कपि के बचन सप्रेम सुनि उपजा मन विश्वास।
जाना मन क्रम बचन यह कृपासिंधु कर दास॥"

सीता के मन में; हनुमान् के प्रति, पूर्ण विश्वास उत्पन्न हुआ—'हाँ, सच ही यह राम का दास है।'

"केहि अपराध नाथ हौं त्यागी" :

हनुमान् राम के भक्त हैं, यह विश्वास जमते ही सीता के चित्त में अति गाढ़ी प्रीति पैदा हुई और साश्रु-नयन वह पुलकाकुल होने लगीं। फिर उनके हृदय की कृतज्ञता आप-ही-आप उमड़ पड़ी :

"बूड़त बिरह जलधि हनुमाना। भयउ तात मो कहँ जलजाना ॥"

जो विरह-सिन्धु में गोते खाने वाली के लिए जहाज बन जाता है, उसे वह कृतज्ञ-हृदया 'तात' (त्राता) कह कर क्यों न पुकारती ?

तदनन्तर कुशल-प्रश्न पूछ कर सीता राम के प्रति एक प्रश्न-चिह्न भी खड़ा कर देती हैं :

"कोमल चित कृपालु रघुराई। कपि केहि हेतु धरी निठुराई ॥"

रामचन्द्र का चित्त कोमल है, सीता की दृष्टि में वह दयालु भी हैं; फिर वह निष्ठुर क्यों होते जा रहे हैं ? जिनका स्वभाव ही सेवक को सुख देने वाला है, वह राम क्या कभी सीता की याद भी करते हैं ?

"कबहुँ नयन मम सीतल ताता। होइहिं निरखि स्याम मृदु गाता ॥"

उन (राम) के श्याम शरीर को देखकर शीतल होने का सौभाग्य क्या सीता के नयनों को कभी प्राप्त होगा—इतना कहते-कहते उनका स्वर गद्गद हो गया और नयन जल से भर गये :

"अहह नाथ हौं निपट बिसारी ॥"

हाय, राम ने उन्हें एकदम भुला दिया है !

हनुमान् ने मृदुल-मंजुल एवं विनीत स्वर में राम-लक्ष्मण का क्षेम-समाचार कह कर बड़ी ममता तथा निर्भर विश्वास के साथ कहा :

"जनि जननी मानहु जियँ ऊना। तुम्ह ते प्रेमु राम के दूना ॥"

जानकी व्यर्थ चिन्ता न करें; हनुमान् राम को देख आए हैं, उनके प्रेम में कोई कमी नहीं है, बल्कि वह तो दुगुना ही दीखता है हनुमान् की दृष्टि में; क्योंकि सीता के दुःख से ही तो वे दोनों भाई वैसे दुःखी हैं।

इसके बाद वह गद्गद और सजल होकर राम का सन्देश सीता को सुनाते हैं :

सीता के वियोग में राम के लिए जैसे प्रकृति ही बदल गई है। पेड़ों की नई कोपलें अंगार बन गई हैं। रात भयानक लगती है। चन्द्रमा जलाने वाला सूर्य जान पड़ता है। कमल-वन भाले की भाँति उनकी आँखों में चुभते हैं, बादलों से जैसे खौलता हुआ तेल बरसता हो, और गन्ध-मुग्ध मन्द-मलय मारुत साँपों की साँस के समान लगता है ! जो चीजें पहले सुख देने वाली थीं, वे ही अब उन्हें पीड़ा दे रही हैं। कहने-

सुनने से आदमी का दुःख कम होता है, किन्तु राम अपना दुःख कहें तो किससे? उनका दुःख कोई जानता तो नहीं, क्योंकि :

"तत्व प्रेम कर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एकु मनु मोरा।
सो मनु सदा रहत तोहि पाहीं। जानु प्रीति रस एतनेहि माहीं॥"

प्रेम का रहस्य तो मन के द्वारा ही महसूस किया जाता है; और जब मन ही पास में न हो, तब उसकी अनुभूति हो किसे? राम की वही दशा हो रही थी—उनका मन सदा सीता ही के पास रहता है; सीता इसी से राम की प्रीति का रस-रहस्य समझ लें।

राम का सुधा-शीतल सन्देश सुनकर सीता ऐसी प्रेम-मग्न हुईं कि वह शरीर की सुधि भी भूल गईं—वह भी मन से राम में लीन हो रहीं।

क्या ही विचित्र यह प्रेम-योग है! राम का मन सीता के पास और सीता का मन राम के पास—देह बेचारी को कोई पूछने वाला नहीं!

सन्देश-कथन के सिलसिले में हनुमान् ने यह भी कहा कि अगर रामचन्द्र को सीता की इस दुर्दशा की खबर होती, तो वह कभी के आ गए होते और राक्षस-दल का नाश करके सीता का उद्धार कर लिए होते। महावीर हनुमान् ने तो, राम की दुहाई देकर, यहाँ तक कह दिया कि अगर राम का आदेश रहता, तो वह अभी ही सीता को ले जाते।

उनका वह शौर्य अनुशासन के अंकुश से बिंधकर कितना स्पृहणीय हो उठा है :

"अबहिं मातु मैं जाउँ लेवाई। प्रभु आयसु नहिं राम दुहाई॥"

अफसोस, प्रभु का आदेश उन्हें नहीं है; इसीलिए वह मन मसोस कर रह जाते हैं। किन्तु, इससे जानकी निराश न हों, थोड़ा सब्र करें :

"कछुक दिवस जननी धरु धीरा। कपिन्ह सहित अइहहिं रघुबीरा॥"

राम पर भरोसा तो जानकी को था ही, पर वानरों के बल का पता उन्हें नहीं था। और जो वानर दूत बन कर आया है, वह बात तो बड़ी-बड़ी करता है, पर देखने में साधारण ही नहीं, अति तुच्छ भी लग रहा है। इसलिए सहज शंकाकुल जिज्ञासा से वह पूछ बैठती हैं :

"हैं सुत कपि सब तुम्हहिं समाना। जातुधान अति भट बलवाना॥"

क्या सब वानर-वृन्द हनुमान् के समान ही हैं? तब तो सीता की शंका समस्या बन जाती है; क्योंकि ये राक्षस तो अत्यन्त बलवान् और उद्भट योद्धा हैं। हनुमान्-सा वानर-दल उनके साथ युद्ध कैसे कर सकेगा?

यह सुनकर हनुमान् मन-ही-मन मुसकुराए और तुरत अपना "कनक

भूधराकार" रूप दिखाकर उनकी सारी शंका दूर कर दी। साथ ही यह भी निवेदन कर दिया कि यह सब राम की कृपा का फल है; वह तो एक तुच्छ शाखा-मृग हैं—जो पेड़ों की डालियों पर डोलता-झूलता रहता है; उनमें विशाल बल-बुद्धि कहाँ? परन्तु प्रभु की कृपा होती है, तो एक तुच्छ सँपोला भी गगनाकार गरुड को निगल जा सकता है। अतएव जानकी कुछ चिन्ता न करें।

हनुमान् के इस कथन और प्रदर्शन पर जानकी कितनी मुग्ध और कितनी आश्वस्त हुई होंगी, अनुभवगम्य है।

संस्कृत के आदिकवि और तमिल-तूर्य कंबन ने यहाँ हनुमान् से सगर्व प्रस्ताव करवाया है कि सीता उनकी पीठ पर बैठ जाएँ और वह (हनुमान्) उन्हें सुरक्षित राम के पास पहुँचा देंगे। किन्तु सीता ने अनेक युक्ति-संगत तर्क देकर उनके उस प्रस्ताव को असंगत, अनुचित, अपमानजनक एवं अपाय-प्रद सिद्ध कर दिया। उनके कुछ तर्क अद्‌भुत और अनोखे ही नहीं, अत्यन्त मर्म-स्पर्शी भी हैं और सीता के स्वाभिमान एवं उनके उत्कट सतीत्व के परिचायक भी। आदिकवि की सीता कहती हैं :

"भर्तृर्भक्तिं पुरस्कृत्य रामदन्यस्य वानर।
नाहं स्प्रष्टुं स्वतो गात्रमिच्छेयं वानरोत्तम॥"

सीता अपने आराध्य प्रियतम के अतिरिक्त, अपनी इच्छा से, किसी का शरीर स्पर्श करना नहीं चाहती हैं। परम भक्त और पुत्रवत् परोपकारी हनुमान् को सीता की यह अस्वीकृति कहीं खटक न जाए, इसलिए, "इच्छेयं" एवं "वानरोत्तम" शब्दों के द्वारा उसकी उत्कटता को कुछ कम करने का प्रयास स्पष्ट गोचर हो रहा है।

इससे सीता का सरल सौजन्य सौरभमय हो उठा है। और, अप्रतिभ होने के बजाय, हनुमान् का हृदय मुग्ध एवं उनका मुख प्रफुल्ल ही दीख पड़ता है।

एक-दो तीर तमिल के अतुल कवि कंबन के तर्क-तुणीर से भी निकाले जाएँ :

" 'Tis not impossible and will befits
Your prowess; truly what you contemplate
You would achieve ! But 'tis not proper far,
Methinks, in my artless femininity
Of scanty sense."

हनुमान् के लिए यह असंभव तो था नहीं, किन्तु सीता की सीमित स्त्री-बुद्धि इसमें औचित्य का कुछ अभाव देखती है। साथ-साथ, सीता को सँभाले हुए, आत्म-रक्षा में हनुमान् को अत्यधिक कठिनाइयोंका सामना करना पड़ेगा—असुर-आक्रमण का यह खतरा भी वह देख रही हैं। किन्तु सबसे अपमान-जनक बात तो उनके सामने यह है :

"There's one thing further more : the Aryan's bow
Of mighty victories will tarnished be.
In sooth could there be worser gratitude ?"

इससे राम के अमोघ बाणों का महत्त्व कुंठित होगा, और :

"Did you too think to trick me off e'en as
The curs that ran away with Amrit pure ?"

क्या हनुमान् भी उन्हें (सीता को) उन्हीं अधम असुरों (मारीच और रावण) की तरह छल-छद्म से उठा ले जाना चाहते हैं ? नहीं, सीता का भारतीय स्वाभिमान इसे स्वीकार नहीं करेगा ।

तदनन्तर कंबन आदिकवि के पदांक का अनुसरण करते हुए कुछ और आगे निकल जाते हैं :

"One more there is to say, oh list, true one !
For bar the body of my Knight, e'en you
With senses five contained, or any male.
So named, could this form touch ?"

यह सच है कि सीता के शुचिता-सुधा-स्नात शरीर को राम के सिवा अन्य कोई पुरुष छू नहीं सकता है; पर जो हनुमान् पुत्र से भी पवित्र हैं, शिशु से भी सरल हैं, निपट निरीह हैं, निश्छल और निष्ठावान् हैं, क्या उनके सामने ऐसा कहना सौजन्य और सतीत्व की आत्मा सीता के लिए शोभन कहा जाएगा—यह विचारणीय बन जाता है ।

स्वाभिमान और गर्व अपना अलग-अलग अस्तित्व रखते हैं । हमारा जो आचरण, हमारा जो कथन दूसरों को कुंठित किए बगैर आत्मगत सत्य को प्रकाशित करेगा—वह स्वाभिमान की सीमा में पड़ेगा; और जो भी वर्ताव अपने हितेच्छु के हृदय को जरा भी आहत करेगा—वह हमें गर्व की ओर ढकेल देगा ही ।

कंबन की सीता का एक और कथन गर्व के उसी कगार पर खड़ा दीखता है :

"What to speak of these afflictive Creatures Vile
O'er here ! Let be the boundless worlds entire,
I could with curses burn. As slight, 'twould be
To prowess great of Ram with the bow, the thought
I banned."

आदिशक्ति सीता में ऐसी अपरिमित शक्ति तो हो ही सकती है कि इन अधम दुष्टों की तो बात ही क्या, समस्त चराचर को ही वह अपने ज्वलनशील शापों से भस्म-

सात् कर दें—किन्तु राम के विश्वविख्यात बाणों को कुण्ठित करना वह नहीं चाहती हैं; इसी से वह विचार उन्होंने छोड़ दिया !

मानस के सरल कवि को यह सब गर्व-गुबार नहीं रुचा; इसीलिए, हनुमान् के मुख में मृदुलता से उक्त प्रस्ताव डालकर भी, उसने उसे आगे नहीं बढ़ाया—वहीं खतम कर दिया।

"सुनहु मातु मोहि अतिसय भूखा" :

सीता ने दिल खोल कर हनुमान् को आशीर्वाद दिया :

"होहु तात बल सील निधाना।"

सुन्दर आशीर्वाद है सीता का : यथार्थ ही केवल बल व्यर्थ होता है, बल के साथ शील का मेल हो, तभी वह मानवता का भूषण हो सकता है। अन्यथा बल का विपुल भण्डार तो राक्षसों में भी था, लेकिन वे शील-शून्य थे; इसी से चराचर उनके नाश की कामना से आतुर हो उठा था !

हनुमान् इस आशीर्वाद से कृतकृत्य हो गए, और तब वह माता के सामने सरल-शिशु-से मचल उठे :

"सुनहु मातु मोहि अतिसय भूखा। लागि देखि सुन्दर फल रूखा॥"

रावण के उस अशोक वन में फलों की क्या कमी थी ? उन सुन्दर फल-भरे वृक्षों को देखकर एक वानर के मुँह में पानी आ जाना अत्यन्त स्वाभाविक था; और वास्तव में हनुमान् भूखे तो होंगे ही—साथ ही कितने परिश्रम और कितने दिनों में वह समुद्र पार हुए होंगे। किन्तु सीता तो खुद विपन्ना थीं—क्या देतीं वह उन्हें ? हनुमान् की ललचाई दृष्टि उन मधुर फलों पर पड़ी है, यह देखकर सीता कुछ असमंजस में पड़ गईं : कैसे कहें कि जाओ—तोड़ कर खा लो; क्योंकि :

"सुन सुत करहिं बिपिन रखवारी। परम सुभट रजनीचर भारी॥"

उस उद्यान की रक्षा में तो बड़े-बड़े वीर-बाँकुड़े नियुक्त थे—कोई एक पत्ता भी तोड़ नहीं सकता था। फिर थके-माँदे हनुमान् को वह खतरे की ओर कैसे जाने देतीं ? किन्तु हनुमान् को तो अपने कुछ करतब भी दिखाने थे; तभी तो सीता को उनके बल-पौरुष पर पूर्ण विश्वास होता। इसलिए उन्होंने सोत्साह अनुनय किया :

"तिन्ह कर भय माता मोहि नाहीं। जौं तुम्ह सुख मानहु मन माहीं॥"

मर्म-मधुर मनुहार है यह—अगर सीता मन में सुखी हों, तो हनुमान् निर्भय होकर उन पेड़ों पर चढ़ जाएँगे; क्योंकि उन रखवालों का भय उन्हें बिलकुल नहीं है।

सीता भला उस भोले पुत्र का मनुहार कैसे ठुकरातीं ? अतएव दृढ़

विश्वास से अपनी शुभ कामनाओं के अभेद्य रक्षा-कवच में खूब कस कर उन्होंने फल खाने की आज्ञा दे दी :

"देखि बुद्धि बल निपुन कपि कहेउ जानकी जाहु ।
रघुपति चरन हृदयँ धरि तात मधुर फल खाहु ॥"

हनुमान् बल और बुद्धि में जानकी को निपुण दीख पड़े, इसलिए मीठे फल खाने की आज्ञा उन्हें मिल गई और सती सीता की वह शुभ-कामना कैसी अमोघ प्रमाणित हुई, यह तो जग-जाहिर ही है। देखते-देखते अकेले हनुमान् ने मद-मोद-गर्वित उस लंका-नगरी को खाक में मिला दिया !

सीता के उसी आशीर्वाद का यह चमत्कार है कि 'शाखा-मृग' को 'महावीर' और 'राम-भक्त' की अलौकिक उपाधि से विभूषित करके भारत-भूमि के असंख्य हृदयों एवं अनगिनत आँगनों में आज भी उसकी पूजा-प्रतिष्ठा की गगन-गामिनी कीर्ति—पताकाएँ उड़ा रही हैं ! भक्ति-भावना के द्वार पर सुस्थिरासन से बैठा वह 'वानर' जाने किस युग से कोटि-कोटि श्रद्धालु प्रवेशार्थियों को 'प्रपन्न' होने का पुनीत पथ दिखाता आ रहा है और जाने काल की किस अवधि तक दिखाता चला जाएगा !

महाकवि कंबन के भाव-विह्वल हनुमान् के मुख से उस अशोक वन में सहसा निकल पड़ा था :

"What pity 'tis not given to Ram to see
With his own eyes this holy one, as she
Does lead her life austere in Lanka's grove."

काश, राम तपस्या की इस पावन मूर्ति को अपनी आँखों से देख पाते !

और राम के पास पहुँच कर उस अनुपम मातृ-भक्त महावीर ने सचराचर के सामने मातृ-भक्ति का एक अद्भुत, अपूर्व तथा पुलकाकुल दृश्य उपस्थित कर दिया था :

"Came Han'man; and coming, worshipped not
His Majesty's twin feet but turned to her
Devoid of bloom; with hands held ov'r his head
In reverence, he fell down flat on earth,
And long intoned her name ?"

सीता का संदेश लेकर जब हनुमान् राम के पास पहुँचे, तो आते ही वह अपने परमाराध्य प्रभु के चरण-युगल पर नहीं पड़े; बल्कि विपरीत उसके वह सुषमा-शून्य उस सती की ओर (दक्षिण दिशा) श्रद्धा-भक्ति से घूमे, और दोनों हाथ माथे पर रख कर, धड़ाम से धरती पर गिर पड़े; और फिर बड़ी देर तक गद्गद कण्ठ से उसका नाम स्मरण करते रहे !

आदिकवि ने इसका कुछ संकेत अवश्य कर दिया था :

"श्रुत्वा तु वचनं तेषां हनूमान्मारुतात्मजः । प्रणम्य शिरसा दैव्यै सीतायै तां दिशां प्रति ॥"

वानरों की बातें सुनकर वायु-पुत्र हनुमान् ने पहले देवी सीता के लिए उस दिशा की ओर प्रणाम किया।

"नाथ सो नयनन्हि को अपराधा" :

लंका को जला कर हनुमान् सीता के पास आए और हाथ जोड़ कर खड़े हो गए :

"मातु मोहि दीजे कछु चीन्हा। जैसे रघुनायक मोहि दीन्हा ॥"

हनुमान् को जिस प्रकार राम ने मुद्रिका दी थी, याचना करने पर सीता ने भी, प्रमाण के लिए, अपनी चूड़ामणि उतार कर दे दी; और सन्देश में कहा :

"तात सक्र सुत कथा सुनाएहु। बान प्रताप प्रभुहि समुझाएहु ॥
मास दिवस महुँ नाथु न आवा। तो पुनि मोहि जिअत नहि पावा ॥"

हनुमान् जाकर राम से सीता की दयनीय दशा कहें, इन्द्र-पुत्र दुष्ट जयन्त की कथा याद कराकर उनके अमोघ बाणों की बात बताएँ; और यह अच्छी तरह समझा दें कि अगर "मास-दिवस" में वह नहीं आए, तो फिर सीता को जीवित नहीं पाएँगे।

इसके बाद वह हनुमान् के लिए भावाकुल हो जाती हैं :

"कहु कपि केहि बिधि राखौं प्राना। तुम्हहू तात कहत अब जाना ॥
तोहि देखि सीतलि भइ छाती। पुनि मो कहुँ सोइ दिनु सो राती ॥"

हनुमान् को देखकर जो अवलम्ब उन्हें मिला था, वह भी अब जाता रहेगा; क्योंकि हनुमान् भी उन्हें छोड़ जाना चाहते हैं। फिर किस तरह उनके प्राण रह सकेंगे !

सीता ने हनुमान से प्रत्यक्षतः इतना ही कहा; किन्तु हनुमान् जब राम के पास पहुँचे, और जाते ही जब राम उनसे पूछ बैठे :

"कहहु तात केहि भाँति जानकी। रहति करति रच्छा स्वप्रान की ॥"

तब हनुमान् ने सीता की दशा का जैसा भावाकुल चित्र खींचा, वह एक दम अनूठा ही नहीं—पाषाण को भी पिघला देने वाला है :

"नाम पाहरू दिवस निसि ध्यान तुम्हार कपाट।
लोचन निज पद जंत्रित जाहिं प्रान केहि बाट ॥"

अलंकार-रसिकों का ध्यान कदाचित् पहले "प्रहेलिका" पर चला जाए; किन्तु रस-पिपासु तो इसमें कुछ दूसरी ही तल-स्पर्शी तृप्ति पाकर कृतार्थ होते दीख पड़ेंगे।

संभाषण-पटु शायद इसमें वार्तालाप का वह अद्भुत चमत्कार ढूँढ़ने लग जाएँ—जिसमें प्रश्न का उत्तर प्रश्न में ही समाया रहता है। दूतत्व के अभिमानी जहाँ हनुमान् के कौशल पर चमत्कृत होंगे, वहाँ भावाम्बुधि में अवगाहन करने वाले मर्मज्ञ उस महा-पुंगव की मातृत्व-ममता पर मुग्ध होकर सिर धुनने लग जाएँगे !

यहाँ महान् मनस्वी टाल्स्टाय के जीवन का एक प्रसंग बरबस याद आ जाता है।

जीवन के सान्ध्य-समय में टाल्स्टाय कुछ विक्षिप्त-से होकर साइबेरिया के हिम-शीतल प्रान्तरों में नग्न-प्राय घूमा करते थे। प्रातःकाल का समय था। एक अश्वारूढ मदमस्त राजकुमार भी, ऊनी वस्त्रों से आपादमस्तक आच्छादित होकर, वायु-सेवनार्थ उधर निकल पड़ा था। हठात् उसकी धुँधली नजर टाल्स्टाय पर पड़ी और वह स्तब्ध होकर पूछ बैठा :

"How do you walk naked ?"

(नंग-धड़ंग कैसे घूमते हो, भई ?)

कला-कुशल टाल्स्टाय ने, गरम कपड़ों में सिर-से-पाँव तक डूबे हुए उस अश्वारोही को गौर से देखा; और जवाब देने के बदले, वह भी उससे एक विचित्र सवाल ही कर बैठे :

"How do you keep your nose naked ?"

(तुम अपनी नाक कैसे खुली रखते हो, भई ?)

रशियन राजकुमार भौंचक मुँह देखता रह गया; क्योंकि वह सवाल ही उसके सवाल का जवाब भी दे रहा था। जैसे अति मृदुल नाक को खुले रूप में रखना सबके लिए लाचारी है, आवश्यकता और अभ्यास के सहारे सारे शरीर को भी उसका प्रशिक्षण दिया जा सकता है—यह गूढ़ बात उसी प्रश्न से ध्वनित हो जाती है। पश्चिमी विद्वान् संभाषण की इस मर्म-व्यंजक कला के गीत गाते थकते नहीं हैं। यदि वास्तव में यह श्रेष्ठ कला है, तो यह किसी व्यक्ति, किसी देश या किसी युग की बपौती नहीं हो सकती है !

सोचने की बात है कि मर्मज्ञ राम को हनुमान् का उक्त कथन आह्लाद और अनुताप के किस अद्भुत लोक में उठा ले जाता है। तन-मन-प्राण से ध्यान-परायणा सीता का वह भावात्मक चित्र जो हनुमान् ने उनके सामने रखा, उससे जितना आत्मतोष, जितना उल्लास, जितना गर्वातिरेक उन्हें हुआ होगा, क्या उससे कम अनुताप उन्हें अपने उस शंकाकुल प्रश्न पर हुआ होगा ?

हाय, ऐसी तल्लीन नारी के प्रति भी नर की वह शंका—जिसके प्राण यों तड़प रहे हों उड़ जाने को, पर पहरेदार, फाटक और ताले पड़े कारागार के कारण जिन्हें निकलने का रास्ता न मिल रहा हो !

किन्तु आह्लाद ने उमड़ कर उस अनुताप को डुबो भी दिया होगा; और वियोगी राम सतत-संगिनी सीता के साथ उस भावात्मक मिलन में सब-कुछ भूल गए होंगे—उन्हें शायद यह भी याद न रहा होगा कि उनकी वह सीता सात समुन्दर पार जगत्-जयी रावण के अभेद्य प्राचीर में बन्द हैं।

हनुमान् मन-ही-मन हँसे होंगे और उन्होंने अपनी कला को यों पुकारा होगा—'आओ, देवी ! संयोग-सुख की दुग्ध-फेन-सी शय्या से उठा कर अब हम ले चलें राम की करुणा-कल्लोलित वीर-रस के सागर की उर्मिल तरंगों के ऊपर—जिससे अत्याचारी के हाथों से उस पति-प्राणा अबला के प्राणों का उद्धार हो जाए; और राम का यह भावात्मक मिलन भी यथार्थ के धरातल पर उतर जा सके !'

कला-कुमारी ने कैसा कौशल दिखाया, सहृदय उसे कलेजे की धड़कनों को दबा कर देखें। हनुमान् ने जैसे विश्रब्ध विश्राम में पड़े स्वप्न-सुख लूटते राम को अत्यधिक सावधानी तथा मृदुलता से जगाया हो :

"नाथ जुगल लोचन भरि बारी। बचन कहे कछु जनक कुमारी॥"

शब्द-संगठन और वाक्य-विन्यास पर जरा रुककर दृष्टिपात किया जाए। 'नाथ' सम्बोधन क्या किसी 'अनाथ' को पीछे से लाकर राम के सामने खड़ा नहीं कर रहा है ? अन्यथा बिना अनाथ के नाथ की सार्थकता ही क्या रह जाती है ! और राम हनुमान् के नाथ हों या न हों, पर उस अबला के नाथ तो अवश्य हैं—जिसका सन्देश वह दूत लाने गया था। अतएव यह 'नाथ' मृदुल आघात देकर राम को किसी अनाथ के प्रति सजग कर रहा है—'अरे, ओ महामान्य महाराज ! जिसका भावात्मक चित्र देखकर आप यों मुग्ध और मग्न हो रहे हैं, वह आज अनाथ है; आपके पास नहीं, वह दूर—बहुत दूर, दानवेश के पंजों में पड़ी, तड़प रही है !'

राम जैसे तन्द्रिल नेत्रों से ही कह उठते हैं—'कौन है वह अनाथ, जो अपने नाथ को पुकार रही है ?'

लेकिन चतुर दूत जिज्ञासा, उत्कण्ठा और कुतूहल की सीढ़ी पर चढ़ा कर ही तो उसका दर्शन कराएगा; क्योंकि वह तो मुसकुराती कला-कन्या के साथ विचरण कर रहा है !

कला की पहली शर्त है 'जिज्ञासा', जिसकी प्रतिष्ठा यहाँ 'नाथ' के द्वारा हो रही है—राम जैसे चौंक कर देखना चाहते हैं कि 'अनाथ' कौन और कहाँ है। तदनन्तर आता है 'जुगल', जो उत्कण्ठा और कुतूहल का उद्रेक करता है—यह 'युगल' क्या है ? फिर आता है 'लोचन', जो कुतूहल को और तीव्र कर देता है—ये दो नेत्र किसके और कैसे हैं ? तत्पश्चात् कहा जाता है कि 'भरिबारी'; और तब एक अधूरा वाक्य बन पाता है—'हे नाथ, दोनों नयनों में जल भर कर···!' उत्कण्ठा ही नहीं, कुतूहल भी अब बेहद बढ़ जाता है और राम अपना धैर्य खोने लग जाते हैं—'अरे जल्दी कहो न : ये सजल चक्षु-द्वय किस अनाथिनी के हैं; और ये पूर्ण होकर भी अपूर्ण क्यों दीखते हैं ?' लेकिन

निपुण वक्ता श्रोता की उतावली की परवा थोड़े ही करता है; वह तो कला की लगाम कुछ और कस देता है—'बचन कहे कछु'''।' राम जैसे झल्ला उठे—"अरे कौन है यह अनामा—उसका नाम तो बताओ भला!' तब जाकर विचक्षण दूत यह रहस्य खोलता है—'वह अनाथ और कोई नहीं, आप की जनक-कुमारी ही!'

मनोविज्ञान के पारखी राम के मनोजगत् की उन हलचलों को देखकर अवश्य मुग्ध होंगे।

किन्तु ध्वनि-शास्त्र के अभ्यासी तो 'जनक कुमारी' शब्द को भी गौर से उलटने-पुलटने लग जाएँगे—क्या यह 'जनक कुमारी' उसी शब्द का संगी-साथी है, जो राम के उक्त प्रश्न में आया था—'कहहु तात केहि भाँति जानकी?' क्या हनुमान् ने भी उसे उसी अर्थ में प्रयुक्त किया है, जिस अर्थ में वहाँ अपने प्रश्न में राम ने किया था? यहाँ कला तुरन्त अपनी तर्जनी ओठों पर रख लेगी और मन्द-मन्द मुसकुराती कहेगी—'नहीं, हनुमान् ने बड़ी सतर्कता से बता दिया है कि ये जल-भरे नेत्र किसी अदने आदमी के नहीं; महामहिम जनक महाराज की दुलारी राजकन्या जानकी के हैं, जो बड़े गर्व और गौरव के साथ ब्याही गई थीं राम के साथ!'

प्राकृत पुरुष अपनी पत्नी के साथ अवज्ञा या उपेक्षा दिखाने का अधिकारी ही नहीं, आदी भी रहता आया है। यदि उसकी पत्नी कहीं सामान्या हुई, तब तो उसका वह अधिकार और भी बढ़ जाता है; और यदि संयोग-वश वह असाधारण स्थिति से आई हो, तब पतिदेव को जरा सोच-समझ कर ही उसके साथ बर्ताव करना पड़ता है। हनुमान् के कथन में 'असामान्या' की वही ध्वनि उठ रही है—'राम याद रखें, महाराज जनक की प्यारी पुत्री, यों आँसू से भर कर, उनसे अनुनय के वचन कह रही हैं!'

भला यह वजनदार ध्वनि राम को सतर्क और सम्भ्रम क्यों न बना देती? अतः पूर्ण जाग्रत होकर राम खूब गौर से सीता का सन्देश सुनने लगे। सीता कह रही हैं:

"अनुज समेत गहेहु प्रभु चरना। दीन बंधु प्रनतारति हरना॥"

यहाँ अनुज (लक्ष्मण) के साथ प्रभु-चरण पकड़ने का आदेश है; क्योंकि सीता मर्यादा में चाहे जितनी भी बड़ी हों, पर गलती भी उनसे उतनी ही बड़ी हुई थी; लक्ष्मण की जैसी भर्त्सना उन्होंने पंचवटी में की; क्या उनकी यह दुर्गति उसी की सजा नहीं मानी जाएगी? सीता ने इसे अन्तरतम से महसूस किया और अकुण्ठित भाव से क्षमा-याचना के हाथ लक्ष्मण के चरणों तक बढ़ा दिया!

कोई कितना भी बड़ा क्यों न हो, जब उससे कोई बड़ी गलती हो जाती है, और जब वह उसे तहेदिल से महसूस करने लगता है, तब उसका बड़प्पन छोटे-से-छोटे के चरण पकड़ने और उन्हें अपने अनुताप के आँसू से धो डालने में ही सार्थक होता है। सती-साध्वी सीता ने यहाँ अपना वही बड़प्पन दिखाया है। राम और कुछ

हों या न हों—'दीनबन्धु' और प्रणत के 'आर्ति-हर' के विरुद तो उनके विश्वविख्यात हैं ही। सीता उन्हीं का सहारा लेती हैं, जिससे राम की सहज करुणा उनकी ओर प्रवाहित हो जाए।

यों राम के हृदय में कुछ करुणा उभार कर और अपने में कुछ साहस बटोर कर वह एक सहज शंकाकुल प्रश्न अपने प्रेमी-प्रभु से कर बैठती हैं :

"मन क्रम बचन चरन अनुरागी। केहि अपराध नाथ हौं त्यागी॥"

सीता प्रणत हैं—मनसा-वाचा-कर्मणा राम की अनुरागिणी हैं; और आज उन-सा 'दीन' दुनिया में और कौन देखा जाता है? फिर वह यों त्यागी हुई क्यों हैं? राम के सहज स्वाभाविक गुणों (दीन-बन्धुता और प्रणतार्ति-हरणशीलता) ने उनके प्रति यह उपेक्षा क्यों दिखाई—नाथ ने क्यों न उनकी सुधि ली; क्यों न अब तक दीन-बन्धु ने उनका उद्धार किया?

कवि ने बड़ी सावधानी से यहाँ भाव-वाचक वाक्य में सीता का 'संकोच' उपस्थित कर दिया है—फिर 'किस अपराध से मैं (आपके द्वारा) त्यागी हुई हूँ?'

उनका संकोच यही है कि सीता-सी अनुरागिणी पत्नी अपने प्रेमी-पति के ऊपर (चाहे जैसे भी घुमा-फिरा कर क्यों न कहा गया हो) कोई सन्देह करें। तत्त्वतः सती-स्त्री के मन में तो स्वामी के प्रति कभी कोई सन्देह उठता ही नहीं; क्योंकि जहाँ अखण्ड विश्वास है, वहाँ सन्देह की घृणित छाया पड़ नहीं सकती? सीता भाववाच्य का सहारा लेकर सन्देह का सीधा आक्रमण तो राम पर नहीं करती हैं, पर एक प्रश्न-चिह्न तो खड़ा कर ही देती हैं।

किन्तु उनका वह 'सन्देह' सँभल कर तुरत अन्तर्मुखी हो जाता है—बिना किसी अपराध के यह सजा उन्हें मिलेगी कैसे; सो भी अपने परम-प्रिय पति के हाथों? अतः उनका एक अपराध सहसा उनके सामने आ खड़ा होता है :

"अवगुन एक मोर मैं माना। बिछुरत प्रान न कीन्ह पयाना॥"

प्रियतम राम से अलग होते ही उनके प्राण-पखेरू क्यों न उड़ गए? इसका जो समाधान सीता पेश करती हैं, वह एक ओर अनोखा मालूम होगा, तो दूसरी ओर अति स्वाभाविक भी प्रतीत होगा :

"नाथ सो नयनन्हि को अपराधा। निसरत प्रान करहिं हठि बाधा॥"

उस अपराध का सीधा सम्बन्ध सीता के साथ नहीं है, वह उनके नेत्रों का अपराध है, जो निकलने को व्यग्र-बेचैन उनके प्राणों के हठपूर्वक रोक-रोक लेते हैं?

कहाँ सूक्ष्म-अगोचर, दस दरवाजों में बन्द सीता के प्राण और कहाँ कौड़ी-से ये गोल-गोल नेत्र—क्या सम्बन्ध हो सकता है दोनों में? यदि रूपक की उक्ति-सरणि पर अपनी तर्क-तरणी, कुछ देर के लिए, छोड़ दी जाए, तो वह सम्बन्ध प्रत्यक्ष हो जाएगा :

"बिरह अगिनि तनु तूल समीरा। साँस जरइ छन माँहिं सरीरा॥"

विरह आग की तरह हृदय को जलाता है; और जब वह आग फैलती है, तब ताप-तप्त शरीर रुई के समान निर्मल, नीरस और हलका बन जाता है। साथ ही विरही की साँसों का बेग बढ़ जाता है हवा की होड़ में। अब जब अग्नि, रुई और हवा—तीनों एक साथ हो जाएँ, तो रुई के जलने में कितनी देर लगेगी?

तो फिर सीता का शरीर अब तक जल कर खाक क्यों न हो गया—इतने दिनों से तो वह घोर विरहाग्नि में पड़ी हुई हैं?

इसका जो उत्तर सतीत्व की वह दीप-शिखा देती है, वह किसका हृदय नहीं हिला देगा :

"नयन स्रवहिं जलु निज हित लागी। जरै न पाव देह बिरहागी॥"

अगर आग पर जोरों का पानी पड़ जाए, तो वह अवश्य बुझ जाएगी। सती के नेत्र पानी बरसाने का वही काम करते हैं—(रोने से वियोग की जलन कुछ कम हो जाती है, इसे कोई हृदयवान् इनकार नहीं कर सकता है) और यों नेत्र-जल पड़ जाने से देह दग्ध होने से बच जाती है।

वर्षा का विज्ञान भी तो इसे सही प्रमाणित कर देता है—भूतल पर ताप बढ़ा, और जल-थल से भाप उठी; फिर आसमान में बादल छाए, और घटा घहरी; फिर रिम-झिम बूँदें छहरीं और जलती हुई धरती की छाती शीतल हुई!

कितना समर्थ है यह रूपक; और साथ ही कितना अगम्य और गोचर दीख रहा है।

लेकिन इसकी मर्मज्ञता अभी पूरी तरह प्रकट नहीं हो सकी है—वह तो अब भी अनुपमा अवगुण्ठनवती-सी, कहीं किसी कोने से झाँकती ही जान पड़ती है। आखिर नेत्रों को क्या पड़ी है कि वह यों हैरान-परेशान होकर सीता के शरीर की रक्षा करते जा रहे हैं?···हाँ, यह कोई परोपकार नहीं है उनका—इसमें भारी 'स्वार्थ' ही छिपा है (निजहित लागी) उनका! नयनों का स्वार्थ और क्या होगा—यही न कि वे अपने परम सुन्दर प्रियतम को देखना चाहते होंगे। और अगर हाड़-माँस का वह शरीर ही न रहेगा, तो किसके सहारे वे अपना 'स्वार्थ' सुरक्षित रख सकेंगे?

कवे! यह उक्ति बड़ी पुरानी है—गाँव-गाँव, घर-घर, जन-जन, की जीभ पर है; पर तूने इसे अपनी मनोज्ञता से माँज कर कैसा चमका दिया है, नित-नूतनता से इसे कितना परिपूर्ण कर दिया है!

सीता का 'सन्देश' सहसा यहीं समाप्त हो जाता है, पर चतुर दूत का दूतत्व अभी शेष है। उसे तो विजयोल्लास से भर कर राम को लंकाके रणरंग में कुदा ले जाना है। इसलिए अपनी ओर से भी कुछ सिफारिश कर देता है :

"सीता कै अति बिपति बिसाला। बिनहिं कहे भलि दीन दयाला॥"

इतना कह जाने पर भी, 'बिनहिं कहे भलि' (बिना कहे ही अच्छा है) कह कर रुक जाना, विपत्ति की विशालता को कितना बढ़ा देता है !

आधुनिक वचन-विदग्धता में यह भी एक स्पृहणीय चमत्कार माना जाता है।

हनुमान्-सा दर्प-दीप्त दूत साधिकार यह सब कह सकता है; क्योंकि वह सीता को केवल देख नहीं आया है, शक्तिशाली शत्रु के गढ़ में घुसकर कुछ हलचल भी मचा आया है। अतएव राम को उसकी बातें सतर्क होकर सुननी होंगी :

"निमिष निमिष करुना निधि जाहिं कलप सम बीति।"

जिनके एक-एक पल एक-एक कल्प बनते जा रहे हैं, तब इतनी दूर गरजते सागर के इस पार, निर्जन अरण्य में बैठे राम उस बन्दिनी नारी का उद्धार कैसे कर सकते हैं—क्या रावण से भीख माँगकर या निराशा के सागर में डूब कर ?

नहीं, हनुमान् उन्हें दोनों में से एक भी नहीं करने देंगे; बल्कि वे तो उन्हें विजयोल्लास की ऊँची चोटी पर उड़ा ले जायेंगे :

"बेगि चलिअ प्रभु आनिअ भुज बल खलदल जीति।"

यह एक ही पंक्ति राम की शोक-संकुला करुणा-सरि को उमड़ा कर वीर-रसार्णव में विलीन कर देती है—कैसा अद्‌भुत रस परिपाक है ! जैसे हत-चेत एवं निश्चेष्ट राम को झकझोर कर, हाथ पकड़ कर अपनी ओर खींचते, हनुमान् उनकी आँखों में अंगार और भुजाओं में विद्युत्-धारा प्रवाहित कर देते हैं। शीघ्र चलें राम; कहाँ और कैसे ? क्यों—वह प्रभु जो हैं; क्या भूल गए हैं अपनी प्रभुता ? सो भी अकेले जाने की बात तो है नहीं, साथ चलने (चलिअ) का प्रस्ताव है—राम को हनुमान् के साथ चलना है, हाँ; उस वीरपुंगव हनुमान् के साथ, जो लंकेश को भी ललकार आया है ! लंका जाकर सीता को जल्द ले आना जो है। ठीक—तो क्या राम दीन बनकर, रावण के आगे हाथ जोड़ कर कहेंगे—'छोड़ दे मेरी प्यारी सीता को !' नहीं, नहीं; ऐसा-वैसा कुछ नहीं। अपनी भुजाओं के बल से उन दुष्ट दानवों का दलन कर—उन्हें जीत कर सीता को ले आना है ! राम को अपनी भुजाओं की करामात क्या याद नहीं; या दानवों की दुष्टता उन्हें भूल गई; या दुष्ट-दलन की अपनी प्रतिज्ञा-ही उन्हें विस्मृत हो गई ?

व्यञ्जना यों गूँज-गूँज उठती है। यह सुनते ही राम चौंके और चमत्कृत हुए। उन्होंने अपने में उमड़ती शक्तियों का दुर्लभ दर्शन किया और वह कालान्तक के रोष-क्षोभ से भर गए; और उनकी सुपुष्ट भुजाओं में विद्युत्-वेग से विजयाकांक्षा उमड़ पड़ी !

यह एक ही पंक्ति, अपनी सूक्ष्म शब्द-शक्तियों के सहारे, भाव-विभाव एवं संचारी भावों से भर कर, वीर-रस के रत्नाकर में भयंकर बवंडर उठा देती है; और फिर पल भर में उसे उत्ताल तरंगों पर चढ़ा कर अद्‌भुत गति से मथने लग जाती है।

'बेगि' 'चलिअ', 'प्रभु' 'आनिअ', 'भुजबल', 'खलदल', 'जीति'—यों थोड़े से शब्द वही अद्‌भुत चमत्कार दिखा रहे हैं !

यहाँ महाकवि कंबन की सीता के सन्देश की भी थोड़ी झलक ले लेना सुखद होगा। उनकी सीता ने अपने मृदु-मधुर शब्दों में हनुमान् को जो कुछ कहा, उसमें शंका और कटुता की सघन छाया डोलती दीखती है :

"But one more moon shall I endure e'en here—
This is my message, O rightous one !—
More, I shall not my life sustain. And this,
I swear by him my King. Take this to heart."

सीता केवल एक मास और जीवित रह सकेंगी—राम की ही शपथ खाकर वह कहती हैं। हनुमान् इसे हृद्गत कर लें।

"Though I might not be fitting mate to him
Of garland rolling chest, tho' his heart be void
Of ruth, tell him it is duty plain
To save his valour's fame"

सीता भले ही राम की योग्य संगिनी न साबित हों, (राम का) हृदय भले ही सीता के प्रति निष्करुण हो गया हो; पर अपने शौर्य-वीर्य की प्रतिष्ठा तो उन्हें सुरक्षित करनी ही होगी :

"In but one moon austerity mine expires;
If he does not come here within that time,
Let him on banks of Ganga's tidal flood
With lotus hands of his my obsequies
Perform."

राम अगर एक मास की अवधि में लंका नहीं पहुँचते हैं, तो सीता की सारी कष्ट-कथा समाप्त हो जायगी। फिर तो राम वहीं से लौट जाएँ और निश्चिन्त मन से गरजते गंगा-तट पर अपने कमल-करों से सीता का श्राद्ध भी सम्पन्न कर दें !

"Remind him of the solemn vow he made
That day he took my hand in wedlock rite;
'Not e'en in thought will I in this my life
A second woman touch'; he swore to me
Drum these words in his ear."

पाणि-ग्रहण की शुभ घड़ी में राम ने शपथ खाई थी, कि इस जीवन में मन से भी वह पराई स्त्री का स्पर्श नहीं करेंगे—हनुमान् जाकर उनके कानों में ये शब्द डंके की चोट गुँजा दें।

"Do make it clear to him that I but crave
With salutation low this single boon:
E'en if I stay and end my life down here,
Let it be granted me to be reborn
And gain the blessing rare which ends all sin—
To touch his form divine."

हनुमान् रामचन्द्र के सामने यह स्पष्ट कर दें कि सीता सिर झुका कर उनसे एक वर माँगती हैं कि अगर वह लंका में मर भी जाएँ; तो दूसरे जन्म में तो उस पतित-पावन (राम की) दिव्य-देह का स्पर्श वह कर सकें।

"The while he rules enthroned, or rides in state
The haltered elephant with bells of choice,
Or his resplendent aspects manifold
On avenues to see I am not blest.
Of what avail is it to speak of them ?
Let me on my past Karma dwell."

राम जब सिंहासनासीन होकर भोग-विलास का गर्व-गौरव प्राप्त करेंगे, उन अद्भुत दृश्यों को देखने का सौभाग्य तो शायद सीता का होगा नहीं। फिर उनकी चर्चा ही वह क्यों करें—क्यों न अपने पुराकृत कर्मों पर वह निश्चल रह जाएँ !

"To the world sore languishing for him so long,
At his mother's grief, and at distress which Bharat
Endures, he'll speed. To me in agony
Down here, how would he come ?"

राम के सामने कई महत्त्वपूर्ण चिन्ताएँ खड़ी होकर उन्हें पुकार रही होंगी—माँ के दुःख-शोक की चिन्ता और भाई भरत की व्यथा-व्यग्रता की चिन्ता उन्हें उड़ा ले जाएगी अयोध्या। दुर्गम लंका में पड़ी व्याकुल अनाथिनी सीता के पास आने का उन्हें अवकाश ही कहाँ रहेगा ?

यह सुनकर व्याकुलमना हनुमान् सीताको एक अद्भुत आश्वासन देते हैं :

"Within that day you have now said to me
If he does not deliver you from durance vile,
O dam of fragrant locks, let infamy
Unutterable and sin envelop him.
Thence Ravana is he O'er there and he
Here now is truly Ram."

सीता ने राम के आने की जो अवधि बताई है, अगर उसके भीतर यहाँ आकर राम उनका उद्धार नहीं करते हैं, तो जगत् के सारे पाप-ताप उन्हें दबोच डालें; और वह वहाँ रावण बन जाएँ—फिर रावण ही यहाँ यथार्थ राम हो जाए !

बड़ा ही गूढ़-गम्भीर और दर्प-उदीप्त आश्वासन है यह भक्त-हृदय हनुमान् का। कवि कंबन की भावनाएँ यहाँ अत्यन्त ऊँचे लोक में उठ गई हैं। एक ओर जननी से भी अधिक पूज्या और बन्दनीया सीता की आक्रोशमयी वेदना-व्यथा से और दूसरी ओर अतुल विक्रमशाली भगवान् राम के प्रति अडिग आस्था से भर कर यह आश्वासन कैसा आलोल हो उठा है—देखते ही बनता है !

भला इस अभूत-पूर्व आश्वासन से सीता पुलक-हिल्लोल पर क्यों न चढ़ जातीं। उन्होंने उन्मुक्त हृदय से आशीर्वाद की झड़ी लगाते हनुमान् से कहा :

"Now speed thee hence: may you avoid all harm:
I have no more to add; all that I need.
I've said. To my liege repeat. as wise you are,
What is but propitious."

जाओ, हनुमान्, अब देर न करो यहाँ। सीता को जो कुछ कहना था, सब कह दिया उन्होंने। अब तुम जाकर उनके दयालु प्रभु से वही कहना जो उचित और अनुकूल जँचे तुम्हें—तुम बुद्धि-विचक्षण तो हो ही !

अन्तिम पंक्ति कैसी अनूठी और कितनी उपयुक्त हो गई है—विरह की व्यग्रता तथा यातना-यन्त्रणा की तीक्ष्णता से घबराई सीता, जान या अनजान में, जाने क्या-क्या कह गई हों। दूत—दयालु और दूरदर्शी दूत—उन्हें औचित्य के पलड़ों पर चढ़ा ले और तौल-तौल कर ही राम से निवेदन करें जिससे सीता के प्रति उनकी अनुकूलता उदग्र हो उठे।

इसमें केवल कवित्व ही नहीं, केवल कला ही नहीं, कवि का पाण्डित्य और उसका आचार्यत्व भी मुक्त भाव से बोल रहा है।

इसके बाद भी सीता, धीरे से राम के कानों में डाल देने के लिए, जयन्त की कथा (जो शायद लक्ष्मण को भी मालूम न थी) हनुमान् से कह ही देती हैं : कैसे-कैसे उस दुष्ट ने उन्हें (सीता को) चोंच मार-मार कर तंग किया था, और कैसे राम ने उसकी एक आँख निकाल कर उसकी समस्त जाति (कौए) को ही एकाक्ष होने का दण्ड दे दिया था।

इस अत्यन्त गुप्त कथा को सुनकर एक ओर जहाँ राम को सीता की अनुरक्ति, उनकी दयनीय दशा, दुष्ट की दुष्टता तथा अपनी शक्ति का रोमांचक स्मरण होगा, वहाँ दूसरी ओर हनुमान् के कथन की सचाई भी उन्हें अत्यधिक प्रभावित कर देगी।

यहाँ कवि कंबन ने आदिकवि का सुन्दर अनुसरण किया है। किन्तु वाल्मीकि उसके उपसंहार में यह भी कहलवा देते हैं :

"स किमर्थं नरवरो न मां रक्षति राघवः ?"

वह नर-श्रेष्ठ राघव मेरी रक्षा क्यों नहीं करते हैं ?

यही नहीं, वह कुछ और आगे बढ़ती हैं :

"सुराणामपि दुर्धर्षौ किमर्थं ममुपेक्षतः। ममैव दुष्कृतं किंचिन्महदस्ति न संशयः।"

(जो राम-लक्ष्मण देवताओं के लिए भी दुर्धर हैं, वे मेरी उपेक्षा क्यों कर रहे हैं ?)

निस्सन्देह इस उपेक्षा में सीता को अपना ही भाग्य-दोष दीखता है; अन्यथा शक्ति-सामर्थ्य से युक्त होते हुए भी राम उनकी रक्षा नहीं कर रहे हैं !

[1]तेलुगु की 'रंगनाथ रामायण' के अनुसार हनुमान् राम को सीता का सन्देश यों सुनाते हैं :

"हे देव, उन्होंने कहा—'सूर्य-वंश-तिलक के वियोग में गत दस महीने मैंने असंख्य दुःखों को झेलते हुए बिताए हैं। दो महीने के पश्चात् रावण मुझे मार डालने का निश्चय कर चुका है। इसलिए तुम रामभूपाल से निवेदन करो कि मेरे प्राण अब नहीं बचेंगे। उन्हें सत्यनिष्ठ मान कर ही मेरे पिता ने मेरा प्राणिग्रहण उनसे कराया। विवाह-वेदी पर उन्होंने (मेरे पति ने) अग्निदेव के समक्ष सदा मेरी रक्षा करने की प्रतिज्ञा की और मुझे अपने साथ अपने घर ले आए। आज उन्होंने मेरी उपेक्षा कर दी और मुझे अनाथ बना दिया। इस पर विचार करने के लिए प्रभु राम से निवेदन करें। उनसे यह भी निवेदन करो कि अपनी धर्म-पत्नी को कोई चुरा कर ले जाय, तो चुपचाप बैठे रहना वीरों का धर्म नहीं है। औचित्य का विचार कर मैंने इन बातों की चर्चा की है। मेरा शरीर चाहे जहाँ भी रहे, मेरे मन, वचन और कर्म उन्हीं में रमण करते रहेंगे।" इतना कहने के पश्चात् उन्होंने यह भी बताया कि चित्रकूट पर्वत पर, उन पर कौए ने कैसे आपने गैरिक से उनके कपोलों पर सुन्दर मकराकृति की रचना की थी। (ये बातें उन्होंने इसलिए बताई थी कि) मेरे वचनों पर आपका विश्वास हो जाय।"

"रंगनाथ रामायण' में सीता ने लक्ष्मण तथा वानराधिपों को भी सन्देश भेजा है हनुमान् के द्वारा :

"हे हनुमान्, तुम सौमित्र से मेरी ओर से ये बातें कहना—'तुम मुझे अपनी माता के समान मानते थे। अब मुझको इस प्रकार भूल जाना और मेरी दशा का

१. प्रो० श्री ए० सी० कामाक्षिराव, एम० ए० द्वारा अनूदित तथा बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना द्वारा प्रकाशित 'रंगनाथ रामायण' से साभार—लेखक।

विचार नहीं करना क्या तुम्हारे लिए उचित है ? मैंने तुम्हारे जैसे पुण्यात्मा को दण्डक वन में अपशब्द कहे थे, उसका फल मैं भुगत रही हूँ। अब विलम्ब मत करो, दया दिखाओ।' हे पवन-कुमार, तुम अंगद, रविपुत्र तथा अन्य वानरनायकों से अवसर के अनुकूल मेरे विनीत वचन कहना और किसी भी प्रकार उन्हें रामचन्द्र तथा लक्ष्मण के साथ यहाँ ले आना। मैं बड़े साहस के साथ एक मास तक तुम्हारे आगमन की प्रतीक्षा करूँगी। उसके पश्चात् मैं जीवित नहीं रह सकूँगी। इस अवधि के भीतर तुम अवश्य रघुराम को किसी भी प्रकार से यहाँ ले आना। अब तुम शीघ्र यहाँ से आओ।"

'रंगनाथ रामायण' के कवि ने सन्देश देने के बाद चूड़ामणि देने की बात लिखी है—सो भी हनुमान् के विशाल रूप को देख लेने के बाद।

अब काव्य और कला के मर्मज्ञ स्वयं निर्णय करें कि कौन कवि किस लोक में कितना ऊँचा उठा है—हाथ कंगन को आरसी क्या ?

"एहि के हृदयँ बसति बैदेही" :

आदिकवि वाल्मीकि, महाकवि कंबन तथा रंगनाथ-रामायण (तेलुगु) के रचयिता ने भी मेघनाद के द्वारा युद्ध-क्षेत्र में घटित माया-सीता की हत्या का उल्लेख किया है। तमिल भाषा के कविकुल-भूषण कंबन ने तो उस प्रसंग का इतना हृदय-स्पर्शी वर्णन किया है, कि रस-मग्न हो जाना पड़ता है। हनुमान् का मेघनाद के प्रति सीता के लिए अनुनय, उनकी आत्म-ग्लानि, सीता की हत्या का समाचार सुनकर राम की दयनीय दशा, लक्ष्मण का आवेशमय बोध-प्रबोध—इतना रस-स्निग्ध, इतना संश्लिष्ट तथा इतना मर्म-व्यंजक हुआ है कि मन उस रस-धारा में बहता ही रहना चाहता है। कल्पना की उड़ान में कंबन वाल्मीकि से भी ऊँचा उड़ जाते हैं : उनका इन्द्रजीत तो सीता पर ही तलवार नहीं उठाता है, अयोध्या जाकर भरत और माताओं की भी हत्या कर डालने की घोषणा करता है। भरत पर आक्रमण की बात सुनते ही हत-चेत राम के ऊपर मानों वज्रपात ही हो जाता है। लक्ष्मण के द्वारा आदिकवि ने भी अर्थ, धर्म और पौरुष की बात उठाई है, पर कंबन ने उसको जिस निपुणता के साथ चित्रित किया है, मुग्ध रह जाना पड़ता है। आदिकवि का वह इन्द्रजीत हनुमान् से इतना ही कह कर रह जाता है :

"सुग्रीवस्त्वं च रामश्च यन्निमित्तमिहागताः।
तां वधिष्यामि वैदेहीमद्यैव तव पश्यतः॥"

हनुमान् जिसके लिए सुग्रीव और राम को लंका ले आए हैं, उस वैदेही को वह (इन्द्रजीत) हनुमान् के सामने ही मार डालेगा।

फिर :

"इमां हत्वा ततो रामं लक्ष्मणं त्वां च वानर।
सुग्रीवं च वधिष्यामि तं चानार्यं विभीषणम्॥"

जानकी को मारकर वह राम, लक्ष्मण, हनुमान्, सुग्रीव और उस अनार्य विभीषण का भी वध कर डालेगा।

इतना कह कर :

"तमेवमुक्त्वा रुदतीं सीतां मायमयीं च ताम्।
शितधारेण खड्गेन निजघानेन्द्रजित्स्वयम्॥"

उसने उस रोती-कलपती मायामयी सीता को अपनी तेज तलवार के घाट उतार दिया !

तीनों (वाल्मीकि, कंबन तथा रंगनाथ रामायण के स्रष्टा) कवियों ने मेघनाद-वध से व्याकुल रावण के द्वारा भी अशोक-वाटिका में सीता-वध की तैयारी का दृश्यांकन किया है। वहाँ अमात्य सुपार्श्व के द्वारा समझाने-बुझाने पर रावण रुक जाता है।

किन्तु भक्त-हृदय तुलसी को जगन्माता सीता की यह छीछालेदर न रुची; और, इधर-उधर देखकर भी, वह अपने निर्मित-पथ पर चुपचाप आगे बढ़ गए। फिर भी उनकी कल्पना चुप न रह सकी। उसने एक दूसरा ही सरल-सहज रूप लिया। प्रहरी राक्षसियों में एक सहृदया त्रिजटा सीता को नित्य युद्ध का समाचार सुना जाया करती थी। उधर जब रावण के कर-सिर कटने और बढ़ने लगे, तब :

"तेही निसि सीता पहि जाई। त्रिजटा कहि सब कथा सुनाई॥"

वह 'कथा' सीता के शोक को बढ़ाने वाली थी; क्योंकि राम के अमोघ बाणों से रावण के कर-सिर कटते तो थे जरूर, पर तुरत नए उग भी आते थे ! यह समाचार सुनकर सीता अत्यन्त त्रस्त हो उठीं; उनका मुख सूख गया और चिन्तातुर होकर उन्होंने त्रिजटा से पूछा :

"होइहि कहा कहसि किन माता। केहि बिधि मरिहि बिस्व दुखदाता॥
रघुपति सर सिर कटेहुँ न मरई। बिधि बिपरीत चरित सब करई॥"

जानकी त्रिजटा को 'माता' कह कर पुकारती हैं और आर्त होकर पूछती हैं—'अब क्या होगा—कहती क्यों नहीं ? वह विश्वदुःख-दाता कैसे मरेगा ?'

यहाँ जानकी रावण को 'विश्व-दुःख-दाता' कह कर अपने उदार-हृदय का परिचय देती हैं—जैसे उन्हें अपना दुःख याद न रह गया हो अपार विश्व-व्यथा के सामने ! विधि के विपरीत चरित्र पर भी उन्हें आश्चर्य हो रहा है—कटे हुए सिर के स्थान पर दूसरे सिर का उग आना क्या सामान्य दृश्य था !

सीता का वह करुण कथन, उनका सरल भोलापन, उनकी विह्वलता और जगत् की ओर देखने की उनकी संवेदनात्मक मृदुलता दर्शनीय है।

"मोर अभाग्य जिआवत ओही। जेहि हौं हरिपद कमल बिछोही॥"

सचमुच जब तक रावण मरेगा नहीं, सीता उसके पंजे से छूट भी तो नहीं

सकती थीं। फिर यह तो स्पष्ट ही था कि उन्हीं का 'अभाग्य' उसे (रावण को) जिलाये जा रहा था!

आह, कितना हृदय-विदारक है यह कथन—एक का 'अभाग्य' इस प्रपंच में दूसरे का 'सौभाग्य' ही नहीं, उसका 'जीवन' भी बन जाता है! और जब तक वह दुष्ट मरेगा नहीं, सीता का 'अभाग्य' भी अमर रहेगा—वह उनको राम के पास पहुँचने देगा नहीं। सीता अपने अभाग्य-विधाता को खूब पहचानती हैं :

"जेहिं कृत कपट कनक मृग झूठा। अजहुँ सो दैव मोहि पर रूठा।"

एक बार तो वह (दुर्दैव) माया-मृग बन कर उसे ठग गया था; वह अब भी उन पर नाराज ही दीख रहा है :

"जेहि बिधि मोहि दुख दुसह सहाए। लछिमन कहुँ कटु बचन कहाए॥"

उसी वामविधि ने तो उन्हें दुस्सह दुःख दिया था और लक्ष्मण के प्रति उनके मुख से वैसे कटु वचन भी उसी ने कहलवाए थे!

और भी :

"रघुपति बिरह सबिष सर भारी। तकि तकि मार बार बहु मारी॥"

कामदेव ने राम के जहरीले विरह-बाणों से उसके मर्म-स्थल पर जैसे निर्मम आघात किए हैं, यह तो वही जानती हैं।

इतने पर भी :

"ऐसेहु दुख जो राख मम प्राना। सोइ बिधि ताहि जिआव न आना॥"

इतना होने पर भी जो दुर्दैव उन्हें अब भी जिलाये जा रहा है, क्या वही निष्ठुर विधाता रावण को भी अमर नहीं कर रहा है? अवश्य वह वही (उनका अभाग्य ही) है—दूसरा कोई नहीं।

उदार-उरस्का वह करुण नारी सब कष्टों में अपना ही अभाग्य देख रही है—किसी को भी दोष देना नहीं चाहती। इस संवेदन-शीलता, उदारता तथा करुणा की थाह पाना कितना कठिन है!

सीता इस प्रकार राम की याद करके बहु-विध विलाप करती रहीं। उनकी उस दुस्सह दशा त्रिजटा का हृदय द्रवित हो गया और वह रावण के कर-सिर की अक्षय्यता का कारण कह कर उसके नाश का समाधान भी सुनाने लगी :

"कह त्रिजटा सुनु राज कुमारी। उर सर लागत मरइ सुरारी॥"

राम का बाण जब रावण के हृदय को बेधेगा, तभी वह दुष्ट मरेगा।...तो फिर राम उसके उर पर सर क्यों नहीं तानते हैं? त्रिजटा उसका एक बड़ा भारी कारण बताती है :

"प्रभु ताते उर हतइ न तेही। एहि के हृदय बसति बैदेही॥"

राम यह खूब जानते हैं कि रावण के हृदय में वैदेही का वास है, इसीलिए वह उसके हृदय को नहीं वेध रहे हैं; क्योंकि :

"एहि के हृदयँ बस जानकी जानकी उर मम बास है।
मम उदर भुवन अनेक लागत बान सब कर नास है॥"

रावण ने अपने हृदय में जानकी को प्रतिष्ठित कर रखा है; और जानकी के अन्तर में राम का सुस्थिर निवास है। अगर राम रावण के कलेजे में बाण मारते हैं, तो वह बाण जानकी के उर को भेद कर राम के हृदय में घुसेगा, और वहाँ जाकर वह (बाण) अनेक भुवनों को भस्मसात् कर देगा! राम वह महानाश नहीं करना चाहते हैं।

फिर वह दुष्ट दानव मरेगा कैसे? और अगर वह मरेगा नहीं, तो सुजान राम उसके साथ व्यर्थ की यह सर-क्रीड़ा क्यों कर रहे हैं? त्रिजटा इसका समाधान यों करती है :

"काटत सिर होइहि बिकल छूटि जाइहि तव ध्यान।
तब रावनहि हृदय महुँ मरिहहिं रामु सुजान॥"

अपने प्रिय कर-सिर को यों कटते देख रावण आखिर घबरा उठेगा और सीता का ध्यान उससे छूट जायगा। और जैसे ही वह व्याकुल बना, राम उसके हृदय को लक्ष्य करके बाण मार देंगे; और उसका प्राणान्त हो जाएगा।

त्रिजटा यह कह कर अपने घर चली गई; और उधर सीता निशि और शशि को कोसती रहीं; क्योंकि रात बीत नहीं रही थी।

जिस प्रकार घोर निशा की गोद में ही अगम्य उषा की क्षीण-ज्योति सोई रहती है, और सहसा घनान्धकार में ही (जाने कैसे) फूट पड़ती है और उस अन्-अन्तरिक्ष पर खेलने लग जाती है; अगाध-अथाह व्यथा-वारिधि में डूब रही सीता के अंगों में भी उसी उषा की भाँति शुभ-सूचनाएँ स्फुरित होने लगीं :

"जब अति भयउ बिरह उर दाहू। फरकेउ बाम नयन अरु बाहू॥"

स्त्रियों के जब बाएँ नेत्र और बाईं भुजा फड़कने लगती हैं, तब वे उन्हें शुभ-सूचक मानती हैं। घोर नैराश्य में पड़ी सीता की भी बाईं आँख और बाईं भुजा फड़क उठी। कदाचित् आधुनिक भाषा में सीता भी सोचने लग गई होंगी :

"कौन जाने है बसा उस पार तम
या रागमय दिन!"

कवि कंबन ने प्रभूत शब्दों में सीता के प्रति रावण के मूढ़-प्रेम की कल-कल-

स्विनी बहाई है; किन्तु तुलसी ने उस ओर केवल कठिन संयम ही नहीं, कुछ-कुछ मौन-उपेक्षा भी दिखाई है। फिर भी त्रिजटा के मुख से राम की जो सूक्ष्म चिन्ता कवि ने परिस्फुट की है :

"एहि के हृदयँ बस जानकी जानकी उर मम बास है।"

क्या वह एक पंक्ति ही अगणित नक्षत्रों के बीच पूर्ण राकेन्दु की प्रभा से परिपूर्ण नहीं दीख रही है ? और राम की उस झिझक में उर्मिल-मानस की जो उलझन डोल रही है, क्या मर्मज्ञों के मानस को भी वह उद्वेलित नहीं कर देती है ?

एक नारी के ऊपर दो-दो प्रचण्ड पुरुषों का पराक्रम, दो दुर्धर धूमकेतु की तरह, परस्पर घोर प्रतिस्पर्धा के साथ टकरा रहा है; और उस निर्मल-निरीह नारी के कोमल प्राण दो पाटों के बीच निर्ममता से पिसे चले जा रहे हैं—कैसा दर्दनाक नज्जारा है यह !

रावण ने बल-पूर्वक जनकात्मजा को अपने बश में ही नहीं किया, अपने हृदय में भी उन्हें बसा लिया है—एक क्षण के लिए भी उस प्रचण्ड पुरुष का ध्यान उस दिव्य दीप-शिखा पर से हटता नहीं है—जैसे वह लावण्य-लौ ही उसकी जीवन-ज्योति हो रही हो ! उधर राम ने मधुमय अनुराग के बल से उस नारी के हृदय का द्वार धीरे से खोला, और फिर पुलकगात होते उस पावन मन्दिर में प्रवेश करके चिरकाल के लिए आसन जमा लिया। बस—उस नारी का हृदय दूसरों के लिए दृढ़ता से बन्द !

प्रेम और पराक्रम में यहाँ कौन बड़ा और कौन छोटा है—इसके यथातथ्य कथन में कवि-वाणी भी कुण्ठित दीखती है; पर हाय रे अभागा असुराधिप, अपना सब-कुछ देकर भी तो उस 'अनन्या' की अनुरक्ति का एक सूक्ष्म कण भी तू नहीं पा सका। और जब कामिनी के कृपा-कटाक्ष का वह सूक्ष्म-सूत्र ही तू न थाम सका, तो तेरी यह प्रेम-पतंग किसके बल पर उन्मुक्त गगन में स्वैर-विहार का सुख-स्वप्न देख रही है ? रे हतभाग्य, नहीं जानता, कि एक सन्नारी का पवित्र प्रेम मूढ़-नर केवल अपनी पहाड़-सी ऊँची पूँजी के बल पर नहीं प्राप्त करता है—उस नारी की कृपा-कोर का सूक्ष्म-सहयोग भी उसके लिए आवश्यक होता है। और इसके लिए तू अपने उस 'अभाग्य' से पूछ कि उसने वह कृपा-कोर मिथिला में ही तेरी ओर क्यों न फेरी ?

हाँ, तू अपनी पार्थिव पूँजी पर उसकी मूर्ति की प्रतिष्ठा कर, उसकी दिव्य कान्ति पर मुग्ध होता रह, उसकी प्राप्ति में प्रलय-कालीन प्रचण्ड प्रभंजन बन जा, लड़-लड़ाकर मर-कट; और अन्त में, रक्तारुण सेमल के फूल की तरह फूटकर, उसकी रुई के रेशे की भाँति बिखर कर हवा में अलक्षित उड़ जा अनन्त अन्तरिक्ष में !

किन्तु यह भी याद रख; जब तक तू अपने अन्तर की उस दीप-शिखा पर दृष्टि गड़ाए रहेगा, मानस का मर्मज्ञ-कवि तुझे मरने नहीं देगा। देखता नहीं, उसका आराध्य-राम भी इस रहस्य को जान कर कितना संकुचित हो रहा है !

सच, प्रेम का संघर्ष कितना अद्‌भुत और अपूर्व होता है !

वाल्मीकि, कंबन और रंगनाथ रामायण के पन्ने उलट जाएँ; तुलसी के उक्त प्रसंग की प्रतिस्पर्धा में कदाचित् ही कोई इतना सूक्ष्म मर्म-व्यंजक दृश्य खड़ा दीख पड़ेगा !

"पावक प्रगट करहु तुम्ह बेगी" :

लंका की युद्ध-भूमि में जब तक उस प्रेम-प्रमत्त रावण का ध्यान जनक-नन्दिनी पर केन्द्रित रहा, राम उसके नाभि-सर में बाण नहीं मार सके—उसके कर-सिर के खण्डन में ही व्यस्त बने रहे : और जैसे ही, घबराहट के कारण, उसका ध्यान जानकी से हटा, राम का एक बाण बिजली की भाँति छिटका :

"सायक एक नाभि सर सोषा ।"

और उसके नाभि-कुण्ड में जा घुसा; बस पल में चिर-संचित जीवन-सुधा का वह घट खाली हो गया, और वह मदोन्मत, वज्राहत-शैल-शृङ्ग-सा अरराकर धरती पर गिर पड़ा !

यों महाप्रलय के पश्चात् रावण की रुधिराग्नि ठंढी हुई; पर क्या उसकी विराट् वासनाग्नि भी देह के साथ नष्ट हो गई ? विश्वास तो नहीं होता है—वासना भूत बन कर भी कभी-कभी अपने शिकार का पीछा करती है !

कवि का कहना है :

"तासु तेज समान प्रभु आनन ।"

अर्थात्—रावण का तेज कवि के प्रभु राम के मुख में समा गया ! देखना है कि अब राम के उस मुँह से क्या-क्या निकलता है ?

इधर रावण के वासना-बधिर शरीर से रुधिर की धारा बही, उधर उसकी निरीह नारी मन्दोदरी ने अपने गरम-गरम आँसुओं से विजयी राम को नहला दिया !

क्या आह और उसाँसों के ये निगूढ़ निर्झर राम को सुस्थिर रहने देंगे; और क्या सीता इस खरतर गरम सरिता को सुख से पार कर सकेंगी ?

असम समर-जयी राम ने अपने अनुगामी विश्वस्त विभीषण को लंका का राज्य दिया; और फिर हनुमान् को भेजा जानकी के पास अपनी विजय का समाचार सुनाने । हनुमान् के आते ही उस नष्ट-नगर के नर-नारी दौड़ पड़े :

"बहु प्रकार तिन्ह पूजा कीन्हीं । जनक सुता देखाइ पुनि दीन्हीं ॥"

रावण ने सीता पर कड़ा पहरा बिठा दिया था । अब जब वह दानवेश ही धूल में मिल गया, तब पहरेदार भी पानी-पानी हो गए । फिर वे हनुमान् की पूजा-अर्चा क्यों न करते ? सीता के पास जाने में अब उनका बाधक ही कौन बनता ?

"दूरहि ते प्रनाम कपि कीन्हा। रघुपति दूत जानकी चीन्हा॥"

हनुमान् ने दूर से ही जानकी को प्रणाम किया। देखते ही जानकी उन्हें पहचान गईं। फिर कुशल-प्रश्न के पश्चात् पुलकाकुला जनकात्मजा ने गद्गद कण्ठ से कहा :

"का देउँ तोहि त्रैलोक महुँ कपि किमपि नहिं बानी समा।"

हनुमान्! क्या दूँ तुम्हें? संसार में मुझे कोई ऐसी वस्तु नहीं दीखती है, जो तुम्हारी इस वाणी की बराबरी कर सके!

इतना कह कर भी सीता को सन्तोष नहीं हुआ और उन्होंने हनुमान् को एक ऐसा अनमोल धन दिया, जिसकी समता संसार में कहीं नहीं है :

"सुनु सुत सदगुन सकल तव हृदयँ बसहु हनुमंत।
सानुकूल कोसलपति रहहुँ समेत अनंत॥"

सीता ने हनुमान् को 'बेटा' बनाया और अपने अमोघ आशीर्वचन से सकल सद्गुणों की राशि उनके हृदय में उँड़ेल दी। साथ ही कुछ शंकित स्वर से यह शुभ-कामना भी प्रकट कर दी कि राम-लक्ष्मण की अनुकूलता उन्हें प्राप्त हो।

क्या इस महान् रणोन्माद का असर राम के सुस्थिर मानस पर भी पड़ेगा—सीता का वह शंकित स्वर क्या उसी का गूढ़ आभास नहीं दे रहा है?

सीता-सी माँ अपने प्रिय पुत्र के लिए जो सबसे बड़ी कामना कर सकती हैं, वह सद्गुण की याचना है—सच, सद्गुण से बढ़ कर कोई सम्पत्ति नहीं है ममतामयी माँ की दृष्टि में!

धन्य जननी! इससे बढ़ कर और कौन धन दे सकती थी तू अपने उस प्रिय सुत को?

काश, आज हमारी माएँ भी सीता की यह सीख याद रखतीं और अपने सपूतों के लिए भी सद्गुण की वैसी याचना करतीं!

आशीर्वाद के बाद सीता ने हनुमान् से अनुरोध किया :

"अब सोइ जतन करनु तुम ताता। देखौं नयन स्याम मृदुगाता॥"

सीता राम के मृदुगात को देखना चाहती हैं, जो उनकी दृष्टि में श्याम है। कौन जाने रक्त के छीटों में छिप कर विजयी राम के शरीर की वह श्यामता कहीं उनके अमल-विमल अन्तर में भी न समा गई हो!

तुलसीके हनुमान् यह सुनकर तुरत राम के पास चले आते हैं, पर आदिकवि और उनके अनुगामी कंबन के हनुमान् उन दुष्ट दानवियों को समुचित दण्ड देकर जाना चाहते हैं—जिन्होंने सीता को इतना सताया था! हनुमान् ने इसके लिए सीता की अनुकूल अनुमति चाही; और फिर ज्वालामयी दृष्टि से उन भयभीता राक्षसियों की

ओर देखा। व्याकुल-मना राक्षसियों ने दौड़ कर सीता के चरण पकड़ लिए और त्राहि-त्राहि के चीत्कार से चतुर्दिक् को कम्पित कर किया। यह देखकर कंबन की सीता दया से द्रवित होकर चिल्ला उठती हैं :

"Fear not, fear not; assured the Mother Ruth,
And turning on the Maruthi, she asked—
'What harm have these e'er done, but spoke to me
E'en as he bid them speak ?'..."

'डरो मत, डरो मत'—यों पगतल में पड़ी उन राक्षसियों को आश्वस्त करके वह हनुमान् से कहने लगती हैं कि इन बेचारियों का अपराध ही क्या है : इन्होंने तो वही किया, जैसा कि इनके मालिक ने इन्हें आदेश दिया था !

अपने कष्टों का भार वह अपने खोटे कर्मों पर डालती हैं और हनुमान् से उन राक्षसियों के लिए दया की भीख माँगती हैं :

" 'Grant me this prayer', thus entreated she;
Desist from torturing the minds of these
Affrighted fools—the home where evil dwells.
Thus pleaded she whose face made e'en the moon's
Breakout in spots with envy green !"

'हनुमान्, इन भयातुरा मूढ़ नारियों को मत सताओ।'

तुलसी को अयोध्या पहुँचने की शीघ्रता है, अतः वह समाहार-शक्ति से काम लेते हैं और अपने हनुमान् को तुरत ले आते हैं राम के पास। कंबन ने यह प्रसंग देकर सीता के चरित्र की रमणीयता और उदाराशयता बढ़ा दी है।

हनुमान् के मुख से सीता का समाचार सुन कर राम ने अंगद और विभीषण को बुलवाया और उन्हें हनुमान् के साथ जा कर सीता को सादर ले आने का आदेश दिया :

"सादर जनक सुतहिं लै आवहु।"

यहाँ 'सादर' शब्द राम के मन में उठने वाले किसी अगम्य आँधी-तूफान का संकेत तो नहीं दे रहा है ?

सब लोग शीघ्र सीता के पास पहुँचे। देखा—सब राक्षसियाँ बड़ी विनीत बनी उनकी सेवा-टहल में लगी हुई थीं। विभीषण के इशारे को समझ कर उन सबों ने सीता को विविध प्रकार से नहला-धुलाकर भूषण-वसन से सजा दिया; फिर पालकी में चढ़ाकर सब लोग शान-शौकत के साथ उन्हें राम के पास ले चले।

समीप आते-आते दर्शन-लालसी वानरी-सेना ने पालकी के इर्द-गिर्द भीड़ लगा दी और उचका-उचकी करने लगी। पालकी के रक्षकगण उन पर गुस्सा होने लगे। यह देख राम ने कहा :

"कह रघुबीर कहा मम मानहु। सीतहि सखा पयादें आनहु।
देखहुँ कपि जननी की नाईं। बिहँसि कहा रघुनाथ गोसाईं॥"

सीता को पैदल ही लाया जाए, जिससे बन्दर-भालू उन्हें माता के रूप में देख सकें।

यों सीता पालकी से उतरीं और संकोच में डूबी, शिथिल पदों से चल कर, राम के पास पहुँचीं। इसके बाद जो दुर्घटना घटी, मानस-कवि तुलसी ने बहुत पहले ही उसका कारण बता दिया था :

"सीता प्रथम अनल महुँ राखी। प्रगट कीन्हि चह अंतर साखी॥"

तुलसी के राम ने पंचवटी में पहुँचते ही सीता को गुप्त रीति से आग में छिपा दिया था, अन्तःसाक्ष्य के आधार पर अब वह उन्हें प्रकट करना चाहते थे। इसलिए :

"तेहि कारण करुनानिधि कहे कछुक दुर्बाद।
सुनत जातुधानी सब लागीं करै बिषाद॥"

जिसके दुर्वचन को सुनकर उन राक्षसियों को भी विषाद हो आया, उस महापुरुष को हमारा कवि 'करुणानिधि' की उपाधि देता है। सहृदय पाठक इसे कवि का व्यंग्य माने या उसकी भक्ति-भावना का कायल हो! किन्तु कवि के अद्भुत् साहस पर हम मुग्ध अवश्य हैं—कितनी शीघ्रता और सफ़ाई से वह अपने चरित-नायक के विरुद्ध खड़े भारी-भरकम शैल-शिखरों को पार करता चला जा रहा है!

हमारा कवि लाख कलाबाजी दिखाए, पर उसका अधिकांश पाठक तो यह जानता ही है कि राम का वह 'दुर्बाद' क्या था। यह संकोच कहा जाएगा, कि कवि की भक्ति-भावना यहाँ उसकी कलात्मकता के सिर पर चढ़ कर बोलने लग गई; और यह अनजान या भावावेश में नहीं हुई है—यह तो उसकी निश्चित योजना का सहज परिणाम है। हमारा कवि जान-बूझ कर वाल्मीकि के उस अत्यन्त कारुणिक प्रसंग से कतरा गया और उसने अत्यल्प पठित 'अध्यात्म रामायण' का आधार अपना लिया। तदनुसार राम ने लक्ष्मण की अनुपस्थिति में, सीता के साथ यों गुप्त मन्त्रणा की थी :

"सुनहु प्रिया ब्रत रुचिर सुसीला। मैं कछु करबि ललित नर लीला।
तुम्ह पावक महुँ करहु निवासा। जौं लगि करौं निसाचर नासा॥"

ललित नर-लीला में ही तो 'दुर्बाद' वाला वह परम-कारुणिक प्रसंग भी था,

कलात्मक अभिरुचि के साथ घोर अन्याय कर दिया, जिसके लिए उसके रस-प्राण पाठक कभी क्षमा नहीं करेंगे। फिर तो रसात्मक दृष्टि से सीता के लिए राम का रोना-धोना, उनका रोष-क्षोभ, हनुमान् के द्वारा 'प्रेम-सन्देश' भेजना, सीता का कष्ट-सहन और विलाप-कलाप—सब व्यर्थ बन जाता है!

'माया-सीता' के लिए रस-मर्मज्ञों के मनः-प्राण में क्या ममता जग सकती है भला!

दक्षिण का यह सौभाग्य है कि उसके महाकवि कंबन ने कला के प्रति वैसी कोई उपेक्षा नहीं दिखाई!

सीता धड़कते दिल से राम के समीप आ रही थीं—जाने क्यों उनके अन्तर के आकाश में भी कुछ काले बादल घिरने लग गए थे। आखिर राम भी तो पुरुष थे; और वह घोर हिंसात्मक संग्राम में विजयी हुए थे निशाचर-कुल का सर्वनाश करके! इस रक्तमयी सामूहिक हिंसा की अवांछनीय छाया क्या उनके मन पर नहीं पड़ी होगी—शायद सीता को यही दुविधा डुला रही थी: क्योंकि हिंसा की प्रवृत्ति का विरोध वह पहले से ही करती आई थीं।

राम ने उसी रावण को तो मारा था—जिसके घर में सीता बारह महीने बन्द रही थीं! और रावण की वासना-लालसा जग-जाहिर थी। एक सीता को ही नहीं, जाने कितनी सती-सुन्दरियों को कहाँ-कहाँ से वह बल-गर्वित दुष्ट उठा लाया था; और कल-बल-छल से उनका सर्वस्व अपहरण कर चुका था। इतने दिन उसी के शयन-कक्ष में रह कर तो वह भी आ रही थीं! जाने उनका भाग्य अब क्या बोलता है!

सीता का हृदय डोल रहा था इस विकट परिस्थिति से। यों राम को वह अच्छी तरह जानती थीं और राम भी उन्हें अन्तर से पहचानते थे। किन्तु जब से उन्होंने निशाचर-नाश का संकल्प किया, जब से अगस्त्य ने उन्हें महान् अस्त्र-शस्त्र प्रदान किए, और जब से राम ने युद्ध में अद्भुत दिलचस्पी दिखाई, तब से सीता सशंकित रहने लगी थीं।

राम यों तो बड़े ही दृढ़ व्यक्ति थे, पर भाव के आवेग ने उन्हें भी अछूता नहीं छोड़ा था। और देहधारी ऐसा कौन होगा जो भावावेग की प्रचण्ड आँधी में सुस्थिर खड़ा रह जाएगा? राम मानव-वेश में ही तो इस धरा-धाम पर उतरे थे; फिर वह समय-समय पर रोते-हँसते क्यों नहीं, राम-रोष का प्रचण्ड प्रभंजन उन्हें उड़ाता क्यों नहीं? हाँ, वहाँ पुरुषोत्तम थे, आदर्श मानव थे, और उन्होंने अपने सद्गुणों को, दृढ़ संयम की शक्ति से, अवश्य बहुत बढ़ा लिया था। फिर भी वह देहधारी मानव थे। रावण की शक्ति वह देख चुके थे, सीता के प्रति उसकी आसक्ति भी जान चुके थे, और सीता को उस लोलुप ने अपने अभेद्य गृह में बन्द कर रखा था; यह भी वह विश्वस्त रूप से सुन चुके थे।

फिर भी वह अपने भावों पर लगाम लगाए आ रहे थे—संयत, सुस्थिर और

विवेकवान् बने हुए थे। अतः धीरता से कलेजे की धड़कन को रोक कर उन्होंने सीता के आगमन की प्रतीक्षा की।

सीता पालकी पर, पर्दे के अन्दर, आ रही थीं, और गर्वीले पहरेदार वानरों की उत्सुक भीड़ पर, बाधा-विघ्न से झल्ला कर, कभी-कभी अपने डोलते डण्डे भी बरसा देते थे। राम दूर से यह सब देख रहे थे और रह-रह कर उनके अन्दर बैठी विजयोन्मादिनी हिंसा सगबगा रही थी। बड़ी दृढ़ता से उस विषाक्त सर्प को उन्होंने पिटारी में बन्द रखा; और आदेश दिया कि सीता को पैदल लाया जाए।

आदिकवि यहाँ उनके मुख से स्त्री की मर्यादा और पर्दे का सुन्दर विवेचन करवाता है। सती सीता को सब लोग माता की तरह भर-नयन देखें। स्त्री अपने आचरण और शील से ही सुरक्षित रहती है। और ये बन्दर-भालू तो राम के अपने आदमी थे, जिनके बल पर वह सीता का उद्धार कर सके थे—फिर वे उन्हें क्यों न देखें?...

बड़ी बहादुरी दीखती है राम की इन बातों में; पर ज्यों-ज्यों उनके मुँह से ये बड़ी-बड़ी बातें बरस रही थीं, त्यों-त्यों उनके अन्तर की आग भी सुलगती जा रही थी—जो हिंसा और राग-द्वेष की आँधी में, गुप-चुप, उनके अन्दर जा घुसी थी!

सिर झुकाए सीता राम के सामने आती गईं; और राम की अचल आँखों में रावण का रुधिर उभरता गया।

सीता पास पहुँच गईं; और उन्होंने दृष्टि ऊँची करके उस महापुरुष को देखा, जिसके लिए उन्होंने इतनी यातनाएँ झेली थीं। और देखते ही वह सन्न रह गईं—उस मुख पर तो ऐसा धुआँ फैला हुआ था, जो किसी भीषण ज्वालामुखी के आसन्न फूटने की सूचना दे रहा था!

"स बद्ध्वा भृकुटी वक्त्रे तिर्यक्प्रेक्षितलोचनः। अब्रवीत पुरुषं सीतां मध्ये वानररक्षसाम्॥"

जैसे सीता किसी ऊँची अदालत के कठोर कठघरे में आ खड़ी हुई हों, और वह घटाटोप न्यायाधीश उन्हें निश्चल-निष्ठुर नेत्रों से घूर रहा हो!

उसके बाद जो शब्द राम के मुख से निकले, वे किस सहृदय की मृदुल भावनाओं को भीषण निर्ममता से रौंद नहीं देते हैं!

"प्राप्त चारित्र सन्देहा मम प्रतिमुखे स्थिता। दीपो नेत्रातुरस्येव प्रतिकूलासि दृढम्॥"

सतीत्व की दीप-शिखा राम के सामने जल रही है, पर उसे देखकर रुग्ण नेत्र वाले राम की आँखें दुख रही हैं; और वह कह रहे हैं—तुम्हारा चरित्र सन्देहास्पद है!

क्या ये धर्मात्मा राम के वाक्य हैं—नहीं, यह तो निश्चय दुष्टात्मा रावण का प्रेत बोल रहा है, जो मर कर भी सीता का पीछा नहीं छोड़ना चाहता है; और वह भी उसी के मुख में जा घुसा है—जिसके लिए सीता ने प्रेम-प्रलोभन को बार-बार घोर तिरस्कार से ठुकरा दिया था!

हाय सीते ! हिंसा और राग-द्वेष किस मानव को दानव में नहीं बदल देते हैं ! इसीलिए तो तुमने हिंसा के मूलाधार उन भीषण शस्त्रास्त्रों का उतना विरोध किया था। लेकिन पराक्रमी पुरुष, अपने गुण-गौरव के गर्व में, नारी के सत्परामर्श को कब पहचान पाता है !-

रावण-विजयी राम अपने रोष के आवेग में उबलते ही चले गए—ठीक, बाँध जब कटा, तब प्रवाह रुके कैसे ?

सीता जहाँ चाहें, चली जाएँ; राम के सामने वह खड़ी क्यों हैं—दस दिशाएँ तो खुली हैं उनके लिए ! राम का अब कोई प्रयोजन नहीं रहा उनसे ! सुनतीं क्यों नहीं—"कार्यमस्ति न मे त्वया।"

राम अब मुख्य बात पर आते हैं :

"कः पुमान हि कुले जातः स्त्रियं परगृहोषिताम्। तेजस्वी पुनरादद्यात् सुहृल्लेख्येन चेतसा ॥"

जिस प्रतिष्ठित कुल में राम पैदा हुए थे, उसका उचित गर्व तो उन्हें करना चाहिए ही, फिर जो स्त्री दूसरे के घर में जाकर इतने दिन रह आई है, उसे वह सत्कुलीन राम पुनः कैसे अपना लें—उनकी कुल-मर्यादा नष्ट न हो जाएगी ?

हाय री पुरुष की कुल मर्यादा ! उसके सामने सती-साध्वी स्त्री का कोई मूल्य नहीं ! राम ने अपनी उस मूल्यवान् मर्यादा की रक्षा कर ही ली है, फिर सीता के प्रति अब वह किसी प्रकार की आसक्ति या औचित्य क्यों दिखाएँ :

"तदर्थं निर्जिता मे त्वं यशः प्रत्याहृतं मया। नास्ति मे त्वय्यभिष्वङ्गो यथेष्टं गम्यतामितः ॥"

रावण को मार कर ग्रह-ग्रसित अपने उस अमूल्य यश का उद्धार तो उन्होंने कर ही लिया है, फिर सीता के प्रति कोई अभिष्वंग (आकांक्षा) वह क्यों रखें ? अतः सीता जहाँ चाहें, चली जाएँ—राम के पास से तुरत दूर हो जाएँ।

नारी-निर्यातन का वह निर्णय राम ने खूब सोच-समझ कर किया है। अतः संस्कार के अत्यन्त ऊँचे स्तर पर उठ कर, सीता के लिए उदारता-पूर्वक वह कुछ उपाय भी बता देते हैं :

"लक्ष्मणे भरते वा त्वं कुरु बुद्धिं यथासुखम्।
सुग्रीवे वानरेन्द्रे वा राक्षसेन्द्रे विभीषणे ॥
निवेशय मनः सीते यथा वा सुखमात्मनः ॥"

राम सीता को अपने भाइयों के पास ही नहीं भेजते, उनको सुग्रीव और विभीषण के पास भी जाने की इजाजत दे देते हैं—जिस किसी के पास वह जाना चाहें, जिसके साथ उनका मन माने, शौक से चली जाएँ; रणोन्मत्त राम निरपेक्ष भाव से देखते रह जाएँगे। युगावतार वह उतना ऊँचा मानव, हिंसा की आँधी में पड़ कर, कितना नीचे उतर आया !

किन्तु वह मानवोत्तम वहाँ भी तो रुका नहीं; लुढ़का, तो लुढ़कता ही गया :

"न हि त्वां रावणो दृष्ट्वा दिव्यारूपां मनोरमाम् ।
मर्षयेत चिरं सीते स्वगृहे परिवर्तिनीम् ॥"

वह दुष्ट-दलन सीता की आँखों में आँखें डाल कर पूछ बैठते हैं—'कहो तो भला, क्या तुम अनुपम रूपवती नहीं हो ? और क्या उस दुष्ट रावण ने वासनात्मक दृष्टि से देख कर तुम्हें अपने घर में बन्द नहीं कर रखा था ? फिर वह लोलुप कब तक अपने को संयम की सीमा में रख सका होगा ?'

हाय रे पुण्यात्मा पुरुष ! क्रोध तुम्हें कहाँ से कहाँ उड़ा ले गया; और देखो तो तुम्हारे मुख को उसने कैसा विकृत बना दिया ! हनुमान् के द्वारा सीता ने तुम्हें अपने प्राणों की जो अवधि भेजी थी, उसे किस आसानी से तुम भूल गए, विजयी राम ! रावण को किसी प्रताड़िता नारी ने जो कभी अभिशाप दिया था, उसे तुम भले ही न जानते होगे, पर रावण से सीता ने जो अवधि दी थी, उसे तो तुम याद रखते—हनुमान् ने कितने मार्मिक शब्दों में उसे तुम्हारे सामने रखा था !

सारी पृथ्वी, सारा आकाश, सारी दिशाएँ, मुँह बाए देख रही थीं उस वात-हता अबला को; और वह हत-चेता खड़ी थी निष्ठुर नर-व्याघ्र के विकृत वक्त्र के सामने—जैसे वह पहचानने का प्रयत्न कर रही हो; उसे कौन गर्हित कर रहा है यों—यह राम है या रावण ?

एक मुग्धा नारी, जिसने यौवन के अरुणोदय में विस्मय-विमुग्ध वातायन से झाँक कर, जिस नर को अपना सर्वस्व आकुल अनुराग से समर्पित कर दिया, जिसके साथ छाया की तरह वह जंगल-पहाड़ों में भटकती रही, जिसके वियोग में धर्षित होकर भी, जिसने अपनी दृष्टि दूसरी ओर न फेरी; आज विजयोन्माद में आकर वही नर उसे यों दुत्कार रहा है—उसे यों लांछित कर रहा है, उसे यों निर्दयता से निकाल रहा है—दुनिया में दर-दर भटकने के लिए !

क्या हिमाचल भी इस आघात से स्थिर रह पाता; पर आश्चर्य—धरित्री की वह अद्भुत धीरा पुत्री अपना सन्तुलन न खो सकी; और बड़ी गम्भीर गरिमा के साथ उसने उस मदहोश को जवाब दिया :

'आह, कितने कठोर एवं क्रूर शब्द तुम कह गए एक महज मामूली आदमी की तरह ! लेकिन याद रखो—न तुम साधारण कोटि के नर हो, और न मैं ही निम्न श्रेणी का नारी हूँ ! ये अत्यन्त अयोग्य कथन हैं तुम्हारे ! मैं साधिकार घोषित करती हूँ, कि मैं वह नहीं हूँ, जिसका सन्देह तुम्हें हो रहा है ! मुझ पर श्रद्धा और विश्वास रखो—मैं अपने सतीत्व की शपथ खाती हूँ ! अगर कहीं किसी नारी ने कभी कोई अनुचित आचरण किया हो, तो क्या तुम समस्त स्त्री-जाति को उसकी तुला पर चढ़ा दोगे ? क्या तुम मुझे उसी रूप में पहचानते आये हो ? क्या एक शीलवान् पति अपनी सती-साध्वी पत्नी के साथ ऐसा ही अशोभन बर्ताव करता है ? रावण ने मेरा गात्र-स्पर्श किया. क्या केवल इसी से मैं गर्हित हो गई ? तो फिर सुन लो :

"यद्यहं गात्रसंस्पर्शं गतास्मि विवशा प्रभो। कामकारो न मे तत्र दैवं तत्रापराध्यति॥"

क्या मैं अपनी इच्छा से उसके स्पर्श में हुई थी? उसने बलात् मुझे उठा लिया था; क्योंकि ईश्वर ने मुझे वह शक्ति नहीं दी थी, कि मैं उसका सामना करती। इसमें तो विधाता का अपराध हो सकता है—मेरा नहीं। फिर भी तुम प्राकृत पुरुष की तरह अपनी निर्दोष पत्नी को फटकार रहे हो। नहीं, मैं वैसी नहीं हूँ।

"न तथास्मि महाबाहो यथा त्वमवगच्छसि। प्रत्ययं गच्छ मे येन चारित्रेणैव ते शपे॥"

हाड़-मांस के उस कोमल शरीर पर तो सचमुच ही सीता का कोई वश नहीं था। वश था उसका अपनी इच्छा और मन पर। सो उसके मन ने तो कभी पर-पुरुष को न चाहा, न उसके बर्ताव को ही सहन किया; और न एक क्षण के लिए राम को कभी भी भूल ही सकी! फिर उसकी यों भर्त्सना और दुर्गति क्यों की जा रही है! अगर राम उसे ठीक-ठीक जानते होते, तो फिर यह भी जानते कि उसकी शील-रक्षा के भागी भी वही हैं; क्योंकि:

"पृथक्स्त्रीणां प्रचारेण जातिं तां परिशङ्कसे।
परित्यजेमां शङ्का तु यदि तेऽहं परीक्षिता॥"

परीक्षा तो विवेक से होती है; और जब किसी का विवेक ही बावला बन गया हो, तब तो वह निम्न-से-निम्नतम धरातल पर ही उतरता दीख पड़ेगा!

राम दूर थे, पर रावण की रानियाँ तो दिन-रात सीता के साथ थीं—राम की विषाक्त बाण-सी बातें सुन कर वे भी हाहाकार कर उठीं; पर राम के बड़े-बड़े वीर वे वानर और भव्य भालू हत-बुद्धि, और नत-शिर होकर, सब-कुछ चुपचाप देखते-सुनते रह गए—अपने 'अराध्य' के उस अकाण्ड-ताण्डव को!

सीता ने अपने क्षुब्ध चक्षु चातुर्दिक् दौड़ाए। सारी सृष्टि को स्तब्ध देख कर वह स्थिति की गम्भीरता समझ गई; फिर अपने अन्दर झाँक कर उस निर्मल और निरुपम निष्ठावान् नारी ने अपने प्राणोपम सुरक्षित दिव्य सतीत्व को पुकारा—"तो आओ, अब तुम्हीं अपनी परीक्षा दो!"

वह 'सतीत्व' ही तो उसका सच्चा साथी था—जिसको उसने जीवन का 'सत्' समझा और जिसके ऊपर उसने अपना सर्वस्व न्योछावर कर दिया! तो वही अब उदीप्त हो उठे, और मूढ़ प्रपंच को बता दे कि सीता कैसी है!

अमल-अबला के आकुल अन्तर की आग धधक उठी; और उसके सात्विक क्रोध ने लक्ष्मण को पुकारा; क्योंकि क्रोध में आकर एक बार वह भी, आज के राम की तरह, अनर्गल प्रलाप कर चुकी थी पुत्रवत् उस परम विश्वासी देवर के सामने! उस अपराध का मार्जन भी उस सती को करना था सब के सामने, जिससे किसी का देना-पावना उसके जिम्मे रह न जाए— जीवन का हिसाब-किताब सब साफ हो जाए:

"चितां मे कुरु सौमित्रे व्यसनास्य भेषजम् ।
मिथ्योपघातोपहता नाहं जीवितुमुत्सहे ॥"

उठो, आज्ञाकारी वीर युवक ! निर्मल नारी इस मिथ्यावाद के आघात से कुचल गई है ! इसके लिए अब तुम अपने हाथों चिता रच दो, जिससे इसकी दुर्गति का अन्त हो जाए, और दुनिया देख ले कि आखिर विजयी कौन हुआ—नर या नारी ? झूठा कौन साबित हुआ— सीता या राम ? महान् कौन प्रमाणित हुआ—पत्नी या पति ?…

लक्ष्मण ने कलेजा थाम कर राम के स्थिर नेत्रों की ओर देखा; और फिर वज्र बन कर उसने सर्व-ग्रासिनी चिता प्रज्वलित कर दी ! सीता ने हाथ जोड़ कर उस दिव्यदीप्ति को प्रणाम किया; और फिर नयन मूँद कर उस धधकती ज्वाला में कूद पड़ीं !…

महान् आश्चर्य उपस्थित हुआ—जिसके आशीर्वाद से लंका की आलुलायित आग हनुमान् को लील न सकी थी; फिर यह चिताग्नि उस सती को कैसे जला पाती ? खुद दीप्रात्मा अग्निदेव सीता का हाथ पकड़े ज्वाला-जाल से निकले और राम के सामने आ खड़े हुए। और फिर सुस्थिर नेत्रों से राम को और उपस्थित जन-समूह को देख कर, चर-अचर को विस्मित करते, वह पावक-पुरुष गम्भीर स्वर में बोले :

"एषा ते राम वैदेही पापमस्यां न विद्यते । नैव वाचा न मनसा नैव बुद्ध्या न चक्षुषा ॥"

यह राम की वैदेही (विशेष देहवाली : अग्नि-प्रवेश के पश्चात् देह में कुछ विशेषता आ ही गई होगी ?) तन-मन-बुद्धि सब भाँति निष्पाप है।

इतना ही नहीं :

"प्रलोभ्यमाना विविधं तर्ज्यमाना च मैथिली । नाचिन्तयत तद्रक्षस्त्वद्गते नान्तरात्मना ॥"

क्रुद्ध होकर रावण ने इन्हें अपने अन्तःपुर में बन्द रखा, और दुष्ट दानवियों के द्वारा अनेक कष्ट तथा प्रलोभन दिए; फिर भी राम की चिन्ता में डूबी रहने वाली इस सती ने किसी की कोई परवा नहीं की।

अतः अन्त में उस विश्व-विभा विभावसु देव का आदेश हुआ :

"विशुद्धभावां निष्पापां प्रतिगृह्णीष्व मैथिलीम् ।
न किंचिदपि धातव्या अहमाज्ञापयामि ते ॥"

विशुद्ध भाव वाली तथा निष्पापा मैथिली को राम निश्चिन्त मन से अंगीकार करें—यह अग्निदेव का आदेश है !

इस अद्भुत दृश्य का महाप्रभु राम पर चाहे जो प्रभाव पड़ा हो, किन्तु सीता की सतीत्व-महिमा से त्रिभुवन पुलक-प्रकम्पित हो उठा; और उस विराट् जनमत के सामने संकुचित, विस्मय-विमुग्ध एवं आह्लादित अन्तर से राम को सिर झुकाना पड़ा।

अग्निदेव के वचन से उनका रोष-क्षोभ, शोक-सन्ताप, शंका-संकोच सब जल गया; और प्रहृष्ट होकर वह अपने अन्तर का मर्म खोलने लगे :

"अनन्यहृदयां सीतां मच्चित्तपरिरक्षिणीम् ।
अहमप्यवगच्छामि मैथिलीं जनकात्मजाम् ॥"

अब राम की दृष्टि में भी जनकात्मजा अनन्य-हृदया बन गई ! इतना ही नहीं, और कुछ भी :

"इमामपि विशालाक्षीं रक्षितां स्वेन तेजसा ।
रावणो नातिवर्तेत वेलामिव महोदधिः ॥"

जैसे सागर की लहरें अपनी सीमा का अतिक्रमण नहीं कर सकती हैं, स्वतेज से सुरक्षित सीता के प्रति भी रावण कोई अनाचार नहीं कर सकता था !

सीता के प्रति राम का गर्वातिरेक बढ़ता ही जाता है :

"न च शक्तः सुदुष्टात्मा मनसापि हि मैथिलीम् ।
प्रधर्षयितुमप्राप्यां दीप्तामग्निशिखामिव ॥"

उस अग्नि-शिखा की भाँति दीप्त (अग्निमें प्रवेश के बाद यह उक्ति कितनी सार्थक जान पड़ती है !) अलभ्या मैथिली के प्रति वह दुष्ट रावण मन से भी कोई अनाचरण नहीं कर सकता था !

थोड़ा और :

"विशुद्धा त्रिषु लोकेषु मैथिली जनकात्मजा ।
न विहातु मया शक्या कीर्तिरत्मिवता यथा ॥"

जो जानकी तीनों लोक में यों विशुद्धा घोषित हो चुकी हैं, और जो कीर्ति-रूपिणी हैं, उन्हें राम कैसे छोड़ सकते हैं ?

अतः जनानुमोदन के आगे वह नत-सिर होते हैं ।

"अवश्यं मया कार्यं सर्वेषां वो वचः हितम् ॥"

देखना है, राम को अपनी ये भली बातें कब तक याद रहती हैं !

"कह रघुबीर देखु रन सीता" :

सीता के सुख-सुहाग के दिन लौटे । अयोध्या लौटने की तैयारी हुई । लंकेश विभीषण पुष्पकविमान लेकर सेवा में उपस्थित हुए । राम ने अपने सहायकों को घर भेज देना चाहा, लेकिन वे तो अयोध्या जाकर राज्याभिषेक का समारोह देखना चाहते थे । अतः उनकी प्रीति देख कर रामने सभी अधिनायकों को भी उस बृहत् विमान पर चढ़ा लिया और फिर :

"सिंहासन अति उच्च मनोहर। श्रीसमेत प्रभु बैठे ता पर॥"

सीता के साथ खुद सबसे ऊँची और सुन्दर जगह पर जा बैठे। सीता जब उनकी बगल में बैठीं, तब उनकी शोभा कैसी हो उठी :

"राजत रामु सहित भामिनी। मेरु सृंग जनु घन दामिनी॥"

जैसे मेरु पर्वत के शिखर पर बादल और बिजली का खेल हो रहा हो।

वह रुचिर विमान आतुर होकर उड़ चला और सर्वत्र सुमन-वृष्टि होने लगी। परम सुखद समीर-लहरी चलने लगी और सागर-सर-सरिता का जल निर्मल हो उठा। विमान आकाश में ऊँचा उठने लगा; और चतुर्दिक् शुभ-सूचनाओं से संकुल हो गया। निर्मल नभोमण्डल में विचरण करते हुए सबों का मन प्रसन्नता एवं शुभाशा से भर गया।

विमान रण-क्षेत्र के ऊपर आया और राम ने सीता का ध्यान आकृष्ट किया :

"कह रघुबीर देखु रन सीता। लछिमन इहाँ हत्यो इँद्रजीता॥
हनूमान अंगद के मारे। रन महि परे निशाचर भारे॥
कुंभकरन रावन द्वौ भाई। इहाँ हते सुर मुनि दुख दाई॥"

सबसे पहले राम ने सीता को वह जगह दिखाई, जहाँ लक्ष्मण ने इन्द्रजीत को मारा था; फिर उन्होंने अंगद और हनुमान् की बहादुरी के स्थान दिखाए और अन्त में कुम्भकर्ण और रावण के वध-स्थल का दर्शन कराया। यहाँ राम के प्रति कवि का संयम, शील और मर्यादा भाव दर्शनीय हो उठा है।

अब पुष्पक सागर पार पहुँचा और राम ने, जहाँ सेतुबन्ध रामेश्वर की स्थापना की थी, सीता को दिखाया; साथ ही सीता से बिछुड़ने के बाद रामने जहाँ-जहाँ जंगल में निवास किया था, वे सब स्थान भी सीता को दिखा दिए।

विमान बड़ी तेजी में जा रहा था; तुरत दण्डक वन में जा पहुँचा, और राम ने अगस्त्यादि अपने पूर्व-परिचित मुनि-महात्माओं के पास जा-जा कर सबों से आशीर्वचन प्राप्त किए।

यहाँ मानस के मर्मज्ञ कवि ने अयोध्या जाने की त्वरा में एक परम आकर्षक दृश्य से, जाने क्यों, आँखें मोड़ ली हैं, जो सीता के सुमधुर स्वभावके साथ सम्बन्ध रखता है।

आदिकवि के पदानुगामी कंबन ने वैसी कृपणता नहीं दिखाई है।

विमान जब किष्किन्धापुरी के ऊपर पहुँचता है, और राम सीता से बालि-वध की चर्चा करते हैं, तब वाल्मीकि की सीता स्नेह-स्निग्ध होकर राम से कहती हैं :

"अब्रवीत्प्रश्रितं वाक्यं रामं प्रणयसाध्वसा।
सुग्रीव प्रिय भार्याभिस्तारा प्रमुखतो नृप॥

अन्येषां वानरेन्द्राणां स्त्रीभिः परिवृता ह्यहम् ।
गन्तुमिच्छे सहायोध्यां राजधानीं त्वया सह ॥"

विमान में सुग्रीव भी सवार थे, और राम ने उनकी कथा सीता को सुना दी थी। साथ ही हनुमान् से भी सीता ने सब-कुछ सुन लिया था। इसलिए उनका नारी-हृदय उमड़ उठा; और उन्होंने राम से प्रस्ताव कर दिया कि वह सुग्रीव की प्यारी स्त्री तारा आदि के साथ अयोध्या जाना चाहती हैं। राम ने सहर्ष उनका प्रस्ताव स्वीकार कर लिया।

कंबन उसमें कुछ और चोखा रंग भर देते हैं :

"If this be Kishkind, lord, oh list to me !
Encircled by this mighty martial force—
Which e'en the Devas dread—but circled not
By retenue of Countless damsels fair,
If I shall reach Ayodhya all alone,
My womanhood would greatly clouded be !
'Tis duty thine to take into this car
The Vanar damsels too !"

विमान में दुर्धर पुरुष-ही-पुरुष भरे थे। सीता अकेली स्त्री थीं उसमें—यह उन्हें अच्छा नहीं लग रहा था। वानरियाँ आ जाएँ, तो सबको प्रसन्नता होगी। वियोगी दम्पति मिल कर, सीता की तरह, परम प्रीत होंगे; और उनके बीच सीता का स्त्रीत्व और भी खिल उठेगा।

किन्तु मानस-स्रष्टा तुलसी को शीघ्र अयोध्या पहुँचना है; क्योंकि वहाँ भरत उँगली पर दिन गिन रहे होंगे, और राम के मन में उनके लिए कैसी व्यग्रता है, हमारा कवि इसकी मार्मिकता खूब पहचानता है। इसलिए वह विमान चित्रकूट में भी बहुत कम रुकता है; वहाँ के ऋषियों को संतोष देकर—"चला विमान तहाँ ते चोखा।"

राम ने जानकी को यमुना और गंगा के दर्शन कराए और उन्हें प्रणाम करने को कहा। फिर प्रयाग और त्रिवेणी के तट पर पहुँच राम ने सीता तथा सखा के साथ स्नान-दान किए।

शृंगवेरपुर पहुँच कर सीता ने गंगा की विशेष पूजा की और उस पुण्यतोया से अनूठा आशीर्वाद प्राप्त किया :

"सुंदरि तव अहिवात अभंगा।"

सती-साध्वी के लिए 'चिर सौभाग्य' से बढ़कर प्रिय आशीष और क्या होता ?

अयोध्या पहुँच कर जब सीता ने सासों के चरण छुए, तो उन्होंने भी वही आशीर्वाद दिया :

"होइ अचल अहिवात तुम्हारा ॥"

फिर सासों ने शीघ्रता से सीता को स्नान कराया और उनके अंग-अंग में दिव्य वसन-भूषण सजा दिए; और राम के साथ सिंहासनासीन करा कर :

"राम बाम दिसि सोभति रमा रूप गुन खानि ।
देखि मातु सब हरषीं जन्म सुफल निज जानि ॥"

सब माताएँ धन्य हो रहीं !

"निज कर गृह परिचरजा करई" :

राम राजा हुए और सीता राज-रानी हुईं । सुख-सम्पदा तथा सेवक-सेविकाओं की क्या कमी थी उनके लिए । कवि कहता है :

"जद्यपि गृह सेवक सेवकिनी । बिपुल सदा सेवा बिधि गुनी ॥"

चतुर दास-दासियों की तो विपुल सेना ही खड़ी रहती थी उनके सामने, फिर भी पति-सेवा के साथ-साथ वह अपने हाथों घर के काम भी कर लेती थीं । कवि के शब्दों में ही :

"निज कर गृह परिचरजा करई । रामचन्द्र आयसु अनुसरई ॥"

पति की सेवा तो वह करती ही थीं, उनके आदेशानुसार अपना आचरण भी बनाए रखती थीं—उनको सुखी रखना वह खूब जानती थीं :

"जेहि बिधि कृपासिन्धु सुख मानइ । सोइ कर श्री सेवा बिधि जानइ ॥"

सीता की सेवा पति तक ही सीमित न थी—वह सभी सासों की भी सुधि रखती थीं :

"कौसल्यादि सासु गृह माहीं । सेवइ सबन्हि मन मद नाहीं ।"

भला मान मद का स्थान ही कहाँ हो सकता था उस दीप-शिखा के सामने—जो चुपचाप जलता और सबको प्रकाश देना ही जीवन का लक्ष्य बना चुकी थी । कवि उसके स्वभाव पर बलि-बलि जाता है ।

सीता आदिशक्ति मानी जाती हैं, देवता भी जिनके कृपा-कटाक्ष के लिए तरसते रहते हैं, पर, जिन्हें अपने सेवा-व्रत के सिवा, किसी दूसरी ओर देखने की सुधि तक नहीं रहती है—उनकी बड़ाई कैसे की जाए !

हमारी विदुषी बहनें क्या नम्र होकर इससे कुछ सीख न सकेंगी ?

सीता के सुख-सुहाग के दिन अधिक नहीं कहे जा सकते हैं। तुलसी ने उनके जीवन की सार्थकता भोग-विलास में नहीं, प्रत्युत निष्काम सेवा-शुश्रूषा में दिखाई है। किन्तु आदिकवि ने राजरानी के भौतिक सुखोपभोग की भी कुछ झलक दी है। अयोध्या के विशाल अन्तःपुर में 'अशोकवनिका' नाम से सुरम्य उद्यान का निर्माण हुआ था। शायद सीता के संकेत से ही वह नाम पसन्द किया गया होगा; क्योंकि लंका के 'अशोक वन' की स्मृति साधारण तो थी नहीं—उनके सतीत्व की अग्नि-परीक्षा का भी तो वही रंगस्थल था। अतएव सीता ने उसे अपने राजमहल में भी अपना विश्राम-स्थल बनाया, जिससे वह अग्नि-परीक्षा उन्हें सदा याद रहे और राज-महल के भोग-ऐश्वर्य उनके पैर फिसला न पाएँ।

आदिकवि के शब्दों में :

"अशोकवनिकां स्फीतां प्रविश्य रघुनन्दनः। आसने च शुभाकारे पुष्पप्रकर भूषिते॥"

राम सीता के साथ पुष्पराजियों से भूषित उस 'अशोक वनिका' में प्रवेश करते हैं और सुन्दर आसन पर जा बैठते हैं। फिर :

"कुथास्तरणसंवीते रामः निषसादह।
सीतामादाय हस्तेन मधु मैरेयकं शुचि॥
पाययामास काकुत्स्थः शचीमिव पुरन्दरः।
मांसानि च सुमृष्टानि फलानिविविधानि च॥

राम ने मधु और मैरेय (एक प्रकार का पेय) के साथ सीता का सत्कार किया। यही नहीं, फल और मांस से भी उनका स्वागत किया गया।

तदनन्तर :

"रामस्याव्यवहारार्थं किङ्करास्तूर्णमाहरन्।
उपानृत्यंश्च राजानं नृत्तगीतविशारदाः॥
बालाश्च रूपवत्यश्च स्त्रियः पानवशानुगाः।
उपानृत्यन्त काकुत्स्थं नृत्यगीतविशारदाः॥"

संसार के कोने-कोने से नृत्य-गीतविशारदा-सुन्दरियाँ वहाँ जमा हुईं और मद-मत्त होकर राम और सीता का मनोरंजन करने लगीं।

"मनोऽभिरामा रामास्ता रामो रमयतां वरः।
रमयामास धर्मात्मा नित्यं परमभूषितः॥
एवं रामो मुदा युक्तः सीतां सुरसुतोपमाम्।
रमयामास वैदेहीमहन्यहनि देववत्॥"

यों राम ने सीता को नाच-गान, मान-मद, हाव-भाव, कथा-वार्ता के बीच रमाने का अविच्छिन्न आयोजन किया।

किन्तु सीता की प्रशान्त आत्मा को क्या वे राजसी भोग-विलास रुचते थे; क्या वह कभी अपने वन-जीवनको भुला सकीं?

इसका उत्तर यथा-स्थान मिल जायगा।

"सिय निंदक अघ ओघ नसाए":

तुलसीदास ने सीता-राम को सिंहासनासीन करके कथा का सूत्र वहीं तोड़ दिया है। उनके सीता राम चिर-काल के लिए जन-मानस के मंजुल सिंहासन पर विराजमान् हैं और 'रघुपति राजाराम' से अधिक मनोज्ञ स्पृहणीय रूप उनका 'पतित पावन सीता राम' हो गया है। और उस पद से उन्हें हटाया नहीं जा सकता है। 'मानस' की सृष्टि कवि ने इसी उद्देश्य से की है—कथा, कला और कविता को कवि ने अपने इस उद्देश्य की पूर्ति में साधन-स्वरूप ही अपनाया है, साध्य-रूप में नहीं।

रामायण के अधिकांश श्रद्धालु पाठकों में भी युद्धकाण्ड तक ही पारायण की परम्परा दृढ़तर देखी जाती है। किन्तु वाल्मीकि ने उत्तरकाण्ड में जाकर सीता का अत्यन्त अद्‍भुत वह पाताल-प्रवेश भी दिखा दिया है; और भवभूति ने उसी प्रसंग को पकड़ कर 'उत्तररामचरित' नाम का एक अद्‍भुत नाटक ही रच डाला है।

जैसे देखते-देखते भासमान सूर्य अस्त हो जाता है, सीता के सुख-सुहाग के वे दिन भी देखते-देखते सन्ध्या में विलीन हो गए। मातृत्वका मद-मोद-काल उनका आया ही था कि आदिकवि के राम बड़े स्नेह-सम्मान के साथ उनकी इच्छा की थाह लेने लग जाते हैं:

> "अब्रवीच्च वरारोहां सीतां सुरसुतोपमाम्।
> अपत्यलाभो वैदेहि त्वयि मे समुपस्थितः॥
> किमिच्छसि वरारोहे कामः किं क्रियतां तव।
> स्मितं कृत्वा तु वैदेही रामं वाक्यमथाब्रवीत॥"

सन्तान-लाभ का चिह्न सीता के शरीर में देख कर राम ने उनसे पूछा कि उनकी क्या इच्छा है, जिसकी पूर्ति राम करें। सन्तान के संकेत से सीता मन्द-मन्द मुसकुरा उठीं और फिर बोलीं:

> "तपोवनानि पुण्यानि द्रष्टुमिच्छामि राघव।
> गंगातीरोपविष्टानामृषीणामुग्रतेजसाम्॥"

सीता पुनीत तपोवन का दर्शन करना और गंगा-तट-वासी, फल-मूल-आहारी, उग्र तेज-पुंज ऋषियों का सान्निध्य-लाभ पाना चाहती हैं। राजमहल के राजभोग और उसके अप्राकृतिक जीवन से वह कुछ ऊबी-सी दीखती हैं, इसलिए फल-मूल

खाकर पेड़ों की छाया में सुख की साँस लेने की बलवती इच्छा उनके अन्तर में हल-चल-सी मचाए हुई है :

"फलमूलाशिनां देव पादमूलेषु वर्तितुम् ।
एष मे परमः कामो यन्मूलफलभोजिनाम् ॥
अप्येकरात्रिं काकुत्स्थ निवसेयं तपोवने ।
तथेति च प्रतिज्ञातं रामेण क्लिष्टकर्मणा ।
विस्रब्धा भव वैदेहि श्वो गमिष्यस्यसंशयम् ॥"

जानकी कम-से-कम एक रात भी तपोवन में निवास करें और प्राकृतिक आहार-विहार कर पाएँ—उनकी यह उत्कट इच्छा देख राम ने कल ही भेज देने की प्रतीज्ञा करके उन्हें निश्चिन्त बना दिया ।

हाय सीते ! राम का यह 'कल' ही तुम्हारे लिए 'काल' बन जाएगा ! तपोवन तुम्हें खींच रहे हैं, जाओ—लेकिन एक दिन के लिए नहीं, सदा के लिए जाओ; फिर इस अप्राकृतिक जीवन में लौटने का नाम न लेना, तपस्विनी !

जनता-जर्नादन के प्रतिनिधि राम के कानों में जानकी-सम्बन्धी प्राकृत जनों की काना-फूसी शायद कुछ पहले से ही पड़ती आ रही थी और वह सीता के निर्वासन का संकल्प मन-ही-मन कर चुके थे; क्योंकि जन-मत की अवज्ञा वह कर नहीं सकते थे—जनता की इच्छा पर सीता का उत्सर्ग वह अवश्य कर देंगे । उनका अवतार ही इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए हुआ था : सच्चे अर्थ में वह लोकनायक थे, लोक की इच्छा पर अपना सब-कुछ न्योछावर कर देना उनका सहज स्वभाव था । सीता संसार में उनकी सबसे प्रिय और सबसे अपनी थीं—आत्म-रूपिणी थीं; अतः उनका त्याग राम के लिए सबसे बड़ा त्याग था—किन्तु जनता की इच्छा पर वह क्या नहीं दे सकते थे !

तुलसी ने सांगोपांग, उस धोबी की कथा तो कहीं नहीं कही, पर प्रथम सोपान के प्रारम्भ में ही राम की महिमा गाते हुए उनके मुख से आखिर उसका संकेत निकल ही गया है :

"सिय निंदक अघ ओघ नसाए ॥"

वह धोबी ही सीता के निन्दकों का अगुआ था, जिसकी बात पर राम ने सीता-त्याग का संकल्प किया और तुरत लक्ष्मण को गुपचुप आदेश दे दिया कि सीता को वह वाल्मीकि-आश्रम के समीप छोड़ आएँ !

सीता इन हथकण्डों से अपरिचित थीं और सुकोमल भावनाओं की कुसुम-क्यारी में विचर रही थीं । क्या जानती थीं कि दोनों भाई मिलकर उनको यों धोखा देंगे । निश्चिन्त मन से रथारूढ़ होकर वह गंगा-तट पर आईं और रथ से जब उतरीं, तब लक्ष्मण उनके चरण पकड़ कर रोने लग गए । सीता चौंक उठीं; और लक्ष्मण के मुँह से सब-कुछ सुनकर मिट्टी में गढ़ गयीं—जैसे सहसा किसी ने पीछे से उनकी पीठ

में छुरा भोंक दिया हो। लेकिन वह वीर नारी थीं, और अब तक बहुत-कुछ झेल चुकीं थीं। अविश्वास का यह पहला आक्रमण तो था नहीं उन पर—इसके पहले भी तो वह धधकती ज्वाला में डाल दी गई थीं अपने लोगों के द्वारा। अतः उन्होंने अपने अन्तर की बिखरी शक्तियों को समेटा और सामने खड़ी जीवन जटिल समस्याओं के प्रति लक्ष्मण का ध्यान आकृष्ट करने लगीं। सबसे बड़ी समस्या थी सामाजिक मान-मर्यादा वाली, जिसके बिना समाज-जीवी मानव जी नहीं सकता है। सीता सामान्य स्त्री तो थीं नहीं, समाज में उनका एक विशिष्ट स्थान था। किष्किन्धा में बालि-वध, सागर में सेतु-बन्ध, लंका में रावण-वध—इतने महान् काण्ड उनकी सम्मान-रक्षा के लिए किये गये थे! अतः विश्व में उनका नाम विख्यात बन गया था। दिगन्त-व्यापी धूम-धाम, उत्सव-उल्लास के बीच उन्हें राजरानी बनाया गया था। फिर आज गुपचुप वह यों अकेली घर से क्यों निकाल दी गई हैं इन तपोवन में? हाँ, तपोवन देखने की इच्छा उन्होंने अवश्य प्रकट की थी, पर वह तो मुनि-महात्माओं के लिए बहुत-कुछ लेकर ससम्मान यहाँ आना चाहती थीं। यों अकेली देख कर ऋषि-मुनि जब उनसे इस आकस्मिक निर्वासन का कारण पूछेंगे, तब उन्हें क्या जवाब देगी यह अभागिनी अबला और कैसे रहेगी उनके सामने? वाल्मीकि की वाणी में :

"सा कथं ह्याश्रमे सौम्य वत्स्यामि विजनीकृता।
आख्यासामि च कस्याहं दुःखं दुःखपरायणा॥"

किससे अपना दुःख कहेगी यह दुःखिनी नारी? और जब :

"किं नु वक्ष्यामि मुनिषु कर्म चासत्कृतं प्रभो।
कस्मिन्वा कारणे त्यक्ता राघवेण महात्मना॥"

साधु-सन्तों को सताने वाले आततायी निशाचरों का समूल नाश करके उन ऋषियों की दृष्टि में राम अब महाराज से 'महात्मा' भी बन गए हैं। वैसे महात्मा राम ने उन्हें घर से क्यों निकाल दिया? क्या जवाब देंगी सीता उन जटा-जूटवालों को? इस अपमान से तो उनके लिए गंगा में डूब जाना श्रेयस्कर दीखता था; पर राम का राजवंश उनमें धरोहर हो चुका था—उसे कैसे वह नष्ट होने दें? मूढ़ा तो वह थीं नहीं, जो आगा-पीछा न सोचतीं। राम भले ही उन्हें भूल जाएँ, पर सीता उन्हें कैसे भूल सकती हैं? अतएव जाह्नवी के जल में डूबने का विचार उन्होंने छोड़ दिया :

"न खल्वद्यैव सौमित्रे जीवितं जाह्नवीजले।
त्यजेयं राजवंशस्तु भर्तुर्मे परिहास्यते॥"

सीता समझदार स्त्री थीं। अपने अगम्य कष्टों के लिए वह दूसरे को दोष क्यों दें—क्यों न लक्ष्मण उन्हें भाग्य के भरोसे छोड़ कर चले जाएँ राम के पास! सीता के भाग्य में जो होगा, साहस के साथ क्यों न वह उसका सामना करें? हाँ, लक्ष्मण लौट जाएँ और अयोध्या के राज-प्रासाद में जाकर उनकी ओर से राज-माताओं तथा राजा के चरण छुएँ तथा उनका यह अन्तिम सन्देश राम के कानों में डाल दें :

"जानासि च यथा शुद्धा सीता तत्वेन राघव।
भक्त्या च परया युक्ता हिता च तव नित्यशः ॥"

राजा राम खूब जानते हैं कि सीता कैसी हैं—उनके शुद्ध सतीत्व, परम अनुरक्ति तथा हित-कामना का भी गहरा विश्वास उनके हृदय में है; फिर भी उन्होंने जनापवाद के कारण उनका त्याग कर दिया है ! सीता उनकी इस कायरता तथा कीर्ति-कामना से खूब परिचित हैं। किन्तु राम यह भी न भूलें कि जिस तरह उन्हें प्रजा प्यारी है, भाई प्यारे हैं, उन सबसे अधिक सीता के प्यारे हैं राम। अतएव राम अपनी कमनीय कीर्ति की रक्षा करें, अपनी प्यारी प्रजा को प्यार करें, धर्म और विवेक से उनका पालन करें; सीता भी अपनी चिन्ता भूल कर नित्यशः राम की शुभकामना करती रहेंगी—जो भी उनके ऊपर आएगा, दृढ़ता से सब सहन करती जाएँगी, क्योंकि वह अपना कर्तव्य पहचानती हैं :

"पतिर्हि देवता नार्याः पतिर्बन्धुः पतिर्गुरुः।"

अतः प्राणों से भी बढ़कर सीता को अपने स्वामी का कार्य प्रिय है :

"प्राणैरपि प्रियं तस्मात् भर्तुः कार्य विशेषतः।"

सीता ने जीवन के प्रभात में ही अपना जो लक्ष्य स्थिर किया, खूब सोच-समझ कर अपने को समर्पित कर दिया पति-रूपी उस राम में; तब से अपने उस लक्ष्य को, अपने विश्वास और प्रेम के प्रतीक उस परम पुरुष राम को, और उनके प्रति अपनी शुभकामना को वह कभी नहीं भूलीं और न कभी भूलेंगी—वह पुरुष उन्हें भले ही तिरस्कृत कर दे !

सीता ने पहले राम की कमजोरी देखी, उनकी यशोभिलाषा पहचानी, प्रजा के प्रति उनकी गहरी अनुरक्ति को परखा और उनके अन्तर में घुसकर वहाँ अपना निश्चल और निश्छल रूप भी निरखा; और फिर पति के परमार्थ में पत्नी के उत्सर्ग को आवश्यक समझकर, निश्चिन्त मन से, उन्होंने नियति का हाथ पकड़ लिया—'तो, अब ले चलो, देवी, तुम्हीं मुझे अपने निर्देश पथ पर ! दुनिया मुझे भले ही छोड़ दे, पर तुम तो मुझे नहीं छोड़ सकती—तुम, जो मेरे ही कर्मों की अगम्य अगोचर आत्मा हो !'

तो अब, सीता के जीवन-नाटक का वह अन्तिम पर्दा भी उठा दिया जाय, जिसके सामने विश्व-वाङ्मय के समस्त दुःखान्त दृश्य संकुचित होकर सिर झुका लेते हैं !

अश्रु-स्नाता और अनाथा सीता को देख कर असीम सहृदय विराट् वाल्मीकि-मुनि बड़ी ममता और मर्यादा से उन्हें अपने आश्रम में ले गये। वहाँ जानकी की कोख से लव और कुश नामक वीर-धीर, सदाचारी तथा यशस्वी यमज पुत्र पैदा हुए। कवि-

कोविद वाल्मीकि ने सीता के उन दोनों प्रतिभाशाली पुत्रों को पुत्रवत् लालन-पालन किया, मनोयोग से उन्हें पढ़ाया-लिखाया, समुचित शिक्षा-दीक्षा दी, सब प्रकार की कला में उन्हें कुशल बना दिया। तब तक उनका वह अद्भुत महाकाव्य (रामायण) भी पूरा हो चुका था; अतः आदिकवि ने उसके सस्वर गान का अभ्यास भी उन्हें कराया। जब वे दोनों सीता-सुत उस काव्य का गान करते, तो कवि अपनी सुध-बुध भूल जाता था—ऐसा ललित और मधुर कण्ठ था उन दिव्य-कान्त किशोरों का।

सीता के वे दोनों पुत्र बढ़ने लगे; और उनके साथ वाल्मीकि की चिन्ता भी तीव्र होने लगी—कैसे इन धूल-भरे हीरों को वह राज-मुकुट में जड़ दें!

उसी समय सम्राट् राम ने अश्वमेध-यज्ञ का समारम्भ किया और सब प्रकार के विधि-निषेध की, सब तरह के अनुनय-अनुरोध की, सब प्रकार के गुरुजन-प्रजाजन की इच्छा-अनिच्छा की, उनके प्रस्ताव-प्रार्थना की उपेक्षा करके—किसी दूसरी ओर दृष्टि न दौड़ा कर—अपने अन्तरतम से सीता की सुरक्षित पावन-स्मृति को निकाला और उसे स्वर्ण-प्रतिभा में प्रतिष्ठित करके अपने वामांग में बिठा लिया—बिना पत्नी के यज्ञ जो सम्पन्न नहीं होता!

वाल्मीकि के कानों में जब यह शुभ समाचार पहुँचा, तब उनके हृदय की कली खिल पड़ी; बस, उन्होंने अपने साथ अपने उन दोनों प्रिय शिष्यों को भी लिया, जिन्होंने अयोध्यापुरी के प्रांगण को रामायण के अपूर्व गान से गुँजा दिया। गान—और रामायण का गान, सो भी प्रतिभा-पुत्र किशोरों के कोमल कण्ठों से निकला हृत्तल-स्पर्शी वह मधुर गान—सारी नगरी उत्फुल्ल, उत्सुक, उन्मुख होकर साधुवाद करने लगी!

राम के कानों में भी वह सुखद समाचार पहुँचा और उन्होंने भी ऋषि-मुनियों के साथ बैठकर आग्रह-पूर्वक कई दिन तक वह अपूर्व काव्य-गान सुना :

"रामो बहून्यहान्येव तद्गीतं परमं शुभम्।
शुश्राव मुनिभिः सार्धं पार्थिवैः सह वानरैः॥"

केवल मुनि-महात्मा ही नहीं, वानर-वृन्द और राजा लोग भी राम के साथ बैठे थे। फिर उन युवकों का यथार्थ परिचय प्राप्त कर राम ने परिषद् में प्रस्ताव रखा :

"दूतान्शुद्धसमाचारानाहूयात्मामनीषया।
मद्वचो ब्रूत गच्छध्वमितोभगवतोऽन्तिके॥"

महाभाग वाल्मीकि मुनि के पास सुदक्ष दूत भेजे जाएँ। वे राम का सन्देश उन्हें सुना दें; साथ ही वे दूत मुनि और सीता के मनोभाव भी जान जाएँ।

राम का सन्देश था :

"यदि शुद्धसमाचारा यदि वा वीतकल्मषा।
करोत्विहात्मनः शुद्धिमनुमान्य महामुनिम्॥

छन्दं मुनेश्च विज्ञाय सीतायाश्च मनोगतम्।
प्रत्ययं दातु कामायास्ततः शंसत मे लघु॥"

अगर सब अनुकूल हो, तो सीता कल ही प्रातः परिषद में आ जायँ और शपथ खाकर अपनी शुद्धता प्रमाणित करें :

"श्वः प्रभाते तु शपथं मैथिली जनकात्मजा।
करोतु परिषन्मध्ये शोधनार्थं ममैव च॥"

हाय, पुरुषों की परिषद् के बीच खड़ी होकर अग्नि में तपाई निरीह नारी कब तक अपनी सफाई पेश करती रहेगी! सहन करने की भी तो एक सीमा होती है! क्या सीता का आत्म-सम्मान महाराज राम के इस सन्देश का स्वागत करेगा : और अगर अपनी कोई चिन्ता न करने वाली वह असीम क्षमामयी वैदेही परिषद् में आ भी जाएँ, तो क्या पारदर्शी प्रकृति को यह सब बर्दाश्त होगा—क्या वह सतीत्व की उस दीप-शिखा को पुनः उस कठोर पुरुष के पगतल में पड़ने देगी?

राम के दूत महामुनि के पास पहुँचे। सब बातें सुनकर वाल्मीकि ने कहा—'ठीक है, सीता वही करेगी, जैसा राम चाहते हैं। क्योंकि "दैवतं हि पतिः स्त्रियाः"—वह पति-परायणा तो हैं ही।

दूत समाचार लेकर लौटे और राम ने परिषद् में घोषणा की :

"पश्यन्तु सीता शपथं यश्चैवान्योपि कांक्षते।"

ऋषि-मुनि अपने शिष्यों के साथ और राजा लोग अपने पार्षदों के साथ कल प्रातःकाल यहाँ आ जाएँ—जो सीता की शपथ देखना चाहते हों!

प्रातःकाल परिषद् भर गई—महान् कुतूहल के कारण दूर-दूर से मुनि-महात्मा, पंडित-पामर, वानर-राक्षस सब-के-सब उमड़ पड़े। वाल्मीकि के पीछे-पीछे अधोमुखी शोकाकुल सीता भी आई; और उनको देखते ही परिषद् साधुवाद के निनाद से गूँज उठी :

"साधु रामेति केचित्तु साधु सीतेति चापरे।"

तदनन्तर वाल्मीकि उठे और बोले :

"इयं दाशरथे सीता सुव्रता धर्मचारिणी।
अपवादात्परित्यक्ता ममाश्रमसमीपतः॥"

सीता सुव्रता और धर्मचारिणी हैं,—महामुनि इसके साक्षी हैं। फिर भी राम चाहें तो, वह शपथ भी खाएंगी। तत्पश्चात् असीम संवेदनशील उस महान् मानव ने स्वयं उत्कट शपथ खाकर कहा :

"इमौ तु जानकीपुत्रावुभौ च यमयातकौ ।
सुतौ तवैव दुर्धर्षौ सत्यमेतत् ब्रवीमि ते ॥"

वाल्मीकि ने यह भी बता दिया कि सीता की शुद्धता को मर्मभेदिनी दृष्टि से परख कर ही उस तपः-पूत आत्मा ने उन्हें वन-निर्झर से उठा कर अपने आश्रम में रखा था । वह तो यहाँ तक कहने को तैयार हैं कि अगर सीता 'दुष्टा' हों, तो उस महामुनि की दीर्घकालीन तपस्या नष्ट हो जाए—उसका कोई सुफल उनको न मिले : और अगर सीता "अपापा" हों, तो उनकी सकल साधना सिद्ध हो जाए ।

उस महामुनि की ये श्रद्धा-युक्त बातें सुन कर सारी सभा स्तब्ध रह गई; और सब की आतुर दृष्टि सीता की ओर से उठ कर राम की ओर दौड़ पड़ी—देखें, अब ये महाराज क्या कहते हैं !

अब राम का भी बोल फूटा—जैसे एक बार लंका में अग्निदेव के सामने फूटा था । उन्होंने वाल्मीकि के कथन को सच्चा माना और उसे भी जी भर कर सराहा । फिर लोकोपवाद का कारण बता कर शुद्धा सीता के त्याग के अपराध के लिए उन्होंने उस महामुनि से क्षमा भी माँगी :

"सेयं लोकभयात् ब्रह्मन् पापेत्यभिजानता ।
परित्यक्ता मया सीता तद्भावान्क्षन्तुमर्हति ॥"

इसके बाद राम ने अपने पुत्रों के प्रति भी गूढ़ विश्वास प्रकट किया :

"जानामि चैमौ पुत्रौ मे यमजातौ कुशीलवौ ।
शुद्धायां जगतौ मध्ये मैथिल्यां प्रीतिरस्तु मे ॥"

राम जानते हैं कि ये दोनों उन्हीं के पुत्र हैं । अतः संसार में परम शुद्ध जानकी के प्रति उनकी प्रीति चिरप्रतिष्ठ रहे । यह कह कर उन्होंने परिषद् की ओर मर्म-पूर्ण दृष्टि से देखा । परिषद् चकित थी ।

राम का रुख देख कर सभा में तब तक अपर लोक-वासी असाधारण व्यक्ति भी आकर उपस्थित हो गए थे—पितामह (ब्रह्मा) को आगे करके सब गण्य-मान्य देव-वृन्द, आदित्य, वसु, रुद्र, मरुत, नाग, सुपर्ण और सिद्धगण भी आ जुटे थे । सब को मौन-मुग्ध देख कर रामचन्द्र ने पुनः वाल्मीकि के वचनों में अपना विश्वास प्रकट किया :

"प्रत्ययो मे नरश्रेष्ठ ऋषिवाक्यैरकल्मषैः ।"

और मंत्रवत् अपनी निगूढ़ अन्तर्ध्वनि से दिक्-दिक् को पुनः प्रतिध्वनित कर दिया :

"शुद्धायां जगतो मध्ये वैदेह्यां प्रीतिरस्तु मे ।"

शुद्धा सीता में उनकी प्रीति अचल रहे।

जगत् के एक परम विशुद्ध व्यक्ति महामुनि वाल्मीकि, वर्षों के निरीक्षण-परीक्षण के बाद, सीता को शुद्ध बता रहे थे, दूसरे राम ही थे—जिन्होंने जान-बूझ कर भी अपराध किया है, तीसरे व्यक्ति सीता ही थीं—जिन पर जनता ने गर्हित आक्षेप किया था। अब सीता को अपनी सफाई में क्या कहना है, यह सुनने को वह 'महा-सभा' साँस रोके बैठी थी।

अतः काषाय-वस्त्र-धारिणी, अधो दृष्टि और अवाङ्मुखी सीता, हाथ जोड़े, आगे आईं। उनके आते ही सहसा सारी सभा उत्सुक और उद्ग्रीव हो उठी। शुचि-शीतल गन्ध-मुग्ध समीरण चंचल होकर सबको आह्लादित और पुलकित बनाने लगा।

आगे आकर भूमिजा सीता ने किसी ओर नजर न उठाई, केवल अपने अन्त-स्तल में झाँका; और फिर धरित्री-देवी को साक्षी रख कर, अन्यमनस्क मुद्रा से अपने सतीत्व को तीन बार प्रमाणित किया :

"यथाहं राघवादन्यं मनसापि न चिन्तये।
तथा मे माधवीदेवी विवरं दातुमर्हति॥"

राम के सिवा सीता ने अपने मन से भी किसी अन्य पुरुष की चिन्ता न की हो, तो माधवीदेवी उन्हें अपनी गोद में उठा लें।

"मनसा कर्मणा वाचा यथा रामं समर्चये।
तथा मे माधवीदेवी विवरं दातुमर्हति॥"

अगर मन,वचन और कर्म से उन्होंने राम की अर्चना-आराधना की है, तो माधवीदेवी उन्हें अपने अंक में शरण दें।

"यथैतत्सत्यमुक्तं मे वेद्मि रामात्परं न च।
तथा मे माधवीदेवी विवरं दातुमर्हति॥"

अगर सीता का यह कथन सत्य है, कि राम के अतिरिक्त वह तत्त्वतः और किसी को नहीं जानती हैं, तो माधवीदेवी अपना द्वार खोल दें, जिससे सताई सीता उनके पास पहुँच जाएँ।

सीता के इस अभूतपूर्व आत्मोत्सर्ग का अन्य उदाहरण, वसुधा के विशाल अञ्चल में, और कहाँ मिलेगा? वह दिङ्मूढ़, राजपरिषद् शायद सीता की शपथ का मर्म न समझ सकी हो, पर माँ अपनी पुत्री की पुकार पर निरपेक्ष कैसे रहती? तब हुआ वही, जो आए-दिन अबलाओं के आँगन में प्रायः घटता रहता है : पुरुष-प्रपंच की चक्की में पिसती हुई जैसे अनगिनत निरीह नारियाँ, नीरव रहकर, अपना अस्तित्व मिटाती रहती हैं—कोई धधकती आग में जलकर, कोई गहरे पानी में डूबकर, कोई गले में पतली रस्सी बाँधकर, कोई कुछ कड़वी चीज खाकर, तो कोई हथेली पर जान लिए अन्धकार की आड़ में कुल-गली से निकल भाग कर!

किन्तु सीता वैसी आत्म-शून्या तो थीं नहीं, उन्हें अपनी शक्ति और शील पर अटल विश्वास था। जब रावण उन्हें डरा न सका, तब अयोध्या के मूढ़ जनापवाद से वह क्या डरतीं! लेकिन कष्टसहन करते-करते, और पतिदेव के बार-बार कठोर बर्ताव से, वह अन्तरतम से क्षुब्ध हो उठी थीं। कितना प्रमाण दें, कितनी शपथ खाएँ, कितनी बार अग्नि-परीक्षा दें; और किस-किस के सामने! अतः अपने को मिटा ही देने का दृढ़ संकल्प कर उन्होंने पारदर्शिनी प्रकृति को पुकारा—"तो आओ माँ; अब तुम्हीं मुझ अभागिनी को अपना लो!"

महान् आश्चर्यजनक दृश्य उपस्थित हो गया उस विशाल और विशिष्ट जन-समूह के सामने। वह शपथ समाप्त होते-होते धीरा-धरा डोली और ठीक सीता के पगतल की जमीन फट गई। उसमें से एक देदीप्यमान सिंहासन निकला, जिसे विशाल विषधर अपने फैले फणों पर उठाये हुए थे। उस सिंहासन पर दिव्या माधवीदेवी बैठी थीं, उन्होंने आदर और आतुरता से सीता को अपने बाहु-पाश में बाँधा; और फिर सिंहासन पर बिठाकर साभिनन्दन उन्हें अपने साथ ले गईं। और तब:

"तामासनगतां दृष्ट्वा प्रविशन्तीं रसातलम्।
पुष्पवृष्टिरविच्छिन्ना दिव्या सीतामवाकिरत्॥"

सर्व-साक्षी प्रकृति ने, अवारित पुष्प-वृष्टि करके, सीता के प्रति अपना आकुल अभिनन्दन प्रकट कर दिया; जैसे मौन वाणी में सर्वज्ञा सृष्टि—श्री ने सुमनांजली से उसके अमल आँचल को भरकर शुभाशीष के साथ बिदा कर दिया हो—"जा, बेटी, जा—अपनी ममतामयी माँ के पास चली जा! जाने क्यों तू इस अजनबी जगत् में भटक आई थी? भला यह विचित्र पुरुष-प्रपंच क्या तेरे रहने लायक था—जहाँ अच्छाई आँखों में अखरती है, जहाँ शक्ति अकारण ही आक्रमण के लिए आकुल रहती है, जहाँ सौन्दर्य को चोंच मारकर चखा जाता है, जहाँ सतीत्व शङ्का की दृष्टि से देखा जाता है, जहाँ आर्ष-प्रमाण के पश्चात् भी शपथ खाने की जरूरत रह जाती है! और जहाँ आत्म-विश्वास और अन्तःसाक्ष्य को बाजार के बोल पर बेच दिया जाता है, और जहाँ अन्तर की आकुल माँग को सस्ती लोक-प्रियता की लालसा पर उत्सर्ग कर देना महत्त्व बन जाता है!

"बेटी, तूने यहाँ मानव की महत्ता और दानव की दुष्टता दोनों का भरपूर स्वाद लिया, प्रेम और वासना का नंगा नाच देखा, यहाँ निरीह नारी को डिगाने के लिए प्रलोभनों के पहाड़ ही खड़े नहीं किए जाते, गर्वीले सिर भी चरण-तल में चढ़ा दिये जाते हैं! एक की इच्छा पर तूने यहाँ अनन्त का बलिदान देखा, अहिंसा के नाम पर असि-झंकार के बीच असंख्यों का रक्त-स्राव देखा! आग में जल कर, आँसुओं से धुलकर, तपस्या से तप कर भी जहाँ तू पामरों के पाप-ताप के आरोप से मुक्त न हो सकी, बेटी, इस नादान नर-लोक में तू क्यों चली आई थी?

"जा, बेटी, जा; अपनी माँ की गोद में जाकर कुछ सुख की साँस तू ले आइ,

कितना सहा तूने इस लोक में—अब और क्या, देखना है तुझे यहाँ ? अब तो देखने दे उन मूढ़ मानवों और उनके नरोत्तम नायकों को यह अपार्थिव दृश्य और सोचने-समझने दे इसका अगम्य रहस्य। देख न—कैसा विभ्रम विषादपूर्ण और व्याकुल हो रहा है यह लोक और उसका यह प्रजा-पालक तेरे इस पाताल-प्रवेश से !

"लेकिन, भूमिजा, यह न भूल जाना कि इस पुरुष-पाखंडमें भी कुछ ऐसे हृदय-वान् हैं, जो तुझे पाताल लोक से उठा लाकर पुनः इस पश्चात्तापपूण पृथ्वी पर, बड़े समारोह के साथ, प्रतिष्ठित कर देंगे; और युग-युग के मानवों के कोटि-कोटि कण्ठों में तेरा यह पावन नाम अनन्त काल तक अहर्निश गूँजता रह जायगा !

कीर्ति-कामी और जनापवाद-भीरु राम ने तुझे त्याग दिया; पर देखती नहीं, तेरा यह पुलकाकुल भक्त, वह विराट् वासना वाला वाल्मीकि तेरी ओर किस करुणा, किस श्रद्धा और किस आह्लाद से देख रहा है ! कल्पना, कला और संवेदना का वह अगाध आलोक-सागर क्या तुझे अमर बनाए बिना रहेगा ? और बेटी, यह भी न भूलना कि वह वाल्मीकि भी, 'पुरुष' ही कहा जाता है : इससे तू पुरुष-मात्र से रुष्ट न हो जाना !

"और भारत की ये असंख्य अबोध अबलाएँ—बेटी, क्या तेरी ये सरल-हृदया सजातीया तेरा नाम कभी भूल सकेंगी, कभी अपने हृदयासन से तुझे उतार सकेंगी, कभी तेरी ओर से अपने सजल नयन हटा सकेंगी ? नहीं, सीते, विश्वास रख, तूने अपने अमल-धवल आचरण से अग्नि सम अपने ज्वलन्त तेज से, हिमाचल से भी ऊँचे और अम्बुधि से भी अधिक अपने ज्ञान, विवेक, आस्था, निष्ठा, धैर्य, शील, उदारता, मधुरता, सहनशीलता तथा सतीत्व के प्रखर प्रकाश-पुंज में जिस पुण्य-पथ को प्रशस्त किया है, जीवन के आँधी-तूफान में गिरते-पड़ते भी, विह्वल हृदय से, आकुल आकांक्षा से वे उसी ध्रुव की ओर दृष्टि गड़ाए चलती रहेंगी !

"अनन्य-मना बेटी, और तेरा वह हृदय-सर्वस्व, वज्रवत् कठोर राम—जरा उसकी ओर भी अन्तर्दृष्टि से देख ले; यह सच है कि उस महापुरुष ने तेरे प्रति जान-बूझकर अक्षम्य अपराध किए हैं, पर है तो वह तेरा ही मनोनीत प्रिय पति ! यह भी याद रख, बेटी, कि कितने गहरे अनुराग और आकुल आतुरता से तूने उसे अपनाया था; और यह भी न भूल, वैदेही, कि उस निगूढ़ प्रेमी ने तेरे सिवा किसी अन्य अंगना पर स्वप्न में भी आँख नहीं उठाई है—तुझमें ही अपनी अचल प्रीति की मूर्ति प्रतिष्ठित की है ? सुनी थी न, मैथिली, तूने शपथ के समय की राजसभा में की गई उस अपने अपराधी की वह आकुल घोषणा :

"शुद्धायां जगतो मध्ये मैथिल्यां प्रीतिरस्तु मे।"

"अनुरोध है, पुत्रिके ! चाहे सब-कुछ भूल जाना, पर राम की वह घोषणा तू कभी न भूलना : वही तेरा शास्वत सम्बल है; उसी के बल पर तू त्रिभुवन और त्रिकाल में अमर रहेगी। उसके साथ यह भी याद रहे कि राम की सच्ची शक्ति

है सीता। तेरे ही सतीत्व के अप्रतिम तेज से तेरे उस प्रियदर्शन राम ने दुष्ट दानवों पर विश्व-वंद्य विजय प्राप्त की थी। यह भी याद रखना, सीते, कि 'नर' नामधारी जीव तो अपने आप में सहज दुर्बल होता ही है—दरअसल नारी ही उसकी अपराजिता शक्ति होती है। बेटी, तू पुरुष राम की वही पराशक्ति है। अतः दाम्पत्य-धर्म—एक मन दो तन—के नाते तू उस नर की दुर्बलता भी भूल जाना!

"बेटी, कैसा अच्छा किया तूने कि शपथ खाकर पुनः उस दुर्बल पुरुष की बगल में बैठने का लज्जास्पद लोभ तूने नहीं दिखाया! संसार की समस्त स्त्री-जाति तेरे इस अनुपम अलोभ के लिए तुझे साधुवाद देती है, तूने उनके स्वाभिमान की बड़ी सावधानी से रक्षा कर दी!

"मैथिली, सोचा होगा अयोध्या की उस अभिमानी राज-सभा ने कि 'राजरानी' बनने का प्रलोभन तुझे उन दंभियों के पगतल में पटक देगा; और फिर व्यंग्य और विनोद के बीच, तेरे स्वाभिमान को कुचलते, उदारतापूर्वक सिंहासन पर बैठने की आज्ञा देकर, वे मूढ़ तुझे चिर-कृतज्ञ बना लेंगे। उन गर्वान्धों के उस कृच्छ्र-कृपा-कण के बदले, तूने विवर-दान के लिए जो माधवी देवी को पुकारा, बेटी, उससे सारी वसुन्धरा धन्य हो गई और तेरा स्वाभिमान सारी प्रकृति का सम्मान बन गया!..."

तो अब जाओ, अभिमानियो, अपनी आराध्या नारी को, अपना-सा मुँह लिए लौट जाओ। अब व्यर्थ के इस रुदन-क्रन्दन, रोष-क्षोभ, छोह, मोह की आँधी क्यों उठाते हो?

आह! अद्भुत थी सीता की वह अन्तिम पुकार। अन्धी दुनिया ने जब उनके सतीत्व को नहीं पहचाना, तब आकुल होकर उन्होंने मर्मज्ञ माता को पुकारा—'माँ, तेरी यह निर्दोष बेटी व्यर्थ विषम बाणों से भेदी जा रही है; आ, माँ, आ—अब तू ही अपने पुनीत आँचल में इस अभागिनी को छिपा ले!'

माँ-माँ की वह अति पुरातन आर्त-पुकार क्या आज भी पुरानी हुई है? प्रतिध्वनि उत्तर लाए!

कीर्ति-राका कौसल्या

"वन्दउँ कौसल्या दिसि प्राची।
कीरति जासु सकल जग माची।।"

—तुलसी

... ...

"त्वयि सन्निहितेऽप्येवमहमासं निराकृता।
किं पुनः प्रोषिते तात ध्रुवं मरणमेव मे।।"

... ...

"यं पालयसि धर्मं त्वं धृत्या च नियमेन च।
स वै राघव शार्दूल धर्मस्त्वामभिरक्षतु।।"

—आदिकवि

... ...

"Ah ! child, perhaps thou knewest not the plot
That Kekay's princess planned."

... ...

"Ten million million Rams e'en
Can never approach the love immaculate
That burns within thy soul !"

... ...

"If this day tarries Ram, tomorrow he
Is sure to come. Think not he'd break the word
He himself gave to thee. Tomorrow if
We see him not, be sure he ceased to live !"

—Kamban (कंबन)

"कीजै सिसु लीला अति प्रिय सीला" :

भूमि-भार हरण करने वाले, अग-जग के अणु-परमाणु में, वसुधा के कण-कण में चमकने वाले चेतनाधीश्वर विराट् भगवान् के अवतार के मूल में सार्वभौम सामूहिक प्रार्थना-पुकार का क्या प्रभाव होता है, यह हम पहले देख-सुन आए हैं। उसी मूलाधार का आश्रय लेकर व्यक्तिगत एकान्त-साधना भी अपनी सिद्धि का सुयोग ढूँढ़ती आई है। उस वैयक्तिक साधना-आराधना का प्रमुख स्वर रहा है 'प्रेम-स्पृहा' का—उस सर्व-व्यापी चेतना-चमत्कार को चतुर्दिक् से खींचकर शिशु या स्वामी के रूप में लाड़-प्यार, छोह-मोह और प्रीति-प्रतीति के मृदुल पालने में डालकर झुलाने की मर्म-मथित आकुल आकांक्षा का।

यद्यपि पूर्वोक्त सामुदायिक प्रार्थना-पुकार भी प्रेम का पुष्ट पाथेय पाकर ही कृतार्थ होती है, तथापि उसका उत्तरदायित्व किसी विशिष्ट व्यक्ति के आयास-प्रयास के ऊपर नहीं रहता है; उसका आकर्षण-तत्त्व विशाल सामूहिकता से उत्पन्न होता है और फिर वह उसी में समाहित हो जाता है—जैसे अनन्त आकाश में फैले बादलों में बिजली छिटकती-छिपती रहती है। समुदाय के अर्ध्वोन्मुख स्वर से उत्थित वह पुकार सद्यःफल देती है, पर उसमें वह गुरुता और तीव्रता नहीं रह जाती है, जो वैयक्तिक प्रेम-स्पृहा की निगूढ़ गुहा में पाई जाती है।

सामूहिक पुकार के सामने सर्वभूतों के सुहृद् को अपरिहार्य रूप से सिर झुकाना पड़ता है, विश्व-बान्धव को बाध्य होकर कर्तव्य-बन्धन में बँधना पड़ता है; पर प्रेम-स्पृहा के अन्तर्मुखी संकुचित भँवर में वह 'विराट् ब्रह्म' स्वयं सोल्लास कूद पड़ता है अपने विभ्रम-विलास के साथ।

> "कस्यप अदिति महातप कीन्हा। तिन्ह कहुँ मैं पूरब बर दीन्हा॥
> ते दसरथ कौसल्या रूपा। कोसलपुरी प्रगट नरभूपा॥"

मानव-सृष्टि के मूल में खड़े महामहिम मनु-शतरूपा और कश्यप-अदिति से ही 'प्रेम-स्पृहा' की वह तपःपूत-परम्परा प्रारम्भ हुई थी। अयोध्या के दशरथ-कौसल्या उन्हीं की आत्म-परम्परा में पड़ते हैं। हमारा कवि कभी उनका सम्बन्ध कश्यप-अदिति से जोड़ता है, तो कभी मनु-शतरूपा के साथ। क्योंकि उसकी दृष्टि में :

> "राम जनम के हेतु अनेका। परम विचित्र एक तें एका॥"

राम का अवतार बार-बार होता है और उसके हेतु भी अनेक होते हैं। अतः एक बार :

"स्वायंभू मनु अरु सतरूपा। जिन्ह तें भै नरसृष्टि अनूपा॥
दंपति धरम आचरनु नीका। अजहुँ गाव श्रुति जिन्ह कै लीका॥"

हमारे यहाँ उन्हीं मनुमहाराज से मानव की उत्पत्ति मानी जाती है। दोनों पति-पत्नी धर्माचरण के आदर्श थे, जिनकी कीर्ति-कथा से हमारे धर्म-ग्रन्थ मुखरित हैं।

"तेहि मनु राज कीन्ह बहु काला। प्रभु आयसु सब बिधि प्रतिपाला॥"

उस मनुमहाराज ने दीर्घ काल तक शासन किया, लेकिन उनकी भोग-लालसा पूरी न हुई:

"होइ न विषय बिराग भवन बसत भा चौथपन।
हृदयँ बहुत दुख लाग जनम गयउ हरिभगति बिनु॥"

बुढ़ापा आ गया, तब पछतावा जगा—बिना हरि भक्ति के जन्म तो व्यर्थ हुआ!

जिसका भोग-विलास जितना बड़ा होता है, आँख खुलने पर, अनुताप होने पर, उसकी त्याग-तपस्या भी उतनी ही तीव्र हो जाती है। मनुमहाराज की भी जब आँखें खुलीं, तो उनका त्याग भी भोग की तरह ही विशाल हो उठा:

"बरबस राज सुतहि तब दीन्हा। नारि समेत गवन बन कीन्हा॥"

बेटे को राजा बना कर, पत्नी के साथ, वह तपोवन में तपस्या करने चले गए, और ऐसी उत्कट तपस्या की कि विधि-हरि-हर का भी सिंहासन डोल गया; वर देने वे उनके पास पहुँचे, पर उनका ध्यान भंग न हुआ; क्योंकि उनके अन्तर में 'प्रेम-स्पृहा' दृढ़ हो गई थी:

"उर अभिलाष निरंतर होई। देखिअ नयन परम प्रभु सोई॥"

वह तो उस 'परम' प्रभु को भर-नयन देखना चाहते थे, जिनके अंश से नाना "संभु विरंचि विष्नु भगवाना" उत्पन्न होते रहते हैं। और उनका आप्त वचनों पर अटल विश्वास भी था:

"ऐसेउ प्रभु सेवक बस अहई। भगत हेतु लीलातन गहई॥"

वह 'विराट् ब्रह्म' भी सेवक के वश होता है और अपने भक्तों की अभिलाषा-पूर्ति के लिए नर-तन धारण कर लेता है।

किन्तु उस विराट् को रिझाने के लिए साधना भी तो विराट् होगी। मनु ने वैसी ही अद्भुत अनुरक्ति दिखाई और उस परम प्रभु को प्रेम-डोर उलझाकर मृदुता से खींचा:

"मागु मागु बरु भइ नभ बानी। परम गभीर कृपामृत सानी॥

आकाशवाणी से वर माँगने का सुधा-मधुर आदेश हुआ, जिसे सुनते ही :

"हृष्ट-पुष्ट तन भए सुहाए। मानहुँ अबहिं भवन ते आए॥"

उनके शरीर ऐसे सुन्दर और सुपुष्ट हो गए, जैसे वे अभी घर से आए हों। परम प्रभु की प्रसन्नता का यही प्रमाण था। तो अब उनसे माँगा क्या जाए :

"जो सरूप बस सिव मन माहीं। जेहि कारन मुनि जतन कराहीं॥
जो भुसुंडि मन मानस हंसा। सगुन अगुन जेहि निगम प्रसंसा॥
देखहिं हम सो रूप भरि लोचन। कृपा करहु प्रनतारति मोचन॥"

शिव के मन में पूर्ण-ब्रह्म का जो रूप बसता है, जिस रूप-दर्शन के लिए ऋषि-मुनि प्रयत्न करते रहते हैं, जो रूप काकभुशुण्डि के मन-मानस में हंस के समान तैरता रहता है और जिसकी प्रशंसा में वेद मग्न रहते हैं—वही परम दुर्लभ रूप दोनों तपोधन देखना चाहते हैं। दोनों प्रणत हैं, और आर्त होकर यह याचना कर रहे हैं। फिर प्रणत-पाल प्रभु उनकी आर्ति दूर क्यों न करते :

"भगत बछल प्रभु कृपानिधाना। बिस्वबास प्रगटे भगवाना॥"

विश्व-व्यापी प्रभु भक्त-वत्सल भी हैं, दयालु भी हैं—बस, तपे-तपाए भक्तों के सामने आ उपस्थित हुए।

'प्रेम-स्पृहा' की यही उत्कट साधना है, और यही है उसकी परम सिद्धि—विश्व-नियन्ता विभु को, प्रेम से पिघला कर, अपनी गोद में खींच लेना।

मनु-शतरूपा ने विश्वात्मा प्रभु से वही अद्भुत मनुहार किया :

"चाहउँ तुम्हहि समान सुत प्रभु सन कवन दुराव।"

दोनोंने पुत्र बनाने की लालसा प्रकट की। वह परम प्रभु अपने समान व्यक्ति को कहाँ ढूँढ़ते चलते, इसलिए खुद पुत्र बनने का वचन उन्होंने दम्पति को दे दिया। मर्म-मधुरा शतरूपा ने अगाध अनुरक्ति के बीच विवेक की भी माँग की थी। अतः उनकी 'मृदु गूढ़ रुचिर वर रचना' सुन कर उस परम मर्मज्ञ प्रभु ने उन्हें विशेष वर दिया :

"मातु विवेक अलौकिक तोरें। कबहुँ न मिटिहि अनुग्रह मोरे॥"

पुत्र-रूप में अवतरित होने की अवधि भी उन्हें दे दी गई। अभी तो वे दोनों स्वर्ग चले जाएँ : दूसरे जन्म में जब वे;

"होइहु अवध भुआल तब मैं होब तुम्हार सुत।"

दोनों जब अयोध्या के राजा-रानी होंगे, तब परम प्रभु उनके पुत्र रूप में प्रकट होंगे।

मनु ने अपने लिए मूढ़ भक्ति माँगी थी—पुत्र-वियोग होते ही उनके प्राण भी उन्हीं के साथ चले जाएँ। जाने क्यों ऐसी विपत्ति-मूलक विचित्र याचना मनु ने उस महाप्रभु से की।

साधना-संभूत वरदान का यही आत्म-संस्कार लेकर कौसल्या अवध-नरेश दशरथ की राजरानी बनती हैं। 'मानस' के कवि ने इस राज-महिषी का चरित्र ऊँची भावना तथा ऊँची कलात्मकता से खींचा है, जिसके फल-स्वरूप 'मानस' की कौसल्या आदिकवि की कौसल्या से भी मनोज्ञ और महिमामयी हो गई हैं। वाल्मीकि ने राम की माता को स्त्री के सामान्य स्तर पर ही रखा है, जिससे वह भावावेग की अवांछनीय शिकार होती रहती हैं; किन्तु 'मानस' की कौसल्या प्रत्येक परिस्थिति में यथार्थ ही राकेन्दु आनना दीख पड़ती हैं—अपनी कीर्ति-कौमुदी से निशा के घन-अन्धकार पर धवल आवरण डालती रहती हैं।

राजा दशरथ 'पुत्र-काम' यज्ञ करते हैं और उससे प्राप्त दिव्य हवि का आधा हिस्सा कौसल्या को मिलता है और वह गर्भवती होती हैं। उस अवस्था में उनकी शोभा, शील और दीप्ति दिन-दिन बदल जाती है। तब प्रसव-काल आता है—मधुमास, शुक्ल पक्ष, नवमी तिथि। प्रकृति पुलकित हो उठी है। प्रकृति पूर्ण ब्रह्म के शुभागमन की प्रतीक्षा में पुलकित हो उठी है।

"सीतल मन्द सुरभि बह बाऊ। हरषित सुर सन्तन मन चाऊ॥
बन कुसुमित गिरिगन मनिआरा। स्रवहिं सकल सरितामृत धारा॥"

दोपहर है, न ज्यादा ठंढी है, न गर्मी—शुचि, शान्त और लोक-विश्राम का कैसा सुखद समय :

"मध्य दिवस अति सीत न घामा। पावन काल लोक बिस्रामा॥"

शीतल, मन्द, सुगन्धित हवा बह रही थी, सुर-समुदाय हर्षित हो रहे थे और साधु-सन्तों का मन चाव-पूर्ण हो गया था। वन-उपवन पुष्प-राशि से लद गए थे और पर्वत-पुंज मणि-माणिक से भर गए थे! नदी-नद से अमृत की धारा बहने लग गई थी।

अवतार का शुभ समय समीप जान कर, ब्रह्मा के नेतृत्व में, सब देवता विमान साज कर आकाश में आ जुटे और गाते-बजाते फूल बरसाने लगे। सहसा समस्त सृष्टि के जीव ससंभ्रम स्तुति करने लग गए :

"सुर समूह बिनती करि पहुँचे निज-निज धाम।
जग निवास प्रभु प्रगटे अखिल लोक बिस्राम॥"

उधर स्तुति समाप्त हुई, इधर लोक-विश्राम प्रभु प्रत्यक्ष हुए—कौसल्या के सामने आ उपस्थित हुए। माता ने उनका वह चतुर्भुज रूप देखा और वह सम्भ्रम में पड़कर उनकी स्तुति करने लग गई। कहाँ माया, गुण और ज्ञान से अतीत वह अनन्त

अखिलेश—जिनके रोम-रोम में माया-निर्मित सृष्टि-समूह लटके हुए हैं और कहाँ यह तुच्छ नारी कौसल्या, जिसके लिए श्रीकान्त भगवान् को अवतार लेना पड़ा ! कौसल्या किन शब्दों में उनकी प्रार्थना करें—कैसे अपनी कृतज्ञता उन्हें बताएँ :

"मम उर सो बासी यह उपहासी सुनत धीर मति थिर न रहै ।
उपजा जब ग्याना प्रभु मुसुकाना चरित बहुत बिधि कीन्ह चहै ॥"

वैसे विश्व-विभु कौसल्या की कोख में आ जाएँ, यह तो उपहास-सा दीख रहा है; और यह अद्‌भुत बात सुनकर तो बड़े-बड़े धीमानों की मति-गति भी डोल जाएगी—तुच्छ कौसल्या की तो बात ही क्या !

कौसल्या का यह ज्ञान उस विश्वात्मा को न भाया, क्योंकि वह तो नर-लीला करने आए थे—सामान्य आदमी की तरह सुख-दुख भोग कर उत्तम मानव का आदर्श दिखाना चाहते थे । इसलिए :

"कहि कथा सुहाई मातु बुझाई जेहि प्रकार सुत प्रेम लहै ॥"

मुसकुरा कर उन्होंने माता को समझाया-बुझाया, जिससे वह पुत्र का प्रेम प्राप्त करें और उनकी 'प्रेम-स्पृहा' पूरी हो । माता उसका मर्म समझ गई और पुलकित होकर बोली :

"............तजहु तात यह रूपा ।"

तो फिर 'चतुर्भुज' वाला यह अद्‌भुत रूप भी वह छोड़ दें; और :

"कीजै सिसुलीला अति प्रिय सीला यह सुख परम अनूपा ।।"

वह साधारण बच्चे का प्रिय रूप धारण करें, रोएँ, मचलें, माता को तो वही रूप अनुपम सुख प्रदान करेगा । माता का यह मनुहार उस सर्वान्तर्यामी को प्रिय लगा :

"सुनि बचन सुजाना रोदन ठाना होइ बालक सुरभूपा ॥"

फिर वह महाप्रभु देवोपम दशरथ के दुलारे पुत्र बनकर रोने लग गए। 'मानस' के मर्मज्ञ कवि ने उस अलौकिक महाप्रभु को यों लौकिक रूप में लाकर खड़ा कर दिया है और अपनी इस अद्‌भुत कला पर वह खुद रीझ उठता है :

"यह चरित जे गावहिं हरिपद पावहिं ते न परहिं भव कूपा ॥"

यह अद्‌भुत चरित जिसकी समझ में आ जाएगा, वह अवश्य परमात्मा के पावन पद में पहुँच जाएगा, और फिर वह भाग्यवान् इस दुनिया के भँवर-जाल में कभी नहीं पड़ेगा ।

विश्व के कण-कण में रम रहे परमात्मा को अपने प्रेम की प्रक्रिया पर साकार करना, पानी में समाए सूक्ष्म विद्युत्-कण की तरह मथ-मथ कर उसे एक जगह जमा

करके उसकी परम रम्य प्रकाश-लीला में अपनी सुध-बुध खोकर दिव्यानन्द की मस्ती में झूमते रहना—यही तो उस 'प्रेम-स्पृहा' का चरम लक्ष्य रहा है।

इस अगम्य अग-जग को बनाने वाला भी तो कोई अगम्य और परम विराट् होगा, और वह अपनी सृष्टि से दूर भी नहीं होगा—अवश्य उसके अणु-परमाणु में उसका अस्तित्व छिपा रहेगा। इसीलिए तो वह 'विश्वात्मा' कहलाता है; फिर आत्म-मन्थन से वह क्यों न प्रत्यक्ष हो उठेगा ? पानी से बिजली, दूध से मक्खन और ईख से रस—सब इसी प्रक्रिया से तो प्रत्यक्ष होते हैं। फिर अगुण सगुण का रूप क्यों न लेगा, विराट् ब्रह्म नन्हा बालक क्यों न बनेगा, अनन्त सान्त की गोद में क्यों न खेलेगा ?

शिशु का रोना सुनते ही राजा दशरथ की सभी रानियाँ ससंभ्रम चली आईं कौसल्या के कक्ष में, दासियाँ दौड़ीं; और खबर सुनते ही नगर-निवासी आनन्द-मग्न हो गए। फिर दशरथ के आनन्द का वर्णन कौन करे—उन्हें तो मानों ब्रह्मानन्द ही प्राप्त हुआ। आकाश से सुमन-वृष्टि होने लगी। सहज शृङ्गार किए झुण्ड-की-झुण्ड स्त्रियाँ दौड़ पड़ीं और कनक-कलश के साथ कौसल्या-सुत की आरती उतारी गई।

चारण, भाट, वंदीजन तथा गायक-गण गुण-गान करने लगे। खुशी इतनी उमड़ी कि सब लोग घर-घर दान-धर्म करने लगे; और जिसने जो पाया, उसने भी अपने पास नहीं रखा—दूसरों को दान कर दिया। गली-कूचे राग-रंग से भर गए :

उसी समय, कुछ घण्टों के अन्तर में, कैकेयी और सुमित्रा के भी बच्चे हुए और अयोध्या महोत्सव में मानों खो-सी गई—दिन-रात एक हो गए।

नाम-करण का संस्कार सम्पन्न किया गया : कौसल्या के पुत्र का नाम हुआ 'राम', कैकेयी के पुत्र का 'भरत' और सुमित्रा के यमज पुत्र के नाम हुए 'लक्ष्मण' तथा 'शत्रुघ्न'।

राम-भरत श्याम रंग के थे और लक्ष्मण-शत्रुघ्न गोरे। लक्ष्मण की प्रीति राम से जुड़ी और शत्रुघ्न भरत से अनुरक्त होने लगे।

"श्याम गौर सुन्दर दोउ जोरी। निरखहिं छबि जननी तृन तोरी॥"

चारों भाई इतने सुन्दर थे कि उनकी शोभा देखकर माताएँ भी तृण तोड़ने लग जाती थीं—कहीं नजर न लग जाए। यद्यपि चारों शोभा-राशि थे, फिर भी :

"चारिउ सील रूप गुन धामा। तदपि अधिक सुखसागर रामा॥"

राम सुन्दरता में, शील में और गुण में अगाध सागर ही जान पड़ते थे। उनके लालन-पालन की बात क्या बताई जाए :

"कबहुँ उछंग कबहुँ बर पलना। मातु दुलारइ कहि प्रिय ललना॥"

कौसल्या के भाग्य का बखान कौन करे :

"ब्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुन बिगत बिनोद।
सो अज प्रेम भगति बस कौसल्या के गोद॥"

हमारा कवि यह कहते थकता नहीं कि कौसल्या की गोद में जो बच्चा खेल रहा है, वह कौन है? बार-बार कहने पर भी उसे सन्तोष नहीं होता है और इस प्रवृत्ति के कारण उसकी कलात्मकता कहीं-कहीं कुण्ठित भी हो जाती है। लेकिन अपनी धुन में मस्त कवि इसकी चिन्ता ही भूल जाता है! राम को थोड़ी देर भी वह सामान्य धरातल पर रहने देना नहीं चाहता है—रह-रहकर, जाने किस भीति से घबरा कर, वह पर्दा उठाता रहता है—देख लो, वह राम 'अज' हैं, 'निर्गुण' हैं, 'विराट् ब्रह्म' हैं!

हमारा रस-सिद्ध कवि यह क्यों भूल जाता है कि उसकी इस प्रवृत्ति से रस-परिपाक में कितनी बड़ी बाधा पड़ जाती है: जैसे—बीच नाटक में सूत्रधार बाहर निकल कर कहने लग जाए—'भूलना नहीं, वह जो नायक बना हुआ है, वह हरिश्चन्द्र नहीं, हमारे गाँव के सीता रामजी वैद्य हैं।"

किन्तु माँ कौसल्या वह सब ज्ञान एकदम भूल गई हैं:

"लै उछंग कबहुँक हलरावै। कबहुँ पालने घालि झुलावै॥"

वह कभी अपने लाल को गोद में लेकर मचल उठती हैं और कभी उसे पालने में डाल कर झुलाने लग जाती हैं। यों वह दीन-दुनिया को भूली हुई हैं:

"प्रेम मगन कौसल्या निसि दिन जात न जान। सुत सनेह बस माता बालचरित कर गान॥"

लेकिन हमारा कवि उस प्रेम-मग्ना माँ की आँखों का पर्दा भी हटा देना चाहता है। एक दिन कौसल्या ने नहला-धुला कर बच्चे को पालने में पौढ़ाया और फिर खुद स्नान-पूजा में लग गईं:

"करि पूजा नैवेद्य चढ़ावा। आपु गई जहँ पाक बनावा॥"

कुल-देवता की पूजा-अर्चा करके नैवेद्य चढ़ाया और फिर पाक-गृह में चली गईं। और जब लौटीं, तब क्या देखती हैं कि उनका बेटा भोग लगा रहा है—कुल-देवता का नैवेद्य वह चट करता जा रहा है।

कौसल्या घबरा उठीं—उनका बच्चा तो पालने में लेटा था, यहाँ कैसे आ गया? तो गईं वह पालने के पास:

"गै जननी सिसु पहिं भयभीता। देखा बाल तहाँ पुनि सूता॥"

वहाँ उसका वह बच्चा पालने में सो रहा था!—तो फिर वहाँ भोग कौन लगा रहा है:

"बहुरि आइ देखा सुत सोई। हृदय कंप मन धीर न होई॥"

भला इस बाजीगरी में किसका मन स्थिर रह सकता है ? फिर लौटीं, जहाँ बच्चा सोया था—दोनों जगह वही बच्चा :

"इहाँ उहाँ दुइ बालक देखा । मतिभ्रम मोर कि आन बिसेषा ॥"

कौसल्या भारी भ्रम में पड़ गईं—क्या देख रही हैं वह—दो बच्चे कहाँ से आए ? क्या वह स्वप्न तो नहीं देख रही हैं :

"देखि राम जननी अकुलानी । प्रभु हँसि दीन्ह मधुर मुसुकानी ॥"

बच्चे का हँसना-मुसकुराना कौन माँ नहीं देखती है, पर राम की मुसकुराहट में कौसल्या ने जो दिव्य दृश्य देखे, वे हमारे कवि की कल्पना की उपज हैं, और जिन्हें देखने को हमारे रसज्ञ पाठक उत्सुक नहीं जान पड़ते हैं :

"रोम रोम प्रति लागे कोटि कोटि ब्रह्मांड ।"

आखिर राम की वह बाजीगरी समाप्त हुई :

"बिसमयवंत देखि महतारी । भए बहुरि सिसु रूप खरारी ॥"

कौसल्या इतनी डर गईं कि उनसे स्तुति भी न हो सकी उस महान् अभिनेता की । सोचती रह गईं : "जगत पिता मैं सुत करि जाना ॥"

तो इसमें पाप ही क्या था, भक्तप्रवर ? जब जगत्-पिता जान-बूझकर कौसल्या की कोख में आए हैं, तब आप निर्ममता से उस आनन्द-मग्ना माँ का वात्सल्य-रस क्यों छीने ले रहे हैं ? जन्म के समय भी तो आपने यह पर्दा उठा दिया था—फिर यहाँ इसकी क्या जरूरत जान पड़ी ?

काश, हमारे कवि में यह दिव्य आतुरता कुछ कम होती !

बाल-लीला शुरू हुई और दशरथ का राज-भवन चारों भाइयों की किलकारियों से गूँजने लग गया । संगी-साथियों के साथ खेल में सब भाई इतने मग्न होने लगे कि भोजन के समय भी माँ-बाप के पास नहीं आते थे;

"भोजन करत बोल जब राजा । नहिं आवत तजि बाल-समाजा ॥"

राजा तो पुकार कर ही रह जाते थे, लेकिन कौसल्या तो राम के पीछे दौड़ने भी लग जाती थीं :

"कौसल्या जब बोलन जाई । ठुमुकु ठुमुकु प्रभु चलहिं पराई ॥"

यहाँ 'प्रभु' शब्द मिश्री की डली में बाँस के फाँस की तरह, कुछ जरूर खटक जाता है । किन्तु कौसल्या तुलसी के उस 'प्रभु' को छोड़तीं नहीं, दौड़कर पकड़ ही लेती हैं । कवि इस सरल कौतुक पर आश्चर्य प्रकट करता है

"निगम नेति सिव अंत न पावा। ताहि धरै जननी हठि धावा॥"

क्या हमारे कवि ने यह दृश्य कहीं देखा नहीं है—यह प्रश्न तो व्यर्थ होगा; क्योंकि यह चपल चित्रण ही उसके अनुभव को प्रमाणित कर रहा है।

भोजन पर बैठे हुए राजा का सौभाग्य तो देखा जाए :

"धूसर धूरि भरें तनु आए। भूपति बिहँसि गोद बैठाए॥

भला 'धूल' बच्चे को बाप की गोद में बैठने से रोक सकती थी? माता-पिता इसी के लिए तो तड़पते रहते हैं। खाना खराब हो, या कपड़े गन्दे हों—इसकी चिन्ता कौन बाप करने जाता है? किन्तु लीला तो वहाँ भी रुकती नहीं :

"भोजन करत चपल चित इत उत अवसरु पाइ।
भाजि चले किलकत मुख दधि ओदन लपटाइ॥"

जान पड़ता है, कवि मिथिला में अधिक रम गया था; इसीसे दही-भात उसे प्रिय हो गए हैं। तभी तो उसके प्रभु भी दधि-ओदन खाते-खाते भाग खड़े होते हैं किलकारी भरते! कवि इस बाल-सुलभ दृश्य पर अधिक मुग्ध दीख पड़ता है :

"जिन्ह कर मन इन्ह सन नहिं राता। ते जन बंचित किए बिधाता॥"

वे सचमुच अभागे हैं जिनका मन इन बाल-चरितों में तन्मय नहीं होता! केवल माता-पिता ही मग्न नहीं दीखते हैं :

"जिन्ह बीथिन्ह बिहरहिं सब भाई। थकित होहिं सब लोग लुगाई॥"

जिन गलियों में क्रीड़ा-मग्न ये चारों भाई निकल जाते हैं, सब नर-नारी थकित-से रह जाते हैं उनके क्रीड़ा-कौतुक को देखकर। हमारे कवि की यही तारीफ है कि उसके वे प्रभु जन-जन के मन को मुदित करने वाले हैं।

उन माता-पिता के सौभाग्य का क्या कहना, जिनके पुत्र ऐसे हों :

"प्रातकाल उठि कै रघुनाथा। मातु पिता गुरु नावहिं माथा॥
आयसु माँगि करहिं पुर काजा। देखि चरित हरषइ मन राजा॥"

विश्वामित्र के साथ राम को यज्ञ-रक्षा के निमित्त भेजने में पिता दशरथ ने बहुत हिचकिचाहट दिखाई थी, पर कौसल्या ने ऐसी कोई नादानी नहीं दिखाई—माता ने बड़ी आसानी से पुत्र को शुभकामना के साथ विदा कर दिया। यहीं से कौसल्या का विवेक दीखने लगता है। हमारे कवि ने बड़ी तन्मयता के साथ उनके विवेक-पटल को खोला है।

मुनि विश्वामित्र का कार्य करके कौसल्या के पुत्र ने, रास्ते में अहल्या का उद्धार किया, मिथिला जाकर दुर्धर धनुष को तोड़ा और सीता को ब्याहने की तैयारी

कर दी। कौसल्या को भी यह खुश-खबरी मिली और जाने किस परम उल्लास के साथ उन्होंने पुत्र और पुत्रवधू के स्वागत की तैयारी की :

"भूप-भवन किमि जाइ बखाना। बिश्व बिमोहन रचेउ बिताना।।
मंगल द्रव्य मनोहर नाना। राजत बाजत बिपुल निसाना।।
कतहुँ बिरिद बंदी उच्चरहीं। कतहुँ बेद धुनि भूसुर करहीं।।
गावहिं सुन्दरि मंगल गीता। लै लै नामु रामु अरु सीता।।
बहुत उछाह भवनु अति थोरा। मानहु उमगि चला चहुँ ओरा।।"

वर्षा जब अधिक होती है, तब सीमित सर-सरिताओं के तट से पानी उमड़ ही पड़ता है। अन्तिम एक पंक्ति ही कौसल्या के आनन्द और उछाह को खोल देती है।

उत्तरभारत में जन्म-ग्रहण करने के कारण, बरात में जाने का यह सौभाग्य तो उन्हें प्राप्त न हो सका, जो दक्षिणी माताओं को सहज ही मिल जाता है, किन्तु जनकात्मजा-सी लोक-विमोहिनी पुत्रवधू के स्वागत का उछाह उनमें कैसा था, वह तो अयोध्या की नारियों के उत्साह के प्रकाश में ही भाँपा जा सकता है :

"देखन हेतु राम बैदेही। कहहु लालसा होहि न केही।।
जूथ जूथ मिलि चलीं सुआसिनि। निज छबि निदरहिं मदन बिलासिनि।।
सकल सुमंगल सजें आरती। गावहिं जनु बहु बेष भारती।।
भूपति भवन कोलाहलु होई। जाइ न बरनि समउ सुखु सोई।।
कौसल्यादि राम महतारी। प्रेम बिबस तन दसा बिसारी।।"

कौसल्या पूजा-पाठ में विशेष दक्ष दीखती हैं, उन्हें इसके लिए पण्डित-पुरोहित का भी मुँह नहीं जोहना पड़ता था—स्वयं मन्त्र-पाठ कर लेती थीं। आदिकवि ने इसका विशेष रूप से उल्लेख किया है। विश्वात्मा-विभु की माँ को तन-मन से इतना निर्मल तो होना ही होगा। तुलसी ने इसी दृष्टि से कौसल्या के चरित्र का निर्माण ऊँचे धरातल पर किया है, जो वाल्मीकि की वाग्विभा को भी विभ्रम में डाल देता है।

पूजा-पाठ के पश्चात् दान-पुण्य की बारी आती है, और कौसल्या इसमें सब-से आगे रहती आई हैं। यों :

"मोद प्रमोद बिबस सब माता। चलहिं न चरन सिथिल भए गाता।
राम दरस हित अति अनुरागीं। परिछनि साजु सजन सब लागीं।।"

यहाँ राम के साथ सीता का अध्याहार आप-से-आप हो जाता है। सहज तो यही है कि देखने की उत्सुकता, पुत्र की अपेक्षा, पुत्रवधू के प्रति ही अधिक होगी। माताओं का मोद इतना उमड़ पड़ा है कि चेतना की स्फूर्ति और उसकी प्रवृत्तियाँ भी शिथिल पड़ गई हैं—उनके शिथिल चरण उठ नहीं रहे हैं।

रानियों ने आरती उतारने की तैयारी की :

"कनक थार भरि मंगलन्हि कमल करन्हि लिएँ मात।
चलीं मुदित परिछनि करन पुलक पल्लवित गात॥"

माताओं के सुकुमार हाथों में सोने का थाल है, और वे पुलक-हिल्लोल पर डोलती परिछन (प्रदक्षिणा) करने चली जा रही हैं।

कवि उस मंगल दृश्य का 'उत्प्रेक्षा' और 'सांगरूपक' के आधार पर श्रावण-घन का आह्लाद-पूर्ण चित्र उपस्थित करता है:

"धूप धूम नभु मेचक भयऊ। सावन घन घमंडु जनु ठयऊ॥
सुरतरु सुमन माल सुर बरषहिं। मनहुँ बलाक अवलि मनु करषहिं॥
मंजुल मनिमय बंदनिवारे। मनहुँ पाकरिपु चाप सँवारे॥
प्रगटहिं दुरहिं अटन्ह पर भामिनि। चारु चपल जनु दमकहिं दामिनि॥
दुंदुभि धुनि घन गरजनि घोरा। जाचक चातक दादुर मोरा॥
सुर सुगंध सुचि बरषहिं बारी। सुखी सकल ससि पुर नर नारी॥"

आरती के थालों से उठा धूप का धुआँ इतना सघन हो गया है कि कवि की दृष्टि में वह सावन का उमड़ता हुआ मेघ बन जाता है, आकाश से देवता लोग कल्पवृक्ष की फूल-मालाएँ बरसा रहे हैं, कवि को वह वर्षा-काल में उड़ते हुए बगुलों की मनोहर कतार जान पड़ती है, नगर में स्वागतार्थ जो रंग-बिरंगे वन्दनवार लगाए गए हैं, कवि उन्हें इन्द्रधनुष बना देता है, सजी-धजी सुन्दरियाँ अटारियों पर चढ़ती-उतरती हैं, कवि की रस-पूर्ण आँखों में वे बिजली की तरह चमक रही हैं, नगाड़ों का नाद मेघ-गर्जन की समानता करता है, चारण-बन्दीजन मेढक, मोर और पपीहे बन जाते हैं, देवता ऊपर से सुगन्धित और शुचि जल बरसाते हैं, जिससे अयोध्या के नर-नारी उसी भाँति प्रसन्न हो रहे हैं, जैसे श्रावण मास की वर्षा से कृषि लहलहा उठती है।

जैसे सारी प्रकृति ही उमड़ कर परिछन करने जा रही हो। भला इस समारोह में माता कौसल्या को ढूँढ़ना कैसे संभव हो सकता है:

"आरति करहिं मुदित पुरनारी। हरषहिं सकल कुँअर बर चारी॥
सिबिका सुभग ओहार उघारी। देखि दुलहिनिन्ह होहि सुखारी॥"

असली लालसा तो दुलहिन देखने की थी। पालकी का पर्दा हटाकर नगर की नारियों ने उनका मुँह देखा, और वे धन्य हो गईं। माताएँ मुदित मन से उनकी आरती उतार रही हैं:

"बधुन्ह समेत देखि सुत चारी। परमानंद मगन महतारी॥"

माताओं के आनन्द का वर्णन कौन करे—जैसे योगी को परमतत्व प्राप्त हो गया हो, चिर रोगी को जैसे अमृत मिल जाए, जन्म से दरिद्र को मानो पारस मणि की प्राप्ति हो जाए, अन्धे को आँखें मिल जाएँ, गूँगे की जीभ पर जैसे सरस्वती बैठ

जाएँ, जैसे महायुद्ध में कोई वीर विजयी हो गया हो--उन समस्त सुखों से भी उन माताओं का सुख अपार हो उठा है :

"एहि सुखते सत कोटि गुन पावहिं मातु अनंदु ।
भाइन्ह सहित बिआहि घर आए रघुकुलचंदु ॥"

लोकाचार के अनुसार जननी जब रस्म-अदाई करती है, तब :

"लोकरीति जननी करहिं बरदुलहिनि सकुचाहिं ।
मोदु बिनोदु बिलोकि बड़ रामु मनहि मुसुकाहिं ॥"

इतनी देर तक चित्रण के रस में मग्न रहने के बाद सहसा कवि को अपने परम प्रभु की याद आ गई, और वह झट 'मनहिं मुसुकाहिं' कह कर एक गूढ़ संकेत कर देता है। कितना अच्छा होता कवि की रस-मग्नता टूटती ही नहीं !

माताओं के मोद-प्रमोद का वर्णन कौन करे :

"देव पितर पूजे बिधि नीकी । पूजीं सकल बासना जी की ॥
सबहिं बंदि माँगहि बरदाना । भाइन्ह सहित राम कल्याना ॥"

हृदय की सारी कामनाएँ जैसे उनकी पूरी हो गई हों, और सब मिल कर, चारों भाइयों के साथ, राम की कल्याण-कामना करती हैं :

"अंतरहित सुर आसिष देहीं । मुदित मातु अंचल भरि लेहीं ॥"

देवताओं के आशीर्वाद को माताएँ अंचल भर कर लेती हैं—आह, कितना हृदय-ग्राही चित्रण है यह !

माता-पिता उन महामुनि विश्वामित्र को कैसे भूल जाते, जिनकी कृपा और परिश्रम के फलस्वरूप ही उन्हें यह सुख-सौभाग्य प्राप्त हुआ है :

"बहु बिधि कीन्हि गाधिसुत पूजा । नाथ मोहि सम धन्य न दूजा ॥
कीन्हि प्रसंसा भूपति भूरी । रानिन्ह सहित लीन्हि पग धूरी ॥"

कृतज्ञ माता-पिता केवल प्रशंसा करके या चरण-रज लेकर ही नहीं रह गये :

"भीतर भवन दीन्ह बर बासू । मन जोगवत रह नृप रनिवासू ॥"

कृतज्ञता समीपता और साहचर्य की भी भूखी होती है, अतः राजा-रानी ने उन्हें (विश्वामित्र को) अत्यन्त आदर-भाव से राजभवन के भीतर ही ठहराया और सब लोग हरदम उनके मन को जुगोते रहे।

'मन जोगवत रह' में कितनी सुकुमार सतर्कता व्यक्त हुई है !

"बधुन्ह समेत कुँमार सब रानिन्ह सहित महीसु।
पुनि पुनि बंदत गुर चरन देत असीस मुनीसु ॥"

माता-पिता ने अपनी सारी सम्पदा (पुत्र और पुत्रवधू के साथ) मुनि के आगे रख दी, और उनका आशीर्वाद प्राप्त किया। यों सीता-राम की मूरत मन में बिठा कर वह महामुनि विश्राम करने चले गए।

राजा दशरथ की एकान्त लालसा अब तक पूरी नहीं हुई थी :

"सब बिधि सबहि समदि नरनाहू। रहा हृदय भरि पूरि उछाहू।
जहँ रनिवासु तहाँ पगु धारे। सहित बधूटिन्ह कुँअर निहारे ॥
लिए गोद करि मोद समेता। को कहि सकइ भयउ सुखु जेता ॥
बधू सप्रेम गोद बैठारीं। बार बार हियँ हरषि दुलारीं ॥
देखि समाजु मुदित रनिवासू। सब के उर अनंद कियो बासू ॥"

सबको समद (बिदा) कर राजा अब अपनी आन्तरिक लालसा पूरी करने रनवास में आए और पुत्रवधुओं के साथ पुत्रों को देखकर आनन्द-मग्न हो गए। पहले पुत्रों को गोद में बिठा कर वह मुग्ध हुए, और फिर पुत्र-वधुओं को प्यार से गोद में लिया, उन्हें बार-बार छाती से लगा कर लाड़-प्यार किया, यों उस मोद-मग्न समाज में मानों आनन्द का चिर-निवास हो गया।

राजा ने अपनी रानियों को सतर्क भी कर दिया :

"बधू लरिकनीं पर घर आईं। राखेहु नयन पलक की नाईं ॥"

बहुएँ अभी लड़कियाँ ही थीं और वे पर-घर आई हैं, अतः सब सासें उन्हें नयन-पलक की तरह रखें।

रात अधिक हो आई थी, सबों की आँखों पर नींद खेलने लग गई थी, अतः राजा की बातें सुन कर रानियों ने पुत्रों को सुख-शय्या पर सुला दिया और :

"नीदउँ बदन सोह सुठि लोना। मनहुँ साझ सरसीरुह सोना ॥
घर घर करहिं जागरन नारीं। देहिं परसपर मंगल गारीं ॥
पुरी बिराजति राजति रजनी। रानी कहहिं बिलोकहु सजनी ॥"

आमोद-प्रमोद से भरी उस अनूठी रात की शोभा और विलास में भूली हुई सब रानियाँ एक-दूसरे के ऊपर व्यंग्य-विनोद की बौछारें कर रही हैं। लेकिन आनन्द-मग्न होकर भी माताएँ अपनी सतर्कता नहीं खोती हैं :

"सुन्दर बधुन्ह सास लै सोईं। फनिकन्ह जनु सिरमनि उर गोईं ॥"

जैसे मनियारा साँप अपने सिर से मणि निकाल कर उसके प्रकाश में मग्न

डोलता-फिरता है, और फिर उसे अपने हृदय में छिपा कर सोता है, सासें भी पुतोहों को अपने साथ लेकर सोने चली गईं।

कवि ने इसमें जो मार्मिक संकेत किया है, वह सभी माताओं के लिए वस्तु-पाठ है। विवाह की शुचिता और सामाजिक स्वास्थ्य के लिए यह सतर्कता कितनी जरूरी है, अनुभव-सिद्ध है—खोल कर कोई क्यों कहने जाए ?

"तौ कानन सत अवध समाना" :

कौसल्या की कोख भरी, राम उनके यशस्वी पुत्र हुए, सीता उनकी पुत्र-वधू हुईं और उनका आनन्द, निर्झरिणी की नाईं, नाच उठा। लेकिन जीवन किसी का 'एकरस' तो होता नहीं; वह तो विचित्र अभिनयों का रंगस्थल होता है, जिसका पर्दा सदा बदलता ही रहता है। ऐसे नाटकीय जीवन ही साहित्य में स्थान पाते हैं, और उन्हीं से लोक-शिक्षा का माध्यम बनता-बिगड़ता रहता है। कौसल्या अगर उसी मोद में मग्न रह जातीं, तो हम आज उनकी चर्चा करने के लिए इतने उत्सुक और चंचल नहीं होते।

कुछ वर्षों तक मौन और अदृश्य रहने के बाद कौसल्या पुनः पाठकों के सामने आती हैं। तब तक एक भारी भूकम्प हो जाता है उनके राजभवन में, और उसके भीषण धक्कों से उनका सारा सुख-सौध चूर-चूर होकर मिट्टी में मिल जाता है। वह स्वप्न देख रही थीं कि उनका प्यारा पुत्र राम 'युवराज' बनेगा, और वह 'राज-माता' के सर्वोच्च पद पर जा विराजेंगी। राजा दशरथ ने इसकी गुप्त मन्त्रणा उनसे कर ली थी, पर उन्होंने अपनी सबसे प्यारी और प्रभावशालिनी मँझली रानी (कैकेयी) के कानों में इसकी भनक भी न पड़ने दी थी। कोई ऐसी गुप्त भीति भीतर-ही-भीतर उन्हें अवश्य कुरेद रही थी, जिससे रक्षा पाने की सतर्कता तो उन्होंने खूब दिखाई, पर सर्वदर्शिनी निष्ठुरा नियति से भला क्या छिपाया जा सकता था! उसने राजा की वह कातर आतुरता देखी, और वह विहँस उठी—'दिल से प्यार करो कैकेयी को, और युवराज बनाओ कौसल्या के पुत्र को! देखती हूँ, कैसे तुम सफल-मनोरथ होते हो अपनी इस चालाकी में!'

कौसल्या विश्वस्त रूप से सुन चुकी थीं कि कल प्रातःकाल उनका लाड़ला 'राम' राज-पद का अधिकारी घोषित किया जाएगा; और जब वह प्रातःकाल हुआ और राम उनके पास पहुँचे, तब वह भोली-भाली माँ, पुत्र को सामने देख कर, कुछ अकचकाती-सी मचल उठी :

"बार बार मुख चुंबति माता। नयन नेह जलु पुलकित गाता॥
गोद राखि पुनि हृदयँ लगाए। स्रवत प्रेमरस पयद सुहाए॥
प्रेमु प्रमोदु न कछु कहि जाई। रंक धनद पदवी जनु पाई॥"

माँ मुँह चूमे, उसके नयनों में नेह-जल भी उमड़ आए, वह राम के ऐसे सयाने

और समर्थ सुत को गोद में भी बिठा ले, पर इतने वर्षों के बाद भी उसकी छाती से दुग्ध की धार बह चले—यह कुछ अपूर्व-सा लगता है। वाल्मीकि की कौसल्या बहुत दिनों के बाद राम को अपने पास आया देख उन्हें बाहुपाशमें कस लेती हैं और उनका माथा सूँघती हैं। लेकिन तुलसी की कल्पना ने उन्हें बहुत ऊँचा उठा दिया है।

मग्न-मना कौसल्या ने राम के नयनों में नयन गड़ा कर मधुर वाणी में पूछा :

"कहहु तात जननी बलि जाई। कबहि लगन मुदमंगल कारी॥"

जिस शुभ घड़ी की प्रतीक्षा में नर-नारी चातक की तरह अत्यन्त व्यग्र हो उठे हैं, वह मंगल और मोद की घड़ी कब है?

कितना सुन्दर और उदार प्रश्न है कौसल्या का—अपनी कोई इच्छा यद्यपि उन्होंने सीधे प्रकट नहीं होने दी है, लेकिन उनका कथन व्यंजना के बल पर कितना विशाल हो उठा है; जब साधारण स्त्री-पुरुष की वह व्यग्रता है, तब ममतामयी माँ की आतुरता कैसी होगी—सहज ही अनुमित हो जाती है।

मानस की कौसल्या यहीं से ऊँचा उठने लगीं :

"तात जाउँ बलि बेगि नहाहू। जो मन भाव मधुर कछु खाहू॥"

तुलसी की कौसल्या इतनी आश्वस्त-विश्वस्त हैं कि प्रश्न के उत्तर की प्रतीक्षा भी नहीं करती हैं, और नहा-धो कर कुछ मधुर खाने का आग्रह करने लग जाती हैं। वाल्मीकि की कौसल्या पूजा-अर्चा तथा हवन-होम, धूप-दीप, नैवेद्यादि के बीच व्यस्त बनी दीखती हैं। एक भव्यासन दिखा कर कुछ भोजन कर लेने का औपचारिक आग्रह दिखाती हैं।

तुलसी की कौसल्या फिर कहती हैं :

"पितु समीप तब जाएहु भैआ। भइ बड़ि बार जाइ बलि मैआ॥"

माता का भोलापन और उनकी आतुरता देखने लायक है; अभी ही काफी देर हो चुकी है, फिर भी बिना कुछ खिलाए-पिलाए वह उन्हें पिता के पास जाने देना नहीं चाहतीं,—जैसे युवराज-पदसे भी अधिक मूल्यवान् और महत्त्व की चीज है माता के हाथ का ममता-पूर्ण प्रसाद!

मर्मज्ञ राम मन में मुसकराए अवश्य होंगे सरल माँ की इस अनूठी, पर अन्धी भावुकता पर। उन्होंने मृदु वाणी में कहा :

"पिता दीन्ह मोहि कानन राजू। जहँ सब भाँति मोर बड़ काजू॥"

कवि की सतर्कता और मर्मज्ञता से राम का यह निवेदन आदिकवि के कथन-प्रसंग से कहीं ऊँचा उठ जाता है; और राम सहसा हमारे गर्व-गौरव के साथ भावना-लोक के अत्यन्त श्रद्धास्पद सिंहासन पर जा बैठते हैं। पिता ने उन्हें कानन का राज्य

दिया है, दण्ड-स्ववरूप नहीं, निष्प्रयोजन भी नहीं; जहाँ उनका (राम का) बड़ा ही आवश्यक कार्य है। इतना ही नहीं, राम कुछ और आगे बढ़ते हैं :

"आयसु देहि मुदित मन माता। जेहिं मुद मंगल कानन जाता॥"

माँ पुत्र के कल्याण की कामना के लिए अपने उमड़ते आँसू भी रोक लेती है कहीं जाते समय। राम संकल्प-बद्ध हैं कि वह जंगल जाएँगे ही, अतः उनके (राम के) हित की दृष्टि से माँ (कौसल्या) उन्हें प्रसन्न मन से आज्ञा दे दें। राम की यह मनस्विता और मर्म-मधुरता ही उन्हें भगवान् बना देती है। इतनी बड़ी विपत्ति उनके ऊपर आ पड़ी है, पर किस सरल-सौन्दर्य के साथ वह उसका सामना करने जा रहे हैं।

धन्य, तुलसी के राम धन्य!

आदिकवि के राम ने अपने कथन में बड़ी भीति का संकेत कर दिया है, जो वातावरण को बड़ा ही गम्भीर बना देती है। उनके राम कौसल्या से कहते हैं :

"देवि नूनं न जानीषे महद्भयमुपस्थितम्। इदं तव च दुःखाय वैदेह्या लक्ष्मणस्य च॥"

हाय, कौसल्या जानती नहीं हैं कि केवल उन्हीं के लिए नहीं, सीता और लक्ष्मण के लिए भी महद्भय का कारण उपस्थित हो गया है। फिर इस लाड़-प्यार का, ममता-मोह का, भोजन-आसन का क्या प्रयोजन :

"गमिष्ये दण्डकारण्यं किमनेनासनेन मे। विष्टरासनयोग्यो हि कालोऽयं मामुपस्थितः॥
चतुर्दश वर्षाणि वत्स्यामि विजने वने। कन्दमूलफलैर्जीवन्हित्वा मुनिवदामिषम्॥"

रामको वन विजन (निर्जन) जान पड़ता है, उन्हें ऋषि-मुनियों की नाईं निरामिष भोजन करना होगा। यही नहीं,

"भरताय महाराजा यौवराज्यं प्रयच्छति। मां पुनर्दण्डकारण्ये विवासयति तापसम्॥"

महाराज (दशरथ) युवराज-पद अब भरत को दे रहे हैं; और राम को तपस्वी के वेश में दण्कारण्य जाने का आदेश हुआ है।

राम के उक्त कथन में भय, उपेक्षा और आतंक की ध्वनि साफ सुन पड़ती है, जो उन्हें सामान्य मनुष्य की भाव-श्रेणी में खड़ा कर देती है। इस दृष्टि से 'मानस' के कवि का यह चरित्र-मार्जन स्तुत्य ही नहीं, परम लोभनीय भी बन गया है। माँ की ममता से राम अनभिज्ञ नहीं हैं, उनकी सुकुमार भावनाओं का वह यथेष्ट सम्मान भी करते हैं, फिर भी यह समय ऐसा आ पड़ा है, जब स्नेह-कातरता को दबाना ही पड़ेगा। कितना मर्म-मधुर कथन है उनका!

"जनि सनेह बस डरपसि भोरें। आनँदु अंब अनुग्रह तोरें॥"

कौसल्या डरें नहीं, उनके आशीर्वाद से राम को मंगल और मोद ही मिलेगा

और वह फिर लौट कर माँ के चरणों का स्पर्श करेंगे। वनवास की अवधि है ही कितनी :

"बरष चारि दस बिपिन बसि करि पितु बचन प्रमान।
आइ पाय पुनि देखिहउँ मनु जनि करसि मलान॥"

कुछ ही वर्षों की तो बात है—यही चार और दस—अधिक नहीं; इतने में ही पिता के वचन का भी पालन हो जाएगा और राम लौट भी आएँगे ! माँ उदास न हों।

धन्य कवि ! स्वाभाविकता के अन्तर से फूटती यह विनय और वचन-विदग्धता कितनी लुभावनी जान पड़ती है ! हमारे कवि की यही सबसे बड़ी मौलिकता है, जिस पर रस-मर्मज्ञ हजार जान से न्योछावर हो जाते हैं !

राम का कथन कितना भी कोमल आवरण में लिपटा क्यों न हो, पर माँ के हृदयँ को तो वह छेदने वाला ही था :

"सहमि सूखि सुनि सीतल बानी। जिमि जवास परें पावस पानी॥
कहि न जाइ कछु हृदय बिषादू। मनहुँ मृगी सुनि केहरि नादू॥
नयन सजल तन थर थर काँपी। माजहि खाइ मीन जनु मापी॥"

कौसल्या राम की शीतल वाणी सुनते ही सहम और सूख गईं—जैसे जवास पर पावस का पानी पड़ गया हो। पानी पड़ने से सब पौधे लहलहा उठते हैं, किन्तु जवास का भाग्य ऐसा कि वर्षा का जल उसे सुखा देता है। उनके (कौसल्या के) मुँह से बात नहीं निकलती है—जैसे सिंह का गर्जन सुन कर हरिणी डर जाए। उनके नयनों में जल भर आया और तन थर-थर काँपने लगा—जैसे माजा (नववर्षा के पानी का फेन) खा जाने से मछली की दशा हो जाती है। उनका सारा सुख-स्वप्न मिट गया, पूजा-पाठ, देवी-देवता, व्रत-नियम—कुछ काम नहीं आए, बेचारी एकदम विमूढ़ हो गई। किन्तु हमारे कवि की कौसल्या विवेकशील हैं, अतः धीरज धर कर गौर से राम का मुँह देखती हैं, और गद्गद कण्ठ से कहने लगती हैं :-

"तात पितहि तुम्ह प्रान पियारे। देखि मुदित नित चरित तुम्हारे॥
राजु देन कहुँ सुभ दिन साधा। कहेउ जान बन केहि अपराधा॥"

जो पुत्र पिता के प्राणों से भी प्यारा हो, जिसके आचरण को देख कर पिता नित्य प्रसन्न रहे, और जिसको राज्य देने का संकल्प करके शुभ मुहूर्त भी निश्चित कर लिया गया हो, उस पिता ने सहसा किस अपराध से वनवास का यह आदेश दे दिया है ? प्रश्न बड़ा ही सौजन्य-पूर्ण शब्दों में किया गया है। प्रश्न करते-करते विह्वलता व्याकुलता का रूप ले लेती है, पर शब्दों पर संयम बना रहता है। राम की जननी भला अनर्गल बातें कभी कर सकती हैं :

"तात सुनावहु मोहि निदानू। को दिनकर कुल भयउ कृसानू॥"

आर्त होकर कौसल्या पूछती हैं—'कहो-कहो, शीघ्र कहो, सूर्यवंश का यों नाश करने वाला कौन हुआ ?'

कैकेयी के ऊपर शक-सन्देह का कहीं आभास तक नहीं मिलता है कौसल्या के कथन में।

राम का इशारा पा कर मन्त्री-पुत्र ने सब कहानी कौसल्या को सुना दी जिसे सुन कर वह सरल-हृदया नारी अवाक् रह गई—कवि उसकी दशा का वर्णन कैसे करे :

"राखि न सकइ न कहि सक जाहू। दुहूँ भाँति उर दारन दाहू ॥"

राम को वन जाने से न वह रोक सकती है, न जाने ही कह सकती है—दोनों ही उसके हृदय को जलाने वाले ही हैं। विधि-गति कितनी विपरीत होती है—भाग्य में लिखने जा रहा था 'चन्द्रमा' (शुभयोग) और आखिर लिख गया 'राहू' (अशुभयोग) ! एक ओर धर्म (पातिव्रत्य) खड़ा था उसके सामने, जो कह रहा था—तुम सती स्त्री हो, पति की इच्छा के अनुसार चलना ही तुम्हारा श्रेष्ठ धर्म है; और याद रखो—तुम्हारे पति ने राम को वन जाने का आदेश दिया है; अतः तुम उन्हें रोक नहीं सकती हो ! दूसरी ओर मचल रहा था उनका सुकुमार, मर्म-मधुर मातृ-प्रेम, जो कह रहा था—कैसे जाने दूँ अपने कलेजे के टुकड़े को जंगल-झाड़ में रहने—सो भी चौदह लम्बे वर्षों के लिए !

हमारा कवि इस धर्म-संकट को स्पष्ट करने के लिए साँप और छुछुन्दर को ला खड़ा करता है : साँप, चूहे के धोखे में, जब छुछुन्दर को पकड़ लेता है, तब वह घोर संकट में पड़ जाता है; क्योंकि अगर उसे खाता है, तो कोढ़ी हो जाता है, और छोड़ देता है, तो अन्धा बन जाता है। अब कोढ़ और अन्धता—दोनों में वह किसे चुने, दोनों तो समान दुःख-प्रद होते हैं।

कौसल्या सोचती हैं :

"राखउँ सुतहि करउँ अनुरोधू। धरम जाइ अरु बंधु बिरोधू ॥
कहउँ जान बन तौ बड़ि हानी। संकट सोच बिबस भई रानी ॥"

संकट-सोच में पड़ी हुई उस सयानी माँ ने ममत्व को छोड़ा और अपने नारी-धर्म को पकड़ा; क्योंकि ममत्व उनका अपना था—निजी स्वार्थ था—किन्तु पति-व्रत लोक-परलोक से जुड़ा हुआ था। और अगर ममत्व का हाथ वह पकड़ती, तो उसका सबसे बड़ा धर्म चला जाता, साथ ही बन्धु-विरोध भी बढ़ता, जो उसकी आत्मा को पसन्द नहीं था। इसलिए व्यापक धर्म के ऊपर कौसल्या ने व्यक्तिगत स्वार्थ को छोड़ने का निश्चय किया, जो उसके लिए सबसे बड़ी निजी 'हानि' थी। कैकेयी का संकुचित-पुत्र-प्रेम जो आँधी उठा रहा था, वह खतरा भी उसके सामने था, और भरत-राम में वह भेद भी बहुत कम करती आई थीं। यों सोच-समझ कर राम की उदार माँ ने बड़ी अद्भुत दृढ़ता दिखाई :

"तात जाउँ बलि कीन्हेहु नीका। पितु आयसु सब धरमक टीका।
राज देन कहि दीन्ह बनु, मोहि न सो दुख लेसु।
तुम्ह बिनु भरतहि भूपतिहि प्रजहि प्रचंड कलेसु॥"

पिता की आज्ञा मान कर बन जाना पुत्र राम के लिए सर्वश्रेष्ठ धर्म है और राम उसी धर्म-पथ पर चल रहे हैं, जिसका समर्थन सभी सज्ञान करेंगे ही; फिर भी कौसल्या निश्चित जानती हैं कि राम के वन-गमन से भरत, राजा और प्रजा सबको प्रचण्ड क्लेश उठाना पड़ेगा। तो अब धर्मात्मा राम ही निर्णय करें :

"जौं केवल पितु आयसु ताता। तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता॥
जौं पितु मातु कहेउ बन जाना। तौ कानन सत अवध समाना॥"

माता कौसल्या का यही कथन माता के सामान्य पदसे और स्त्री के सामान्य धर्म से उठा कर उन्हें 'राम-माता' के दिव्य पद पर बिठा देता है। कौसल्या राम-माता हैं, वह सामान्य धरातल से बोल नहीं सकती हैं। राम के पिता एक हैं, पर माता तो तीन-तीन हैं—केवल कौसल्या का अधिकार उन (राम) पर नहीं है, कैकेयी और सुमित्रा का भी समान अधिकार है। अतः अगर केवल 'पिता' ने राम को वन जाने का आदेश दिया है, तो शास्त्रादेशके अनुसार पिता से माता को श्रेष्ठ मान कर, वह वन न जाएँ; और अगर 'माता-पिता' दोनों का आदेश है, तब तो कानन-निवास उनके लिए सौ-सौ अयोध्या के समान सुख-प्रद होगा! फिर तो आह्लाद और उल्लास के साथ वह जंगल जाएँ!

राम-जननी का यह निरपेक्ष एवं तटस्थ मन्तव्य कितना मनोज्ञ, कितना मनोहर और कितना धर्म-विह्वल है।

वन-जीवन का नूतन चित्र भी उनके नयनों में उभर आता है :

"पितु बनदेव मातु बनदेवी। खग मृग चरन सरोरुह सेवी॥
अन्तहु उचित नृपहि बनबासू। बय बिलोकि हिय होइ हरासू॥"

माता-पिता का स्थान लेंगे बन के देव-देवी, और पशु-पक्षी राम के सेवक बनेंगे। राज-धर्मानुसार चौथे पन में जंगल जाकर तपस्या में लीन होना राजाओं के लिए आवश्यक ही माना गया है, पर राम तो अभी नवयौवन में हैं—यही देखकर कौसल्या का हृदय फटा जा रहा है और ममता-मोह उन्हें घेर रहा है :

"बड़ भागी बनु अवध अभागी। जो रघुबंसतिलक तुम्ह त्यागी॥"

धन्य है आज वन, जहाँ राम जा कर रहेंगे, ओर अभागिन है यह अयोध्यापुरी, जिसे छोड़ कर राम यों चले जा रहे हैं!

फिर अपने हृदय का स्नेह-संकोच भी उनके सामने आ खड़ा होता है :

"जौं सुत कहौं संग मोहि लेहू। तुम्हरे हृदयँ होइ सदेहू॥"

सन्देह दो तरह के थे—एक तो पति को छोड़ कर पुत्र के साथ चला जाना कुछ अनुचित समझा जाएगा; क्योंकि पुत्र कितना भी प्यारा क्यों न हो, नारी के लिए पति के अनुकूल आचरण करना आवश्यक होता है; दूसरा यह भी था कि जंगल के जीवन में अगर कौसल्या को भी ले जाना हुआ, तो राम का कष्ट कितना बढ़ जाएगा; फिर तो राम को माता के 'विवेक' पर ही सन्देह होने लग जाएगा—'माँ मेरा कष्ट क्यों बढ़ा रही हैं?' इसलिए साथ जाने का प्रस्ताव करना कौसल्या से नहीं हो रहा है; और उधर वात्सल्य का ममत्व उन्हें अन्दर-ही-अन्दर नोच-कचोट रहा है! राम केवल अपनी एक माँ के ही प्यारे तो नहीं हैं:

"पूत परम प्रिय तुम्ह सब ही के। प्रान प्रान के जीवन जी के॥"

वह तो जन-जन के जीवन के भी जीवन हैं; फिर जिस माँ ने उन्हें जन्म दिया, पाला-पोसा, वह उनका वन जाना कैसे देखे:

"ते तुम्ह कहहु मातु बन जाऊँ। मैं सुनि बचन बैठि पछिताऊँ॥"

माता का यह कथन बड़ा मर्म-अरुन्तुद हो गया है—ऐसा सर्व-जन के परम प्रिय 'पुत्र' वन जाने की आज्ञा माँगे और वह माँ उसकी बात सुन कर बैठी पछताती रहे, न रोके और न साथ ही जा सके! हाय, कैसी करुण-कोमल और कलेजे में शूल भोंकने वाली यह वेदन-ध्वनि गूँज गई:

"यह बिचारि नहिं करउँ हठ झूठ सनेहु बढ़ाइ॥
मानि मातु कर नात बलि सुरति बिसरि जनि जाइ॥"

विवेकशीला कौसल्या यह सब गुन-धुन कर झूठ-मूठ का स्नेह बढ़ाती हैं और न उसके नाम पर कोई आग्रह ही दिखाती हैं, लेकिन इतना तो वह जरूर याद दिला देती हैं, कि जब उसके साथ माता का नाता जोड़ लिया गया है, तब ममत्व के इस बन्धन को भुलाया न जाए!

समुन्नत सौजन्य और ज्ञान-गम्य ममत्व के भीतर से निकलता हुआ यह मृदुल मनुहार कितना हृदय-हर है!

इसके बाद आस्था-निष्ठा वाली माता का सहज आशीर्वाद, वर्षा-वारि की तरह, बरसने लगता है:

"देव पितर सब तुम्हहिं गोसाईं। राखहुँ पलक नयन की नाईं॥"

कौसल्या मंजुल मातृत्व तथा विमल विवेक—इन दो तत्त्वों से गढ़ी गई हैं; जिनमें पहला और प्रधान तत्त्व है उनका सहज मातृत्व, जो रह-रह कर उनके गौण और अप्रधान विवेक-तत्त्व पर हावी होता रहता है! कवि की कोमल कूची ने दोनों में होड़-सी लगा दी है:

"अवधि अंबु प्रिय परिजन मीना। तुम्ह करुनाकर धरम धुरीना॥
अस बिचारि सोइ करहु उपाई। सबहि जियत जेहि भेंटहु आई॥"

राम के मछली-रूपी प्रिय-परिजन चौदह वर्ष तक अवधि रूपी जल के आधार पर ही जीवित रहेंगे, करुणाकर राम यह न भूलें, कि जल सूखते ही मछलियाँ तड़प कर मर जाएँगी; इसलिए अवधि के अन्दर ही, सबकी जीवितावस्था में अपने आत्मीय जनों से मिलने की बात को वह गाँठ बाँध लें।

यों बिदा और बन्धन दोनों उनके आगे अपनी विपुल बाहें फैला देते हैं :

"जाहु सुखेन बनहिं बलि जाऊँ। करि अनाथ जन परिजन गाऊँ॥"

प्रजा, परिजन और ग्राम—सबको अनाथ बनाकर राम सुख-पूर्वक जंगल चले जाएँ : माता उन्हें इस दुःख-दर्द के साथ विदा करती है, और फिर व्याकुल बन जाती है :

"सब कर आजु सुकृत फल बीता। भयउ कराल काल बिपरीता॥"

हमारा कवि कहता है कि यों विलाप करती हुई कौसल्या राम के चरणों पर लोट गईं, और उस समय जो दारुण दुःसह दुःख व्याप्त हुआ, वह विलाप-कलाप अवर्णनीय है। यह देख कर राम ने उन्हें छाती से लगा लिया और मृदु-मधुर शब्दों में समझा-बुझा कर उन्हें शान्त किया।

आदिकवि वाल्मीकि ने इस प्रसंग का कुछ दूसरा ही रूप उपस्थित किया है, जो तुलनात्मक विवेचन के लिए हमें उकसा रहा है :

हम पहले देख आए हैं कि आदिकवि के राम ने कैसा भीति-प्रद वातावरण कौसल्या के सामने उपस्थित कर दिया था अपने वनवास का समाचार सुनाते हुए। वाल्मीकि कहते हैं कि वनवास का वह विषम समाचार सुनते ही देवी कौसल्या कुल्हाड़ी से काटी गई साल की शाखा के समान सहसा भूमि पर गिर पड़ीं, मानों स्वर्ग से कोई देवांगना गिर पड़ी हो। रामचन्द्र ने अपनी माता को उठाया, उनके शरीर में लगी धूल को राम ने अपने हाथों झाड़ा। फिर कौसल्या दुःख से कहने लगीं, लक्ष्मण भी वहाँ खड़े-खड़े सब-कुछ देख-सुन रहे थे :

"यदि पुत्र न जायेथा ममशोकाय राघव। न स्म दुःखमतो भूयः पश्येयमहमप्रजाः॥"

अगर उसकी कोख से राम उत्पन्न न होते, तो कौसल्या को केवल 'बाँझ' होने का ही दुःख होता, यह पुत्र-वियोग तो उसे नहीं सताता; क्योंकि वन्ध्या स्त्री को केवल पुत्र न होने का दुःख होता है। किन्तु इस कौसल्या का दुःख तो बड़ा लम्बा-चौड़ा है :

"न दृष्टपूर्वं कल्याणं सुखं वा पतिपौरुषे। अपि पुत्रे विपश्येयमिति रामास्थितं मया॥"

उन्होंने पति के प्रेम से प्राप्त होने वाले सुख और कल्याण कभी नहीं देखे हैं। उनकी आशा थी कि पुत्र जब सयाना होगा, तब उनका दुःख दूर हो जाएगा और वह सुखी होंगी, किन्तु अब तो :

"सा बहून्यमनोज्ञानि वाक्यानि हृदयच्छिदाम्। अहं श्रोष्ये सपत्नीनामवराणां परा सती ॥"

बड़ी और सती होने पर भी अपनी छोटी सौतों के मुँह से बहुत-सी अवांछनीय बातें उन्हें सुननी पड़ेंगी। सौतों के ताने सुनने से बढ़ कर स्त्रियों के लिए और कठिन क्लेश क्या होता है! राम के रहने पर भी तो यहाँ उनकी दशा अच्छी नहीं थी :

"त्वयि संनिहितेऽप्येवमहमासं निराकृता। किं पुनः प्रोषिते तात ध्रुवं मरणेव हि ॥"

फिर उनके वन चले जाने पर तो मरण ही निश्चित है। वह अपनी दशा क्या कहें :

"अत्यन्तं गिगृहीतास्मि भर्तुर्नित्यमसंमता। परिवारेण कैकेय्याः समा वाप्यथवाऽवरा ॥"

पति से सम्मान न पाने के कारण उनका बड़ा ही तिरस्कार होता आया है, वह तो कैकेयी की दासियों के बराबर भी नहीं, उनसे भी छोटी समझी जाती रही हैं! और अब तो :

"यो हि मां सेवते कश्चिदपि वाप्यनुवर्तते। कैकेय्याः पुत्रमन्वीक्ष्य स जनो नाभिभाषते ॥"

जो उनके सेवक-अनुचर हैं, वे भी भरत की ओर देख कर उनसे आँखें चुराने लगे हैं—उनसे बात-चीत भी नहीं करते हैं। और कैकेयी का स्वभाव तो वह जानती ही हैं :

"नित्य क्रोधतया तस्याः कथं नु खरवादिनम्। कैकय्या वदनं द्रष्टुं पुत्र शक्ष्यामि दुर्गता ॥"

वह चिर-दुःखिनी हैं, और कैकेयी स्वभाव से ही क्रोधी है; फिर उस कटु-वादिनी का मुँह वह कैसे देख सकेंगी? राम अब सयाने हो गए हैं, इतने वर्ष कौसल्या ने इसी आशा में बिताए हैं कि अब उनका दुःख मिट जाएगा; पर उन्हें तो दुःख-ही-दुःख मिलता आया है। उसी अक्षय दुःख ने उन्हें बूढ़ी भी बना दिया है। अब वह अधिक नहीं सह सकेंगी। उनका हृदय अब तक फट नहीं रहा है, यही महान् आश्चर्य है। प्रतीत होता है, या तो उनका हृदय ही अतीव कठोर है, या मृत्यु के घर में उनके लिए जगह ही नहीं है। पुत्र की मंगल-कामना से उन्होंने जो-जो व्रत-नियम, दान-पुण्य, योग-याग किए हैं, सब व्यर्थ हो गए। यह ध्रुव है कि समय के पहले उनकी मृत्यु भी न होगी। तो न वह दुःख सह सकेंगी, और न मर ही सकेंगी; तब तो एक ही रास्ता रह जाता है उनके लिए :

"अनुव्रजिष्यामि वनं त्वयैव गौः सुदुर्बला वत्समिवाभिकाङ्क्षया ॥"

वह भी राम के साथ वन जाएँगी,—जैसे दीन-दुर्बल गाय अपने बछड़े के पीछे-पीछे चल देती है !

कैकेयी के कारण इस 'पटरानी' कौसल्या का जो दारुण अपमान उस राजमहल में हो रहा था, उसका समर्थन आदिकवि की मंथरा, राजा दशरथ और श्री राम के वचनों द्वारा भी होता है। मन्त्र देते समय मंथरा कैकेयी को इसकी याद दिलाती है :

"दर्यान्निराकृता पूर्वं त्वया सौभाग्यवत्तया। राममाता सपत्नी ते कथं वैरं न यातयेत् ॥"

गर्व-गुवार में आकर वह (कैकेयी) अब तक जो कौसल्या का अपमान करती आई है, राजमाता होते ही वह सौत (कौसल्या) क्या उन सब अपमानोंका बदला नहीं लेगी ?

दशरथ का कथन तो और भी हृदय-विदारक है :

"किं मां वक्ष्यति कौसल्या राघवे वनमास्थिते।
किं चैनांप्रतिवक्ष्यामि कृत्वा विप्रियमीदृशम् ॥"

ऐसा अपराध (राम को वनवास दे) करके वह कौसल्या को कैसे मुँह दिखाएँगे, जो उनकी चिर-संगिनी ही नहीं, बहुत-कुछ रहती आई है :

"यदा यदा ही कौसल्या दासीवच्च सखीव च। भार्यावद्भगिनीवच्च मातृवच्चोपतिष्ठति ॥
सततं प्रियकामा मे प्रियपुत्रा प्रियंवदा। न मया सत्कृता देवी सत्कारार्हा कृते तव ॥"

राजमहिषी कौसल्या ने विविध भावों तथा अनेक रूपों से दशरथ की सेवा की है; कभी भार्या बन कर, कभी दासी होकर, कभी स्नेहमयी बहन की नाईं, तो कभी ममत्व की मूर्ति माता की भाँति जो सदा उनकी शुभ कामना करती प्रिय-वादिनी रही है, और जिसे पुत्र प्राणों से प्यारे हैं, उस कौसल्या को राजा दशरथ कैसे यह दारुण कष्ट दें ? कष्ट तो वह उसे अनेक देते ही आ रहे हैं, जो देवी अपने स्वभाव और आचरण से सहज ही सम्मान की पात्री थी; पर कैकेयी के कारण ही तो उन्होंने कभी उनका उचित आदर नहीं किया !

राजा दशरथ की यह स्वीकारोक्ति ही स्पष्ट कर देती है कि राजमहिषी, जेष्ठा, योग्या, अनुरागिणी, प्रियवादिनी और सेवा-परायणा होते हुए भी रानी कौसल्या की कैसी दुर्दशा थी उस राजभवन में ! लेकिन 'मानस' के कवि ने उस दुर्दशा पर पूरा पर्दा डाल दिया है; क्योंकि न 'राम-जननी' की ऐसी छीछालेदार दिखाना तुलसी को अभीष्ट था, और न राम-पिता दशरथ को ही दुर्बलता के इस निम्न धरातल पर वह खींच लाना चाहते थे। किन्तु आदिकवि को इन सब ऊँची-नीची खन्दक-खाई की चिन्ता नहीं सताती थी; मानव-सुलभ प्रकृति से उन्हें जहाँ जो गुण-दोष सहज दीख पड़े, उन्हें वह निधड़क दिखाते चले गए। इसीलिए सुमन्त के द्वारा पिता को सन्देश भेजते हुए उनके (वाल्मीकिके) राम ने भी दशरथ के प्रति कुछ आक्षेप-जन्य कथन कर दिए हैं :

"शोकोपहतचेश्ताच वृद्धश्च जगतीपतिः । काममारावसन्नश्च तस्मादेतद् ब्रवीमि ते ॥"

यह 'काम भार असन्न' शब्द दशरथ के चरित्र का बहुत कुछ रहस्य खोलता जान पड़ता है, जिसका विवेचन अन्यत्र उपलब्ध होगा।

यहाँ सहज ही एक शंका आ खड़ी होती है, जब दशरथ की दृष्टि में कौसल्या सब तरह से गुण-गौरव-सम्पन्ना हैं, तब किस कारण कैकेयी से वह तिरस्कृता हैं, किस कारण राजा दशरथ के ऊपर उनका वह प्रभाव नहीं रह गया है, और कैकेयी को मनस्वी मनु के अवतार वह पुण्य-प्रथित राजा क्यों इतना आदर देते हैं कि उस रात को भी वह कौसल्या के पास न जाकर कैकेयी का ही द्वार खटखटाते हैं—जब कि प्रातःकाल उसी के पुत्र राम को युवराज बनाने की सारी तैयारी कर चुके थे ?

सहज ही अनुमित होता है कि कैकेयी का कोई बड़ा जादू जरूर दशरथ पर सवार था—जो कौसल्या के कष्ट-क्लेश का मूल कारण था ! क्या था वह जादू ? इसका सम्यक् विवेचन तो कैकेयी के चरित्र-चित्रण के प्रसंग में ही उपयुक्त होगा। यहाँ तो इतना ही कहना अलम् है कि प्रतिष्ठित पति और पुत्र के होते भी, कैकेयी के कारण, कौसल्या अपने इन्द्रपुरी-सम अन्तःपुर में भी अत्यन्त कष्टाकुला हैं—आदिकवि ने इसे सप्रमाण सिद्ध कर दिया है।

वाल्मीकि के वचनानुसार कौसल्या में सामान्य स्त्री-सुलभ सभी दुर्बलताएँ समुचित मात्रा में दर्शनीय हैं। पति की भक्ति वह तन-मन से करती हैं, पर समय-समय पर दुःखावेग से उन्हें कोस भी देती हैं; और फिर तुरत सरल भाव से क्षमा भी माँग लेती हैं। कैकेयी तो उनकी सौत ही थी, उसको कोसने या उसके प्रति असहनशील होने में कोई आश्चर्य नहीं है।

तुलसी की कौसल्या ने जिस मर्यादाका निर्वाह करते राम के रुकने का अनुरोध किया है, वाल्मीकि की कौसल्या में हम उनका वह सुस्थिर विवेक नहीं देख पाते हैं। वह तो जोर डाल कर उन्हें रुक जाने का आदेश देती हैं :

"यथैव ते पुत्र पिता तथाहं गुरुः स्वधर्मेण सुहृत्तया च।"

धर्म और स्नेह के अधिकार से वह (कौसल्या) राम के लिए पिता के समान ही पूज्या हैं, क्योंकि धर्मशास्त्र माता को पिता की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ सिद्ध करते हैं और स्नेह तथा सुहृदयता में कौसल्या-माँ के साथ होड़ करने का दुःसाहस कौन स्त्री कर सकती है ? यों दोनों दृष्टियों से कौसल्या का राम पर पिता से अधिक अधिकार सुरक्षित हो जाता है। अतः वह महिमामयी माँ द्वन्द्व-दुविधा-रहित होकर अपना आदेश सुना देती है :

"न त्वानुजानामि न मां विहाय सुदुःखितामर्हसि गन्तुमेवम् ॥"

राम इस दुःखावस्था में उसे (कौसल्या को) छोड़कर नहीं जा सकते, नहीं, वह उन्हें जाने नहीं देगी। देखें तो भला, वह कैसे और किस अधिकार से माँ की उपेक्षा

करके वन चले जाते हैं ? अगर वह न रुकेंगे, तो कौसल्या का संकल्प भी वह सुन लें :

"कथं धेनुः स्वकं वत्सं गच्छन्तं नानुगच्छति । अहं त्वानुगमिष्यामि पुत्र यत्र गमिष्यसि ॥"

जब पशु-योनि में पैदा हुई एक मूक गाय अपने बछड़े का पीछा नहीं छोड़ती है, तब ममतामयी मानवी माँ अपने प्यारे पुत्र के पीछे-पीछे क्यों न जाएगी ? वह जाएगी, और जरूर जाएगी !

ऐसा जबरदस्त और जोरदार आग्रह था आदिकवि की कौसल्या का।

तुलसी और वाल्मीकि की कौसल्या का क्रमागत तुलनात्मक चरित्र-चित्रण बड़ा ही स्पृहणीय दीखता है।

राम अपनी जननी के धर्म-भीरु प्रेम-विह्वल और दुर्बल-स्वभाव को खूब पहचानते थे। अतः उसको वह स्त्री के 'सनातन-धर्म' का उपदेश देकर उसकी प्रेम-विह्वलता को कुछ संयत कर देना चाहते हैं :

"भर्तुः किल परित्यागो नृशंसः केवलं स्त्रियाः । स भवत्या न कर्तव्यो मनसापि विगर्हितः ॥"

आपत्ति में पड़े पति को छोड़कर जो स्त्री कहीं अन्यत्र जाने की बात सोचती है, वह अत्यन्त नृशंस कर्म करती है। कौसल्या ऐसा गर्हित कर्म कभी मन में भी नहीं लाएँ।

अन्त में राम उन्हें स्पष्ट कह देते हैं :

"यावज्जीवति काकुत्स्थः पिता मे जगतीपतिः । शुश्रूषा क्रियतां तावत्स हि धर्मः सनातनः ॥"

कौसल्या याद रखें कि राजा दशरथ उनके एक सामान्य पति ही नहीं हैं, वह 'जगतीपति' भी हैं। अतः कौसल्या का पातिव्रत्य और भी गुरुतर हो जाता है—अत्यधिक उत्तर-दायित्व उन पर आ जाता है। इसलिए जब तक उनके पति जीवित रहें, कौसल्या उनकी सेवा-शुश्रूषा करती रहें—उनका 'सनातन धर्म' उन्हें यही आदेश देता है।

कौसल्या एक ओर जहाँ दुर्बल-हृदया और धर्म-भीरु हैं, दूसरी ओर वह परम भोली भी हैं। पुत्र के इस धर्मोपदेश से वह जरा भी कुण्ठित नहीं होती हैं, उनकी धर्म-भीरुता तुरत जग जाती है, और सच्चे मन से उसके सामने वह सिर झुका देती हैं :

"एवमुक्ता तु कौसल्या रामेण शुभदर्शना । तथेत्युवाच सुप्रीता राममक्लिष्टकारिणीम् ॥"

राम ने प्रफुल्ल मन से उन्हें शुभोपदेश दिया था—कोई बुरी बात नहीं कही थी, यह सोच कर प्रसन्न मन से उन्होंने उसे मान लिया—'ठीक, तुम जो कहते हो, मैं वही करूँगी।'

लेकिन अपने इस शुभ संकल्प पर वह अधिक देर तक स्थिर नहीं रह पाती हैं—उनकी गहरी मानसिक व्यथा उन्हें बारम्बार विचलित बना जाती है। किन्तु मर्मज्ञ राम का धर्मोपदेश दृढ़ता से चलता है :

"भर्तुः शुश्रूषया नारी लभते स्वर्गमुत्तमम् । अपि या निर्नमस्कारा निवृता देवपूजनात् ॥"

राम बचपन से देखते आए हैं कि 'हारे को हरिनाम' के सदृश कौसल्या पूजा-पाठ और नेम-धर्म में अधिक तल्लीन रहती हैं। इसलिए वह सूक्ष्म संकेत कर देते हैं कि पति की सेवा में लीन लगी रहने वाली स्त्री अगर पूजा-अर्चा न भी करे, तब भी वह उत्तम स्वर्ग को प्राप्त कर लेती है।

कौसल्या शीघ्र इसकी सचाई स्वीकार कर लेती हैं और वन जाने का अपना हठ छोड़ देती हैं :

"गमने सुकृतां बुद्धिं न ते शक्नोमि पुत्रक । विनिवर्तयितुं वीर नूनं कालो दुरत्ययः ॥
गच्छ पुत्र त्वमेकाग्रो भद्रं तेऽस्तु सदा विभो ॥"

भाग्य का विधान बलवान् होता है, कौसल्या उसके आगे नतशिर होती हैं। वह लौटा नहीं सकतीं राम को, तो फिर उनका मार्ग मंगलमय हो, और राम सत्पुरुषों के सन्मार्ग पर दृढ़ता से चलते चलें; किन्तु शीघ्र लौटना भी वह न भूलें।

"न शक्यसे वारयितुं गच्छेदानीं रघूत्तम । शीघ्रमेव निवर्तस्व वर्तस्व च सतां क्रमे ॥"

राम चौदह वर्ष के लिए वन-यात्रा कर रहे हैं, फिर भी भोली माँ उन्हें शीघ्र लौटने का मनुहार सुना ही देती हैं, और साथ ही एक पुष्ट पाथेय उनके आगे रख देती हैं—'वर्तस्व च सतां क्रमे'—मनस्वियों के मार्ग पर बढ़ते जाओ !

कौसल्या की असंख्य एवं अनन्त आकुल आशीर्वाद-राशियों में एक आशीर्वचन पूर्णचन्द्र की ज्योत्स्ना की भाँति, अगजग को शीतल-धारा में नहलाता दीखता है :

"यं पालयसि धर्मं त्वं धृत्या च नियमेन च । स वै राघवशार्दूल धर्मस्त्वामभिरक्षतु ॥"

राम की दृढ़ता देख कर कौसल्या की आकुलता सहम जाती है और वह अत्यन्त गम्भीर बन कर शुभाशीष की वर्षा करने लग जाती हैं। वह धर्मप्राणा हैं—रातदिन धर्म-कर्म में लगी रहती हैं। तथापि वह खूब जानती हैं कि जब तक उनके बेटे में धर्म-पालन की अपनी दृढ़ता नहीं होगी, केवल पूजा-पाठ वाली माँ के आकुल आशीर्वाद उसकी रक्षा नहीं करेंगे—कुछ अपनी पूँजी भी तो चाहिए उस पुत्र के पास। और जब वह अपने प्राण-प्रिय पुत्र राम में उस पूँजी का पहाड़ ही खड़ा देखती हैं, तब उनकी शुभाशा अगजग को छूने लग जाती है—'जिस धर्मका पालन तुम इतनी दृढ़ता और निष्ठा से कर रहे हो, वह धर्म तुम्हारी रक्षा करे !'

धर्मात्मा माँ का यह आशीर्वाद कितना अमोघ है—क्या उसके धर्मरक्षक पुत्र का वसुधा में कोई बाल भी बाँका कर सकता है ?

प्रत्येक माँ कौसल्या का यह आशीर्वाद कण्ठस्थ ही नहीं, हृदयस्थ भी कर ले, तो उनके लाड़लों के तन-मन कितने पुष्ट हो जाएँ—"धर्मस्त्वामभिरक्षतु !"

"दीप बाति नहिं टारन कहऊँ" :

उसी समय सीता भी सास के पास आकर बैठ गई। उसकी मुख-मुद्रा देखते ही कौसल्या समझ गईं, कि यह भी साथ जाने का संकल्प करके आई है। पुत्रवधू का संकल्प तो कुछ अनूठा नहीं लगा सास को, क्योंकि जब माँ होकर वह खुद अपने पुत्र के पीछे जाने को व्याकुल हो उठी थीं, तब पति-प्राणा पत्नी को तो इसका अधिकार सुरक्षित था ही; लेकिन सीता की सुकुमारता, उसके लालन-पालन में अपना ममत्व एवं सतर्क प्रयत्न उन्हें अवश्य कुछ कहने को विवश कर रहे थे। सीता ने उनसे कुछ कहा नहीं था, केवल उनकी आँखें डबडबा रही थीं। बस, मर्मज्ञ सास ने पतोहू की वकालत शुरू कर दी :

सुनो राम, सीता अत्यन्त सुकुमार हैं और सास-ससुर तथा परिजनों की परम प्यारी हैं। यह श्रेष्ठ कुल की पुत्री और पुत्रवधू हैं, और मैंने इन्हें :

"नयन पुतरि करि प्रीति बढ़ाई। राखेउ प्राण जानकिहिं लाई॥
कलप बेलि जिमि बहुबिधि लाली। सींचि सनेह सलिल प्रतिपाली॥"

आँखों की पुतली की नाईं प्यार किया है और अपने प्राण इन्हीं में लगा रखे हैं। कल्पलता की तरह ममता और जतन से इनका लालन-पालन मैंने किया है, और जब उस लता के फूलने-फलने का समय आया तब विधाता वाम बन गया—नहीं जानती इसका परिणाम क्या होगा ?

कौसल्या ने किस ममता से जानकी को रखा है, इसके एक-दो उदाहरण भी वह दे देती हैं :

"पलंग पीठ तजि गोद हिंडोरा। सियँ न दीन्ह पगु अवनि कठोरा॥"

सीता जब से ससुराल आईं, सास ने कभी उन्हें कठोर धरती पर पैर नहीं रखने दिया है, उन्हें सदा किसी-न-किसी आसन पर ही रखा है—कभी पलंग पर, कभी पीढ़े पर, तो कभी झूले पर।

यही नहीं :

"जिअनमूरि जिमि जोगवत रहऊँ। दीप बाति नहिं टारन कहऊँ॥"

संजीवनी जड़ी की तरह बड़े जतन से जुगाती आई हैं—बड़ी हिफ़ाज़त से रखती आई हैं। कभी कोई काम उन्हें नहीं करने दिया है—यहाँ तक कि कभी दीप की बत्ती भी उकसाने को नहीं कहा।

इस प्रसंग में एक कथा कही जाती है कि एक समय अयोध्या में कोई ऐसी पिशाच-बाधा उपस्थित हुई, जिसकी शान्ति के लिए कुछ गुणी जनों ने कौसल्या को यह सुझाया कि अगर सीता अपने हाथ से दीप की बत्ती उकसा दें तो वह बाधा मिट जाएगी। परन्तु कौसल्या ने इसे स्वीकार नहीं किया—भला सीता-सी सुकमार

पतोहू को दीप की बत्ती उकसाने को कहा जाए ? नहीं, कौसल्या यह तुच्छ काम सीता को नहीं करने कहेंगी !

इससे बढ़ कर ममता और दुलार का प्रमाण और क्या हो सकता था, दुर्भाग्य का क्या कहना—आज वही सीता चौदह वर्ष के लिए घोर जंगल में भटकने को तैयार हैं ! कौसल्या का हृदय कैसा कटा जा रहा है। वह क्या कहें ? सीता के सर्वस्व तो हैं राम—क्या आज्ञा देते हैं, वह :

"सोई सिय चलन चहति बनु साथा। आयसु काह होइ रघुनाथा॥"

कौसल्या पातिव्रत्य की महिमा जानती हैं, इसलिए निर्णय का भार राम के ऊपर छोड़कर अपनी सलाह सामने रख देती हैं। उनकी दृष्टि में सीता जंगल जाने के योग्य नहीं हैं—उसके लिए विधाता ने कठोर प्रकृति वाली कोल-किरात की किशोरियों को ही रचा है। हाँ, कुछ तपस्वियों की पत्नियाँ अवश्य जंगल में रहती हैं, पर उन्होंने जान-बूझकर भोग-विलास को छोड़ दिया है। सीता की तो वह उम्र भी नहीं है—वह क्यों जंगल जाएँ ?

सीता की सुकुमारता के साथ उनकी भीरु-प्रकृति से भी कौसल्या खूब परिचित हैं, चित्र में अंकित बन्दर को भी देख कर वह डर जाया करती हैं, फिर भला खूँ-ख्वार जानवरों से भरे जंगल में वह कैसे रह सकती हैं ?

यों कहते-कहते उनके मुँह से एक स्वार्थ की बात भी निकल जाती है :

"जो सिय भवन रहे कह अंबा। मोहि कहँ होइ बहुत अवलंबा॥"

राम तो जा ही रहे हैं माँ को अनाथ बना कर, अगर सीता भी उनके पास रह जाएँ तो उनके प्राणों के लिए कुछ आधार हो !

राम ने सीता को जो समझाया-बुझाया और उसका जो परिणाम हुआ, वह सब हम सीता के चरित्र-प्रसंग में देख आये हैं। जब बेटा-पतोहू दोनों जाने को तैयार होकर कौसल्या के चरण छूने लगे, तब उनको जो व्याकुलता हुई, कौन कवि उसका यथातथ्य वर्णन कर सकता है। मानस का कवि उसकी केवल झाँकी दिखा देता है :

"बेगि प्रजा दुख मेटब आई। जननी निठुर बिसरि जनि जाई॥
सुदिन सुघरी तात कब होइहि। जननी जिअत बदन बिधु जोइहि॥
बहुरि बच्छ कहि लालु कहि रघुपति रघुबर तात।
कबहिं बोलाइ लगाइ हियँ हरषि निरखिहउँ गात॥"

कौसल्या राम से अनुरोध करती हैं—शीघ्र आकर प्रजा का दुःख मिटाना और कहीं यह निष्ठुर माँ न भूल जाए, इसका भी ख्याल रखना। इतना कहते-कहते वह फिर व्याकुल हो जाती हैं—"हाय, फिर वह शुभ दिन कब आएगा जब मैं तुम्हें बच्चू, लाल, रघुपति और रघुवर कह कर बुलाऊँगी और छाती में लगा कर हर्षित मन से तुम्हारी शरीर-शोभा को जी भर कर निरखूँगी !"

अत्यन्त स्वाभाविक चित्रण है एक विह्वल-हृदया माँ का।

आशीर्वाद की अवारित वर्षा तो रिम-झिम झरती ही रहती थी उनके मुँह से। सीता को भी उसमें नहला कर उन्होंने अपने कलेजे पर पत्थर रखा और निष्प्रभ नयनों से देखते अपने दोनों जीवनाधार को विदा कर दिया।

सचमुच इस महान् विपत्ति को बर्दाश्त करने के लिए कितने धैर्य, कितने विवेक और कितनी मनस्विता की माँग है, और सो भी एक भोली माँ से जहाँ धीमानों का भी रोम-रोम सिहर उठता।

यहाँ आदिकवि की कौसल्या ने सीता को अपने बाहु-पाश में बाँध कर आशीर्वाद देते हुए जो असती नारी के स्वभाव का चित्रण किया है वह पाठकों को आश्चर्य में डाल देता है। नमूने के कुछ श्लोक उपस्थित किए जाते हैं :

"असत्यः सर्वलोकेऽस्मिन सततं सत्कृताः प्रियैः।
भर्तारं नानुमन्यन्ते विनिपातगतं स्त्रियः॥"

जो स्त्रियाँ स्वामी के द्वारा सब तरह से सम्मानित होने पर भी उनकी गिरी अवस्था में उनका आदर-मान नहीं करती हैं वे असती कहलाती हैं।

यहाँ तक तो सास ने ठीक ही कहा—यद्यपि इसकी जरूरत सीता ने महसूस न की होगी; क्योंकि न वह असती थीं, न उनका कोई आचरण ही आपत्ति-जनक था। फिर भी कौसल्या के अन्तर में जो बहुत दिन से उमड़-घुमड़ रहा था वह आवेग निकल ही पड़ा।

"एष स्वभावो नारीणामनुभूय पुरा सुखम्।
अल्पमप्यापदं प्राप्त दुष्यन्ति प्रजहत्यपि॥"

पति के साथ चिरकाल तक खूब-सुख-भोग का अनुभव करने वाली स्त्रियाँ भी, यदि थोड़ी भी आपत्ति पति के ऊपर आ जाए, तो निधड़क पति को कोसने लग जाती हैं और उसका संग भी छोड़ देती हैं।

अवश्य ही यह असंस्कृत स्वभाव असती स्त्रियों का है। यहाँ कौसल्या का आरोप और भी उग्र हो जाता है :

"असत्यशीला विकृता दुर्गा अहृदयाः सदा।
असत्यः पापसंकल्पाः क्षणमात्र विरागिणः॥"

वे स्त्रियाँ मिथ्या-लापिनी, विकार-ग्रस्ता और हृदयहीना होती हैं, उनकी गति-विधि का पता दुर्गम होता है, उनके मन में पाप का संचलन होता रहता है और वे क्षणान्तर में बदल जाती हैं—अवश्य ही वे असती कहलाती हैं। न वे कुलोचित मर्यादा का खयाल करती हैं, न किए हुए उपकार का ही ध्यान उन्हें रहता है, समझाने-बुझाने का भी कोई असर उनके हृदय पर नहीं पड़ता—ऐसी अनित्य-हृदया वे होती हैं।

इसके विपरीत :

"साध्वीनां तु स्थितानां हि शीले सत्ये श्रुते स्थिते ।
स्त्रीणां पवित्रं परमं पतिरेको विशिष्यते ॥
स त्वया नावमन्तव्यः पुत्रः प्रव्राजितो वनम् ।
तव देवसमस्त्वेष निर्धनः सधनोऽपि वा ॥"

जो स्त्रियाँ सती हैं वे शीलमती और सत्यवादिनी होती हैं, प्रबोध में उनका श्रद्धा-विश्वास होता है, आदर से वे बड़ों की सुनती हैं, सत्कुलोचित मर्यादा के भीतर रहती हैं। ऐसी स्त्रियों का एक पति ही परम पवित्र देवता होता है, वही सर्वश्रेष्ठ श्रद्धा-भाजन व्यक्ति होता है।

यह कहकर कौसल्या अब अपने उद्देश्य पर आती हैं : उनका पुत्र आज वनवासी हो रहा है, सीता इस विपत्ति में उसकी अवमानना नहीं करें, वह (उनका पुत्र राम) धनी हो या दरिद्र, सीता के लिए वही परम देवता है !

सन्नारी सीता ने इसके जवाब में जो कुछ कहा, वह दर्प-दीप्त नारी के हृदय को खोल कर रख देता है। कौसल्या ऐसा क्यों कह रही हैं ? सीता राजा की बेटी हैं, राजा की पतोहू हैं, राज-भवन के असीम लाड़-प्यार में पली हैं; फिर भी असती नारी का स्वभाव उनमें नहीं है। शायद कौसल्या अपना अगम्य अनुभव ही सुना गई हों; क्योंकि उनके उस राज-भवन में उनकी सौत होने वाली कितनी ही वैसी रानियाँ होंगी, जिनका प्रतिनिधित्व करती होंगी वह कैकेय-कुमारी। शायद तत्कालीन राजकुल की भोगाभिलाषिणी कुमारियों की यह प्रकृति ही बन गई हो—जैसा आज भी सभ्यताभिमानी तथा अत्युन्नत कहलाने वाले देशों में मानिनी महिलाओं का यह सामान्य 'फैशन' होता जा रहा है।

जो भी हो, 'मानस' के सरल कवि को यह सब उपदेश नहीं भाया और वह आदिकवि से किस तरह कतरा गया—हम देख आए हैं। आदिकवि निर्द्वन्द्व और निश्चिन्त होकर अपने अनुभव-जन्य मानव के मनोजगत् का जंजाल दिखाते चले जाते हैं, पर तुलसी बड़ी सतर्कता से अपने चरम लक्ष्य पर दृष्टि गड़ाए, उसी के मंजुल आलोक में अपने प्रत्येक शब्द को तौलते तथा तदोत्थित प्रत्येक चित्र को परखते-पहचानते, चुपचाप चले गए हैं।

नारी-स्वभाव के कुछ क्षोभ-जनक शब्द तुलसी के 'मानस' में भी यत्र-तत्र मिल जाते हैं, पर वे अपने उचित स्थान पर हैं। सच पूछा जाए तो वे कथन चाहे किसी भी व्यक्तिविशेष के क्यों न हों, हमारा नवचेतनशील नारी-समाज उन्हें सहन नहीं करेगा; और वह भी आदिकवि की सीता के सदृश्य ही कृतांजली पुकार उठेगा :

"करिष्ये सर्वमेवहमार्या यदनुशास्ति-माम् । अभिज्ञास्मि यथा भर्तुर्वर्तितव्यं श्रुतं च मे ॥

आर्या (कौसल्या) ने जो कुछ उपदेश दिया सीता अवश्य करेंगी; क्योंकि

पति के साथ कैसा बर्ताव किया जाना चाहिए, उसका सम्यक् ज्ञान उन्हें है—वैसी शिक्षा-दीक्षा उन्हें काफी मिली है।

आज की नूतन नारी जनकात्मजा की भाँति यह भी कहना न भूलेंगी :

"न मामसज्जनेनार्या समानयितुमर्हति। धर्माद्विचलितुं नाहमलं चन्द्रादिव प्रभा॥"

आर्ये, आप हमारी तुलना असती स्त्रियों के साथ न करें, विश्वास रखें—हम अपने सनातन धर्म से कभी विचलित नहीं होंगी :

"नातन्त्री विद्यते वीणा ना चक्रो विद्यते रथः।
नापतिः सुखमेधेत या स्यादपि शतात्मजा॥"

बिना तार के वीणा नहीं बजती है, और न बिना चक्के के कोई रथ ही दौड़ता है, फिर स्त्रियाँ—भले ही सौ-सौ सन्तान से भरी-पूरी क्यों न हों, पति के बिना सुखी नहीं हो सकती हैं; क्योंकि वे जाती हैं :

"मितं ददाति हि पिता मितं भ्राता मितं सुतः।
अमितस्य तु दातारं भर्तारं का न पूजयते॥"

माता-पिता हों, भाई-बन्धु हों, या बेटे-बेटी ही क्यों न हों, स्त्रियों के लिए वे सब सीमित ही सुख देने वाले होते हैं, केवल पति ही ऐसा है जो उन्हें असीम सुख दे सकता है; फिर भला कौन ऐसी मूर्खा होगी कि यह सब जान-बूझ कर भी, पति की पूजा न करेगी ?

भारत-भूमि की आत्मा नारी ही रही है। वह आज भी सोल्लास घोषित करेंगी :

"साहमेवंगता श्रेष्ठा श्रुतधर्म परावरा। आर्ये किमवमन्येयं स्त्रिया भर्ता हि दैवतम्॥"

सीता ने गुरुजनों से उत्तम और अधम दोनों तरह की स्त्रियों का धर्म सुन रखा है; और वह समझ चुकी हैं कि स्त्रियों के सर्वश्रेष्ठ आराध्य और पूज्य एक मात्र पतिदेव हैं, फिर भला वह अपने देवता की अवमानना कैसे कर सकेंगी ?

सीता की उक्ति में वीणा और रथ की जो तुलना आई है वह नर-नारी के सहयोगात्मक जीवन की कैसी मार्मिक व्याख्या उपस्थित करती है। ठीक, जैसे बिना तार के वीणा नहीं बज सकती है, और बिना पहिए के गाड़ी नहीं चल सकती है, नर-नारी के पारस्परिक सहयोग के बिना किसी मानव का जीवन सुचारुरूपेण गतिशील नहीं हो सकता है।

सीता के उस उत्तर से कौसल्या एक साथ कितनी संकुचित, कितनी उत्फुल्ल, कितनी गर्व-गौरवान्वित तथा उत्साहित हुई होंगी।

आदिकवि ने इसी रहस्योद्घाटन के लिए ही यह प्रसंग यहाँ खड़ा कर दिया है—जिसका असर बहुत दूर तक पड़ता है।

सास की उस सीखभरी चुनौती को सीता ने किस गूढ़ संकल्प से अपनाया और उस कसौटी पर कसी जाने पर वह कैसी खरी उतरीं—यह सब हम कलेजे की धड़कन रोक कर देख आए हैं; और आज का यह नव-जाग्रत स्त्री-समाज अपना कैसा ललाम आदर्श उपस्थित करेगा—नई पीढ़ी इसकी सोल्लास प्रतीक्षा करेगी।

"धीरजु धरिअ त पाइअ पारू" :

सीता और राम जब साशीर्वाद कौसल्या से विदा लेकर चले जाते हैं, तब उस राजभवन में जो अँधेरा छा जाता है, जैसी दम-घोंट बिथा फैलती है, उसका प्रधान शिकार तो दो ही व्यक्ति बने थे वहाँ—एक अपराधी राजा दशरथ और दूसरी उनकी निरपराधिनी रानी कौसल्या। दोनों को थोड़ी आशा थी कि शायद सुमन्त्र जंगल दिखाकर सीता को लौटा लाएँगे। राम न भी लौटें, पर भयावह वन को देखकर सीता अवश्य डर जाएँगी और सुमन्त्र उन्हें समझा-बुझा कर कम-से-कम उस सुकुमारी को तो लौटा लाएँगे, जिससे दोनों के प्राण बच सकें। किन्तु सुमन्त्र के लौटने पर सब की वह क्षीण आशा भी जाती रही; और तब अनुतप्त अपराधी के प्राण-पखेरू पंख फड़-फड़ाने लग गए। उसके बहुत पहले ही दशरथ के ऊपर से कैकेयी का जादू उतर चुका था और वह कौसल्या के कक्ष में उठ आए थे। चिर-संगिनी, सरलमना, विवेकयुता राजमाता उस डूब रहे जहाज की देख-भाल में चिन्तामग्न हो रही थीं। अपराधी के प्राण अब-तब में थे और उस मरण-तत्पर मानव की विकलता देखी नहीं जाती थी :

"प्रान कंठगत भयउ भुआलू। मनि बिहीन जनु ब्याकुल ब्यालू॥
इन्द्रीं सकल बिकल भईं भारी। जनु सर सरसिज बनु बिनु बारी॥"

कवि ने उस विकलता को विस्पष्ट करने के लिए जो अप्रस्तुत यहाँ ढूँढ़े हैं वे उपमान उसकी थाह लेने में असमर्थ हो रहे हैं, और बाट के हलके पड़ने के कारण व्यथा का पलड़ा नीचे ही झुकता चला जा रहा है, जो झुँझलाहट पैदा कर देता है—मणि-विहीन व्याल की दुर्दशा कुछ कल्पना में आ भी जाती है, पर बिना पानी के कमल-वन की कष्ट-कथा उस प्रथित-प्राण पाहुन की बिदाई की छटपटाहट को स्पष्ट नहीं कर पाती है।

बिरले ही प्रसंगों में तुलसी की अप्रस्तुत-योजना यों अक्षम-सी जँचे।

कौसल्या दशरथ की उस महायात्रा को देखकर जाने क्या-क्या गुन-धुन रही हों, किन्तु हमारा कवि उनके प्राणों में न घुस कर उनके विवेक का ही पट खोलता है :

"कौसल्या नृपु दीख मलाना। रबिकुल रबि अंथयउ जियँ जाना॥
उर धरि धीर राम महतारी। बोली बचन समय अनुसारी॥"

यहाँ भी 'मलाना' और 'अनुसारी' प्रसंग के प्रबल प्रवाह में आँखों से ओझल

हो जाते हैं और गूँजता रह जाता है केवल एक शब्द "राम महतारी"। हाँ, वह राम की माँ हैं, इसलिए घोर कष्ट में भी अपना मानसिक सन्तुलन नहीं खो रही हैं। वह माँ साफ देख रही हैं कि सूर्यकुल का यह सूर्य (दशरथ) अब अस्त होने ही जा रहा है, अतएव समयानुकूल उसे कुछ धीरज बँधा देना उचित है :

"नाथ समुझि मन करिअ बिचारू। राम बियोग पयोधि अपारू॥
करनधार तुम्ह अवध जहाजू। चढ़ेउ सकल प्रिय पथिक समाजू॥"

राम का वियोग अपार सागर-सा बौखला उठा था, उसमें अयोध्या ही जहाज बन कर थपेड़े खा रही है; उस जहाज पर चढ़े हुए हैं यात्री के रूप में समस्त प्रिय परि-जन-समाज, और उस जहाज के कर्णधार हैं यह महाराज दशरथ : अगर इनका ही होश जाता रहा तब जहाज और उसके यात्री-दल को कौन सम्हालेगा ?

'धीरज धरिअ त पाइअ पारू। नाहित बूड़िहि सब परिवारू॥"

इसलिए जहाज-रक्षा की दृष्टि से यह अत्यन्त आवश्यक है कि उसका कर्णधार अपना धैर्य और विवेक बनाये रखे; अगर वही यों घबरा जाएगा तब तो सारा समाज ही उसके साथ डूब जायगा।

कौसल्या की यह सीख सामयिक जँचे या न भी जँचे, पर कवि-प्रयुक्त यह 'सांग रूपक' कितना मर्म-व्यंजक है—भाव को कितना गहरा और व्यापक बनाकर सामने ला खड़ा करता है !

आशामयी अबला ने यह भी भरोसा दिया :

"जौं जियँ धरिअ बिनय पिय मोरी। रामु लखनु सिय मिलहिं बहोरी॥"

लेकिन कंठगत-प्राण को यह सब क्या सुन पड़ता—दिगन्त-विस्तृत दावाग्नि उन ओस-कणों से क्या बुझती !

यहाँ सुमन्त्र के लौटने पर आदिकवि की कौसल्या की अवस्था कैसी है, दशरथ के साथ उनका बर्ताव कैसा है, इसकी भी कुछ झलक ले ली जाए। सुमंत्र ने राजा को जो सन्देश सुनाया उससे वे मूर्च्छित होकर जमीन पर गिर पड़े, सारे रनिवास में कोलाहल मच गया। तब कौसल्या ने सुमित्रा के सहयोग से राजा को उठाया और कुछ व्यंग्य तथा कुछ उपालम्भ के स्वर में कहा :

"इमं तस्य महाभाग दूतं दुष्करकारिणः। वनवासादनु प्राप्तं कस्मान्न प्रतिभाषसे॥"

हे महाभाग, अत्यन्त दुष्कर कार्य करके यह दूत वनवास से राम का सन्देश लेकर आए हैं, फिर आप उनसे बोलते क्यों नहीं ?

"अद्येममनयं कृत्वा व्यपत्रपसि राघव। उत्तिष्ठ सुकृतं तेऽस्तु शोकेन स्यात्सहायता॥"

अन्याय करके आप यों लज्जित क्यों होते हैं, यह तो अन्याय नहीं, आपका सत्यादर्श है। अतः आप उठें—सुकृत तो हो ही चुका है, फिर इस शोक से क्या लाभ ?

उनका व्यंग्य और भी तीक्ष्ण होता जाता है :

"देव यस्या भयाद्रामं नानुपृच्छसि सारथिम्। नेह तिष्ठति कैकेयी विश्रब्धं प्रतिभाष्यताम्॥"

जिसके डर से आप यों स्तब्ध हो रहे हैं, वह आपकी प्रेयसी कैकेयी यहाँ उपस्थित नहीं है; अतः आप निधड़क इन (दूत) से बातचीत कीजिए—राम का कुशल-मंगल पूछिए।

सारी शक्ति से तन कर शिकार पर जो बाण छोड़ता है, कभी-कभी आवेग के आवर्त में पड़कर, खुद उलट जाता है, चित-पट हो जाता है! कौसल्या की भी वही दशा हुई :

"सा तथोक्ता महराजं कौसल्या शोक लालसा। धरण्यां निपपाताशु वाष्पविप्लुत भाषिणी॥"

कौसल्या शोकाभिभूत तो थीं ही, ऐसा कहते-कहते वह गद्-गद् कण्ठ हो गईं और धड़ाम से भूमि पर गिर पड़ीं! सरल-हृदय का आवेग ऐसा ही अन्धा आघात करता है! आदिकवि की कौसल्या सरला, सामन्या, और भावाकुल हैं—भावावेग उन्हें तुरत झकझोर देता है और हृदय जैसा अनुभव करता है, वाणी निस्संकोच उसे प्रकट कर देती है : विवेक या बुद्धिमानी का अंकुश उस पर नहीं रह जाता है।

हृदय भावों का निर्मल दर्पण होता है, परिस्थितियों के प्रसंग से उत्थलित उस पर जो भी भाव-चित्र अंकित होते हैं, विवेक या बुद्धि से उन्हें दबाया-उभारा जा सकता है—जैसा फोटोग्राफी में देखा जाता है। ढोंगी भी अपने भावों को दबाना और उछालना जानता है, पर उसका उद्देश्य कुत्सित होता है—स्वार्थ से भरा होता है; और विवेक का संयम सदुद्देश्य-पूर्ण होता है। आदिकवि की कौसल्या में इन दोनों अंकुशों का अभाव दीखता है—न वह तुलसी की कौसल्या की भाँति विवेकाश्रिता हैं, न उनमें स्वार्थमयी कोई चालाकी ही दीखती है। वह एकदम निर्मल आइना हैं—उनका हृदय और उनकी वाणी एक है, जैसी तरंग उठी, वाणी ने उसे उसी रंग में चित्रित कर दिया। इसीलिए दशरथ से उन्होंने जो कुछ कहा, बड़ा ही स्वाभाविक और अति-परिचित जान पड़ता है—परिणाम भले ही उसका चाहे जैसा कड़ुआ हो।

'मानस' के कवि ने अपनी दृष्टि और अपनी रुचि से कौसल्या के चरित्र में जो परिवर्तन किए हैं, उनका मूल्यांकन मर्मज्ञ कर सकते हैं। चरित्र-चित्रण की विशालता और अगाधता की दृष्टि से वाल्मीकि अनूठे हैं—कोई कवि उन्हें छूने का साहस नहीं कर सकता है; पर मार्मिकता, विवेकशीलता तथा दृष्टि की सूक्ष्मता में 'मानस' का सरल कवि जरा भी अमूल्य नहीं जँचता है, प्रत्युत अपने पद-पद में वह पाठकों के अपूर्व उल्लास का पात्र ही होता जाता है। इसका साक्ष्य भी कोई निष्पक्ष, रसभूयिष्ठ, शब्द-पारखी सहृदय ही कर सकता है।

जो भी हो, आदिकवि की कौसल्या गाछ से गिरे हुए मर्माहत दशरथ को मुँगड़ी से मारती, उनके जले-कटे हृदय पर नमक ही रगड़ती जान पड़ती हैं—इसका अनुभव तो सभी को होगा ही।

वाल्मीकि के सुमन्त्र ने कौसल्या के प्रति राम का जो सन्देश दशरथ को सुनाया, उसमें एक अंश बड़ा ही मार्मिक है, और उनके स्वभाव को बहुत-कुछ खोल देता है :

"धर्मनित्या यथाकालमग्न्यगारपरा भव। देवि देवस्य पादौ च देववत्परिपालय॥"
अभिमानं च मानं च त्यक्त्वा वर्तस्व मातृषु। अनुराजानमार्यां च कैकेयीमम्ब कारय॥
"कुमारे भरते वृत्तिर्वर्तितव्या च राजवत्। अर्थज्येष्ठा हि राजानो राजधर्ममनुस्मर॥"

राम विवेकवान् हैं, उनका वह अंकुश सदा उदग्रीव रहता है—जहाँ भी उसकी आवश्यकता उन्हें दीखी, निस्संकोच उसका प्रयोग वह कर देते हैं। यह नहीं कि उनके मन में कोई दुर्बलता कभी दीखती ही नहीं, पर अपने ऊपर भी उनका वह ज्ञानांकुश निर्ममता से चुभता रहता है। इसीलिए राम की मनस्विता उत्तरोत्तर बढ़ती गई और वह नर से नरोत्तम तथा धीरे-धीरे महात्मा ही नहीं, परमात्मा के पद पर भी पहुँच गए हैं।

अपनी माँ के स्वभाव से वह खूब परिचित हैं, अतः उनका आग्रह है कि माँ तत्परता के साथ धर्म-पालन करें, यथासमय होम-हवन करें, देवतुल्य दशरथ की सेवा-शुश्रूषा में निरत रहें, उनकी अन्य माताओं के साथ भी वह मान-अभिमान छोड़ कर आदर-युक्त बर्ताव करें; और राजा जिस कैकेयी के वश में हैं, उसे भी वह अनुकूल बनाने का प्रयत्न करें। छोटे भाई भरत अब राजा हैं, उन्हें वह छोटा न समझें—राजा के समान ही आदर दें।

इस सन्देश का इतना ही मर्म है कि कौसल्या अपने ऊपर विवेक का अंकुश बनाए रखें और अपनी शोक-विह्वलता में वह कर जब-न-तब आँधी-तूफ़ान न उठाएँ—भावावेग में उलझ कर कटुता, कोप तथा कुत्सितता को उभरने न दें।

भली और भोली कौसल्या, समझाने पर जैसे तुरत समझ जाती हैं, वैसे ही तुरत भूल भी जाती हैं सब कुछ; और पुत्र वियोग के शोक की ज्वाला पुनः धक-धक कर के जलने लग जाती है उनके हृदय में—जो उन्हें अति-सामान्य नारी के स्तर पर उतार देती है।

इसका एक और चित्र सामने आता है :

दुःस्थिति में पड़े दशरथ के पास वह शोक-मग्न बैठी हैं और उनका मन राम के पीछे-पीछे जंगल के झाड़-झंखाड़ों में उलझ रहा है, वहाँ के कुश-कण्टक उनके मन को भी बेध रहे हैं; और वह दर्द उलट कर दशरथ पर बरस पड़ता है। पहले तो साधारण ढंग से वह अपने को ही कोसती हैं :

"वज्रसारमयं नूनं हृदयं मे न संशयः। अपश्यन्त्या न तं यद्वै भवतीदं सहस्रधा॥"

अपने हृदय को 'वज्रसार' के समान कठोर बताती हैं; क्योंकि अगर वह वैसा

कठोर न होता, तो राम को न देख इसके हजारों टुकड़े न हो जाते ! यह कहते-कहते वह दशरथ पर बरस पड़ती हैं :

"यतत्वया करुणं कर्म व्यपोह्य मम बान्धवाः। निरस्ता परिधावन्ति सुखार्हाः कृपणा वने ॥"

कौसल्या के उन प्रिय परिजनों (राम-लक्ष्मण-सीता) को दशरथ ने ही तो वन-वन भटका दिया है, जिन्हें सुख भोगना था, वे अब कठोर कष्ट उठा रहे हैं ।

तुरत उन्हें एक विचित्र बात सूझ जाती है और उसकी तुलना में भी वह एक ऐसी बात कह बैठती हैं, जो घर की कोई बड़ी-बूढ़ी ही सोच सकेगी । राम पन्द्रह वर्ष के बाद लौटेंगे और तब तक राज्य का उपभोग भरत करते रहेंगे । नर-व्याघ्र अभिमानी राम क्या अपने छोटे भाई के द्वारा उपभुक्त यह 'जूठा' राज्य फिर लेने को तैयार होंगे ? कौसल्या को इसका विश्वास नहीं होता है :

"न परेणाहृतं भक्ष्यं व्याघ्रः खादीतुमिच्छति ।
एवमेव नरव्याघ्रः परलीढं न मन्यते ॥"

जैसे बाघ दूसरे के शिकार पर मुँह नहीं लगाता है, राम भी भरतोपभुक्त इस राज्य का स्पर्श नहीं करेंगे ।

इस प्रसंग में वह श्राद्ध तथा यज्ञादि के शास्त्र-सम्मत कई विधि-विधानों का उल्लेख करके अपनी आशंका का समर्थन करती अन्त में स्पष्ट कर देती हैं :

"नैवंविधमसत्कारं राघवो मर्षयिष्यति । बलवानिव शार्दूलो बालधेरभिमर्शनम् ॥"

जैसे शक्ति-पुंज शार्दूल अपनी पूँछ कटवाना नहीं चाहता, उनका विश्व-विख्यात वीर पुत्र राम भी यह अपमान (जूठा राज्य लेना) नहीं बर्दाश्त करेगा । अर्थात् वह इस राज्य का फिर कभी मुँह नहीं देखेगा—राम फिर अयोध्या नहीं लौटेंगे ।

यह सोचते ही उनकी क्रोधाग्नि दहक उठी और दशरथ को दग्ध करने लगी—जैसा कि प्रायः साधारण घरों में सर्वत्र देखा जाता है :

"स तादृशः सिंहबलो वृषभाक्षो नरर्षभः । स्वयमेव हतः पिता जलजेनात्मजो यथा ॥"

उनके राम सिंह के सदृश बलवान् हैं और वृषभ के समान स्कन्ध वाले हैं, किन्तु जैसे बड़ी मछली अपनी सन्तान को स्वयं खा जाती है, राम के पिता ने भी उन वीर तथा धर्मात्मा राम का सर्वनाश कर दिया है उन्हें जंगल भेजकर । और इसका कटु फल तो कौसल्या को भोगना होगा, क्योंकि वह निर्यातिता नारी हैं :

"गतिरेका पतिर्नार्या द्वितीया गतिरात्मजः । तृतीया ज्ञातयो राजंश्चतुर्थी नैव विद्यते ॥"

स्त्री के तीन ही आधार होते हैं : पहला पति, दूसरा पुत्र और तीसरा भाई-बन्धु । कौसल्या के लिए तीनों में से एक भी न रहा । वह स्पष्ट कहती है :

"तत्र त्वं मम नैवासि रामश्च वनमाहितः । न वनं गन्तुमिच्छामि सर्वथा हा हता त्वया ॥"

पति (दशरथ) तो उनके लिए नहीं के बराबर ही हो गए हैं (निश्चय ही कैकेयी के वश में आकर), पुत्र वनवास कर रहा है, उसके पास जाकर रहने की इच्छा भी नहीं रही उनकी (राम ने इसका घोर विरोध जो कर दिया है), फिर तो सब तरह से उनका नाश हो ही गया।

और दशरथ ने केवल एक कौसल्या का ही नहीं, समस्त राष्ट्र का सर्वनाश कर दिया है। कौसल्या का यह कथन बड़ा ही हृदय-विदारक है :

"हतं त्वया राष्ट्रमिदं सराज्यं हताः स्म सर्वाः सह मन्त्रिभिश्च।
हता सपुत्रास्मि हताश्च पौराः सुतश्च भार्या च तव प्रहृष्टौ॥"

यह राष्ट्र, यह राज्य-परिषद्, यह नगर, उसके निवासी तथा सपुत्र वह (कौसल्या) नष्ट प्राय हैं, और इसका कारण हैं केवल राजा दशरथ, जिन्होंने अपने पुत्र और पत्नी (निस्सन्देह भरत और कैकेयी) की प्रसन्नता के लिए यह सर्वनाश कर दिया है।

कौसल्या के इस मर्म-छेदन से दशरथ किस तरह तड़प उठे होंगे, कवि के शब्दों में ही सुना जाए :

"इमां गिरं दारुणशब्दसंहितां निशम्य रामेति मुमोह दुःखितः।
ततः स शोकं प्रविवेश पार्थिवः स्वदुष्कृतं चापि पुनस्तथास्मरत्॥"

ऐसे अवसरों पर साधारण समझवाली स्त्रियाँ अपने अनुतप्त पति के आहत हृदय पर इसी तरह निर्मम आघात करती देखी जाती हैं, जिससे उनका रहा-सहा होश-हवास भी हवा हो जाता है, और या तो वे गोली खाए बाघ की तरह शिकारी पर ही उलट पड़ते हैं, या व्याकुल होकर अपना ही गला घोंट लेते हैं।

दशरथ ने विवश होकर अन्याय जरूर किया था, पर उन्होंने अपना सहज विवेक नहीं छोड़ा था; इसलिए मर्म-विदारक व्यंग्य-बाण का तीक्ष्ण आघात पाकर भी वह बौखलाए तो नहीं, पर मूर्च्छित अवश्य हो गए—जैसे क्रुद्ध कौसल्या ने अनजान में उनका गला ही घोंट दिया हो।

काश, कामिनी की जीभ कटार न होती।

होश में आने पर अपराधी राजा ने हाथ जोड़कर कौसल्या को स्त्री-धर्म का उपदेश दिया—चाहे जैसा भी हो; वह उनके पति तो हैं; और धर्मज्ञा कौसल्या उनके कटे कलेजे पर यों नमक क्यों छिड़कती जाती हैं :

"सा त्वं धर्मपरा नित्यं दृष्टलोकपरावरा। नार्हसे विप्रियं वक्तुं दुःखितापि सुदुःखितम्॥"

समझदार और धर्म का मर्म जाननेवाली कौसल्या क्या यह देख नहीं रही हैं कि उनका वह मरणासन्न पति किस अनन्त दुःख-सागर में ऊब-डूब रहा है, फिर वह शोकाकुला होकर उस बूढ़े महीपति को ऐसी कड़वी बातें क्यों कह रही हैं?

यों धर्म की ओर ध्यान खींचते ही धर्म-भीरु कौसल्या का माथा ठनक गया, उनकी आकुल आँखें एकाएक खुल गईं, और अपनी कठोरता पर घोर अनुताप करती उठकर उन्होंने राजा की अंजली पकड़ ली :

"प्रसीद शिरसा याचे भूमौ निपतितास्मि ते । याचितास्मि हता देव क्षन्तव्याहं नहि त्वया ॥"

कौसल्या ने घबरा कर दशरथ के सामने सिर टेक दिया और वह क्षमा याचना करने लगीं :

"जानामि धर्म धर्मज्ञ त्वां जाने सत्यवादिनम् । पुत्रशोकार्तया तत्तु मया किमपि भाषितम् ॥"

धर्म का ज्ञान उन्हें है, वह यह भी जानती हैं कि राजा सत्यवादी हैं, फिर उनके मुँह से जो कुछ निकल गया है वह पुत्र-शोक के कारण; और शोक कितना बलवान् होता है, यह सभी को मालूम है :

"शोको नाशयते धैर्यं शोको नाशयते श्रुतम् । शोको नाशयते सर्वं नास्ति शोकसमो रिपुः ॥"

भोली और कुटिला स्त्री में यही अन्तर होता है। भोली नारियाँ समझाने पर तुरत समझ जाती हैं और अपनी भूल सुधार लेती हैं, पर कुटिल-हृदया पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता है।

भोली नारियों का अपना कोई गूढ़ लक्ष्य नहीं होता है, इसी से भावावेग उन्हें आसानी से हिला-डुला देता है—जैसे मतवाला हाथी झूमने लग जाता है; किन्तु अंकुश लगते ही उसका नशा भी उतर जाता है।

कौसल्या भी कष्टाकुला कुंजरा दीखती हैं। जब-जब शोक उन्हें दबोचता है, वह निर्मम आघात करने लग जाती हैं उस पुरुष पर, जिस पर उनकी रक्षा और सम्मान का धर्मोचित उत्तरदायित्व है।

धर्म का ज्ञान उन्हें है, शास्त्र-वचनों का अभ्यास भी उनका बढ़ा-चढ़ा दीखता है, पर ज्ञान उनके मर्म में गला-घुला नहीं है—ऊपर-ही-ऊपर तैरता दीखता है। भोली-भाली स्त्रियों का यही स्वभाव देखा जाता है।

आदिकवि ने राम-माता का ऐसा ही उद्वेग-आकुल चित्र हमारे सामने रखा है।

"काहुहि दोसु देहु जनि ताता" :

राजा दशरथ के देहावसान हो जाने पर और गुरु वशिष्ठ द्वारा बुलाए जाने पर, अपनी माँ को कोस-फटकार, जब भरत कौसल्या के पास आते हैं, तब 'मानस' की कौसल्या उन्हें अत्यन्त दयनीय दशा में दीख पड़ती हैं :

"मलिन बसन बिबरन बिकल कृस सरीर दुख भार।
कनक कलप बर बेलि बन मानहुँ हनी तुसार ॥"

कपड़े उनके मैले-कुचैले थे, कान्ति उड़ गई थी, दुःख के भार और व्याकुलता के कारण वह दुर्बल-शरीर हो रही थीं—जैसे सुन्दर कनक कल्पलता को पाले ने झुलस दिया हो। दूर से ही उन्होंने भरत को देख लिया, और :

"भरतहि देखि मातु उठि धाई। मुरछित अवनि परी झइँ आई॥"

उनके स्वागत के लिए उठकर वह दौड़ पड़ीं, कमजोर थीं ही लटपटा कर पृथ्वी पर गिरीं और उन्हें गश्त आ गया। यह देखते ही भरत उनके चरणों पर गिर पड़े और लगे अपनी माँ को धुआँधार कोसने—'क्यों जनमी वह अभागिनी, और जनमी भी तो बाँझ क्यों न हुई ? न वह पुत्र पैदा करती, न कौसल्या की यह दशा हो पाती !'

कौसल्या ने भरत की यह दीन वाणी सुनी, और :

"मातु भरत के बचन मृदु सुनि पुनि उठी संभारि।
लिए उठाइ लगाइ उर लोचन मोचति बारि॥"

वह अपने को सम्हाल कर उठ बैठीं तथा पैरों पर पड़े हुए भरत को उठाकर छाती से लगा लिया; और चुपचाप गरम-गरम आँसू गिराने लगीं।

कवि यहाँ निराली टिप्पणी देता है :

"सरल सुभाय मायँ हियँ लाए। अति हित मनहुँ राम फिरि आए॥"

माँ कौसल्या स्वभाव से ही सरल थीं, भरत को छाती से लगा कर उन्हें वैसा ही सुख हुआ जैसे राम के लौट आने से होता। उन्हें ऐसा लगा जैसे दयालु राम ही उनकी दशा पर द्रवित होकर लौट आए हों। फिर :

"भेंटउ बहुरि लखन लघु भाई। सोकु सनेहु न हृदयँ समाई॥"

भरत के अनुगामी शत्रुघ्न भी वहीं खड़े थे, कौसल्या ने उन्हें भी हृदय से लगाया। शोक और स्नेह दोनों ऐसे उमड़े कि उनके हृदय की कारा को तोड़ कर बहने लग गए।

यह दृश्य देखकर सब कहने लग गए :

"राम मातु अस काहे न होई।"

माता कौसल्या ने फिर भरत को गोद में बिठाया, उनके आँसू पोंछे और फिर मृदु वचन से समझाने लगीं :

"अजहुँ बच्छ बलि धीरज धरहू। कुसमउ समझि सोक परिहरहू॥
जनि मानहु हियँ हानि गलानी। काल करम गति अघटित जानी॥"

वत्स, अब तो तुम धीरज धरो, परिस्थिति प्रतिकूल हो गई है, अतः शोक करना छोड़ दो। मन में हानि और ग्लानि की बात मत लाओ। सोचो—काल और कर्म की गति को कोई रोक नहीं सकता है।

इसके बाद सब दोष वह अपने ऊपर ओढ़ लेती हैं :

"काहुहि दोसु देहु जनि ताता। भा मोहि सब बिधि बाम बिधाता॥
जो एतेहुँ दुख मोहि जिआवा। अजहुँ को जानइ का तेहि भावा॥"

किसी को कोसने से क्या फायदा, जो कुछ हुआ है सब उन्हीं (कौसल्या) के टेढ़े भाग्य-देवता के कारण हुआ है। इतना दुःख दिखला कर भी वह (वामविधाता) उन्हें जिलाए जा रहा है—जाने आगे वह और क्या-क्या दिखाना चाहता है उन्हें! यहाँ उनके अन्तिम शब्दों में एक बड़ी सूक्ष्म आशंका ध्वनित हो उठी है, जो सरल मृदुलता से भरत के हृदय को भी छूती दीख रही है—जाने अब भरत क्या आफत ढाते हैं!

इसके बाद वह राम के वन-गमन का चित्र खींचती हैं :

"पितु आयसु भूषन बसन तात तजे रघुबीर।
बिसमउ हरषु न हृदयँ कछु पहिरे बलकल चीर॥"

फिर उनके भाव-अनुभाव तथा व्यवहार-बात पर भी कुछ प्रकाश डालती हैं :

"मुख प्रसन्न मन राग न रोषू। सब कर सब बिधि करि परतोषू॥
चले बिपिन सुनि सिय संग लागी। रहइ न रामचरन अनुरागी॥
सुनतहिं लखनु चले उठि साथा। रहहिं न जतन किए रघुनाथा॥"

यों सब को सिर नवा कर राम सीता और लक्ष्मण के साथ जंगल चले गए और वह देखती रह गईं—न खुद जा सकीं उनके साथ, न अपने प्राणों को ही भेज सकीं :

"मोहि न लाज निज नेहु निहारी। राम सरिस सुत मैं महतारी॥"

अपनी इस ओछी प्रीति की रीति पर उन्हें कोई लज्जा भी नहीं आती है, क्योंकि कहाँ राम के ऐसे दिव्य पुत्र और कहाँ उन-सी ओछी माँ। जब माँ-बेटे के मूल में ही इतना अन्तर है, तब आचरण में अन्तर क्यों न दीखे? हाँ, राम के पिता ने अवश्य इस दिशा में उनसे बाजी मार ली :

"जिए मरे भल भूपति जाना। मोर हृदय सत कुलिस समाना॥"

जीने-मरने का उमदा तरीका तो राजा दशरथ को ही मालूम था; किन्तु कौसल्या का हृदय तो सैकड़ों वज्र की कठोरता को भी मात करता है।

यह सब सुनकर भरत ने अनेक शपथें खाईं और अपने को निर्दोष प्रमाणित किया है। भरत की शपथों से कौसल्या का कोमल हृदय मोम की भाँति पिघल जाता है—उन्हें पूर्ण विश्वास हो जाता है कि इस छल-छन्द में भरत का कोई हाथ नहीं है। तब वह सोल्लास घोषित करती है:

"राम प्रानहु तें प्रान तुम्हारे। तुम रघुपतिहि प्रानहु तें प्यारे॥
बिधु बिष चुवै स्रवै हिमु आगी। होइ बारिचर बारि बिरागी॥
भएँ ग्यानु बरु मिटै न मोहू। तुम्ह रामहि प्रतिकूल न होहू॥"

कौसल्या खूब जानती हैं कि भरत राम के प्राण-प्रिय हैं और राम भरत के प्राणों से बढ कर हैं। चन्द्रमा से भले ही विष की वर्षा होने लगे, बर्फ भले ही आग बन जाए, जलचर भले ही पानी से मुँह मोड़ लें, पर भरत राम के विरोधी कभी नहीं हो सकते हैं!

फिर जो विलाप-कलाप होता है उसकी कथा यहाँ रुचिकर नहीं होगी। हाँ, यहाँ आदिकवि के प्रसंग की कुछ झलक अवश्य ले ली जाए।

भरत का आना सुनते ही कष्टाकुल कौसल्या तमतमा उठती हैं, और सुमित्रा को साथ करके उनका (भरत का) सामना करने जाना ही चाहती हैं कि जमीन पर गिर पड़ती हैं। इतने में भरत आकर उनसे लिपट जाते हैं। बस, उनको देखते ही सरला कौसल्या रोती-बिलखती उबल पड़ती हैं:

"इदं ते राज्यकामस्य राज्यं प्राप्तमकण्टकम्। संप्राप्तं बत कैकेय्या शीघ्रं क्रूरेण कर्मणा॥"

आया यह राज्य-कामी; ले—और भोगे यह अकण्टक राज्य। किन्तु याद रखे—उसकी माता कैकेयी ने बड़े ही क्रूर कर्म से यह राज्य प्राप्त किया है। कहे तो भला उस क्रूर-दर्शिनी ने किस लाभ के लिए कौसल्या के पुत्र को वल्कल वस्त्र पहना कर वनवास दिया है? तो अब वह देर क्यों करती है:

"क्षिप्रं मामपि कैकेयी प्रस्थापयितुमर्हति। हिरण्यनाभो यत्रास्ते सुतो मे सुमहायशाः॥"

उसे (कौसल्या को) भी शीघ्र वहीं भेज दे, जहाँ उसका यशस्वी पुत्र है। अथवा:

"अथवा स्वयमेवाहं सुमित्रानुचरा सुखम्। अग्निहोत्रं पुरस्कृत्य प्रस्थास्ये येन राघवः॥"

वह खुद सुमित्रा के साथ अग्निहोत्र को लेकर सुख-पूर्वक उस रास्ते चली जाएगी, जिससे राम गए हैं। अथवा:

"कामं वा स्वयमेवाद्य तत्र मां नेतुमर्हसि। यत्रासौ पुरुष व्याघ्रस्तपस्यते मे सुतस्तपः॥"

भरत खुद ले जाकर उसे वहाँ पहुँचा दें, जहाँ उसका पुत्र तपस्या कर रहा है। और वह (भरत):

"इदं हि तव विस्तीर्णं धन धान्य समाचितम्। हस्त्यश्वरथ संपूर्णं राज्यं निर्यातितं तया॥"

धन-धान्य से परिपूर्ण और हाथी-घोड़ों तथा रथों से भरे इस राज्य का उपभोग करे। यों:

"इत्यादि बहुभिर्वाक्यैः क्रूरैः संभर्त्सितोऽनघः। विव्यथे भरतस्तीव्रव्रणे तुद्यवे सूचिना॥"

सूई के समान चुभने वाले अपने क्रूर वचनों के द्वारा कौसल्या ने भरत की खूब भर्त्सना की, जिससे विकल होकर वह उनके चरणों पर गिर पड़े, और बेहोश हो गए।

कुछ देर बाद जब उन्हें होश हुआ, तब शपथ खा-खाकर अपने को निरपराध प्रमाणित करने लगे। उनकी शपथों से कौसल्या की आशंका मिटी, उनका हृदय पिघला और उनका दुःख और अधिक हो गया भरत के विषाद को देखकर, और वह कातर स्वर में बोली :

"ममः दुःखमिदं पुत्र भूयः समुपजायते। शपथैः शपमानो हि प्राणानुपरुणत्सि मे ॥"

शपथों से एक ओर जहाँ उनके प्राण रुकते हैं, तो दूसरी ओर उनका दुःख भी ताजा हो जाता है; क्योंकि पहले तो उन्हें भ्रम था कि केवल राम दुःखी हैं वन में और राज्य पाकर भरत सुखी हैं अयोध्या में; किन्तु जब इन्हें भी इस तरह सन्तप्त देखा, तब उनका दुःख दुगुना हो गया।

फिर वह मुक्त कण्ठ से भरत की प्रशंसा करने लग गईं :

"दिष्टया न चलितो धर्मादात्मा ते सहलक्ष्मणः। वत्स सत्यप्रतिज्ञो हि सतां लोकानवाप्स्यसि ॥"

यह प्रसन्नता की बात है कि सुलक्षण भरत की आत्मा धर्म से विचलित नहीं हुई। अगर उनकी शपथें सत्य हैं, तो उन्हें सज्जनों का लोक अवश्य प्राप्त होगा।

ऐसा कहकर उस मातृ-प्रेमी भरत को उन्होंने गोद में बिठाया और गले से लगा लिया।

यह हैं आदि कवि की सरल-हृदया कौसल्या—जिन्हें न आग होने में देर लगती है, न पानी होने में समय लगता है। भोली और भली नारियों का साधारणतया सर्वत्र यही स्वभाव देखा जाता है। फिर भी यह तो मर्मज्ञ ही बता सकेंगे कि 'मानस' की कौसल्या उन्हें कैसी जँचीं!

जो भी हो, किन्तु यह तो स्पष्ट है कि एक में चरित्र की दिगन्त-विस्तृत सघन संकुलता समाई हुई है, तो दूसरी में मनोज्ञ मंजुलता मुसकुरा रही है।

स्वस्थ तथा संस्कृत मन किस ओर अधिक आकृष्ट होगा, यह तो मन-मर्मज्ञ ही बता सकते हैं।

"पूत पथ्यगुरु आयसु अहई" :

गुरु वशिष्ठ ने बहुत तरह से समझाया कि भरत पिता की बात मानकर राजा होना स्वीकार करें, मन्त्रियों ने भी मनाया और अन्त में कौसल्या ने भी अनुरोध किया :

"कौसल्या धरि धीरज कहई। पूत पथ्य गुर आयसु अहई ॥
सो आदरिअ करिअ हित मानी। तजिअ बिषादु काल गति जानी ॥"

पुत्र, गुरुदेव की आज्ञा ही पथ्य है, जो वह कहते हैं, श्रेयस्कर समझकर, उसका आदर करे; और काल प्रबल है, यह मान कर विषाद करना छोड़ दो।

"बन रघुपति सुरपुर नरनाहू। तुम्ह एहि भाँति तात कदराहू॥
परिजन प्रजा सचिव सब अंबा। तुम्हही सुत सब कहँ अवलंबा॥"

रामचन्द्र वन में हैं, राजा स्वर्ग में जा विराजे हैं, और भरत यों कातर हो रहे हैं। प्रजा, परिजन, मन्त्री, माता—सब के आधार अभी एकमात्र भरत ही हैं, अतएव कौसल्या का आग्रह है :

"सिर धरि गुर आयसु अनुसरहू। प्रजा पालि परिजन दुख हरहू॥"

वह गुरु के आदेशानुसार चलें और प्रजा का पालन-पोषण करके परिजनों का कष्ट दूर करें।

कौसल्या की उदारता, उनका शील और उनकी प्रीति कितनी रम्य हो उठी है! परिस्थिति के साथ समझौता करने की उनकी यह तत्परता, राम और भरत को सम-दृष्टि से देखने की उनकी ऊँची भावना उनके मातृत्व को कितना महिमामय बना देता है! स्वस्थ हृदय-सौन्दर्य का भूखा यह मानव-समाज अग-जग को आलिंगन करनेवाली इस माता को पाकर कितना मुग्ध और कितना कृतार्थ होगा—अनुभव-गम्य है।

यहाँ कंबन की कौसल्या की भी एक झीनी-झाँकी सामने है। कौसल्या ने जब भरत का वह ग्लानि-गलित हृदय-विदारक शोक देखा तब उनका स्वाभाविक राग-रोष छूमन्तर हो गया और उन्हें पक्की प्रतीति हो गई कि यह लड़का निपट निर्दोष तथा नितान्त निरीह है—राज्यग्रहण नहीं करेगा; तब एक सहज तथा संक्षिप्त उद्गार उनके मुख से निकल गया :

"Ah ! Child, perhaps thou Knowest not the plot
That Kakay's princess planned."

आह! केकय-कुमारी ने जो कुचक्र रचा, शायद इस भोले भरत को मालूम नहीं था!

कंबन ने वाल्मीकि की कौसल्या की कटुता से भरत को बहुत बचा कर राम माता के चरित्र को चमका दिया है, फिर भी वह 'मानस' के पास नहीं पहुँच सके हैं। उनके भरत की शपथ की सूची भी बड़ी लम्बी हो गई है। शपथ के अन्त में कंबन की कौसल्या 'मानस' के समान ही महसूस करती हैं। ऐयर के अनूदित शब्दों में :

"When Bharata was taking the oath,
Kausalya felt as if she saw her Ram

Himself returned from his exile cruel. Her
heart did fill with joy and new returned love,"

शपथ खाते भरत को देख कर कौसल्या ने यही अनुभव किया, जैसे राम ही कठोर वनवास से लौट आये हों। माँ का हृदय आह्लाद तथा नव प्रत्यागत प्रेम से परिपूर्ण हो गया।

मर्मज्ञ पाठक को तुलसी का वह पद याद होगा ही :

"सरल सुभाय मायँ हियँ लाए। अति हित मनहुँ राम फिरि आए।।"

कंबन कहते हैं कि कौसल्या ने हृदयाह्लाद से भरत का आलिंगन किया और थोड़ी देर के लिए जो आशंका उनके मन में पैदा हो गई थी, उसके लिए वह घोर अनुताप से भर गईं। फिर अपने को सम्हाल कर वह भरत के गुण-गान करने लगीं :

"O prince of princes, O my Bharata
Of all the Kings that have adorned thy House
From times beyond our memory, whom can
I name along with thee for purity
Of heart ?"

रघुकुल में जितने यशस्वी राजकुमार हुए, कौसल्या किसके साथ भरत की इस आन्तरिक पवित्रता की तुलना करें, उन्हें ऐसा कोई नाम याद नहीं आता है।

यों कंबन की कौसल्या जैसे-जैसे भरत के हृदय की पवित्रता और उनके प्रति अपनी अनुचित आशंका की बात सोचती गईं, उनका शोक तीव्रतर होता गया और नयनों में आँसू उमड़ते रहे।

'मानस' की कौसल्या ने भी—'लोचन मोचत बारि' के अनुसार आँसू बहाये थे, पर उसका कारण कुछ दूसरा था—अपनी आशंका का अनुताप नहीं, यह तो अनुभवी समझ ही रहे हैं। जब 'मानस' की राम-जननी ने भरत पर कोई आशंका की ही नहीं, तो फिर आत्म-ग्लानि में वह पड़ती क्यों ? उनके आँसू केवल प्रेम-विह्वलता और परिस्थिति की प्रतिकूलता को व्यक्त करते हैं—"आह ! यह भोला भरत भी यों लांछित बना दिया गया है !"

रंगनाथ रामायण (तेलुगु) की कौसल्या भी एक कोने से झाँक रही हैं, जरा उनकी सूरत भी देख ली जाए :

"वहाँ (माँ कैकेयी के पास) से निकल कर भरत अनुज के साथ कौसल्या के यहाँ गये और उनके चरणों में सिर नवा कर शोक-संतप्त हृदय से दोनों भाई उच्च स्वर से विलाप करने। तब भरत को देखकर कौसल्या बड़े क्रोध से इस प्रकार बोलने लगीं "पति को खोकर, सुत से अलग रहते हुए, अत्यंत दुःख से पीड़ित मैं रोती हूँ, तो यह स्वाभाविक ही है। पर तुम क्यों रो रहे हो ? तुमने जैसा चाहा, तुम्हारी माता ने कर दिया। हे वत्स अब तुम राज्य सँभालो।"

यह सुनकर रंगनाथ रामायण के भरत अत्यन्त भीत बन जाते हैं और हाथ जोड़ कर कौसल्या के पीछे चलते हुए शपथें खाने लगते हैं। शपथों की सूची संक्षिप्त है।

शपथ-कथन और भरत का शोकाधिक्य देख कर आत्म-ग्लानि से भरी कौसल्या सोचने लगीं—'हाय, मैंने ऐसे पुण्य-चरित को क्यों कोसा ?' फिर उन्होंने भरत तथा शत्रुघ्न को हृदय से लगा लिया और परिताप से विलाप करने लगीं।

(श्री ए० सी० कामाक्षिराव-कृत रंगनाथ रामायण के
अनुवाद से साभार—लेखक)

"तात चढ़हु रथ बलि महतारी" :

भरत के आने और उनके शपथ खाने से सारी अयोध्या का वातावरण ही बदल गया। भरत के प्रति जो हृदय-हृदय में गूढ़ उद्वेग भरा हुआ था, भरत की आत्म-ग्लानि से वह धुल गया और राम के पास जाकर उन्हें लौटा लाने का मंसूबा सबके तन-मन को एक नई स्फूर्ति से आन्दोलित करने लगा। उस विशाल उल्लास में मोहाकुल माताएँ मुग्ध होकर पर्दे में छिप गईं :

"आरत जननी जानि सब भरत सनेह सुजान।
कहेउ बनावन पालकीं सजन सुखासन जान॥"

स्नेह-सुजान भरत ने प्रस्थान-प्रस्तुत माताओं का दुःख-दर्द समझा और उनके लिए पालकियाँ तथा सुखासन यान (सुखपाल) सजाने का आदेश दिया, जिससे वे सुखपूर्वक राम के पास चल सकें।

चित्रकूट जाने की जब सब तैयारी पूरी हो गई तब भरत और शत्रुघ्न पैदल चलने लगे—सवारी पर चलना उन्हें नहीं भाया यह देख दूसरे लोग भी—

"उतरि चले हय गय रथ त्यागे"—घोड़े-हाथी, रथ छोड़ कर पैदल चलने लगे। जब भरत शत्रुघ्न ही पैदल चल रहे थे, तब भला कोई किस मुँह से सवारी पर सवार होता। यों उनका स्नेह उन्हें उकसा रहा था कि जब सीता-राम जंगलों की खाक छान रहे हैं, तब उनको मनाने जानेवाले ये लोग सवारी पर कैसे चलें ? दूसरी ओर शीघ्र पहुँचने की व्यग्रता उन्हें वाहनों की ओर आकृष्ट कर रही थी—पैदल कब तक पहुँच पायेंगे उनके पास—देर होने से तो वे और भी दूर होते जाएँगे।

इस दुविधा को दूर करनेवाला कोई न था। मनस्विनी माता कौसल्या पालकी पर चढ़ी थीं। उन्होंने यह सब देखा और बड़ी तत्परता के साथ परिस्थिति को सम्हाल लिया :

"जाइ समीप राखि निज डोली। राम मातु मृदु बानी बोली॥
तात चढ़हु रथ बलि महतारी। होइहि प्रिय परिवारु दुखारी॥

तुम्हरे चलत चलिहि सबु लोगू। सकल सोक कृस नहिं मग जोगू ॥"

करुण-मूर्ति कौसल्या अपनी डोली (पालकी) भरत के समीप ले गईं और पालकी से उतर कर भरत को समझाया—'सब लोग राम के वियोग में दीन-दुर्बल हो रहे हैं, तुम अगर पैदल चलोगे, तो सब लोग भी पैदल चलेंगे और तुम्हारे प्रिय परिवार को कष्ट उठाना पड़ेगा; क्योंकि वे पैदल चलने लायक नहीं हैं।'

भरत कौसल्या की बात मान कर रथ पर चढ़ गए।

यह प्रसंग न वाल्मीकि में मिलता है, न कंबन रामायण में और न रंगनाथ रामायण में ही इसका उल्लेख हुआ है। यह 'मानस' के कवि की मंजुल मौलिकता है।

कंबन ने एक दूसरी जगह अपनी अद्भुत् मौलिकता दिखाई, जिसकी चर्चा वाल्मीकि ने नहीं की है और न तुलसी का ही उधर ध्यान गया है। वाल्मीकि के दशरथ ने अवश्य घोषित किया था कि भरत उनकी अन्त्येष्टि नहीं करें; और कौसल्या ने भी प्रथम साक्षात् में उन्हें धमकाया था कि अग्नि होत्र के साथ वह जंगल चली जाएँगी, जिसका मर्म इतना ही था कि न अग्निहोत्र रहेगा, न भरत अपने बाप का दाह-कर्म कर सकेंगे। किन्तु भरत की आन्तरिक अवस्था मालूम हो जाने पर फिर उनके आगे कोई अड़चन नहीं आई और सब काम शान्ति-पूर्वक सम्पन्न हो गया भरत के हाथों। पर कंबन की कल्पना ने इस सूक्ष्म सूत्र को नहीं छोड़ा और जब भरत दाहकर्म के लिए तैयार हुए तब राजगुरु वशिष्ठ ने राजाज्ञा सुना कर उन्हें अग्नि-संस्कार के लिए अनधिकारी सिद्ध कर दिया।

आर्यवर ऐयर के अंगरेजी अनुवाद में :

"Alas my Bharata, thou may'st not light
The funeral fire nor join in the rites.
For Dasaratha has repudiated thee
Alas in the anguish of his heart, before
his death"

राजा दशरथ ने दुःखावेग में यह जरूर कहा था, कौसल्या ने इसकी धमकी भी दी थी, लंका-विजय के बाद जब स्वर्ग से उतर कर दशरथ राम से मिलने आए थे, तब राम ने भी भरत के ऊपर उनके उस क्रोध की याद दिला कर उनसे वह अभिशाप दूर कर लेने का अनुरोध कर दिया था; लेकिन किसी ने दाह-कर्म या श्राद्ध-संस्कार करने से भरत को रोका नहीं। वशिष्ठ की वह चौंका देनेवाली बात सुनकर भरत हत-चेष्ट हो आह भरते रह गए, और दाह-कर्म किया लक्ष्मण के भाई शत्रुघ्न ने। कंबन के अधिकारी अनुवादक स्व० ऐयर उसका सारांश देते हैं।

"The funeral rites were performed by Shatrughna,
Bharata only looking on with many a sigh and
With a tortured heart."

तुलसी की दृष्टि में भी वह प्रसंग उपेक्षणीय ही रहा। समास और समाहार का मूल्य तो कोई मूल्यज्ञ ही बता सकता है कि क्या छोड़ा जाए और क्या जोड़ा जाए!

"मोहि भरत कर सोचु" :

अयोध्या के राज-समाज के साथ कौसल्या चित्रकूट पर्वत पर पहुँच गईं। रास्ते में कोई उल्लेखनीय घटना उनके सम्बन्ध में नहीं घटी। वाल्मीकि ने एक मार्मिक चित्र उनका अवश्य दिखा दिया है, जिसका उल्लेख यहाँ अयुक्त नहीं होगा।

सुमित्रा के साथ कौसल्या राम के आश्रम के पास मन्दाकिनी नदी के तट पर पहुँचीं और दूर से लक्ष्मण को पानी का घड़ा उठा कर जाते देख शोकाकुल हो गईं। उन्होंने लक्ष्मण की ओर उँगली उठा कर सुमित्रा से कहा :

"इतः सुमित्रे पुत्रस्ते सदा जलमतन्द्रितः। स्वयं हरति सौमित्रिर्मम पुत्रस्य कारणात्॥"

देखो, सुमित्रे! तुम्हारा वह सतत जाग्रत पुत्र मेरे पुत्र के लिए पानी ढो रहा है। यह न सोचना कि वह कोई गर्हित काम कर रहा है—बड़े भाई के लिए कोई छोटा काम करके भी निन्दित नहीं माना जाता है।

"अद्यायमपि ते पुत्रः क्लेशानामतथोचितः। नीचानर्थसमाचारं सज्जं कर्म प्रमुञ्चतु॥"

आज यह क्लेशकारी काम भी इसका समाप्त हो ही रहा है—भोली कौसल्या का दृढ़ विश्वास बोल रहा है कि अब तो सब लोग लौट ही जाएँगे और फिर लक्ष्मण को यह सब काम तो करना पड़ेगा ही नहीं।

इसके बाद कौसल्या ने दक्षिणाग्र कुशों के ऊपर रखे, पृथ्वी पर पड़े इंगुदीफल देखे और वह शोक करने लगीं :

"रामेणेङ्गुदिपिण्याकं पितुर्दत्तं समीक्ष्य मे। कथं दुःखेन हृदयं न स्फोटति सहस्रधा॥"

राम ने पिण्ड-दान के रूप में पिता को इंगुदी के फल दिए थे। कौसल्या को इसके लिए परिताप होता है, पर वह एक लोकोक्ति का सहारा लेकर तुरत उसका समाधान भी ढूँढ़ लेती हैं :

"श्रुतिस्तु खल्वियं सत्या लौकिकी प्रतिभाति मे। यदन्नः पुरुषो भवति तदन्नास्तस्य देवताः॥"

'मुझे यह लोकोक्ति बहुत ठीक जँचती है कि मनुष्य जो अन्न खाता है, उसके देवता भी वही अन्न खाते हैं। राम खुद जो खाते हैं, स्वर्गीय पिता को भी उन्होंने वही खिलाया है।

उसके बाद मुर्झाई सीता उनके सामने आ खड़ी होती हैं, बेटी की तरह जिन का आलिंगन करके वह विलाप करने लगती हैं।

आदिकवि की कौसल्या यहीं से ओझल हो जाती हैं। भरत जब पादुका ले कर लौट रहे थे, चित्रकूट से उस समय राम सबों को बिदा करने गए, पर गला भर जाने के कारण माताएँ कुछ पूछ न सकीं :

किन्तु 'मानस' की कौसल्या चित्रकूट में समवेत संभ्रान्त स्त्रियों की एक घरेलू बैठक में प्रमुख भाग लेती हैं, जिसमें मिथिला की राजमहिषी भी उपस्थित थीं। एक दिन मध्याह्न समय सीता की माँ राम की माताओं से मिलने आती हैं राम के आश्रम में। आत्मीयता और शिष्टाचार का यह सहज तकाजा था। दशरथ का निधन हो गया था और सीता की सासों पर वैधव्य का वज्रपात हुआ था, फिर समधिन होकर राम की सास उन भाग्य-हीन रानियों की खोज-खबर कैसे न लेतीं ? तुलसी ने बड़े मनोयोग से इस प्रसंग का मार्मिक चित्रांकन किया है, जिस ओर न आदिकवि का, न कंबन का और न रंगनाथ रामायण के कर्ता का ही ध्यान गया है। उधर राम और भरत की भावनाओं की भिड़न्त है, इधर कौसल्या, सुमित्रा और मिथिलेश्वरी के बीच मनोज्ञ मर्मज्ञता का वार्तालाप छिड़ा हुआ है, जिसमें राम-माता कौसल्या अग्रस्थान ग्रहण करती हैं :

"सीय मातु तेहि समय पठाई। दासी देखि सुअवसर आई॥"

सीता की माँ ने अपनी दासी को भेज कर पहले उनकी सुविधा जान ली—शिष्टाचार की माँग थी यह, जिस पर 'मानस' के कवि की अति सतर्क दृष्टि रहती है।

"सावकास सुनि सब सिय सासू। आयउ जनकराज रनिवासू॥"

सीता की सासें सावकाश में हैं, यह सुन कर राजा जनक का रनिवास वहाँ आ पहुँचा।

"कौसल्याँ सादर सनमानी। आसन दिए समय सम आनी॥"

कौसल्या ने सबों का सादर स्वागत सत्कार किया और जैसा समय तथा जैसी सुविधा वहाँ थी, वैसे आसन लाकर दिए। कवि की दृष्टि का पैनापन दर्शनीय है—कोई भी मार्मिक विवरण वह नहीं भूलता है। उस जंगल में राजमहिषी के योग्य आसन कौसल्या कहाँ से लातीं—इसीलिए 'समय सम' कहा गया है। वहाँ वस्तुओं का अभाव भले ही कुछ संकोच पैदा करता, पर :

"सील सनेहु सकल दुहु ओरा। द्रवहिं देखि सुनि कुलिस कठोरा॥"

दोनों ओर शील और स्नेह जो उमड़ रहा था, उसे देख-सुन कर तो वज्र-हृदय भी पानी हो जाता।

सौजन्य तथा हृदय-सौन्दर्य का कैसा मर्म-मधुर चित्रण है यह।

"पुलक सिथिल तन बारि बिलोचन। महि नख लिखन लगीं सब सोचन॥"

परस्पर मिलन का आनन्द एक ओर जहाँ उन्हें पुलकित कर रहा है, तो प्रतिकूल परिस्थिति उन्हें चुपचाप रुलाए भी जा रही है। यों सिर झुकाए, नखों से धरती पर कुछ लकीरें, खींचती सब चिन्ता-मग्न बैठी हैं।

पर्दे में रहने वाली वेदन-संवेदन से भरी, प्रतिष्ठिता, परस्पर संबन्धित तथा प्रथम-प्रथम परिचिता प्रमदाओं का यह कैसा करुणा कलेवर उभर उठा है हमारे सामने।

"सब सियराम प्रीति कि सि मूरति। जनु करुना बहु बेष बिसूरति॥"

सब सीता-राम की प्रेम-मूर्ति ही जान पड़ती थीं—जैसे करुणा ही बहुत रूप धर कर बिसूर (रो—कलप) रही हो!

"सीयमातु कह बिधि बुधि बाँकी। जो पय फेनु फोर पबि टाँकी॥"

सीता की माँ ने ही वह सामूहिक मौन भंग किया, क्योंकि वही आगे आई थीं सान्त्वना का सन्देश लेकर। अतः अदृश्य विधाता की वक्र बुद्धि पर तरस खाती वह कहती हैं—'देखो, तो उसकी मूढ़ता, जो कोमल दुग्ध फेन को वज्र की टाँकी से फोड़ रहा है! अर्थात् सुकुमार तन-मन वाले उनके प्रिय-पात्रों को यों कठोर दुःख दे रहा है!'

पय-फेन और पबि-टाँकी की सूझ कितनी सटीक और व्यंग्य-व्यथित है। कवि की कोमलता, मचल-मचल कर, मर्मज्ञों के मर्म को मसल जाती है।

मैथिली की माँ उसी विरक्त मुद्रा में कुछ और कह जाती हैं :

"सुनिअ सुधा देखिअहिं गरल सब करतूति कराल।
जहँ तहँ काक उलूक बक मानस सकृत मराल॥"

विधाता की दृष्टि ही विचित्र है, उसकी सब करतूत ही कठिन दीखती है। अमृत का तो नाम-ही-नाम सुना जाता है, और देखने में सर्वत्र विष-ही-विष सामने आता है। जहाँ देखो—कौओं, उल्लुओं और बगुलों की भरमार है, मानस-विलासी मराल तो बिरले ही दिखते हैं।

सुमित्रा भी सज्ञान हैं। उन्होंने विदेह-रानी का समर्थन करते विधि-विधान को बड़ा ही विचित्र और विपरीत बताया। उनका व्यंग्य बड़ा ही लुभावना है :

"जो सृजि पालइ हरइ बहोरी। बाल केलि सम बिधि मति भोरी॥"

विधाता एक हाथ से रचता है और दूसरे हाथ से मिटा देता है—बालकों-सी उसकी भोली मति देख कर सुमित्रा को भारी आश्चर्य है। केवल एक वाक्य से उनकी उदासीन ज्ञान-गरिमा ध्यान में आ जाती है। तभी तो दो-दो बच्चों की माँ होकर भी, निरपेक्ष भाव से, उन्होंने दोनों को स्नेह और सेवा की वेदी पर चढ़ा दिया है।

अब कुशल कौसल्या आगे आती हैं :

"कौसल्या कह दोसु न काहू। करम बिबस दुख-सुख छति लाहू॥
कठिन करमगति जान बिधाता। जो सुभ असुभ सकल फल दाता॥"

सुमित्रा को विधाता बाल-कौतुक करता दीखा था, पर कौसल्या कर्म-वादिनी हैं और उनका दृढ़ मत है कि विधाता कर्म के कठिन रहस्यों को खूब जानता है, और खूब तौल-तौल कर कर्मों का फल बाँटता चलता है—शिशु-क्रीड़ा नहीं करता है। उनकी मान्यता है :

"ईस रजाइ सीस सबही कें। उतपति थिति लय विषहु अमी कें॥
देबि मोह बस सोचिय बादी। बिधि प्रपंचु अस अचल अनादी॥"

ईश्वर के हाथ में कर्म का चक्र है और इस समस्त सृष्टि के सिर पर वही चक्र घूम रहा है—विष और अमृत भी उसी के अधीन हैं। अतः मोहवश किसी को (विधाता को भी) दोषी ठहराना व्यर्थ है। विधाता की यह सृष्टि, आज से नहीं, जाने कब से उसी अचल चक्र पर आरूढ़ चली आ रही है—सब कुछ कर्म के फल हैं, जैसा किया, वैसा पाया।

अपने कर्म-सिद्धान्त को वह अब अपनी विपरीत परिस्थिति के साथ तौलती हैं :

"भूपति जिअब मरब उर आनी। सोचिअ सखि लखि निज हित हानी॥"

राजा के जीने-मरने की बात को लेकर आज उन्हें जो चिन्ता हो रही है, वह तो उनकी अपनी भलाई-बुराई की बात है—निरा स्वार्थ है। अन्यथा जीना-मरना तो कर्म के अधीन है, कोई उसके लिए अनावश्यक चिन्ता क्यों करे। हम अपने लिए रोती हैं, उनके न रहने से हम अनाथा हो गई हैं—हमारा सुख छिन गया है। राजा तो अपने कर्मानुसार जिए और मरे।'

ज्ञान-गम्भीर कौसल्या का यह कर्माख्यान सुन कर विदेह-वामा विमुग्ध बन गईं और सोल्लास उनकी महिमा का गान करने लगीं :

"सीय मातु कह सत्य सुबानी। सुकृती अवधि अवधपति रानी॥"

कौसल्या महारानी का कथन केवल सत्य ही नहीं, अति सुन्दर वाणी में भी व्यक्त हुआ है, और मणि-कांचन का योग क्यों न हो यहाँ, क्योंकि अयोध्या की राज-राजेश्वरी सुकृति (पुण्य) की भी सीमा हैं (निश्चय ही जिनकी कोख से राम के ऐसे धर्म-धुरंधर पुत्र पैदा हुए हैं)!

यह सुन कर कौसल्या धीर से बोलीं :

"लखन रामु सिय जाहुँ बन भल परिनाम न पोचु।
गहबरि हियँ कह कौसिला मोहि भरत कर सोचु॥"

कौसल्या ने विकल हृदय से कहा—'राम, लक्ष्मण और सीता वनवास करें, मुझे यह चिन्ता नहीं सताती है। उसका परिणाम अच्छा ही होगा, पर मुझे तो भरत की चिन्ता खाए डालती है!

यह है 'मानस' की भाव-मर्मज्ञा, सुकुमार-मना राम-माता, जिनके मर्म-स्थल

को अपने पुत्र तथा पुत्रवधू की अपेक्षा क्रूर-कर्मा सौत के पुत्र भावाकुल भरत की चिन्ता चुभ रही है।

अपने पुत्र तथा पतोहू के बारे में उनकी राय है :

"ईस प्रसाद असीस तुम्हारी। सुत सुतबधू देवसरि बारी॥"

परमात्मा की कृपा और उन लोगों के आशीर्वाद से उनके पुत्र और पुत्रबधुएँ गंगा-जल के समान पवित्र हैं। इस कथन से मिथिलेश्वरी कम गौर-वान्वित नहीं हो रही हैं, क्योंकि कौसल्या की पुतोह आखिर उन्हीं के परिवार की पुत्रियाँ तो हैं।

कौशल्या अब अपने अन्तर की एक गुप्त बात खोल रही हैं यहाँ :

"राम सपथ मैं कीन्ह न काऊ। सो करि कहउँ सखी सति भाऊ॥"

साधारण माताओं के समान उन्होंने अब तक कभी अपने प्राणोपम पुत्र राम की शपथ नहीं खाई है, आज पहली बार वह उनकी शपथ लेकर अपनी सखी (अवश्य जनक-जाया) के समक्ष सच्चे भाव से कह रही हैं—क्या ?

अद्भुत है उनका यह भावोद्घाटन :

"भरत शील गुन बिनय बड़ाई। भायप भगति भरोस भलाई॥
कहत सारदहु कर मति हीचें। सागर सीप कि जाहि उलीचे॥"

भरत की चिन्ता यों ही उन्हें नहीं रही है, उसका प्रबल कारण भी वह पेश करती हैं। उनका शील, गुण, विनय, बड़प्पन, भ्रातृ-प्रेम, भक्ति, भरोसा और भलाई इत्यादि इतने अपार हैं कि शारदादेवी की बुद्धि भी हिचक जाती है—ठीक-ठीक वर्णन नहीं कर पाती हैं, फिर भला कौसल्या की क्या बिसात ! उनकी बुद्धि भरत की महिमा कैसे कहे—तुच्छ सीप से कभी सागर उलीचा जा सकता है ?

केवल कौसल्या ही नहीं, राजा दशरथ भी इस सत्य से खूब परिचित थे;

"जानउँ सदा भरत कुल दीपा। बार बार मोहि कहेउ महीपा॥
कसे कनकु मनि पारिखि पाएँ। पुरुष परिखिअहिं समयँ सुभाएँ॥"

वह सदा से भरत को कुल-दीपक के रूप में ही जानती आई हैं और राजा दशरथ ने भी बार-बार उनसे यही कहा था। सच, जैसे कसौटी पर कसे जाने पर स्वर्ण की, और पारखी के हाथ में पड़ कर मणि की कीमत आँकी जाती है, पुरुष की परीक्षा भी उसके स्वाभाविक बर्ताव-व्यवहार से हो जाती है। भरत इस परीक्षा में किस तरह उत्तीर्ण हुए, यह तो सबके सामने था ही !

अपने इस मुक्त-गान पर उन्हें स्वयं संकोच हो आता है :

"अनुचित आजु कहब अस मोरा। सोक सनेह सयानप थोरा॥"

आज ऐसा कहना भी उन्हें अनुचित जान पड़ता है। इस अनौचित्य का कारण है उनका शोक और स्नेह, जो उनके विवेक को दुर्बल बना देता है। यों भरत की बड़ाई करने से लोग यह भी कह सकते हैं कि विमाता कौसल्या का यह अनुराग ढोंग-भरा है; क्योंकि जिस भरत के कारण उनका घर उजड़ गया है, उनका सुख सुहाग नष्ट हो गया है, उनके कलेजे के टुकड़े राम और आँखों की पुतली सीता-सब यों वन-वन भटक रहे हैं, उनके प्रति कोई विमाता ऐसा अनुराग कहीं दिखा सकती है—परिस्थिति और मनोविज्ञान इसका विरोध करेंगे। साथ ही यह अनौचित्य उनकी असमर्थता पर भी उँगली उठा रहा है—'कहाँ भरत का अगाध चरित और कहाँ तुम्हारी अल्प बुद्धि ! क्यों ऐसा हास्यास्पद प्रयत्न कर रही हो, कौसल्ये !

इस अद्‌भुत अमल आख्यान का असर भी तो अद्‌भुत होना था :

"सुनि सुरसरि सम पावन बानी। भई सनेह बिकल सब रानी॥"

कौसल्या अपनी सयानी समधिन (सीता की माँ) से कुछ मृदुल व्यंग्य-विनोद भी करती दीखती हैं :

"कौसल्या कह धीर धरि सुनहु देवि मिथिलेसि।
को बिबेकनिधि बल्लभहि तुम्हइ सकइ उपदेसि॥"

ज्ञान-विवेक के उच्च धरातल से उतर कर वह जरा हास-परिहास के स्वर में कहती हैं—'हे मिथिलेश्वरी, तुम तो ज्ञानागार (अवश्य राजर्षि जनक) की वल्लभा हो, भला तुम्हें उपदेश देने की हिमाकत कौन करे !'

उपदेश न देकर गुपचुप कुछ सिफारिश की बात उनके कानों में वह डाल देती हैं :

"रानि राय सन अवसरु पाई। अपनी भाँति कहब समुझाई॥
रखिअहिं लखनु भरत गवनहिं बन। जौं यह मत मानै महीप मन॥
तो भल जतनु करब सुबिचारी। मोरें सोच भरत कर भारी॥
गूढ़ सनेह भरत मन माहीं। रहें नीक मोहि लागत नाहीं॥"

'हे रानी, अवसर पाकर अपने राजा (अवश्य जनक) से जरा अपनी तरह समझा कर कहना—अगर उनका मन माने, तो वह लक्ष्मण को रख लें और भरत को राम के साथ जाने दें। यदि यह विचार उचित प्रतीत हो, तो खूब सोच-विचार कर इसके लिए आप प्रयत्न करें। क्योंकि भरत के मन में राम के प्रति इतना गूढ़ स्नेह है कि घर रहने में उनकी भलाई नहीं जान पड़ती है !'

अर्थात् राम के वियोग में घुल-घुल कर कहीं भरत के प्राण न निकल जाएँ—यही भीति कौसल्या को भीतर-ही-भीतर शूल भोंक रही है।

कौसल्या का यह सरल स्वभाव देख और उनकी निश्छल वाणी सुन कर सब महिलाएँ जिस करुण-रस में डूबीं, उसकी प्रतिध्वनि हुई अन्तरिक्ष से :

"नभ प्रसून झरि धन्य-धन्य धुनि। सिथिल सनेह सिद्ध जोगी मुनि ॥"

पुष्प-वर्षा और धन्यवाद की दिव्य ध्वनि से दिशाएँ गूँजने लगीं, और योगी-यतियों का तन-मन भी स्नेह शिथिल हो रहा इस अग-जग व्यापी हर्षोल्लास से। और तब :

"सबु रनिवासु बिथकि लखि रहेऊ। तब धरि धीर सुमित्रा कहेऊ ॥
देवि दंड जुग जामिनि बीती। राम मातु सुनि उठी सप्रीती ॥"

सारा रनिवास यह सब देख-सुन कर निस्तब्ध रह गया। यह देख कर सुमित्रा ने कौसल्या से कहा—'देवी, दो घड़ी रात बीत गई है !'

यह सुनते ही कौसल्या ससंभ्रम उठ खड़ी हुईं और बोलीं :

"बेगि पाउ धारिअ थलहि कह सनेहँ सतिभाय।
हमरें तो अब ईस गति कै मिथिलेस सहाय ॥"

'अब आप लोग विश्राम-स्थल जाएँ—बड़ी देर हो गई है !' फिर सच्चे स्नेह से कहने लगीं—'मेरा तो अब ईश्वर या मिथिलेश्वर—इन्हीं दोनों का सहारा रह गया है !'

यह है 'मानस' की कौसल्या का निर्मल मानस, जिसका दर्शन अन्यत्र दुर्लभ है। कवि ने अत्यन्त कोमलता और सतर्कता से कलम चलाई है। उसके केवल शब्द ही नहीं, उनकी तुच्छ मात्राएँ मर्म-भरी दीखती हैं। शब्दों का पारखी ही उनकी अलौकिक मर्म-व्यंजक छवि पर न्योछावर होगा। स्त्री-स्वभाव का जितना सहज और सूक्ष्म चित्रण इस प्रसंग में देखा जाता है, उँगली आप-से-आप अधरों को चूमने लग जाती है। भाव का तो पूछना ही क्या—जैसे आकाश-गंगा से सुधा की विमल वर्षा हो रही है। भरत के प्रति अपनी भावनाओं को विमाता कौसल्या ने जिस संकोच, आकुलता और आह्लाद की सीमाओं से घेर कर उभारा है, तुलना है कहीं उसकी ? जैसे भरत के भाव-चित्रण के लिए ही यह अनूठा प्रसंग खुल गया हो। एक ओर उधर विशाल राज-परिषद् में धुरन्धर मनीषियों के बीच भरत व्याकुल बैठे हैं और आदेश-निर्देश के गूढ़ झकोरे झेल रहे हैं, इधर उपेक्षित आधी-दुनिया की देवियाँ उन्हें अपनी मृदुल भावनाओं के पालने में डाल सब सुध-बुध भूल कर, झूमती हुई झुलाए चली जा रही हैं। मनोज्ञा माँ के इस मनोरम रूप को देख मानव कितना कृतार्थ होगा।

शब्द-चित्र, स्वभाव-चित्र, रस-सृष्टि, अलंकार योजना आदि से हट कर दृष्टि जब कवि के लक्ष्य पर पहुँचती है, तब स्पष्ट दीखता है कि कौसल्या भरत के सूक्ष्म दर्पण बन कर ही खड़ी हैं यहाँ। इसीलिए 'मानस' की कौसल्या के मन में भरत के प्रति कभी कोई आशंका उठी ही नहीं—राम की माता कभी ऐसी निम्न भूमि पर उतर नहीं सकती हैं।

धन्य मृदुल-मानसी राम-जननी ! और धन्य 'मानस'-कवि की मर्म-मंजुल

कल्पना ! जैसे भरत की सुकुमार प्रीति में तुलसी की प्रच्छन्न प्रीति-रति ही मुसकरा रही हो ।

"कवन भाँति लंकापति मारा" :

कौसल्या की कोख धन्य हुई । उसके राम ने दुराचारी दुर्जयी रावण को जीता, उसके भाई विभीषण को राज्य दिया और अपनी सीता के साथ पुष्पक विमान पर चढ़ कर माता की गोद में लौट आए । चौदह वर्ष की दीर्घ-दाह वाली प्रतीक्षा के बाद विजयी पुत्र और प्रताड़िता पुत्रवधू को देख कर माताओं को जैसा आकुल आनन्द हुआ, तुलसी उसे केवल एक-दो पदों में ही व्यक्त कर देते हैं :

"कौसल्यादि मातु सब धाई । निरखि बच्छ जनु धेनु लवाई ॥"

जैसे अपने बछड़े से बिलग हुई कोई गाय उसे देख कर व्याकुल-हृदय दौड़ पड़ती है, राम की माताओं की भी वही अवस्था हो गई । कवि उसी चित्र को और माँज देता है :

"जनु धेनु बालक बच्छ तजि गृहँ चरन बन परबस गईं ।
दिन अंत पुर रुख स्रवत थन हुंकार करि धावत गईं ॥"

यहाँ कौसल्या रूपी गाय के लिए घर ही 'वन' बन गया था, और अवधि की समाप्ति ही 'दिनान्त' दीखती है । जैसे गाय साँझ होते ही, दूध-चूते थन से रँभाती हुई, बछड़े से मिलने दौड़ पड़ती है, माताएँ भी उसी भाँति राम से मिलने दौड़ पड़ीं ।

फिर तो उन्हें छाती से लगा कर जो कृतार्थता हुई, उसे कवि ने एक ही पद में अपार बना दिया है :

"गइ विषम बिपति बियोग भव तिन्ह हरस सुख अगनित लहे ।"

वियोग-जनित उनकी समस्त विपत्ति चली गई और उन्होंने अगणित हर्ष और सुख प्राप्ति किए ।

आरती उतारती मृदुल हृदय माँ की सुकुमार भावना के भीतर भी कवि निधड़क घुस जाता है :

"कौसल्या पुनि पुनि रघुबीरहि । चितवति कृपासिंधु रनधीरहि ॥
हृदय बिचारत बारहिं बारा । कवन भाँति लंकापति मारा ॥
अति सुकुमार जुगल मेरे बारे । निसिचर सुभट महाबल भारे ॥"

कौसल्या बार-बार गौर से राम को देखतीं और मन-ही-मन गुनती-धुनती हैं— ऐसे सुकुमार हैं मेरे ये बच्चे (निश्चय लक्ष्मण भी उनके ध्यान में हैं), कैसे महाबली लंकेश रावण को ये मार सके ।

भोली माँ की यह शंका कितनी भली मालूम होती है—जैसे अपने पुत्र के अतुल पराक्रम का उसे कोई पता ही न हो !

उनका पुलकाकुल आनन्द अपनी चरम सीमा पर तब पहुँचता है, नयन भर के जब वह लक्ष्मण और सीता के साथ, राम को देखती हैं।

"लछिमन अरु सीता सहित प्रभुहि बिलोकति मातु ।
परमानंद मगन मन पुनि पुनि पुलकित गातु ॥"

किन्तु कंवन की कल्पना, इस सुख-समारोह के पहले, कौसल्या का एक बड़ा ही करुण और भव्य-चित्र ढूँढ़ लाती है :

चौदह वर्ष की अवधि पूरी हो चुकी है, और प्रतीक्षा-निरत भरत को राम के लौटने का कोई समाचार नहीं मिला। वह उँगली पर दिन गिन रहे थे और आज अवधि का अन्तिम दिन था। अर्थात् सूर्यास्त भी हो चुका था और उनकी आशा भी डूब चुकी थी। अश्रु-विगलित होकर वह सोचने लग गए :

राम ने लौटने की जो अवधि भरत को दी थी, उसको क्या वह भूल गए ? माँ का प्रेम और भाई भरत की वेदना क्या उन्हें याद न होगी—क्या उसकी चिन्ता उन्हें नहीं होगी ? तो क्या उनके ऊपर कोई भारी आपत्ति आ पड़ी है ?

तुरत उनकी विचार-धारा पलट गई :

राम को युद्ध में कोई भी जीत नहीं सकता है—न देवता, न दानव और न त्रिदेव ! यह विश्वास दृढ़ होते ही भरत के मन में उठी आशंका मिट गई, पर दूसरे विचारों ने पुनः उन्हें धर दबोचा।

शायद राम कहीं यह न सोच बैठें कि भरत राज्य-कामी है और इस अभिप्राय से वह कहीं बन में ही न रह जाएँ, जिससे मैं शान्ति-पूर्वक राज्य-सुख भोग सकूँ। जो भी हो, अवधि बीत गई है; अतः भरत अपने जीवन के साथ इस यातना का भी अन्त कर देंगे :

मन में यह संकल्प स्थिर होते ही, दूर प्रान्तर में देखते-देखते एक विशाल ज्वाला-जाल लपलपा उठा; और भरत उस ओर दृढ़ता से चल पड़े। इतने में नगर-निवासियों के साथ कौसल्या अयोध्या से दौड़ी आई और रोती-पीटती भरत के पास पहुँच गई। कौसल्या को देखते ही भरत सिटपिटा कर उनके चरणों में पड़ गए। कौसल्या ने उन्हें उठा कर छाती से लगाया और फिर प्यार भरे शब्दों में फटकारने लगीं :

" 'Tis destiny, my son, that drove the thy brother
And, father to their several fates, but what
Is it that ther'rt about, O child ? It is
A thoughtless deed, for if thou end thy life,

Our chiefs and people and the mothers all
Will feed the fire and end themselves, will Dharm
Itself remain alive ? The very world,
Will from its orbit serve and come to an and.

Thou Knowest not thy greatness, Bharata.
We have not seen a higher righteousness
With these our eyes than thy own lonly life.
Can e'er thy glory fade e'en when the worlds
Dissolve ? Ten million million Ramas e'en
Can never approach the love Immaculate
That burns within the soul. If thou shouldst die
That art but Dharma's other self, Can earth
And heaven and all that breathes remain alove ?

If this day tarries Ram, tomorrow he
Is sure to come. Think not he'd break the word
He himself gave to thee tomorrow if
We see him not, be sure he has ceased to live.

But grieving for the death of one, my child
With thou destroy great Suraya's race itself
Up to its very roots ? And thou art Dharm
Itself in flesh and blood ?"

कौसल्या ने कई प्रकार के तर्क उपस्थित करके भरत को अग्नि-ज्वाल में कूदने से रोका। उनका प्रधान तर्क है कि अगर धर्म-रक्षा के लिए वह आत्म-बलिदान करना चाहते हैं, तो धर्म-स्वरूप वह खुद हैं। उनके आग में कूदते ही उनकी माताएँ, सामन्त-सरदार और प्रजा-परिजन सब उस ज्वाला में कूद कर भस्म हो जाएँगे तो फिर धर्म कैसे बच सकेगा ? कौसल्या ने भरत के अतिरिक्त धर्म का दूसरा रूप नहीं देखा है। उनके (भरत के) हृदय में जो पावन प्रेमाग्नि जल रही है, करोड़ों राम भी उसे नहीं पा सकते हैं। अगर वही अपने को यों नष्ट कर देंगे, तो क्या उनके साथ त्रिलोक का नाश न हो जाएगा ?

उनका दूसरा तर्क है कि राम वचन-बद्ध हैं, वह आज नहीं, तो कल अवश्य आएँगे। अगर कल भी नहीं आएँ, तो भरत समझ लें, राम का निधन हो गया—वह जीवित नहीं है। जीवितावस्था में वह अपना वचन कभी अन्यथा नहीं कर सकते। अगर उनके लिए भरत अपना अन्त कर देंगे, तो इस सूर्यवंश का जड़-मूल ही नष्ट हो जायगा। तो ऐसा अधर्म करना क्या धर्मावतार भरत के लिए योग्य होगा?

कवि-कुल-चूड़ामणि कंबन का कहना है :

"So spoke the grand souled Kausalya forgetting even her
grief for the delay of Ram in the sight of the
immaculate Bharata,
She could contemplate the death of Rama without
swooning—
—so much had the sacrifice of Bharata endeared him
to her heart
How then could she look on and allow him to fall
into the fire in a mistaken sense of sin?"

उदारमना कौसल्या प्रेम-पूत भरत पर इतना रीझ गईं, भरत उनकी आत्मा को इतने प्रिय हो गए कि अपना दुःख-शोक तो वह भूल ही गईं, साथ ही बिना बेहोश बने राम के निधन की यों कल्पना करने लग गईं। फिर वह यम-ताप के मिथ्या भ्रमजाल में पड़े भरत को आग में कैसे कूदने देतीं!

किन्तु भरत उनके राम से क्या कम हठी थे—तर्क-वितर्क करके वह आग में कूदना ही चाहते थे कि महावीर हनुमान् वहाँ आ पहुँचे और सबसे पहले उन्होंने अपने सशक्त हाथों वह दहकती आग बुझा दी।

कंबन को इस प्रसंग के लिए आदिकवि से प्रेरणा मिली थी, क्योंकि भरत ने बिदा लेते समय चित्रकूट में राम से स्पष्ट कर दिया था कि अगर वह अवधि के अन्त तक नहीं आए, तो वह अग्नि में कूद कर अवश्य जल जाएँगे। विराट् वाल्मीकि ने उस धमकी पर कोई ध्यान न दिया; पर कंबन ने यहाँ कौसल्या को लाकर एक जीवन्त चित्र उपस्थित कर दिया, जिससे भरत की दृढ़ता, उनका पावन प्रेम, उनकी धार्मिकता, कौसल्या की उदारता और उनकी ममता-महिमा शतधा मुखरित हो उठी है।

केवल भरत के मुँह पर उनकी उतनी प्रशंसा कुछ रस-रसिकों को कदाचित् न रुचे। तुलसी ने सम्भवतः इसी औचित्य को ध्यान में रख कर स्त्रियों की सभा में कौसल्या से जो कहलवाना चाहा, परोक्ष में कहलवा दिया!

जो भी हो, 'रस' तो दोनों का आस्वाद्य है, चित्र दोनों के चमकीले हैं और भाव दोनों के गूढ़-गम्भीर बन गए हैं, जो हमें नीच-कीच-कर्दम से उठा कर निर्मल नभ-नीलिमा में पहुँचा देते हैं। कौसल्या-सी उदार और प्रेम-विह्वला माँ ही भारत की वन्दनीया 'माँ' कहला सकती हैं।

धन्य कंबन ! धन्य तुलसी ! धन्य कीर्ति-राका राम-जननी !

प्रतिध्वनि गूँजती है :

"बंदउँ कौसल्या दिसि प्राची। कीरति जासु सकल जग माची॥"

"कैकेयी की कुटिलता"

"कहइ करहु किन कोटि उपाया।
इहाँ न लागिहि राउर माया॥"

... ...

"जननी तूँ जननी भई—
बिधि सन कछु न बसाइ॥"

... ...

"गरइ गलानि कुटिल कैकेई।
काहि कहै केहि दूषनु देई॥"

—तुलसी

... ...

"स त्वं धर्मं परित्यज्य रामं राज्येऽभिषेच्य च।
सह कौसल्यया नित्यं रन्तुमिच्छसि दुर्मते॥"

... ...

"एकाहमपि पश्येयं यद्यहं राममातरम्।
अञ्जलिं प्रतिगृह्णन्तीं श्रेयो ननु मृति मम॥"

... ...

"आत्मकामा सदा चण्डी क्रोधना प्राज्ञमानिनी॥"

—आदिकवि

... ...

"......Her heartlessness doth cleave
My heart twain. If Canst know her straight away
By her look, then know it is sinful womb
That held me many a weary month before
My birth."

... ...

"Thou livest yet, and still my spell-bound hand
Leapeth not forth to finish thee ! Did not
I fear that Ram my master would resent
The deed, shall even the name of mother stay
My arm from slaying thee ?"

—Kamban.

"बंधु बिहाइ बड़ेहि अभिषेकू" :

कैकेयी का नाम भारत-भूमि के घर-घर में कुटिलता और कठोरता का प्रतीक बन गया है। कुटिला और कर्कशा औरतों को प्रायः 'कैकेयी' ही कहा जाता है।

राजा दशरथ की तीनों रानियों में यद्यपि कौसल्या पटरानी मानी जाती थीं, पर राजा के तन-मन की अधिकारिणी थी केकय-कुमारी कैकेयी। भरत उसी के पुत्र थे; किन्तु, जाने क्यों, वह प्रायः ननिहाल (केकयदेश) में ही रहते थे भाई शत्रुघ्न के साथ।

एक दिन हठात् राजा दशरथ को अपने बुढ़ापे का ध्यान हो आया और उन्होंने बड़े बेटे राम को युवराज बनाने का दृढ़ निश्चय कर लिया। राम गुणवान् और लोक-प्रिय थे ही, अतः राजा ने गुरु वसिष्ठ से सलाह करके यह प्रस्ताव परिषद् में रखा :

"जौं पाँचहि मत लागै नीका। करहु हरषि हियँ रामहि टीका॥"

अगर पंचों को यह पसंद पड़े, तो फिर सहर्ष राम का राज्याभिषेक किया जाए—उन्हें युवराज-पद पर बिठा दिया जाय!

परिषद् ने सोल्लास एक मत से राजा का वह प्रस्ताव पास कर दिया :

"जग मंगल भल काजु बिचारा। बेगिअ नाथ न लाइअ बारा॥"

यह तो लोक-कल्याण का शुभ कार्य है—इसमें विलम्ब नहीं होना चाहिए।

राजा ने इसके सफल आयोजन का भार राज्य के सबसे प्रभावशाली और पूज्य व्यक्ति राजगुरु वशिष्ठ के ऊपर डाला; और घोषणा कर दी :

"कहेउ भूप मुनिराज कर जोइ-जोइ आयसु होइ।
राम राज अभिषेक हित बेगि करहु सोइ-सोइ॥"

राम के राज्याभिषेक के निमित्त मुनिराज वशिष्ठ की जो-जो आज्ञा हो, उसका पालन शीघ्र किया जाए।

आयोग के आयुक्त वसिष्ठ देव ने राम के पास जाकर यह राजाज्ञा सुनाई और तदनुकूल संयम-नियम बरतने का उपदेश किया।

राम निस्पृह थे—राज-पाट की कोई चाह उनके मन में न थी; और सब भाइयों पर उनका स्नेह भी समान था। इस राजाज्ञा से सहज ही उनके मन में यह आशंका उठ खड़ी हुई :

"जनमें एक संग सब भाई। भोजन सयन केलि लरिकाई।

करनबेध उपबीत बिआहा। संग संग सब भए उछाहा ॥
बिमल बंस यह अनुचित एकू। बंधु बिहाइ बड़ेहि अभिषेकू ॥"

जब सब भाई एक साथ पैदा हुए हैं, सबों के सब संस्कार साथ-साथ हुए हैं, तब सब को छोड़ कर एक बड़े भाई का ही राज्याभिषेक क्यों किया जाए? अपने पवित्र राजवंश की यह प्रथा राम के मन को नहीं भायी, और वह पछताने लग गए।

समाज और परिवार को सम-शीतल रखने में राम का यह पछतावा कैसा संजीवन बनेगा, दर्शनीय है। बड़े भाई के आदर्श राम की यह सीख अगर हमारे घरों में दृढ़ता से अचरित होने लगे, तो आप-से-आप राम-राज्य स्थापित हो जाए, और धूर-कट्ठे की जमीन-बँटाई के लिए भाई-भाई में आए-दिन की छीछा-लेदर भी समाप्त दीखे।

सर्वोदय की स्थापना का कैसा विमल सन्देश भरा है राम के उस पश्चात्ताप में। भारत-भूमि की यही अपनी संस्कृति है। 'मानस' का कवि इसी का उदार उद्गाता है, रामराज्य में वह उसी सुसंस्कृति की स्थापना का सुख-स्वप्न देखता है।

राम के राज्याभिषेक की तैयारी बड़ी तत्परता, बड़ी धूम-धाम तथा बड़ी सजावट-बनावट के साथ शुरू हो गई।

"राम राज अभिषेक सुनि हियँ हरषे नर नारि।
लगे सुमंगल सजन सब बिधि अनुकूल बिचारि ॥"

"बिघन मनावहिं देव कुचाली":

शुभ कार्यों में अशुभ (विघ्न-बाधाओं) की आशंका रहती ही है। सभी दूर-दर्शी इसकी संभावना समझ कर ही कोई समारम्भ करते हैं; क्योंकि कोई भी अनुष्ठान अशुभ से खाली नहीं माना जाता है।

विधाता की विशाल सृष्टि में विचित्रताओं की कमी नहीं पाई जाती है और उन बाहरी विभिन्नताओं के बीच कार्य-कारण का जो सूक्ष्म सम्बन्ध छिपा रहता है, अक्सर बाहरी आँखों से दिखाई नहीं पड़ता, इसी से सामान्य दृष्टि में वह विस्मय की वस्तु बन कर खड़ा हो जाता है।

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि एक के स्वार्थ में दूसरे का सर्वनाश समाया रहता है, और कभी-कभी परमार्थ भी स्वार्थ की पोशाक पहन लेता है; और तब जो संघर्ष छिड़ता है, दर्शनीय बन जाता है।

राम के राज्याभिषेक से एक ओर जहाँ—"जग मंगल भल काजु" की ध्वनि गूँज उठी थी, वहाँ दूसरी ओर ऊँचे लोक के निवासियों के अन्तर में भयानक पीड़ा भी होने लग गई थी:

"सकल कहहिं कब होइहि काली। बिघन मनावहिं देव कुचाली ॥"

ये देव ऊँचे लोक के निवासी थे—जैसे आज भी कुछ विशेष वर्ग के लोग देखे जाते हैं; और 'मानस' का कवि उन विशिष्ट वर्गीय व्यक्तियों से विशेष चिढ़ा हुआ जान पड़ता है; इसी से वह उनकी तुलना चोरों के साथ करता है :

"तिन्हहि सोहाइ न अवध बधावा। चोरहि चाँदिनी राति न भावा॥"

उन देवों को अयोध्या का यह उल्लास सुहा नहीं रहा था—जैसे चोरी की घात में लगे चोरों को चाँदनी रात नहीं भाती। वे मन-ही-मन मना रहे थे, उपाय ढूँढ़ रहे थे कि कैसे इस सर्वजन-प्रिय कार्य में विघ्न डाल दिया जाए—कैसे यह अपार हर्ष-समारोह विपुल विषाद और व्याकुलता में बदल जाए ?

उन स्वार्थ-परायण देवों की सहायता में एक दिव्यांगना देवी भी सकुचाती-शरमाती आ खड़ी हुई। वह देवी भी ऊँचे लोक की निवासिनी थीं, पर अक्सर वह निम्न-लोक में उतरती रहती थीं, और वहाँ के निरीह नर-नारियों को अपने इशारों पर नचाया करती थीं। इस नर-लोक में वह देवी कई नामों से पूजी जाती थीं—कोई उन्हें शारदा, सरस्वती, तो कोई गिरा-वाणी कहता था :

देव-वर्गीय अपने कुछ कुचाली बन्धु-बान्धवों के अनुनय-विनय पर अछताती-पछताती वह देवी, ऊँचे लोक से नीचे उतरीं, और ऊँची अटारी पर खड़ी, एक विस्मय-विमुग्धा विकलांग वामा को अपने वश में लाकर, उसकी मति गति को बिगाड़ कर, अपने स्वार्थ साधन में उस बेचारी को 'अजस-पेटारी' बना कर, खुश-खुश चली गईं अपने उन्नत लोक में!

किन्तु इसमें आश्चर्य करने का कोई कारण नहीं दीखता है, हर समय हर होशियार तथा बड़े-बड़ों की दुनिया में यह अद्‌भुत घटना घटती ही रहती है—पाप करे कोई, अभिशाप भोगे कोई ?

संसर्ग-दोष किसे काले रंग से नहीं पोत देता है ? 'मानस' का अनुभवी कवि उसी काली कुब्ज को पकड़ता है, जो कैकेयी की मुँह-बोली दासी थी और उसी के साथ मायके से अयोध्या आई थी। वाल्मीकि, कंबन और तुलसी उसके पूर्व जीवन पर कोई प्रकाश नहीं डालते, पर 'रंगनाथ रामायण' के रचयिता यह अवश्य लिखते हैं कि बचपन के खेल-कूद में राम ने कहीं उसकी टाँग तोड़ दी थी, जिसका बदला लेने का उसे यही अच्छा अवसर दीख पड़ा।

उस दासी का नाम था मन्थरा (क्या मन्त्रिता ?)। वह अनजान औरत ऊँची अटारी से नगर की नयनाभिराम शोभा देखकर दंग हो ही रही थी कि गिरा-महारानी की महिमामयी दृष्टि पड़ गई उस पर। 'मानस' के महाकवि ने सहज ईर्ष्यालु उस नीच नारी का ऐसा मर्म-स्पर्शी सजीव-चित्र खींचा है कि चकित रह जाना पड़ता है उसकी मर्मज्ञता पर। हठात् याद आ जाता है उसका अभिशापमय बचपन, जो उन्हीं दुर्बलमति दासियों के बीच से गुजरा था।

नोट—देखिए—'रंगनाथ रामायण' (बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना से प्रकाशित) की पृष्ठ संख्या ७६—लेखक।

"गालु करब केहिकर बल पाई" :

किस प्रकार आज की रात ही विघ्न डाल दिया जाए कि यह सारा खेल खतम हो जाए—इस समस्या पर सिर भिड़ाती वह 'मन्त्रिता मन्थरा' मुँह लटकाए, कुछ बिलखती हुई, भरत की माँ (अपनी मालकिन) के पास पहुँची। उसके मन में राम से मुकाबला लेने के लिए भरत आ खड़े हुए, कवि इसीलिए जान-बूझकर 'भरत-मातु' का मर्म-व्यंजक प्रयोग करता है।

रानी ने हँसकर उदासी का कारण पूछा, लेकिन जवाब देने के बदले वह आह-उसाँस लेने और आँसू बहाने लगी। अबलाएँ आँसू बहाने की कला में विशेष पारंगत होती हैं, इसलिए कवि 'नारिचरित' शब्द का प्रयोग विशेष रूप से करता है। कैकेयी को शंका होती है कि कदाचित् लक्ष्मण ने बक-बक करने के कारण उसे डाँटा-डपटा हो, लेकिन वह उसका भी कोई उत्तर नहीं देती—साँप की तरह फुफकारती रह जाती है!

कैकेयी पति और परिवार के योग-क्षेम की चिन्ता से डर जाती है। उसके मुँह से 'राम' का नाम सुन कर मन्थरा और मर्माहत हो जाती है—अरे, यह तो उसी राम की चिन्ता कर रही है जिसके विनाश का बीज वह बोने आई है इसके पास। इसलिए अपनी उदासीनता कुछ और बढ़ाती हुई वह कहती है :

"कत सिख देइ हमहि कोउ माई। गालु करब केहि कर बलु पाई॥"

कैकेयी ने उस पर दो आक्षेप किए थे और राज-परिवार की कुशल पूछी थी। किसी को क्या पड़ी है कि उससे भिड़े—किस गिनती में है वह! और किसके बल पर वह गाल करेगी? ध्वनि है कि दासी का बल तो उसकी मालकिन है, और जब वही स्वामिनी उसकी यों उपेक्षा करती है, तो फिर और कौन उसकी कद्र करने चला?

यों मंथरा कैकेयी की गर्वानुभूति पर एक हलका हथौड़ा चला देती है—अरे, यह दासी मुझे इतनी नाचीज समझती है!

इतना सुना कर वह दासी कुशल-प्रश्न की जिज्ञासा पर भी व्यंग्य की बौछार करती है :

"रामहि छाड़ि कुसल केहि आजू। जाहि जनेसु देइ जुबराजू॥"

राम को छोड़ आज और कौन सकुशल माना जाएगा जिसे राजा युवराज-पद दे रहे हैं?

फिर वह तुरत सौत की मूर्ति उसके सामने ला खड़ी कर देती है; क्योंकि राम के प्रति तो कैकेयी पहले से ही स्नेहशील रहती आई थी। शायद सौत का सौभाग्य उसे कुछ विचलित कर सके—मछुए की तरह थाह-थाह कर वह छापी रखती है :

"भयेउ कौसिलहि बिधि अति दाहिन। देखत गरब रहत उर नाहिन॥"

विधाता कौसल्या के ऊपर आज एकदम अनुकूल हो गए हैं, उसका गर्व तो देखा नहीं जाता है—इतना अपार हो उठा है वह !

सौत के प्रति पति-प्रिया पत्नी सहज ही सशंकित रहा करती है : पटरानी न होते भी कैकेयी दशरथ की प्राण-प्यारी है, उसका यह अनुचित अधिकार कभी-न-कभी छिन जा सकता है और उसका वह सुअवसर कौसल्या को आज मिल गया है, फिर उसके गर्व का पूछना ही क्या—कहाँ है उतना बड़ा हृदय जिसमें वह गर्व समा सके ?

तुलसी ने कौसल्या और कैकेयी के विषम संबंध की चर्चा नहीं के बराबर की है, पर वाल्मीकि और कंबन ने इस वैषम्य को खूब बिखेरा है। आदिकवि की मन्थरा कैकेयी को याद दिलाती है :

"दर्पान्निराकृता पूर्वं त्वया सौभाग्यवत्तया।
राममाता सपत्नी ते कथं वैरं न यातयेत्॥"

अपने सौभाग्य-बल से गर्वित होकर कैकेयी ने इतने दिनों तक अपनी सौत (कौसल्या) का जो तिरस्कार किया है, क्या वह अब (राम के युवराज हो जाने पर) उसको सूद के साथ नहीं लौटाएगी ?

मानस की मन्थरा उसे और उत्तेजित कर देती है :

"देखहु कस न जाइ सब शोभा। जो अवलोकि मोर मनु छोभा॥"

जाकर वह खुद क्यों न वह शोभा देख लेती है, जिसे देख बेचारी यह दासी इतनी बेचैन हो रही है !

फिर वह कैकेयी की अदूर-दर्शिता, आराम-तलबी की प्रकृति और पति-प्रेम के गर्व पर कड़ी चोट पहुँचाती है। बेटा विदेश में है, पर माँ को कोई चिन्ता नहीं—वह केवल भोग-विलास में भूली हुई है। पति को अपने अधीन जान कर फूली नहीं समा रही है, पर यह मूर्खा उसकी कपट-चातुरी को नहीं भाँप रही है।

कैकेयी को यह सब सुन कर गुस्सा आ जाता है, और वह उसे कड़ी डाँट बताती है—अगर फिर कभी ऐसी घर-फोड़ी बात वह बोली, तो वह उसकी जीभ निकलवा लेगी।

यहाँ तक मानस-कवि कैकेयी चरित्र में, उसके स्वभाव में, सौतों के प्रति निर्मल संबंध में कोई कालापन नहीं देखता है—जैसे कैकेयी के मन में कभी कोई दुर्भावना उठी ही न हो।

मंथरा उसकी इस दृढ़ता और अपनी असफलता पर चकित होती है, पर लगाम जरा भी ढीली नहीं करती है—चाबुक-पर-चाबुक चलाती ही जाती है।

दुनिया की खोपड़ी ही गजब की है, वह झूठ-फरेब की बातों पर ही विश्वास

करती आई है; सच कहने वालों को कोई पूछता नहीं—और उलटे मारने दौड़ता है। मन्थरा भी अब या तो चुप रहेगी, या ठकुरसुहाती बात कहेगी। अन्त में वह नागिन अपने भाग्यऔर भाग्य-विधाता को कोसती है। काली-कलूटी तो वह है ही, दासी बन कर गुलामी करती है। किसे दोष दे ? जैसा बोया है, काट रही है ? आखिर वह तटस्थता का अत्यन्त तीखा तीर चला देती है :

"कोउ नृप होउ हमहि का हानी। चेरि छाड़ि अब होब कि रानी।।
जारै जोगु सुभाउ हमारा। अनभल देखि न जाइ तुम्हारा।।"

मन्थरा दासी है, सदा दासी ही रहेगी—राजा कोई हो। उसका व्यक्तिगत हानि-लाभ इसमें कुछ भी नहीं है। यह यो केवल उसका स्वभाव-दोष है कि दूसरे के लिए अपना सिर फुड़वाती चलती है ! असल में वह कैकेयी की कोई बुराई देख नहीं सकती है—यही स्वभाव उसका घातक है, कैकेयी इसीलिए तो उसकी ऐसी दुर्गति कर रही है।

सहसा उसका स्वर आत्म-निन्दा छोड़ कर फिर वक्रता से भर जाता है :

"तातें कछुक बात अनुसारी। छमिअ देबि बड़ि चूक हमारी।।"

अपने उसी अभागे स्वभाव के कारण मन्थरा ने कैकेयी से कुछ कहा था : महारानी उसकी इस बड़ी गलती को भूल जाएँ—माफ कर दें उसे !

बस, पासा पलटा और मन्थरा की हार जीत में बदल गई; कैकेयी ने सहसा उसकी हित-कामना पर दृढ़ विश्वास जमा लिया—'हाँ, इसका तो कोई स्वार्थ नहीं दिखता है, फिर इसे इतनी परेशानी क्यों है ? अवश्य यह हमारा हित चाहती है।'

मंथरा की केवल एक 'काकोक्ति' कैकेयी की दृढ़ता की दीवारों को जड़-मूल से ढाह देती है और वह बड़ी उतावली के साथ उस पर उत्सर्ग हो जाती है—उसके इशारों पर नाचने को तैयार हो जाती है।

तुलसी ने तर्कों का उतना सहारा नहीं लिया, जितना भाव, मुद्रा और मर्म-व्यंजक वाणी का। आदिकवि से भी अधिक तीक्ष्ण तर्क कंबन की मन्थरा ने कैकेयी के सामने उपस्थित किये हैं। एक-दो नमूने बस होंगे :

"Poor Bharata !
He is not even dead, he lives ! How can
He bear the sight ? For the sin of being born
Thy child, alas his royal birth has gone
In vain ?"

कैकेयी की कोख में पैदा होने के पाप के कारण ही बेचारे भरत को (जो अभी जीवित ही हैं) अब वह सब दृश्य देखने पड़ेंगे जो चतुर कौसल्या उन्हें दिखाएँगी अपने पुत्र को राजमुकुट पहना कर।

कंबन की मंथरा तो यहाँ तक कहती है कि राम के राजा होने पर कौसल्या की महत्त्वाकांक्षा इतनी बढ़ जायगी कि सारे भूमण्डल का राज्य पाकर भी वह तृप्त न होगी; और तब फिर कैकेयी के लिए क्या रह जायगा :

"What will be left to thee
But what she gives to thee of her own grace ?"

कौसल्या हाथ उठा कर जो दया-दान उसे देंगी, कैकेयी को झख मारकर वही भीख लेनी पड़ेगी।

वह तो कैयेयी को यहाँ तक डरा देती है कि राम के हाथों में सत्ता का सूत्र आते ही कैकेयी के पिता को भी कौसल्या का ही मुँह जोहना पड़ेगा अयोध्या आने पर, और तब जनक का हाथ कैकेय देश को हड़पने से बाज आएगा ?

"And think, the fear of thy lord alone
Prevents kind Janaka from falling on
Thy father's realms, if Ram ascends the throne
Of Oudh, would the father of his wife, the king
Of Mithila withhold his greedy hands
From Kekaya."

यों केवल कैकेयी का ही नहीं, उसके मायके का भी सर्वनाश निश्चित है :

"Alas, thy kindred will be ruined, and thou
Thyself will sink in a sea of misery".

कंबन के कथनों में जहाँ राजवंश के युद्ध-विग्रह, तड़क-भड़क, राग-रोष का बाहुल्य-विधान है, वहाँ तुलसी के चित्रण में मनोजगत् की मार्मिकता मर्मर-ध्वनि से मुखरित हो उठी है।

आदि कवि की मन्थरा भी बाहरी बातें ही अधिक बताती है, कभी महद्भय की सूचना देती है, कभी दशरथ की कुटिलता इंगित करती है, कभी उसकी मूर्खता पर शोक करती है और कभी कौसल्या को ला खड़ी कर देती है :

"प्राप्तां वसुमतीं प्रीतिं प्रतीतां हतविद्विषम्।
उपस्थास्यसि कौसल्यां दासीवत्त्वं कृताञ्जलि॥
एवं चत्वं सहास्माभिस्तस्याः प्रेष्या भविष्यसि।
पुत्रश्च तव रामस्य प्रेष्यत्वं हि गमिश्यति॥"

कौसल्या वसुन्धरा को पाकर परम प्रसन्न होगी, उसके शत्रु हत हो जाएँगे, वह प्रतिष्ठिता होगी; और कैकेयी उसके सामने हाथ जोड़ कर खड़ी रहेगी। मन्थरा

की तरह अनेक दासियों के साथ कैकेयी भी एक दासी के समान कौसल्या के आगे खड़ी होगी और उसका पुत्र भरत भी राम का सेवक बनेगा।

तुलसी की मन्थरा की नाईं, आदिकवि की मन्थरा चेरी-रानी की तुलना में अपने को निरपेक्ष भी नहीं रखती है :

"तव दुःखेन कैकेयि मम दुःखं महद्भवेत्।
त्वद्वृद्धौ मम वृद्धिश्च भवेदिह न संशयः॥"

कैकेयी के दुःख से मन्थरा का दुःख बढ़ेगा और इसमें कोई सन्देह नहीं कि उसकी वृद्धि से मन्थरा की भी वृद्धि होगी। अतः इसमें उसका स्वार्थ भी समाया हुआ है—तटस्थ वह नहीं है।

कैकेयी जब राम-भरत में अपनी अभेद-दृष्टि की घोषणा करके अपनी उदारता के गीत से उसे नहला देना चाहती है, तब वह उसे साधिकार सूचित कर देती है :

"ध्रुवं तु भरतं रामः प्राप्य राज्यमकण्टकम्।
देशान्तरं नाययिता लोकान्तरमथापि वा॥"

अकण्टक राज्य पाकर राम निश्चय ही भरत को परदेश या परलोक भेज देंगे।

यहाँ हम दासी की बातें ही अधिक सुन पाते हैं, तुलसी की तरह फुफकारिती सर्पिणी के चारों ओर, हाथों में तुम्बी लिए सँपेरे को पैंतरे बदलते, नहीं देख पाते हैं, और न मन्थरा के अगम मनोराज्य के अन्दर बने दुर्गम दुर्गों तथा गहन गढ़ों की विचित्र व्यूह-रचना ही देख पाते हैं। तुलसी की मन्थरा केवल एक सजीव आकृति ही नहीं, कमनीय कलात्मक कृति भी जान पड़ती है, जिसके निर्माण में कलाविद् कवि का अध्ययन और उसका अध्यवसाय हमें आह्लादमय आश्चर्य में डाल देता है।

"रहसी चेरि घात जनु फाबी" :

तुम्बी-नाद से मुग्ध होकर बेसुध बनी सर्पिणी जब सँपेरे की संकुचित पिटारी में सिर डाल देती है, तब जो खुशी उस सँपेरे के तन-मन पर फैलने लगती है, दर्शनीय होती है। फिर भी चौकन्ना तो उसे रहना ही पड़ता है। उसी सावधानी से अपने अंगों को सम्हाल और अपने शब्दों को तौल-तौल कर मन्थरा कहती है :

"तुम्ह पूँछहु मैं कहत डेराऊँ। धरेहु मोर घरफोरी नाऊँ॥"

कैकेयी ने तो उसे 'घर-फोड़ी' की उपाधि दे दी थी, फिर आगे कुछ और कहने में डर होना ही चाहिए अब मन्थरा को और जब उससे पूछा जाता है, तब वह चुप भी कैसे रहे मालिकिन के सामने?

अपने सहज संकोच से उसके आकुल हृदय को यों धीरे-धीरे छूती और सावधानी से सहलाती वह साढ़साती (दुष्टा) कहने लगी :

"प्रिय सियराम कहा तुम्ह रानी। रामहि तुम्ह प्रिय सो फुरि बानी।।
रहा प्रथम अब ते दिन बीते। समउ फिरे रिपु होहिं पिरीते।।"

मँझली रानी (कैकेयी) को सीता-राम अत्यधिक प्रिय हैं, वे भी उन्हें प्यार करते थे—कैकेयी का यह कथन असत्य नहीं है, मन्थरा भी उसे सही मानती है; पर वह पुरानी बात है; समय बदलते ही, परिस्थिति में परिवर्तन होते ही, जो कभी दोस्त रहता है, दुश्मन हो जाता है। कैकेयी इस सच्चाई से भी आँखें न मोड़े। मन्थरा सूर्य और कमल का उदाहरण देकर सिद्ध कर देती है कि जैसे बिना पानी के सूर्य कमल को जला देता है, राम भी राजा बन कर उसे जला देंगे—सौत कौसल्या उसकी जड़ उखाड़ने पर तुली हुई है; क्योंकि कौसल्या देखती आई है :

"राजहि तुम्ह पर प्रेमु बिसेखी। सवति सुभाउ सकइ नहिं देखी।।"

—कि राजा कैकेयी की ओर विशेष आकृष्ट रहे हैं, फिर सौत का स्वभाव यह पक्षपात कैसे बर्दाश्त करे ? लेकिन कौसल्या दूर-दृष्टि वाली है—बड़ी सावधानी से कैकेयी को नष्ट-भ्रष्ट करने की योजना उसने बहुत पहले बनाई, और राजा से कह-सुन कर :

"पठए भरत भूप ननिऔरे। राम मातु मत जानब रउरे।।"

भरत को दूर भगा दिया ननिहाल। कैकेयी निश्चय जाने कि यह सब राम-माता की राय से हुआ था बहुत पहले, जिसका सफल परिणाम है आज यह अभिषेक-समारम्भ। कौसल्या ऊपर-ऊपर से ही भली दीखती हैं, उसका हृदय तो कैकेयी के गर्व और गौरव को देख कर जलता ही रहता है :

"सालु तुम्हार कौसिलहि माई। कपट चतुर नहिं होइ जनाई।।"

उसी कपट-चतुरा ने, राजा को मिला कर यह तैयारी करवा ली है जिससे कैकेयी का प्रभाव खतम हो जाए ! अरी, समझी नहीं, जबतक दशरथ राजा हैं तभी तक न उसका यह गर्व-गौरव भी है; और जहाँ राम राजा हुए, वहाँ फिर उसे कौन पूछेगा—तब तो पूछ होगी राज-माता कौसल्या की।

कैकेयी के मनमें मन्थरा की यह युक्ति जगह पाने लगी। मन्थरा इसे भाँप गई और फिर बड़ी सतर्कता से एक अचूक तीर उसने छोड़ दिया, जिससे डोलती दीवार ढह-ढनमना कर तुरत धरती पर ढेर हो जाए :

"यह कुल उचित राम कहुँ टीका। सबहि सोहाइ मोहि सुठि नीका।।"

इस सूर्यवंश की परम्परा के अनुसार राम का राज्य-तिलक बहुत ठीक है, सब को भाता है, मन्थरा को तो और भला मालूम होता है; किन्तु इसका परिणाम जो कैकेयी पर पड़ेगा उसी की चिन्ता से ही मन्थरा इतनी कातर हो रही है :

"आगिल बात समुझि डरु मोही। देउ दैउ फिर सो फलु ओही॥"

विधाता उस दुष्टा (कौसल्या) को ही इस कुचक्र का फल भोगाए।

कैकेयी को मन्थरा की इस मोहक बातों पर विश्वास होने लगा; हमारा भाग्य-वादी कवि इसे भावी की प्रेरणा कहता है :

"भावी बस प्रतीत उर आई। पूँछ रानि पुनि शपथ देवाई॥"

फिर तो मन्थरा का पौ-बारह था, हँसी-मजाक की हलकी फुहारों के बीच चलती हुई वह अपने मतलब पर आई :

"रामहि तिलक कालि जो भयऊ। तुम्ह कहुँ बिपति बीजु बिधि बयऊ॥
रेख खँचाइ कहउँ बलु भाषी। भामिनि भइहु दूध कर माखी॥

जैसे घी-दूध में पड़ी अधमरी मक्खी नफरत से झट निकाल कर फेंक दी जाती है, अगर कल राम का राज्याभिषेक सम्पन्न हो गया तो कैकेयी भी उसी तरह तिरस्कृत जीवन बिताने को बाध्य बना दी जाएगी—मन्थरा इसे रेखा खींच कर कहती है, और सोदाहरण स्पष्ट भी कर देती है।

"कद्रूँ बिनतहि दीन्ह दुखु तुम्हहि कौसिलाँ देब।
भरतु बंदि गृह सेइहहिं लखनु राम के नेब॥"

किसी समय क्रूर मना कद्रू ने अपनी सौत बिनता को जैसा दुःख दिया था, कौसल्या भी कैकेयी के साथ वैसा ही कठोर व्यवहार करेगी और उसके पुत्र भरत को बन्दी-घर की सेवा करनी होगी : लक्ष्मण तो राम के इशारे पर नाचते ही रहते हैं।

कैकेयी का विश्वास इन बातों से और पक्का हो गया—सच, राम का यह राज-तिलक उसके लिए विपत्ति का बीज ही बोने जा रहा है। अतः मर्माहत महारानी ने निश्चय किया :

"नैहर जनमु भरब बरु जाई। जिअत न करबि सवति सेवकाई॥"

जिस तीक्ष्ण दृढ़ता का परिचय इस कथन में मिलता है, न आदिकवि, न कंबन और न रंगनाथ रामायण में ही इसके दर्शन होते हैं।

कैकेयी का मानसिक चढ़ाव-उतार देखकर मन्थरा मन-ही-मन खुश होती, बाहर से सहानुभूति, स्तुति और सहयोग का सहारा लेती है।

"अस कस कहहु मानि मन ऊना। सुखु सुहागु तुम्ह कहुँ दिन दूना॥"

यों हताश होने की क्या जरूरत है, प्रयत्न करे तो कैकेयी का सुख-सुहाग दिन-दिन दूना होता जायगा। मंथरा बड़ी होशियारी से कैकेयी को गहरे गड्ढे में ढकेल देती है :

"जबतें कुमत सुना मैं स्वामिनि। भूख न बासर नींद न जामिनि॥
पूँछेउ गुनिन्ह रेखि तिन्ह खाँची। भरत भुआल होहिं यह साँची॥"

मन्थरा ने जब से इस कुचक्र की बात सुनी, उसकी नींद-भूख हराम हो गई—जाने कैसे उसे समय मिला कि दौड़कर वह ज्योतिषियों के पास पहुँची, और उनकी गणना का परिणाम सुन आई—"भरत का राजा होना अटल ध्रुव है!"

भला अपनी ऐसी हितकारिणी की बातों पर वह (कैकेयी) सौ जान से न्योछावर क्यों न हो जाती?

मनोजगत् की यह मर्म-मधुर दाव-पेंच, चालाकी और होशियारी की यह पैंतरेबाजी, शिकार फँसाने की यह कला कितनी अद्भुत, कितनी प्राकृतिक और कितनी मोहक प्रतीत होती है। भयानक विपत्ति की मिथ्या सृष्टि, उसके दारुण परिणामों का काल्पनिक चित्रांकन, विपत्ति में मदद करने बिना पूछे दौड़ पड़ना, निवारण का व्यग्र भाव से उपाय ढूँढ़ना, सहानुभूति और सहयोग के लिए अपनी सुध-बुध भूल कर खाक छानते फिरना, लांछित और तिरस्कृत होकर, गाली-गलौज भी खाकर बेचारी परोपकारिणी मन्थरा अब कैकेयीकी प्रिय-पात्री न होगी तो और कौन होगा?

तुलसी के इस सरल सूक्ष्म चित्रण तथा भाषा की मर्म-मधुर सुकुमारता के सामने आदिकवि और कंबन के भीषण रव वाले सारे आँधी-तूफान बे-असर जान पड़ते हैं। यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि तुलसी की 'मन्थरा' विश्व-वाङ्मय में अपना सानी नहीं रखती है। निष्पक्ष रस-रसिक ही इसका साक्ष्य भर सकते हैं।

"भामिनि करहु त कहौं उपाऊ":

मन्थरा ने जब इतनी परेशानी उठाई है तब उसके पास विपत्ति-निवारण का भी तो कुछ उपाय अवश्य होगा। उपाय है, बशर्ते कि रानी उसका अवलम्बन करे—उसके कहे अनुसार काम करे।

कैकेयी ने यह सुनकर गद्गद कण्ठ से घोषित किया:

"परउँ कूप तुअ बचन पर सकउँ पूत पति त्यागि।
कहसि मोर दुखु देखि बड़ कस न करब हित लागि॥"

जो विपत्ति में यों उसकी सहायिका हो रही हो, उसकी बातों पर तो वह कुएँ में कूद सकती है, पति-पुत्र को भी छोड़ सकती है।

हाय, भोली रानी! विधाता ने तुम्हें केवल विशाल रूप-जीवन ही दिया था, उसके अनुरूप हृदय और समझ देने के समय उनका हाथ, जान पड़ता है, कुछ काँप गया था। तुम ठीक बड़ी-बड़ी आँखों वाली मृगी की भाँति एकदम भोली हो, इसी से तुमने छलिया के माया-जाल में, अपनी सारी दृढ़ता और गरिमा भूलकर मुँह डाल दिया! नहीं सोचा कि जो हरियाली वहाँ दीखती है, केवल धोखे की टट्टी है। अरी,

इस तरीके से हरिण ही नहीं, होशियारी का गर्व रखने वाले मनस्वी भी फँसाए जाते हैं ! अतएव अत्यधिक भोला होना भी भारी गुनाह है।

यह भी तो संसर्ग का ही परिणाम है—एक सड़ा सेव जाने कितने ताजे सेवों का सुकुमार सौन्दर्य बिगाड़ देता है। अतः अपने पास-पड़ोस की काना-फूसी में ज्यादा दिलचस्पी लेना खतरे से खाली नहीं होता है।

तो अब मंथरादेवी का मन्त्र और उसकी महिमा का तमाशा भी देख लिया जाए :

"कहइ चेरि सुध अहइ कि नाहीं। स्वामिनि कहिहु कथा मोहि पाहीं॥
दुइ बरदान भूप सन थाती। मागहु आजु जुड़ावहु छाती॥"

दशरथ ने, कैकेयी की सेवा से प्रसन्न होकर, कभी जो दो वरदान दिए थे, मंथरा उस थाती की याद उसे दिलाती है (उसकी स्मरण-शक्ति को साधुवाद ! कैकेयी उसे भूल गई, पर मंथरा उसी से सुनकर याद रखे रही इसी मौके के लिए !) और कहती है कि वही वर माँग कर वह अपनी छाती जुड़ा ले।

तदनन्तर मंथरा कैकेयी को यह भी बता देती है कि राजा से उसे क्या और कैसे माँगना चाहिए :

"सुतहि राजु रामहि बनवासू। देहु लेहु सब सवति हुलासू॥"

नीचे के पद में 'देहु-लेहु' शब्द अपनी मर्मर ध्वनि से कितना बड़ा चमत्कार दिखा रहे हैं—एक वर से दोनों को कुछ दो—बेटे को राज और राम को जंगल; और दूसरे वर से बहुत कुछ बटोर लो—क्या ? सौत का सब उल्लास ! आह—ये 'देहु-लेहु' शब्द कितने चपल और चटुल हैं, साथ ही कितने लघु और लोल-हृदय ललक उठता है इन्हें अंक में धारण कर लेने को !

और देने-लेने का यह सौदा हो किस होशियारी से, वह उपाय भी बता देती है :

"भूपति राम सपथ जब करई। तब मागेहु जेहि बचन न टरई॥"

ध्यान रहे, राजा जब तक राम की शपथ न कर लें, तब तक 'वर' को स्पष्ट न किया जाए। राम की शपथ खा लेने के बाद वह (राजा) फिर अपनी बात बदल नहीं सकेंगे; क्योंकि राम उन्हें इतने प्यारे हैं !

मंथरा इस काम में जरा भी विलम्ब नहीं पसन्द करेगी, क्योंकि :

"होइ अकाजु आजु निसि बीतें। बचन मोर प्रिय मानेहु जीतें॥"

अगर आज की रात गई, तब तो कल बड़े तड़के (पुष्य नक्षत्र में) राम का राज्याभिषेक हो ही जाएगा। फिर तो हाथ मलते ही रह जाना पड़ेगा। मंथरा की इस बात को कैकेयी प्राण से भी बढ़ कर माने।

ऐसी ममतामयी मन्त्र-दातृ की स्तुति नवदीक्षिता कैकेयी क्यों न करती, और उसे पुरस्कृत करने की बात वह क्यों न सोचती :

"जौं बिधि पुरब मनोरथु काली। करौं तोहि चख पूतरि आली ॥"

अगर कल कैकेयी की कामना पूरी हो गई, तो मंथरा को वह अपनी आँखों की पुतली ही बना लेगी !

आदिकवि ने भी इस पर कुछ फालतू शब्द व्यय किए हैं :

"करिष्यामि ते कुब्जे शुभान्याभरणानि च। परिधाय शुभे वस्त्रे देवतेव चरिष्यसि ॥

कुब्जा के लिए कैकेयी कई तरह के अच्छे-अच्छे गहने कपड़े बनवा देगी, जिन्हें पहन-ओढ़ कर वह देवता की तरह विचरण करेगी।

तुलसी कैकेयी को इतने निम्न धरातल पर नहीं उतारते हैं।

महाकवि कंबन की कैकेयी तो, उल्लास में आकर, मंथरा को भरत की माँ ही बना देती है :

"Thou hast given the sea-girt earth entire
To my son Bharata: 'tis thou that art
Henceforth the mother of the king to be,
Not I, Well hast thou said: My Bharat shall
Be Crowned today and Ram forthwith exiled
To the forest: if my lord would not consent
To this, I'll take my life at his very feet."

मंथरा ने जब सिन्धु-मेखला वाली सारी पृथ्वी ही भरत को दे दी, फिर वह उस राज की 'माँ'का स्थान क्यों न लेती ? कैकेयी ने यह कह कर अपना कठोर संकल्प यों घोषित कर दिया : अब या तो वह भरत को राज मुकुट पहनाएगी और राम को वन भेजेगी; और अगर राजा ने उसकी बात न मानी, तो वह उसी के पैरों पर सिर पटक कर प्राण दे देगी !

तुलसी अपनी कैकेयी को इस गर्द-गुबार से दूर ही रखते हैं।

"कोपभवन गवनी कैकेयी" :

मन्थरा की मन्त्रणा मानकर कैकेयी ऐसे कमरे में जा बैठी, जिसे 'कोपभवन' कहा जाता है। कदाचित् कैकेयी की 'कोप-लीला' 'मान-लीला' की तरह मशहूर हो चुकी थी। आदिकवि इसे 'क्रोधागार' कहते हैं :

"तथा प्रोत्साहिता देवी गत्वा मन्थरया सह। क्रोधागारे विशालाक्षी सौभाग्य मदगर्विता "॥

सौभाग्य के गर्व में झूमती, मन्थरा के साथ, कैकेयी क्रोधागार में चली गई।

तुलसी ने उसे सामान्य स्तर पर ही रखा है और स्त्री-स्वभाव की सामान्य भूमि पर ही विचरण करने दिया है। प्रभाव साम्य की उत्सुकता कवि को 'सांग-रूपक' के पास खींच लाती है और वह विपत्ति बीज को बढ़ा कर उसमें फल भी लटका देती है :

"बिपति बीजु बरषा रितु चेरी। भुँइ भइ कुमति कैकेयी केरी।
पाइ कपट जलु अंकुर जामा। बर दोउ दल दुख फल परिनामा॥"

भाव और चित्र को स्पष्ट करने में 'साँग रूपक' कवि की बड़ी सहायता करता दीखता है : विपत्ति अभी छोटे से बीज के रूप में नगण्य है, लेकिन मंथरा उसके लिए सावन-भादों की वर्षाऋतु ही बन गई। जमने के लिए वह बीज जमीन ढूँढ़ता है; कैकेयी की ही 'कुमति' वह भूमि बन जाती है, और छल-कपट का जल पाकर वह बीज अंकुरित हो उठता है। दो वर उसके दो दल दीख रहे हैं, फिर इसमें जो फल आएगा, वह दुःख-प्रद क्यों न होगा ? और वह फल चखेगा कौन—वही मृगी न, जो अभी-अभी माया-जाल में जा फँसी है। पहचान ही क्यों न लिया जाए उसे :

"कोप समाजु साजि सबु सोई। राजु करत निज कुमति बिगोई॥"

क्रोध की साज सज्जा होती है फटेहाली, कैकेयी को वहाँ उसका पहला प्रसाद मिला, और जहाँ राजरानी थीं, वहाँ उसकी दुर्बुद्धि ने उसे यों दुर्दशा में डाल दिया। यह भी तो संसर्ग-दोष का परिणाम था। हमारा कवि उसे खूब पहचानता है :

"को न कुसंगति पाइ नसाई। रहइ न नीच मते चतुराई॥"

जिस कैकेयी के सौभाग्य-सूर्य का एकमात्र रंगस्थल था दिगन्त-विस्तृत निर्मल नभ-सा उसका वह आभामय यौवन और साज-सिंगार, कुरूपा कुबरी के संसर्ग के कारण, सब से पहले उसके उसी साम्राज्य का मूलोच्छेद हो गया ! कोप-भवन में आते ही कवि तरस खाता है उसकी फटेहाली पर :

"भूमि सयन पटु मोट पुराना। दिए डारि तन भूषन नाना॥"

जो गर्वीली नारी नित्य मणि-माणिक से खचित दुग्ध-फेन-सी सुवर्ण-सेज पर सोया करती थी, वह आज अशोभन भूमि पर लेटी हुई है ! जिसके अनुपम अंगों का स्पर्श-सुख पाकर चमकीले भूषण-वसन भी नित्य नन्दित रहते थे, तिरस्कृत होकर वे अब धूल में सिर धुन रहे हैं।

कवि सशंकित स्वर में समीक्षा करता है :

"कुमतिहि कसि कुबेषता फाबी। अन अहिवात सूच जनु भाबी॥"

अरे, दुर्बुद्धि को यह फटेहाली ही क्यों पसंद पड़ती है—क्या यह उसके भावी 'अनअहिवात' (सुहाग का उलटा अर्थात् वैधव्य) की सूचना दे रही है ?

यह सब विपरीतता तो संसर्ग का ही स्वार्थ है—मन्थरा जैसी खुद थी, उसने कैकेयी को भी वैसा ही बना दिया !

"देखहु काम प्रताप बड़ाई" :

सन्ध्या होते ही वृद्ध दशरथ, कैकेयी के कक्ष में आ पहुँचे। कदाचित् यह उनका नित्य का अभ्यास था। उनके इस शुभागमन पर कवि एक बड़ी सुकुमार एवं मर्म-मधुर उत्प्रेक्षा को प्रत्यक्ष करता है :

"गवनु निठुरता निकट किय जनु धरि देह सनेहु।"

मानो देह धारण कर स्नेह निष्ठुरता के पास पहुँच गया हो।

कवि का वह समीक्षात्मक स्वर रुकता नहीं है :

"कोप भवन सुनि सकुचेउ राऊ। भय बस अगहुड़ परइ न पाऊ॥"

वृद्ध राजा की यह भीत-मुद्रा देखने लायक है—कैकेयी 'कोप-भवन' में है, दासियों के मुँह से यह अशुभ समाचार सुनते ही सुरेन्द्र-सखा वह राजा सहसा संकुचित हो गए, ठिठक गए, उनका पैर आगे उठना ही नहीं चाहता था।

इन्द्र को भी अभय देने वाला अद्भुत बलशाली यह राज-राजेन्द्र कामिनी के कोप से यों सूख जाए—यही तो काम-महिमा है, भई :—"देखहु काम प्रताप बड़ाई !"

कवि इसे और स्पष्ट कर देता है :

"सूल कुलिस असि अँगवनि हारे। ते रतिनाथ सुमन सर मारे॥"

जो योद्धा बड़ी दृढ़ता और दिलेरी से शूल, कुलिश और असि-आघात को बर्दाश्त करता है, उसी धीर-वीर को रतिनाथ (कामदेव) अपने सुमन-सर (फूलों के बाण) से बेध डालता है !

कैसा मार्मिक विरोधाभास है—कठोर कृपाण से जो मारा नहीं जाता, उसे कोमल कुसुमों के तीर छेदकर छटपटा देते हैं।

इस अद्भुत् काम-कौतुक का पता किसे नहीं है ? तुलसी के उक्त कथन का जोरदार समर्थन विराट् वाल्मीकि भी कर रहे हैं।

"स प्रविश्य महाराजः स्वमन्तः पुरमृद्धिमत्। न ददर्श स्त्रियं राजा कैकेयी शयनोत्तमे॥
स कामबल संयुक्तो रत्यर्थी मनुजाधिपः॥"

कैकेयी उस रंगमहल में थी कहाँ, जो राजा उसे वहाँ देखते ? बेचारे व्याकुल भाव से उसे ढूँढ़ रहे हैं।

वहाँ अन्तिम पद में जो 'रत्यर्थी' शब्द है, वह बूढ़े दशरथ की मिट्टी पलीद कर रहा है। तुलसी ने उसको माँज कर कितना सुसंस्कृत बना दिया है अपने

'रतिनाथ' कथन में ! दशरथ में काम की प्रबलता उसने भी देखी है, पर उसका वह शब्द-चित्र कितना सुष्टु कितना शीलाच्छादित तथा कितना संयत है—सुसंस्कृत समाज की गोष्ठी में जिस पर संकोच की कोई उँगली नहीं उठ सकती है। मर्यादा-पुरुषोत्तम के गुण-गायक कवि का यह संयम उसे कितना श्रद्धेय बना देता है—स्पृहणीय है।

राजा दशरथ, उस ढलती उम्र में भी, कामासक्त थे, और इसी कारण कैकेयी के प्रति उनका आकर्षण ऐसा तीव्र था—संकोच-शून्य आदिकवि इसकी पुष्टि कई प्रामाणिक पुरुषों के मुँह से करवा देते हैं :

"प्रतप्त इव दुःखेन सोऽपश्यज्जगती पतिः। स वृद्धस्तरुणीं भार्यां प्राणेभ्योऽपिगरीयसी ॥"

बूढ़े की पत्नी उसके प्राणो से भी बढ़कर क्यों न प्यारी होगी—इस कथन में तो कोई 'अनूठापन नहीं दीखता है। राजा का रस-लोलुप मन-मधुप कैकेयी के सुरभित यौवनोद्यान में कुछ बैठे-विचारे, इसमें किसी को आपत्ति नहीं होती, किन्तु उसके वश में आकर वह 'कामसक्त' कोई भारी लोक-अकल्याण का कार्य तो न कर बैठे—लोक-धारणा इसी की गारंटी चाहती थी; पर दुर्भाग्यवश दशरथ का आचरण वह गारंटी न दे सका और लोक-मत दशरथ को कामासक्त कहता रह गया। इस प्रसंग में अन्य अस्थिर व्यक्तियों की बात छोड़ दी जाए, सुस्थित मन वाले राम के निर्मल अन्तर में ही कैसी हल-चल मची हुई थी, वन्यकवि के शब्दों में उसे ही देख लिया जाए :

"ध्रुवमद्य महाराजो दुःखं स्वपिति लक्ष्मण। कृतकामा तु कैकेयी तुष्टा भवितुमर्हति ॥"

लक्ष्मण के प्रति राम की यह उक्ति उस समय की है, जब गंगा पार करके वत्स्य देश में दोनों भाई पहली रात बिताने की बात सोच रहे थे। आँधी-तूफान वाले अयोध्या से निकल कर दोनों भाई आज कुछ सहज सुस्थिर भाव से अकस्मात् उठी उस अद्भुत उथल-पुथल पर विचार-विमर्श करते जान पड़ते हैं। राम लक्ष्मण से कहते हैं:—'महाराज (दशरथ) आज निश्चय ही दुःख से सो रहे होंगे, और कृतकामा (सफलमनोरथा) कैकेयी अवश्य तुष्टा दीखती होंगी।'

राम की विचार-धारा इस संबंध में कुछ और आगे बढ़ती है :

"सा हि देवी महाराजं कैकेयी राज्यकारणात्।
अपि न व्यावयेत्प्राणान्दृष्ट्वा भरतमागतम् ॥"

भरत आ गए होंगे, राज्य के कारण कहीं वह देवी (कैकेयी) महाराज का प्राण न ले ले (अवश्य भरत के साथ सलाह-मशविरा करके)।

दशरथ की दयनीय अवस्था पर राम का चित्त डोल जाता है :

"अनाथश्च हि वृद्धश्च मया चैव विना कृतः।
किं करिष्यति कामात्मा कैकेय्य वशमागतः ॥"

राजा बूढ़े हैं मेरे बिना अनाथ हैं, कैकेयी के वशीभूत राजा जाने क्या करेंगे—कैसे सब को सम्हाल सकेंगे।

राजकुल में संप्राप्त इस अनपेक्षित आपत्ति तथा राजा का मतिविभ्रम देख वाल्मीकि के राम जो निष्कर्ष निकालते हैं वह हमें और आश्चर्य में डाल देता है :

"काम एवार्थधर्माभ्यां गरीयानिति मे मतिः॥"

यह सब देख कर मैं समझता हूँ, कि अर्थ और धर्म से काम ही श्रेष्ठ है।

अपने इस निष्कर्ष को स्पष्ट करने के लिए वह जो निजी उदाहरण देते हैं, वह तो और भी अद्‌भुत है :

"को ह्यविद्वानपि पुमान्प्रमदाया कृते त्यजेत्।
छन्दानु वर्तिनं पुत्रं ततो मामिव लक्ष्मण॥"

लक्ष्मण, भला तुम्हीं बताओ, कौन ऐसा बुद्धिमान् मनुष्य होगा, जो प्रमदा के लिए अपने अनुकूल पुत्र का यों त्याग कर दे—जैसे मेरे पिता ने मेरा त्याग कर दिया है?

इस कथन में हम राम का हहरता हुआ हृदय देख रहे हैं, जो उनके दुर्बल क्षणों का द्योतक है, और जो उन्हें मानव के अति-सामान्य स्तर पर उतार देता है। पर उनका यह हृदय-दौर्बल्य, जुगनू की तरह चमक कर, फिर तुरत छिप जाता है, और राम पुनः सतर्क हो कर अपने संकल्प-सिद्ध उन्नत स्तर पर पहुँच जाते हैं, जहाँ कोई उन पर उँगली नहीं उठा सकता है।

लेकिन राम भी मन ही मन दशरथ को 'कामात्मा' समझते थे, उक्त कथन से केवल यही निर्विवाद नहीं होता; यह भी समझ में आने लगता है कि राम के मन में राज्याकांक्षा, भोग-विलास और कामाकांक्षा के प्रति उतनी जबर्दस्त क्रान्तिकारी प्रतिक्रिया क्यों दृढ़ होती गई? राजा की काम-लिप्सा के कारण ही तो अयोध्या के उस अन्तःपुर में साढ़ेतीन सौ रानियों का कल-कोलाहल मचा हुआ था, जिसका तमाशा मनस्वी राम अपने बचपन से देखते आ रहे थे; राज्यलोभ के कारण कौसल्या और कैकेयी के बीच जो राग-द्वेष बढ़ रहा था, वह भी उन से छिपा नहीं था, और सबके मूल में भोग-लालसा की भावना जो प्रधान हो रही थी, उसको भी वह खूब पहचानते थे। इसी से स्यात् राम ने अपने मन में उन तीनों के प्रति निःसंग बनने की कठोर प्रतिज्ञा की, और उसे आचरण में लाकर जैसा उज्ज्वल आदर्श उन्होंने घर-बाहर स्थापित किया, उसी क्रान्तिकारी कदम ने सामान्य मानव के स्तर से उठा कर उन्हें मानवोत्तम ही नहीं, मोक्ष-दाता भी बना दिया। जैसे मानव-मन को मजबूत, साफ और त्यागशील बनाने के लिए ही राम का अवतार वसुधा पर हुआ हो!

"बिहँसि मागु मन भावति बाता" :

डरते-डरते राजा कैकेयी के पास पहुँचे, बड़े प्यार से क्रोध का कारण पूछा;

और जब वह उसके अंग-स्पर्श करने लगे, तो उसने रोककर उनकी ओर यों देखा जैसे कोई क्रुद्ध सर्पिणी वक्र मुद्रा से देख रही हो।

यहाँ कवि फिर 'सांगरूपक' को पकड़ कर उसके सभी अंगों को पुष्ट कर देता है :

"दोठ वासना रसना दसन बर मरम ठाहरु देखई।
तुलसी नृपति भवितव्यता बस काम कौतुक लेखई॥"

साँप की जीभ बीच से फटी होती है और वह सदा लप-लपाती रहती है—कैकेयी के अन्दर डोलने वाली दो बड़ी वासनाएँ (भरत का अभिषेक और राम का वन-गमन) ही वह जीभ हैं, राजा द्वारा प्राप्त दो वरदान ही उस साँप के दाँत हैं और उसका विषम अवलोकन ही मर्म-स्थल को ढूँढ़ता जान पड़ता है—कहाँ काटूँ कि फिर यह पानी न माँगे।

यह 'साँगरूपक' चित्र और चरित्र को कितना गम्भीर, कितना मर्म-व्यंजक और कितना स्पष्ट बना देता है। अलंकार का ऐसा ही अपयोग भाव को उज्ज्वल और ऊर्म्मिल बनाता आया है। हम क्रुद्धा कैकेयी के विषाक्त अन्तर और उसके कठोर बाह्य रूप को कितनी स्पष्टता से देख लेते हैं।

भावी-वश राजा चुपचाप यह काम-कौतुक देख रहे हैं। कवि कामी राजा का यह काम-कौतुक कितनी मर्यादा के साथ दिखाता है, जिसमें आवेग या उद्वेग के लिए कहीं कोई स्थान नहीं रह जाता है। इसे कहते हैं 'मास्टर माइण्ड'!

राजा बार-बार सुन्दर सम्बोधनों से उसे पुकारते और क्रोध का कारण पूछते हैं—किसने उसका अहित किया है, किसे वह सजा देना चाहती है, वह न्यायी राजा आँख मूँदकर उसे कठोर दंड देगा, वह चाहे अपराधी हो या निरपराध! उसका वह शत्रु कोई अमर लोक का निवासी ही क्यों न हो, राजा उसे भी मार सकता है—नाचीज नर-नारी की क्या बात! क्या कैकेयी अपने इस अनुरक्त राजा का स्वभाव भूल गई है, तो फिर याद कर ले :

"मनु तब आनन चन्द चकोरू।"

अगर उसका (कैकेयी का) मुँह चाँद है, तो राजा का मन चकोर है, जो चाँद की ओर टकटकी लगा कर देखता रहता है, और न देख पाने पर तड़पने लग जाता है।

यह एक दृष्टान्त दशरथ के सारे जीवन को बड़ी सुघरता से खोल कर दिखा देता है—कैसे अद्भुत 'कामी' हैं यह वृद्ध भूपाल!

राजा वहीं नहीं रुकते हैं, आगे बढ़कर अपनी मंद मूढ़ता का ढिंढोरा भी पीटने लग जाते हैं :

"[illegible] मोरें। परिजन प्रजा सकल बस तोरें।"

कैकेयी के पगतल में वह राजा अपने प्राण ही नहीं, अपने पुत्र ही नहीं, अपना सर्वस्व ही नहीं, परिजन और प्रजा को भी छोड़ देता है—वह रूप-गर्विता और यौवन-शीला नारी सब को चाहे जैसे भी रौंदती रहे ! वह राजा है, प्रजा की धरोहर का विश्वासी प्रहरी है, सबके साथ न्याय-बर्ताव करना ही उसका परम धर्म है; किन्तु सब कुछ भूल कर, भौंरे की भाँति, वह नारी के कुसुमित रूपोद्यान में भटक रहा है, भोग-लिप्सा से बेसुध बना निष्ठुर नारी के पाँव तले सिर पटक रहा है, जिस पर राज्य-भार का भारी भरकम चमकीला मुकुट रखा हुआ था !

अयोध्या में घटित उस समस्त घटना में मूल रूप से यही घृणित 'लिप्सा' काम कर रही थी। बूढ़ा हो जाने पर भी राजा का बहका मन 'लिप्सा' की लोल लहर में लेलिह्य दीखता है।

राजा अपनी उस बड़ी बात की सचाई में राम की सौ-सौ शपथ भी खाते हैं :

"जौं कछु कहौं कपटु करि तोही। भामिनी राम सपथ सत मोहीं ॥"

धन्य, दशरथ का यह पुत्र-प्रेम। राम की शपथ ही प्रमाणित करती है कि दशरथ का वह कथन शत-प्रतिशत सत्य है। फिर वह अनुरोध करते हैं :

"बिहँसि मागु मन भावति बाता। भूषण सजहि मनोहर गाता ॥"

शपथ कर लेने के बाद शंका का तो कोई स्थान रह नहीं जाता है, अतः उत्फुल्ल वदन से जो वह माँगना चाहती है, माँग ले। कैकेयी समझदार है, मौके-बे-मौके की उसे पहचान है, अतः राजा का अनुरोध मानकर अपना गुस्सा थूक दे और इस मनोहर गात को भूषणों से सजा ले।

राजा की बात सुनकर और मन-ही-मन शपथ की महिमा का गुण जानकर कैकेयी मुसकुरा उठी। फिर धीरे-धीरे अपने को सजाने लगी—जैसे कोई किरातिनी हरिन को देखकर जाल बिछाने लग जाए। भूषणों से उसका रूपाकर्षण और तीव्र होगा और मूढ़ राजा उसमें तेजी से जा ही फँसेगा।

"अवध उजारि कीन्हि कैकेयी" :

राजा ने वचन दिया और शपथ खाकर उसे सत्य साबित भी कर दिया। अब तो माँगना भर रह गया था। कैकेयी ने कुछ मृदुल दुलार-भरी वक्र व्यंजना के स्वर में कहा :

"मागु मागु पै कहहु पिय कबहुँ न देहु न लेहु। देन कहेहु बरदान दुइ तेउ पावत संदेहु ॥"

राजा कहते तो हैं बहुत, पर करते कभी कुछ नहीं ! जाने कब दो वरदान देने की बात उन्होंने कही थी, पर दिया कभी कुछ नहीं !

राजा यह उलाहना सुन कर उछल पड़ते हैं—ओह, यह बात है। वह थाती

रखी गई थी और राजा कुछ भुलक्कड़ भी हैं, भूल गए। वह भोला-भलामानुस एकदम लुढ़क पड़ा :

"झूठेहुँ हमहिं दोषु जनि देहू। दुइ के चारि मागि मकु लेहू॥"

तो फिर कैकेयी दो के बदले चार माँग ले—राजा कभी इन्कार नहीं कर सकते हैं। वह सत्यवादी जो ठहरे, और रघुकुल के लोग अपनी बात जिस दृढ़ता से पालन करते आए हैं, क्या कैकेयी को यह सब ज्ञात नहीं है? अगर वह भूल गई है, तो याद कर ले :

"रघुकुल रीत सदा चलि आई। प्रान जाहुँ बरु बचनु न जाई॥"

अदृश्य रूप में खड़ी नियति मुसकुरा उठी—बड़ा ही अच्छा मौका ढूँढ़ा है प्राणों को उड़ाने का! क्या रघुकुल के राजा लोग महायज्ञों में इसी प्रकार की आहुतियाँ दिया करते थे? हँसी-खेल में अपनी स्त्री को दिए हुए वचन को सत्य की दुहाई देकर, यों महिमामय बनाना कुछ हास्यास्पद ही दीखता है, महाराज! यह तो कोयले के साथ हीरे को तौलना हुआ! इस मूर्खता का मूल्य आपको चुकाना होगा अपनी जान और उससे भी बड़ी अपनी प्रतिष्ठा से!

सत्यवादी राजाने सत्य की प्रशंसा का पुल बाँधकर अपने उस तुच्छ वचन का खूब ढिंढोरा पीटा उस कोप-भवन में। राम को बीच में लाकर खड़ा कर देने से हमारा कवि भी उस पर कुछ तुष्ट हो जाता है; क्योंकि राम ही तो पुण्य और प्रेम की सीमा हैं :

"तेहि पर राम सपथ करि आई। सुकृत सनेह अवधि रघुराई॥"

यों बात पक्की करके, राजा को खूब मजबूती से बँधा देख कर, कुबुद्धि कैकेयी मन ही मन खुश हुई और हँस कर बोली—जैसे कोई शिकारी अपने हाथ पर बैठे बाज की आँखों पर से टोपी हटा दे। अभी तक लक्ष्य तो सामने नहीं था, केवल भूमिका ही बाँधी जा रही थी, अब वह लक्ष्य प्रकट होने जा रहा है। कवि फिर 'सांगरूपक' की शरण जाता है :

"भूप मनोरथ सुभग बनु सुख सुबिहंग समाजु।
भिल्लनि जिमि छाँड़न चहति बचन भयंकर बाजु॥"

कवि की दृष्टि में राजा का मनोरथ एक सुन्दर वन के समान है, जहाँ उनके सुख के प्रतीक नाना पक्षीगण मौज में मग्न हैं। कैकेयी ही शिकारी है—वह राजा के सुख को नष्ट कर देना चाहती है। जैसे भिल्लनी बाज को चिड़ियों पर छोड़ देती है, कैकेयी भी अपने वचनरूपी भयंकर बाज को राजा के सुख-समाज पर छोड़ना चाहती है। अर्थात् जहाँ उसने वर माँगे कि राजा के सुखों का अन्त हुआ!

"भरत कि राउर पूत न होहीं" :

कैकेयी बोली :

"सुनहु प्रानप्रिय भावत जी का। देहु एक बर भरतहि टीका॥"

कितने मृदुल तथा श्रुति-मधुर शब्दों में सर-सन्धान कर रही है। उसका प्रत्येक शब्द 'सर्जन' के सूक्ष्म, तीक्ष्ण और चमकीले हथियारों को मात करता है, सम्बोधन है "प्राणप्रिय", प्रेरणा है अन्तर की 'अभिलाषा', और पहली चीज़ वह चाहती है—'भरत का राज्य-तिलक'!

राजा दशरथ प्यार की उमंग-तरंग में उसकी बातें सुनते जाते हैं और भरत की टीका पर भौंचक रह जाते हैं—'ऐं, यह क्या?' लेकिन कैकेयी उन्हें सोचने का समय नहीं देती है, झट दूसरी बात भी सुनाने लग जाती है उसी मृदुलता के साथ :

"मागउँ दूसर बर कर जोरी। पुरवहु नाथ मनोरथ मोरी॥"

हाथ जोड़ कर, स्नेह और शील को पुरस्सर करती वह अपनी मनोरथ-पूर्ति के लिए अनुनय करती है :

"तापस बेष बिसेष उदासी। चौदह बरिस रामु बनवासी॥"

केवल 'वनवास' बस नहीं, वह चौदह वर्ष का लम्बा हो, जिसे लौटने की उम्मीद न रह जाए और अगर संयोग से लौटे भी तो कोई उसे पहचान न पाए, और न उस पर कोई ममता-मोह ही दिखा सके : क्योंकि तबतक भरत का राज-नैतिक प्रभाव जन-मानस पर अमिट हो जाएगा और राम निकम्मे होकर उपेक्षित बन जाएँगे! इसलिए उन्हें (राम को) केवल वेश ही तपस्वी का नहीं बनाना है, विशेष उदास भी रहना होगा—अर्थात् मन से भी राज्य-तृष्णा को भगा देना होगा।

वाल्मीकि इसको खूब खोल देते हैं :

"चतुर्दश हि वर्षाणि रामे प्रव्रजिते वनम्। प्रजाभावगत स्नेहः स्थिर पुत्रो भविष्यति॥"

राम अगर चौदह वर्ष के लिए वनवासी होंगे, तो भरत के ऊपर, इस दीर्घ काल के शासन में भावगत स्नेह, सुस्थिर हो जायगा। कैकेयी ने वचनरूपी बाज छोड़ दिया। उसने अपने दोनों वर माँग लिए। पहला तीर बिना दर्द के आर-पार हो गया, पर दूसरा कलेजे को छेदता उलझा रह गया। राजा के ऊपर पड़े इस अना-नक वज्रपात को कवि कई अप्रस्तुत के बीच रख कर परखता है :

"ससि कर छुअत विकल जिमि कोकू।"

"जनु सचान बन झपटेउ लावा।"

"दामिनि हनेउ मनहुँ तरु तालू।"

"मोर मनोरथ सुरतरु फूला। फरत करिनि जिमि हतेउ समूला॥"

कैकेयी ने अपने वचन-बाण को शील और स्नेह की शीतलता में डुबा कर छोड़ा था, इसलिए वह शीतलता उनको उसी भाँति कँपाने लगी, जैसे कोक पक्षी को चन्द्रमा की चन्द्रिका छू जाए। अकल्पित आक्रमण था वह—जैसे जंगल में लावा के झुण्ड पर अचानक सचान (बाज) टूट पड़ा हो। जैसे बिजली ताड़ के पेड़ पर गिरी हो, और जैसे फलने-फूलने की घड़ी में कल्प-लता को हथिनी ने उखाड़ कर रौंद दिया हो।

इसी प्रकार :

"अवध उजारि कीन्हि कैकेयी। दीन्हेसि अचल बिपति कै नेईं॥"

कैकेयी ने अयोध्या को उजाड़ दिया और विपत्ति की मजबूत बुनियाद खोद दी!

जैसे कि योगी-यती की साधना सिद्ध हो और उसका फल मिलने का अवसर आ पहुँचे, और सहसा अविद्या आकर उसकी सारी तपस्या को नष्ट कर दे—राजा ने भी मन-ही-मन सन्तप्त होकर सोचा कि स्त्री के ऊपर विश्वास करने के कारण उनका सत्यानाश हो गया।

यों उन्हें पछताने की मुद्रा में देखकर कैकेयी तिनक उठी और कुछ व्यंग्य से बोली :

"भरत की राउर पूत न होंही। आनेहु मोल बेसहि कि मोही॥"

भरत भी तो राजा दशरथ का ही बेटा है, और उसकी माँ भी कोई खरीदी हुई दासी तो है नहीं, फिर यह शोक-सन्ताप क्यों हो रहा है राजा को?

व्यंग्य का कैसा कशाघात है।

अगर ऐसा ही करना था, तो जरा सम्हाल कर बात करनी चाहिए थी—डपोरशंखी मुद्रा में 'मागु-मागु' क्यों बोल गए राजा?

कैकेयी की कुटिलता अब कठोरता में बदलने लगी :

"देहु उतरु अनु करहु कि नाहीं। सत्यसंध तुम्ह रघुकुल माहीं॥"

जैसे कोई बँधा हुआ चोर पीटा जा रहा हो—दशरथ ने सत्य की प्रशंसा में पुल बाँधा था और असत्य को सबसे बड़ा पाप घोषित किया था। रघुकुल के सबसे बड़े सत्यवादी यह दशरथ अब 'हाँ' करें, या 'ना' :

"देन कहेहु अब जनि बरु देहू। तजहु सत्य जग अपजसु लेहू॥"

वर देने का वचन दिया था राजा ने, अब भले ही मुकर जाएँ, कह दें—नहीं देंगे। और यों सत्य को तिलांजली देकर जगत् में अपयश मोल लें। आखिर क्या समझ कर उन्होंने 'मागु-मागु' कहा था :

"सत्य सराहि कहेहु बरु देना। जानेहु लेइहि मागि चबेना॥"

सत्य की बड़ाई के गीत गाकर 'वर' देने की बात की थी दशरथ ने, तो क्या उन्होंने समझा था कि कैकेयी दो मुट्ठी चने माँग लेगी उनसे ? ठीक—जिसके लिए कोप-भवन में वह गई, इतनी भूमिका बाँधी, वह 'वर' क्या साधारण होगा, मूर्ख राजा ने इस गम्भीर पहलू पर विचार क्यों न किया था वर देने के पहले ?

वाल्मीकि ने इसका रहस्य खोल दिया है :

"रममाणस्त्वया सार्धं मृत्युं त्वां नाभिलक्षये। बालो रहसि हस्तेन कृष्ण सर्पमिवास्पृशम् ॥"

जैसे कोई अबोध शिशु एकान्त में काले साँप के साथ खेलकर अपनी जान गँवा देता है, दशरथ ने भी कैकेयी के कक्ष में आकर बहुत दिनों तक रमण (कामोपभोग) का वही खेल खेला है। आज अगर वह सर्पिणी उन्हें डंस रही है तो इसमें आश्चर्य ही क्या ?

कैकेयी लल्लो-चप्पो छोड़कर अब एक दम सीधा वार करती है :

"सिवि दधीचि बलि जे कछु भाषा। तनु धनु तजेउ बचन पनु राखा ॥"

शिवि, दधीचि, बलि—आदि वचन-प्रिय राजाओं ने अपने तन-धन छोड़ दिए, पर अपने वचन न छोड़े। राजा दशरथ भी तो उसी परम्परा में पड़ते हैं, सत्य की डींग भी उसी तरह हाँकते आए हैं, फिर अब तन-धन छोड़ने से डरते हैं क्यों—सब कुछ छोड़कर अपनी बात की रक्षा क्यों नहीं करते ?

वाह, कठोरता इसे कहते हैं—मरो या बचो, जो बोल चुके हो, पूरा करो ! शाइलॉक के "ए पाउण्ड आफ् फ्लेश" की माँग से क्या यह माँग कुछ कम कठोर दीख रही है ?

हमारा कवि कैकेयी की कठोरता को कई धरातल पर उतारता है और उसे कई प्रकार से परखता है :

"अति कटु बचन कहति कैकेई। मानहुँ लोन जरे पर देई ॥"

जैसे कोई जले हुए स्थान पर नमक मल दे।

फिर वह अपने प्रिय तर 'उत्प्रेक्षा' और 'सांगरूपक' पर उतर आता है। क्रोध से जल रही कैकेयी उसे कैसी भयंकरा दीख रही है, जैसे रोष ने तलवार खोल रखी हो :

"आगे दीखि जरत रिसि भारी। मनहुँ रोषतरवारि उघारी ॥"

फिर उत्प्रेक्षा के आधार पर तैयार 'रोष-तलवार' के उस रूपक को वह सभी अंगों से युक्त कर के देखता है :

"मूठि कुबुद्धि धार निठुराई। धरी कूबरी सान बनाई ॥"

तलवार में पहले मूठ दीख पड़ती है, वह मूठ है कुबुद्धि। दुर्बुद्धि के कारण ही

तो कैकेयी आज यों क्रोध की मूर्ति बन रही है, उसकी निष्ठुरता ही तलवार की तीक्ष्ण धार है, जिसे कुब्जा मन्थरा ने सान पर भी खूब चढ़ा दिया है।

राजा ने उस कठोर रोष-असि को अपने सामने खड़ा देखा और सहम कर सोचा—

"लखी महीप कराल कठोरा। सत्य कि जीवनु लेइहि मोरा॥"

क्या सच ही यह तलवार उनके प्राण ले लेगी ?

हाय, बूढ़े को अब जाकर अपने प्राणों की सुधि हुई। कैकेयी ने भी तो एक खेल ही किया था अपने सहज गर्वीले स्वभाव के कारण। राजा जब उसे अपने काम का खिलौना बनाए हुए थे तो काम के संगी क्रोध के साथ भी खेल लें वह थोड़ी देर ! और क्रोध कब क्या कर बैठेगा, इसका क्या ठिकाना ?

आदिकवि के दशरथ को मरने की अपेक्षा अपने अपयश की चिन्ता अधिक दीख रही है :

"बालिशो बत कामात्मा राजा दशरथो भृशम्। स्त्रीकृते यः प्रिय पुत्रं वनं प्रस्थापयिष्यति॥"

दुनिया क्या कहेगी—यही न, कि मूर्ख राजा कामी है जिसने स्त्री के वश में आकर प्रिय पुत्र को वन भेज दिया है।

वाल्मीकि के दशरथ अपनी इस हीन स्थिति की तुलना रामचन्द्र के उज्ज्वल चरित्र के साथ करने लगते हैं। एक ओर बूढ़े बाप की यह काम-लालसा, दूसरी ओर नवयुवक राम का वह कठोर संयम :

"वेदैश्च ब्रह्मचर्यैश्च गुरुभिश्चोपकर्षितः। भोग काले महत्कृच्छ पुनरेव प्रपस्यते॥"

नव यौवनशाली राम ने तो कठिन ब्रह्मचर्य का पालन करके अपनी देह सुखा डाली है, और अब जब उनका भोग-काल आया है तब वनवास का यह कठोर दण्ड ! दशरथ को कितनी गहरी ग्लानि हुई होगी इस तुलना से ? तुलना यथार्थ ही बड़ी मार्मिक है—तुलसी यहाँ कहीं पीछे छूट जाते हैं।

"रिस परिहास कि साँचेहु साँचा" :

बूढ़े ने उस कठोरता की गरिमा महसूस की, कुछ सम्हल कर अपनी छाती कड़ी की और फिर कैकेयी को खुश करने के खयाल से कहा :

"प्रिया बचन कस कहसि कुभाँती। भीर प्रतीति प्रीति करि हाँती॥"

भीरु प्रिये, विश्वास और प्रेम की हत्या करके ऐसी अशोभन बात क्यों कहती हो ? हाय, पति-पत्नी में तो प्रीति और प्रतीति ही पारस्परिक आधार होता है : प्रीति विश्वास के बल पर बढ़ती है, और विश्वास ही बढ़कर गहरी प्रीति में बदल जाता है।

और बूढ़े की यह पत्नी उसी सूत्र को छिटका रही है यों कराल मूर्ति बन कर ! दशरथ एक और शपथ करते हैं :

"मोरे भरतु रामु दुइ आँखी । सत्य कहउँ करि संकरु राखी ॥"

अब की बार शंकर को सामने रखकर राजा भरत और राम को अपनी दोनों आँखों के समान सिद्ध करते हैं । कदाचित् कैकेयी शंकर-भक्त रही हो या राजा ही शिव के आराधक हों । जब दोनों उनके लिए समान हैं, तो फिर भरत को राज्य देने में उन्हें आपत्ति ही क्या हो सकती है ? अगर कैकेयी यह चाहती है, तो कल वह (राजा) दूत भेज कर उन्हें बुलवा लेंगे—भगवान् शंकर इसके साक्षी हैं—अवश्य वह यह काम करेंगे । फिर :

"सुदिन सोधि सबु साजु सजाई । देउँ भरत कहुँ राज बजाई ॥"

एक शुभ दिन में साज-समाज और गाजे-बाजे के साथ वह भरत को राज-सिंहासन पर बिठा देंगे—कैकेयी राजा की बात पर विश्वास रखे । राम को राज्य का लोभ नहीं है और भरत के ऊपर उनका प्रेम भी बहुत है, अतः राज्यारोहण में कोई अड़चन नहीं आएगी । कैकेयी अगर यह आशंका कर रही हो कि कौसल्या ने राजा को कुछ कहा-सुना है, तो वह उसका निरा भ्रम है—राम की सौ-सौ शपथ वह (राजा) खाते हैं इसके लिए :

"राम सपथ सत कहउँ सुभाऊ । राम मातु कछु कहेउ न काऊ ॥"

वह (राजा) तो केवल कुल-परंपरा और राजनीति का विचार करके ही राम को युवराज बनाने जा रहे थे । हाँ, एक बड़ी गलती उन से जरूर हुई कि इस काम में उन्होंने कैकेयी से परामर्श नहीं किया, उसी का कुफल हुआ कि उनका वह मनोरथ व्यर्थ हो गया :

"मैं सबु कीन्ह तोहि बिनु पूँछे । तेहि ते परेउ मनोरथ छूँछे ॥"

तो कैकेयी राजा की बात पर विश्वास करे और उनका अनुरोध मान कर क्रोध छोड़ मंगलोत्सव की तैयारी करे : कुछ दिन के उपरान्त शुभ घड़ी में वह भरत को युवराज बना देंगे । राजा को इसमें खुशी-ही-खुशी है, उन्हें अगर दुःख है, तो दूसरे वर से । उसी के कारण उनका असमंजस बढ़ गया है, और उसी की ज्वाला से उनका हृदय जलता जा रहा है, राम को वह वनवास क्यों देना चाहती है ? राम ने उसका क्या अपराध किया है ? सब की बात अलग रहे, वह (कैकेयी) भी तो राम की बड़ाई करती रहती थी, केवल प्रशंसा ही नहीं, उनको प्यार भी करती आई थी । फिर कौन-सी ऐसी भूल उनसे हो गई जिसके लिए ऐसी कड़ी सजा उन्हें वह दे रही है ? अतएव यह विचार वह छोड़ दे, और सोच-समझ कर कोई दूसरा वर माँग ले, जिससे राजा भरत को युवराज बना कर अपनी आँखें जुड़ा लें ।

राजा ने कई उदाहरण देकर सिद्ध किया कि उनके प्राण राम के अधीन हैं :

"कहउँ सुभाउ न छलु मन माहीं। जीवन मोर राम बिनु नाहीं॥"

"इहाँ न लागहिं राउरि माया" :

राजा ने कैकेयी की बड़ी खुशामद की, उसे बहुत तरह से समझाया-बुझाया, रो-धो कर कहा कि राम के वन जाने से वह निश्चय ही बच नहीं सकेंगे—अवश्य मर जाएँगे, अतः उनके ऊपर दया करके, उनके प्राण रखने के लिए, अपने ही सुहाग की रक्षा के लिए वह राम को वन न भेजे; पर इससे कैकेयी की कुटिलता कम होने के बजाय और भी कठोर ही होती गई :

"सुनि मृदु बचन कुमति अति जरई। मनहुँ अनल आहुति घृत परई॥"

राजा का अनुनय कैकेयी के कोप को उसी तरह बढ़ाता जा रहा था, जैसे घी डालने से आग की ज्वाला भभक उठती है। अतः काकवक्रोक्ति के सहारे मुँह बिचका कर वह कहती है :

"कहहु करहु किन कोटि उपाया। इहाँ न लागिहि राउरि माया॥
देहु कि लेहु अजस करि नाहीं। मोहि न बहुत प्रपंच सोहाहीं॥"

दो-टूक बात वह करती है—राजा उसे वर दें, या अयश लें, दूसरी कोई बात वह नहीं सुनेगी—कोटि उपाय क्यों न करें वह, कैकेयी उनकी सारी बातों को माया, प्रपंच और कपट-कौशल मानती है :

"रामु साधु तुम्ह साधु सयाने। राम मातु भलि सब पहिचाने॥
जस कौसला मोर भल ताका। तस फल उन्हहिं देउँ करि साका॥"

व्यंग की वर्षा होने लगी वक्र वचनों के द्वारा : "अहा, राम महात्मा हैं, तुम भी बड़े निपुण महात्मा हो, और राम की माता जैसी भली हैं, वह तो सब पहचान गए हैं। उस कौसल्या ने मेरा जैसा भला देखा, उसका फल तो मैं उसे डंके की चोट दूँगी।"

ऐसा कह कर कैकेयी ने अपना कठोर संकल्प राजा को सुना दिया :

"होत प्रात मुनि बेष धरि जो न रामु बन जाहिं।
"मोर मरनु राउर अजस नृप समुझिअ मन माहिं॥"

अगर सबेरा होते-होते तापस-वेष धारण कर राम वन नहीं गए, तो दो बात अवश्य होकर रहेगी—एक तो कैकेयी का मरण और दूसरी राजा की अकीर्ति। राजा इन दोनों बातों पर खूब विचार कर लें।

यों कहती कैकेयी तमक कर उठ खड़ी हुई। कवि उसके तमतमाए चेहरे को पुनः 'सांगरूपक' के सहारे दिखाता है :

"अस कहि कुटिल भई उठि ठाढ़ी। मानहुँ रोष तरंगिनि बाढ़ी॥"

कुछ पहले रोष की तलवार हमारे समाने आई थी, अब हम रोष-रूपी उमड़ती नदी की धारा को गरजते देख रहे हैं। वह नदी पाप-पहाड़ से पैदा हुई है, उसमें क्रोध का अपार जल भरा हुआ है, दोनों वर उसके किनारे हैं, कठिन हठ उसका प्रचण्ड प्रवाह है, मन्थरा की मन्त्रणा ही उसके भँवर हैं; और देखिए, कैसा प्रलय मचाती वह नदी चली जा रही है :

"ढाहत भूपरूप तरु मूला। चली बिपति बारिधि अनुकूला॥"

राजा दशरथ ही पेड़ की जड़ हैं, जिन्हें ढाहती-उखाड़ती वह नदी विपत्ति रूपी समुद्र की ओर चली जा रही है।

देखा, हमारा कवि किस कौशल से कैकेयी के क्रोध को हमारे सामने खड़ा करता है। सच, यह 'सांगरूपक' चित्र और चरित्र को कितना चमका देता है—उसे कितना सजीव और सार्थक बना देता है।

यह है अलंकार का सार्थक विधान—जो अन्तर की सहज शोभा को उभार-उभार कर दिखाए। ऊपर-ऊपर से केवल अपनी चमक-दमक ही दिखाता न रह जाए।

"जनि अबला जिमि करुना करहू" :

राजा ने क्रोध की उस उमड़ती नदी को गौर से देखा, (क्योंकि अब तक वह उसकी काम-मूर्ति को ही देखते आए थे) और सोचा—'बात तो सची दीख रही है, यह औरत नहीं, मेरी मौत ही मेरे माथे पर नाच रही है।'

गीता कहती है कि काम से क्रोध उत्पन्न होता है और क्रोध से सर्वनाश होता है, कैसा उज्ज्वल उदाहरण है उसका यहाँ।

यही सब देख कर तो सम्भवतः मनस्वी राम ने काम की लगाम कसकर पकड़ी थी।

यह बूढ़ा दशरथ, उसकी अवांछनीय वह काम-लिप्सा, कैकेयी की कुटिल स्वार्थ-भावना, उसकी यह कराल कठोरता, यह सब हमें क्या सिखाती है—यही न कि 'काम-क्रीड़ा से होशियार रहो, वह जान लेकर ही छोड़ेगी!'

सामाज के स्वास्थ्य के लिए यह चित्र कितना उपयोगी है, चरित्र की दृढ़ता के लिए यह तुलनात्मक अध्ययन कितना पुष्टिकारक भोजन है! प्रत्येक युवक-युवती और प्रत्येक प्रौढ़ वयस्क को भी इसकी सीख छाती से लगा लेनी चाहिए।

राजा ने उसके पाँव पकड़ कर एक आखिरी जोर लगाया :

"मागु माथ अबहीं देउँ तोहीं। राम बिरहँ जनि मारेसि मोहीं॥"

अरी, मेरी मौत ही चाहती है, तो ले—यह सिर अभी तुम्हें दे देता हूँ, पर राम के वियोग में घुला-घुला कर तू मुझे मत मार !

फिर उसे अन्तिम चेतावनी दे कर चुप हो जाते हैं :

"राखु राम कहुँ जेहि तेहि भाँती। नाहित जरिह जनम भरि छाती॥"

कैकेयी अगर अपने हठ पर अड़ी रह गई, तो दशरथ या दूसरों का जो होगा, सो तो होगा ही, उसकी (कैकेयी) छाती भी जिन्दगी भर जलती रह जाएगी आत्म-ग्लानि की आग में—यह बात वह न भूले।

लेकिन कैकेयी ज़रा भी टस-से-मस न हुई—दशरथ की बातों का कोई भी असर उस पर नहीं पड़ा। राजा ने उसकी वह अटल मुद्रा देखी, और सोचा—यह बीमारी ला-इलाज है !

और फिर वह सिर पीट कर विलाप करने लगे।

वृद्ध राजन्, यह तुम नहीं रोते हो, संसार के समस्त वृद्धों की काम-लिप्सा रोती है ! रोओ, खूब रोओ; और अपने आँसुओं से वृद्ध के इस युग-युग व्यापी पाप-पंक को धो डालो !

कवि कंबन—कंबन के दशरथ ने तो रोते-कलपते कैकेयी की वह माँग भी मान ली है :

"I grant thee even this request; let Ram
To the jungles be exiled. I shall to heaven
Depart, and swim ye—Bharata and thou—
Dishonour's perennial stream forev'r and ev'r."

(जाएँ, राम भी जंगल जाएँ, मैं भी स्वर्ग जाऊँ; और तू अपने बेटे के साथ अपयश की अजस्र धारा में सुख से युग-युग तक तैरती रह !)

कंबन के दशरथ ऐसे कह कर मूर्च्छित हो जाते हैं, और कैकेयी अपना मनोरथ पूरा कर के :

"So Kaikeyi had her heart's desire fulfilled and went to sleep of the just, unmindful of the suffering and the torture of her husband."

हाय री नारी की निर्ममता ! बेचारे बूढ़े को उसी असह्य यन्त्रणा में छोड़, तृप्त और तुष्ट हृदय से वह उठी, और एकदम निरपेक्ष भाव से सोने चली गई—जैसे उसके सामने और कोई हो ही नहीं !

वृद्ध महाराज ! अब इस असूझ अन्धकार की शून्य गोद में, हजारों बिच्छुओं के डंक से मर्मस्थल को छिदवाते, कुड़कते-कहँरते बेसुध धूल में लोटते रहे !

यह है कामात्मा के प्रेम का परिणाम !

किन्तु तुलसी की कैकेयी यों नहीं छोड़ती है राजा को—वह पास बैठ कर उनके घाव में माहुर उड़ेलती रहती है :

"जौं अंतहु अस करतबु रहेऊ। मागु मागु तुम्ह केहि बल कहेऊ ॥"

सच ही तो कहती है—अगर यही सब करना था, तो 'माँगो-माँगो' क्यों कहा था राजा ने ? क्या राजा को बच्चों का वह खेल मालूम नहीं था :

"हँसब ठठाय फुलाउब गाला ॥"

ठठा कर हँसना और गाल फुलाना—क्या एक साथ सम्भव होता है ? कहाँ तो दानी कहाने का शौक, और कहाँ यह कृपणता ! अंग्रेजी की एक लोकोक्ति :

"Uneasy lies the head that wears the crown !"

से मिलती-जुलती वह भी एक लोकोक्ति राजा को सुना देती है :

"होइ कि खेम कुसल रौताई।"

रौताई (नेतागिरी) में झंझट रहता ही है—उससे घबराने से कहीं काम चलेगा ! नाम चाहिए, तो काम कीजिए। जो 'सत्यसंध' की पदवी पाना चाहते हैं, उन्हें तो :

"तनु तिय तनय धामु धन धरनी। सत्यसंध कहुँ तृन सम बरनी ॥"

शरीर, स्त्री, पुत्र, घर, धन और धरती—सब को घास-फूस की तरह तुच्छ जान कर छोड़ देने की तैयारी रखनी चाहिए। फिर 'सत्यवादी' बनने वाले यह राजा औरतों की तरह रो-धो क्यों रहे हैं ? रास्ता तो खुला हुआ है :

"छाड़हु बचन कि धीरज धरहू। जनि अबला जिमि करुणा करहू ॥"

वर देने में कष्ट है, तो बात पलट दें; और बात प्यारी है, तो धीरज धरें। यों यह तमाशा क्यों कर रहे हैं तुच्छ औरतों की भाँति ?

हाय कैकेयी, तू भी तो एक नारी है !

तुलसी के इस चित्र में उत्तर भारत की संकोचमयी घरेलू तस्वीर डोलती जान पड़ती है, और कंबन का चित्र समय-सापेक्ष है—परिपार्श्व की पृच्छा उसे नहीं सताती है। कैकेयी की वह निरपेक्ष निष्ठुरता उसे एक अद्भुत दर्प और दमक से भर देती है—उसकी कठोरता भी भव्य बन जाती है !

"तोर कलंक मोर पछिताऊ" :

कैकेयी की मर्म-भेदिनी बातें सुन-सुन कर राजा समझ गए कि कोई चुड़ैल ही बोल रही है ! उनको अब अपना पाप भी स्पष्ट दीखने लगा। पहले तो कैकेयी को ही

वह कोस रहे थे, अब कहते हैं—यह कुमति जो तुम्हारे मन में बस गई, वह सब मेरे पापों का फल है :

"सो सबु मोर पाप परिनामू। भयउ कुठाहर जेहि बिधि बामू॥"

किसी की प्यारी पत्नी अपने पति के कोमल कलेजे में यों कठोरता से छुरी घुसेड़ दे—अवश्य विधाता ने उसके पापों की ही उसे सजा दी है।

कैकेयी भी समझ ले, यह आँधी-तूफान जो वह उठा रही है, अधिक देर तक वह नहीं ठहरेगा, सब कुछ सुस्थिर हो जाएगा और राम राजा होकर रहेंगे, लेकिन :

"तोर कलंकु मोर पछिताऊ। मुएहुँ न मिटहि न जाइहि काऊ॥"

तुम्हारा (कैकेयी का) कलंक और मेरा अनुताप मरने पर भी नहीं मिटेगा और न कभी भुलाया जाएगा। इसलिए अब तुम्हें जो अच्छा लगे, करो :

"अब तोहि नीक लाग करु सोई। लोचन ओट बैठि मुँहु गोई॥"

लेकिन इस अधमरे आदमी की आँखों से दूर हट कर अपना मुँह कोने में छिपा ले, बोल-बोल कर उसे बर्छी न भोंकती रहे—दशरथ की यह अन्तिम प्रार्थना वह नारी अवश्य सुन ले :

"फिर पछितैहसि अन्त अभागी। मारसि गाइ नहारू लागी॥"

अन्त में वह अवश्य पछताएगी; क्योंकि वह नहारू (ताँत) के लिए गाय को मारने जा रही है। राजा को यह कहते हुए भी शायद उम्मीद थी कि कहीं कैकेयी चेत जाए, और उसकी बुद्धि बदल जाए; किन्तु वह तो पत्थर से भी कहीं अधिक कठोर हो चुकी थी; जरा भी नहीं हिली-डुली, यों अडिग बैठी रही, जैसे मसान जगा रही हो :

"कपट सयानि न कहति कछु, जागति मनहुँ मसान॥"

'मसान जगाना' वाम-मार्गियों की एक ऐसी भीषण शव-साधना है, जिसमें बड़े संयम और सतर्कता की जरूरत रहती है। सुन-सान मरघट में, मुर्दे पर बैठ कर, निश्चल तन और सुस्थिर मन से मन्त्र का जाप करना होता है। बड़ी-बड़ी बाधाएँ साधक को घेरती और झकझोरती हैं, अगर वह जरा भी विचलित हुआ, तो उसकी सारी साधना मिट्टी में मिली, और अगर साधक स्थिर रह गया, तो तुरत सिद्धि भी मिल गई।

कैकैयी वही कठोर साधना कर रही थी—'जागति मनहुँ मसान।'

चित्र कितना सजीव हो उठा है इस 'उत्प्रेक्षा' के आलोक में।

विस्तृत लोक-व्यापार की सूक्ष्म छान-बीन करके अन्तर के गहन गर्भ में घुस कर चमकीले रत्नों को बटोर लाने वाली कवि की तीव्र कल्पना के इस अद्‌भुत आलोक में किस की आँखें न चौधियाँ जाएँगी और कौन 'धन्य-धन्य' न कहने लग जाएगा ?

'कपट सयानि' की कोमलता अलग अपनी कथा कह रही है, जिस पर केवल मात्र नजर डाल लेना ही अलम है।

"हेतु जान जगदीसु" :

पर-कटे पक्षी की तरह व्याकुल दशरथ धरती पर लोट रहे हैं, और कठोरता की काया-सी निश्चल बैठी कैकेयी उस करुण दृश्य को निर्विकार भाव से एकदम देख रही है। कुटिलता ने दाँव-पेंच खेलकर अपना काम निकाल लिया—चालाकी से चारों तरफ से घेरकर राजा के हाथ-पाँव और मन-प्राण को कसकर बाँध दिया, और अब कठोरता सजग प्रहरी बनी उन्हें सतर्कता से घूर रही है।

कामी राजा को सबसे बड़ी चिन्ता इस बात की है कि उसके रंगमहल की यह गुप्त कथा जब संयम-श्रद्धा की मूर्ति राम के कानों में पड़ेगी, तब बूढ़े बाप के प्रति उनके निर्मल मन में कैसी काली छाया डोलने लग जाएगी; और जब यह समाचार राज-महल के बाहर उत्सव-उत्कण्ठित अयोध्या के नर-नारी सुनेंगे, तब उन पर कैसा वज्रपात होगा और अपने राजा के प्रति कैसी विकृत धारण हो जाएगी उनकी! अब तक वह राजा प्रजा-परिजन से वाह-वाही ही लूटते आए थे, भोगाभिलाषा की उनकी यह गुप्त घृणित भूख-प्यास राजभवन की ऊँची चहारदीवारी से बाहर नहीं गई थी। उनकी कीड़ा की कमनीय गुड़िया यह कैकेयी रंगमहल में ही उन्हें रिझाती-खिझाती आई थी, जिसके साथ उनका व्यक्तिगत सम्बन्ध था—रनिवास के बाहर उसकी चर्चा नहीं के बराबर थी। किन्तु अब तो भूकम्प की यह गुप्त गड़गड़ाहट विराट् विभ्राट् बनकर आकाश-पाताल सब को गुँजा देगी और सबकी चकित-क्षुभित दृष्टि दशरथ पर जा गड़ेगी। क्या सोचेंगे लोग—कैसा पामर और पतित है यह वृद्ध प्रजापति!

यों विक्षुब्ध विकलता के बीच बूढ़े दशरथ की रात बीती, उधर राज-द्वार वीणा, वेणु और शंखों की ध्वनि से गूँजने लगा। नित्य के नियमानुसार चारण-भाट राजा के गुण-गान में आकाश-पताल को एक करने लग गए, जिसे सुन-सुनकर राजा का सन्ताप और बढ़ गया। कवि उनकी उस समय की अवस्था की बड़ी धूप-छाँही तस्वीर खींचता है :

"मंगरु सकरु सोहाहिं न कैसे। सहगामिनिहि बिभूषन जैसे॥"

कल्पना की अखों देखा जाए—किसी पतिव्रता पत्नी का प्रिय पति स्वर्गवासी हो गया और उसकी सती-साध्वी स्त्री पति-वियोग को न सहन कर, चिता में कूदने की तैयारी कर रही है। सती-प्रथा के अनुसार सुन्दर भूषण-वसन से वह सहगामिनी सजा दी जाती है; किन्तु क्या वह साज-सज्जा उसे जरा भी सुहाती है?

राजा की व्याकुलता अलंकार के उस विमल आईने में, भीतर और बाहर से किस तरह चमक उठती है!

सबेरा हो गया, द्वार पर मंगल-वाद्य बजने लगा, भीड़ बढ़ने लगी और राजा के जगने की कोई सूचना नहीं मिली। सबकी शंका और व्यग्रता बढ़ती जाती है—यह देखकर प्रजा और परिवार के विश्वास-भाजन सुजन सुमन्त्र राजभवन में पहुँचे और वहाँ की भयंकरता देखकर उन्हें काठ मार गया—पूछने पर भी कोई कुछ कहता

नहीं था ! आखिर हिम्मत करके वह कैकेयी के भवन में पहुँचे और राजा की जय मनाकर नतसिर बैठ गए। राजा की दशा ऐसी दयनीय थी कि सुमन्त्र उनसे कुछ पूछने का साहस न कर सके। उनको यों गुम-सुम देखकर :

"बोली असुभ भरी सुभ छूछी।"

कैकेयी कहने लगी : राजा को रात में नींद नहीं पड़ी है, इन्होंने सारी रात राम-राम रटते ही काट दी है, इसका कारण भगवान् ही जानता है।

यहाँ कैकेयी की कुटिलता करामात दिखा रही है, वस्तु-स्थिति को दूसरे रंग में रँगकर दिखा देना कुटिलता नहीं, वह तो कला के विशुद्ध धरातल पर अपना मनोहर दृश्य सदा दिखाती रहती है। कुटिलता तो वहाँ आ खड़ी होती है, जहाँ स्वार्थवश कौशल के साथ यह रंगसाजी की जाती है। कैकेयी ने सुमंत्र से झूठ तो कुछ कहा नहीं, राजा की व्याकुल अवस्था का ठीक ही वर्णन किया, पर अन्त में जो कह दिया, कि कारण जगदीश ही जानें—यही सत्य को जरा ऐंठ देता है। कारण तो वह जानती ही है, पर भगवान् का नाम लेकर, खुद अनजान बन जाती है। इसी को कुटिलता कहते हैं। और इस कुटिलता का वार साधारण व्यक्तियों पर कम किया जाता है—बड़े-बड़े ही प्रायः इसके शिकार होते देखे जाते हैं। नीति-निपुण राजा को देखा ही, अब सुविज्ञ सुमन्त्र उसके शिकार हो रहे हैं। कैकेयी का अन्तिम कथन उन्हें भी असमंजस में डाल देता है :

"रामु रामु रटि भोरु किय कहइ न मरमु महीसु॥"

राजा इसका मर्म नहीं खोलते हैं—कैसा कुटिल है यह कथन ! सचमुच राजा कुछ कहते नहीं हैं, मुँह बन्द किए छटपटा रहे हैं—यह तो सुमन्त्र के सामने है, पर कैकेयी ने किस सफाई से उस पर अपना रंग चढ़ा दिया—उँगली दाँतों तले पहुँच जाती है। मानो इस महान् रहस्य का उसे कुछ पता न हो और वह एकदम अनजान एवं दूध की धुली साधुता और सरलता की मूर्ति हो !

इसे कहते हैं 'कुटिलता' और यह कैकेयी की सहज प्रकृति दीख पड़ती है—ऊपर से लादी हुई नहीं। इसी से हमारा कवि उसे 'कुटिल' कहना ज्यादा पसंद करता है।

फिर वह सुमन्त्र से सम्भ्रम कह उठती है :

"आनहु रामहि बेगि बोलाई। समाचार तब पूँछेहिं आई॥"

कैकेयी की लम्बी और पतली बंसी का कँटीला चारा मछली निगल गई है और कण्ठ में अटके काँटे की कटुता उसे अन्दर-ही-अन्दर नचा रही है ! मच्छी-मार उसकी यह छटपटाहट देखता है और कुछ देर तक उसका भी मजा लूटता है, फिर एक झटके के साथ बंसी को ऊपर उछाल देता है और बेचारी मछली उसके साथ कुछ देर आकाश में झूल कर आ जाती है धरती की धूल में—जहाँ तड़प-तड़प कर वह दम तोड़ देती है !

कैकेयी ने सुमन्त्र को भेज कर दशरथ-रूपी विद्ध मछली को वही झटका दिया और निर्ममता से उसे उछाल दिया आकाश में। बेचारे की साँस घुटने लगी।

कैकेयी की बातें सुनकर भोले-हृदय दशरथ कैसे कट गए होंगे, क्या सोचा होगा उन्होंने, कैकेयी का कौन-सा रूप उनके नेत्र में नाचने लगा होगा, घनघोर घटा की भाँति कैसी भीषण घृणा उठ खड़ी हुई होगी इस अधम नारी के प्रति उनके हृदय-आकाश में; और अपने पाप-ताप पर कितना गहरा अनुताप फैला होगा उनके मर्माहत मन में—सोचने की बात है। उन्होंने अवश्य सोचा होगा—कैसी धूर्त है यह नारी, और है कैसी ढीठ, जो मेरे ही सामने यों झूठ को सच बनाये जा रही है और कैसा अधम-अभागा हूँ मैं कि मुँह भी नहीं खोल पाता हूँ इसके विपरीत ?

सुमन्त्र बड़ी शीघ्रता और सावधानी से राम को बुला लाए। राम ने देखा—जैसे कोई बूढ़ा गजराज सिंहनी के सामने सहमा पड़ा हो और अपनी अन्तिम घड़ियाँ गिन रहा हो ! सोच-विचार कर राम ने कैकेयी से ही कारण पूछा, और कैकेयी ने यहाँ भी वही कुटिलता दिखाई। उसने कहा—'सुनो, राम, कारण यह है कि राजा का तुम पर अत्यधिक प्रेम है। मुझे राजा ने दो वर माँगने की आज्ञा दी; और मुझे जो भाया, मैंने माँग लिया। उसे सुनकर राजा के हृदय में दुविधा घुस गई : एक ओर वचन और दूसरी ओर तुम-सा प्यारा बेटा—वह 'किसे छोड़ें, किसे अपनाएँ ?'

"सुत सनेहु इत बचनु उत संकट परेउ नरेसु। सकहु त आयसु धरहु सिर मेटहु कठिन कलेसु॥"

कैसी साधुता के बीच से कुटिलता का क्रूर खेल वह दिखा रही है—अगर राम से सम्भव हो, तो पिता की आज्ञा वह सिर आँखों लें, और उनके इस भीषण कष्ट को दूर कर दें।

इस कथन में ऊपर से दशरथ के प्रति कैसी ममता और राम के प्रति कितनी सुजनता बरसती दीखती है। इसी 'मीठी छुरी' का दूसरा नाम कुटिलता है।

बात यह है, कि कैकेयी राम के सरल और दृढ़ स्वभाव से खूब परिचित है, अतः अब उन्हें अपने उन्हीं गुणों के कारण अपनी कुटिलता के जाल में फँसाती है, जिसको सजा देती है, उसी से उस दण्ड-विधान पर हस्ताक्षर भी करवा लेती है—कष्ट क्लेश के कामों में राम अपनी बहादुरी तो दिखाएँगे ही। राम के इन सद्‌गुणों से उसने अपना स्वार्थ साधन किया; क्योंकि राम ने बचपन से इस मँझली माँ को बहुत प्यार किया था; फिर वह प्यार का बदला उन्हें क्यों न चुकाती ?

राम ने सब कुछ सुन कर सचमुच आज्ञा-पालक पुत्र के धर्म और उसके सौभाग्य पर एक उद्‌गारात्मक व्याख्यान ही दे दिया, और फिर सोत्साह कहा :

"मुनिगन मिलनु बिसेषि बन सबहिं भाँति हित मोर।
तेहि महँ पितु आयसु बहुरि संमत जननी तोर॥"

वन में मुनि-महात्माओं का सत्संग होगा, इससे बड़ा लाभ और क्या हो सकता

है राम के लिए ? फिर पिता की आज्ञा है और माता की भी सम्मति है उसमें। भरत राज्य पाएँगे, जो उनके प्राण-प्रिय भाई हैं। ऐसे पुण्यमय कार्य में राम को अगर कुछ हिचकिचाहट हो, तो उन-सा मूर्ख और कौन होगा इस संसार में ? मूर्ख-से-मूर्ख भी ऐसे सुअवसर का लाभ न खोएगा, फिर राम को तो कुछ समझ भी है !

तभी तो एक नारी यों भिखारी बनाए जा रही है आप को !

इसके बाद राम अविश्वास करते हैं कि इस छोटी-सी बात के लिए राजा इतने व्याकुल हो जाएँगे; नहीं, अवश्य राम से कोई भारी अपराध हुआ होगा—कैकेयी उसे कह दे : राम उसे अपनी शपथ देते हैं !

कैकेयी इस बात से फूल उठती है और राम तथा भरत की शपथ लेकर राम के सद्‌गुणों की सराहना करने लग जाती हैं :

"तुम अपराध जोगु नहिं ताता। जननी जनक बंधु सुखदाता ॥"

फिर वह राम को ही अपना वकील बना देती है :

"पितहि बुझाइ कहहु बलि सोई। चौथेपन जेहिं अजसु न होई ॥"

तो अब जरा राम ही पिता को समझा-बुझा कर राजी कर दें, जिससे इस बुढ़ापे में उन्हें कोई अयश न घेरे।

धन्य यह धृष्टता—कुटिलता की हद हो गई यहाँ !

"लोचन ओट रामु जनि होंही" :

मूर्च्छा दूर होने पर राजा ने देखा कि राम सामने खड़े हैं। मन ही मन वह मनाने लगे कि राम वन न जाएँ—ऐसी सुमति ईश्वर उन्हें दें। जैसा भी दुःख उन्हें दिया जाए, पर राम आँखों से ओझल न हों। स्वर्ग-नरक, यश-अपयश किसी की चिन्ता उन्हें नहीं है—केवल राम उनके सामने रहें। इस चिन्ता से राजा का मन पीपल के पत्ते के समान डोलने लगा।

राम ने पिता के सामने भी अपने कर्तव्य पर एक भव्य भाषण दे दिया—'छोटी बात के लिए इतना कष्ट ! यह तो खुशी मनाने का समय है, इसलिए राजा दुःख करना छोड़ें और सहर्ष वन जाने की आज्ञा देकर उन्हें कृतकृत्य कर दें : उनके मुँह से आज्ञा सुनने की प्रतीक्षा भी वह (राम) नहीं करते हैं; तुरत माता से बिदा लेकर आने और फिर चरणों में सिर रख कर वन जाने की अपनी तत्परता दिखाने लग जाते हैं :

"अस कहि राम गवनु तब कीन्हा। भूप सोक बस उतरु न दीन्हा ॥"

जवाब के लिए भी राम रुके नहीं, तुरत वहाँ से चल दिए और राजा टुकुर-टुकुर उन्हें देखते रह गए।

ओह, कैसी विपुल विवशता बाँधे थी वृद्ध गजराज-से उस महान् महीपत को !

"जहँ तहँ देहिं कैकेइहिं गारी" :

राम के लौटते ही बड़ी तेजी से यह सनसनी-खेज खबर सारे नगर में फैल गई और जहाँ-तहाँ कैकेयी पर कटूक्तियाँ कसी जाने लगीं :

"एहि पापिनिहि बूझि का परेऊ। छाइ भवन पर पावक धरेऊ ॥"

कैसी बेसमझ हुई यह पापिनी—छाए घर पर अंगार रख दिया। कोई कहता :

"निज कर नयन काढ़ि चह दीखा। डारि सुधा बिषु चाहत चीखा ॥"

अपने ही हाथों अपनी आँखें निकाल कर वह देखना चाहती है—कैसी अनमोल हैं उसकी आँखें! री मूर्खे, नेत्र निकाल लेने पर फिर तू देखेगी कैसे उन्हें ?

ओह, कैसा मर्म-विदारक है यह व्यंग्य ? राम के चले जाने पर देखने लायक रह ही क्या जाएगा, और कुछ देखा जाएगा ही कैसे—सब की आँखें तो निकल-सी जाएँगी उनके जाते ही ! कवि की इस मार्मिक सूझ पर कितना सिर धुना जाए ? इसे कहते हैं दिव्य दृष्टि—कहाँ तक चली जाती है इसकी तेज रोशनी अन्तर के अन्धतम गुहा के गम्भीर गर्भ-प्रदेश में।

कोई खीझकर उसे कुटिल, कठोर, कुबुद्धि और अभागिनी कह कर उसकी मोटी मूर्खता पर मुँह बिचका लेती है :

"पालव बैठि पेडु यहि काटा।

पत्ते पर बैठकर पेड़ को काटना—इस बेवकूफी पर किसका मुँह टेढ़ा न हो जाएगा ? किसी को यह देखकर महान् आश्चर्य होता है :

"सदा राम एहि प्रान समाना। कारन कवन कुटिलपनु ठाना ॥"

यह सब देखकर जन-मत नारी के स्वभाव पर कड़ी टीका-टिप्पणी करने लग जाता है, जिसमें नारियाँ भी शामिल हैं :

"निज प्रतिबिम्ब बरुक गहि जाई। जानि न जाइ नारि गति भाई ॥"

अपनी छाया भले ही पकड़ी जा सके, पर स्त्रियों की गति-विधि का अन्दाज लगाया नहीं जा सकता है। यही नहीं :

"काह न पावकु जारि सक, का न समुद्र समाइ।
का न करै अबला प्रबल केहि जग कालु न खाइ ॥"

जैसे आग किसे नहीं जला सकती है, समुद्र में क्या नहीं समा सकता है, और मौत किसे नहीं मार सकती है, वैसे ही जब औरत प्रबला हो जाती है तब वह क्या नहीं कर सकती है ?

दो औरतों ने ही मिल कर जन-जीवन पर यह आफत बरपा की थी, इसी से

समस्त जन-मत उनकी समस्त जाति को ही दूषित बना रहा है। कवि का उत्साह तो इसमें प्रत्यक्ष हो जाता है!

कोई राजा को दोष देता है—उन्होंने विचार-पूर्वक 'वर' क्यों न दिया? औरत के अधीन हो जाने से उनका ज्ञान-गौरव भी जाता रहा?

कोई-कोई जो धर्म की चरम गति को पहचानते थे, राजा को दोष नहीं देते थे। कोई भरत को भी इस कुकाण्ड में शामिल समझता, तो कोई यह सुन कर उदास हो जाता है। और कोई-कोई भरत पर उँगली उठाने को महापाप मान कर झगड़ भी पड़ता है—'नहीं, यह असंभव है!'

कोई विधाता को दोष देता है—जिसने दिखाई तो सुधा और दी संखिया (जहर)!

यों सारा नगर मथित और व्यथित होकर तीव्र हलचलों से भर गया।

"मृगिन्ह चितव जनु बाघिन्ह भूखी":

नगर की नारियों का एक प्रतिनिधि-मण्डल, जिसमें ब्राह्मण-परिवार की वधुएँ, कुल-मान्या सयानियाँ, और कैकेयी की प्यारी सखियाँ भी शामिल थीं, कैकेयी को समझाने-बुझाने आ पहुँचा। उन्होंने राम के ऊपर उसकी सहज प्रीति की बात याद दिलाई; उसे तो राम के समान भरत कभी प्रिय न थे, फिर आज वह उन्हें गहन वन में क्यों भेज रही है? सौत के प्रति भी तो उसका कभी विद्वेषभाव नहीं देखा गया था, फिर आज कौसल्या ने उसका क्या बिगाड़ा कि जिसके कारण सारे नगर पर वज्रपात कर रही है? वह याद रखे कि राम के जाते ही सीता भी अपने पति के साथ अवश्य चल देगी, लक्ष्मण तो राम के बिना कहीं रहेंगे नहीं, राजा उनके वियोग में बचेंगे ही नहीं; फिर भरत राजा होकर भी क्या सुख भोगेंगे? कैकेयी समझदार है, व्यर्थ वह कलंक की कोठी क्यों बन रही है? भरत को ही राज देना चाहती है तो दे, और राम को अगर दूर ही रखना हो, तो जंगल न भेज कर, उन्हें गुरु के घर रहने का दूसरा वर माँग ले।

इस प्रकार समझा कर उन्होंने कैकेयी को यह भी बता दिया कि अगर वह अपने हठ पर अड़ी रही, तो कुछ भी उसके हाथ नहीं लगेगा! किन्तु कैकेयी पर मन्थरा का जादू इतना जबर्दस्त था, कि उसके कान में जैसे कुछ पड़ा ही नहीं। उलटा उसका गुस्सा ऐसा बढ़ता गया कि वह भूखी बाघिन की तरह उनकी ओर देखने लग गई:

"उतरु न देइ दुसह रिस रूखी। मृगिन्ह चितव जनु बाघिनि भूखी॥"

आदिकवि ने समझाने-बुझाने का यह काम सचिव सुमन्त्र और राजगुरु वसिष्ठ पर छोड़ा है। सुमन्त्र ने तो बड़े ही क्रोध और घृणा से उसकी माँ की कठोरता की वह कहानी कही जिसका संकेत तुलसी के भरत ने कैकेयी के सामने किया है:

"आभिजात्यं हि ते मन्ये यथा मातुस्तथैव च। नहि निम्बात्स्रवेत्क्षौद्रं लोके निगदितं वचः॥"

जैसी माँ, वैसी बेटी; कहावत भी तो है—नीम से कहीं मधु झरता है! राजगुरु वशिष्ठ ने तो आँखों में आँसू भर कर बड़ी गम्भीर बातें कह दीं उस समय, जब सीता को भी वल्कल पहनाया जा रहा था :

"अति प्रवृत्ते दुर्मेधे कैकेयि कुलपांसिनि। वंचयित्वा तु राजानं प्रमाणेऽवतिष्ठसि॥"

कैकेयी को उन्होंने मूर्खा और कुल-घातिनी की उपाधि दी और कहा कि वह बहुत आगे बढ़ गई है, राजा को वंचित करके वह उन्हें सत्पथ से दूर हटाए चली जा रही है।

फिर उन्होंने एक अद्भुत प्रस्ताव किया :

"न गन्तव्यं वनं देव्या सीतया शीलवर्जिते। अनुष्ठास्यति रामस्य सीता प्रकृतमासनम्॥"

अयि शील-शून्ये, सीता वन में नहीं जाएँगी, रामचन्द्र के आसन पर यहीं बैठ कर वह राज करेंगी, क्योंकि :

"आत्मा हि दाराः सर्वेषां दारसंग्रहवर्तिनाम्। आत्मेयमिति रामस्य पालयिष्यति मेदिनीम्॥"

सत्कुलीन स्त्रियाँ गृहस्थों की आत्मा होती हैं, सीता भी राम की आत्मा हैं, अतः वही (राम के बदले) पृथ्वी का पालन करेंगी।

सच—राज्य के यथार्थ अधिकारी हैं राम, अगर वह वन जाते हैं, तो जाएँ; उनके स्थान पर सीता ही भुवनेश्वरी बनेंगी—दूसरा कोई नहीं।

अगर सीता भी न रहना चाहें, तब सारी प्रजा और सारा राज-कोष भी उनके साथ वन में जाएगा। राज्य उनका है, जहाँ सीता और राम रहेंगे, सारा राज-समाज भी उनके साथ रहेगा।

तुलसी को, कैकेयी के हाथों ऐसे पूज्य पुरुषों का अनादर, अनुचित जान पड़ा, अतएव उन्होंने दूसरे ढंग से काम लिया, जिसमें सामान्य 'जनमत' का विशेष चित्र उभर आया है। एक में भव्यता और विशालता का आधिक्य दीखता है, तो दूसरे में रुचिर मार्मिकता मुसकुरा उठी है जन-जन के भीतर पैठकर।

"तुम्हहि जान बन कहिहि न काऊ" :

राम और सीता लौटकर जब राजा से बिदा लेने आए, तब :

"रायँ राम राखन हित लागी। बहुत उपाय किए छलु त्यागी॥"

राजा ने उन्हें न जाने देने के कई उपाय किए, पर जब उनका रुख रुकने का न देखा, तब सब लोगों ने मिलकर सीता को ही रोकने का बहुत प्रयत्न किया।

सीता का मन नहीं मानता था, पर संकोच-वश वह कोई जवाब भी न दे पाती थीं—यह देखकर कैकेयी तमक उठी, और :

"मुनि पट भूषन भाजन आनी। आगे धरि बोली मृदु बानी ॥"

तपस्वियों के पहनने योग्य वल्कल-वसन लाकर उनके आगे रख दिए, और मृदु वाणी में बोली :

"नृपहि प्रानप्रिय तुम्ह रघुबीरा। सील सनेह न छाड़िहि भीरा ॥
सुकृतु सुजसु परलोकु नसाऊ। तुम्हहि जान बन कहिहि न राऊ ॥"

हे राम, तुम राजा के प्राण-प्यारे हो, भले ही उनके लोक-परलोक नष्ट हो जाएँ, सुकृत और सुयश भी चले जाएँ, किन्तु तुम्हारे प्रति जो उनका स्नेह है, शील सौजन्य-वश वह कभी तुम्हें बन जाने की बात अपने मुँह से नहीं निकालेंगे। इसलिए तुम्हें जो उचित जान पड़े, करो।

कैसी मृदुल कुटिलता भरी है इस प्रशंसा-प्रवचन में। इसे कहते हैं—'कपट-सयानी'! ऊपर-ऊपर से सरलता और सुजनता की सुधा-वर्षा और भीतर-भीतर काल-कूट की दाहकता!

कैकेयी यहाँ दशरथ और राम दोनों को, उन्हीं के स्नेह और शील की रस्सी से कसकर बाँध देती है, और फिर विवश बनाकर छोड़ देती है उन्हें अगम्य कष्टों के खरतर प्रवाह में ऊब-डूब होने के लिए! अब न शीलवान् दशरथ मुँह खोल सकते हैं, न सौजन्य की आत्मा राम ही उनके कुछ कहने की राह देख सकते हैं। बड़ी चालाकी से कैकेयी ने दोनों का मुँह बन्द कर दिया; और परिस्थिति पुकार उठी—'फिर राम, तुम खड़े क्यों हो? अब परीक्षा दो अपने पुत्र-धर्म की; और सत्यवादी दशरथ, तुम अब अपने शील की भी रक्षा कर लो—मुँह बन्द किए, घुटकते, चुपचाप देखते रहो अपने कलेजे के टुकड़े राम का वन-गमन!'

कैकेयी का यह कपट-स्नेह—उसकी यह चरम कुटिलता दर्शनीय है, और मननीय है कवि की कुशलता—कितना सूक्ष्म प्रभुत्व प्राप्त है उसे भावानुकूल परिस्थिति निर्माण कर देने की कटु-मधु कला पर!

किन्तु वाल्मीकि के दशरथ यों चुप नहीं रहते हैं, वह अन्न और धन का अपना भाण्डार भी राम के साथ वन में भेज देना चाहते हैं। यह सुनते ही कैकेयी डर जाती हैं, उसका मुँह सूख जाता है और बोली अटक जाती है—'फिर ऐसा निस्सार राज्य भरत क्यों लेने लगा?'

दशरथ क्रुद्ध हो जाते हैं उसकी इस रोकथाम पर और उसे अपशब्द कहने लगते हैं। इससे कैकेयी का क्रोध और बढ़ जाता है, और वह ईंट का जवाब पत्थर से देने लग जाती है :

"तस्यैतत्क्रोध संयुक्तमुक्तं श्रुत्वा वराङ्गना। कैकेयी द्विगुणं क्रुद्धा राजानमिदमब्रवीत् ॥"

बोलते-बोलते वह अनजान में ही राम के बनवास की तुलना सगरवंशी एक क्रूर राजकुमार 'असमंज' के राज्य-निर्वासन के साथ कर बैठी, जिस पर सब लोग उसे धिक्कारने लग गए—'कहाँ वह अत्याचारी 'असमंज' (जो खेलते हुए निरपराध बच्चों को पकड़-पकड़ कर सरयू की तीव्र धारा में अपने मनोविनोदार्थ फेंक दिया करता था) और कहाँ शील-सौजन्य के अवतार परम धार्मिक यह राम !'

दशरथ ने भी अपना निष्ठुर निर्णय उसे सुना ही दिया :

"अनुव्रजिष्याम्यहमद्य रामं राज्यं परित्यज्य सुखं धनं च ।
सर्वे च राज्ञा भरतेन च त्वं यथासुखं भुङ्क्ष्व चिराय राज्यम् ॥"

तो फिर लो यह राज्य, धन और सुख राजा दशरथ सबको छोड़ कर आज ही राम के पीछे-पीछे वन चले जाएँगे—भोगे भरत के साथ कैकेयी चिरकाल तक यह राज्य-भोग !

दृश्य में नाटकीय प्रभाव कितना विशाल हो उठा है !

"तात बात मैं सकल सँवारी" :

राजा के मर जाने पर भरत राजपुरोहित के द्वारा बुलाए गए; जाने कैकेयी क्यों निरपेक्ष रह गई इस अत्यन्त आवश्यक कर्म में ? इस छिन्न-सूत्र वाले रहस्य का उद्घाटन कहीं से नहीं होता है। जिस कठोर-हृदय ने राज्य के बड़े-से-बड़े व्यक्तियों की बातें यों अनसुनी कर दीं, वह फिर यों निश्चेष्ट क्यों बैठी रह गई ?

एक ही समाधान सामने आता है—संभवतः उसे राज्य-विप्लव का डर था; क्योंकि एक कुबड़ी औरत को छोड़कर उसके साथ राज्य का और कोई नहीं था। किसी से कुछ कहने की हिम्मत भी उसमें नहीं थी—सारा जनमत विरुद्ध और वह अकेली अबला ! उसके हाथ का जो पालित सुग्गा था, वह (राजा) तो उड़ ही चुका था; फिर अब कौन नाचता उसके इशारे पर ? शायद यही सब सोचकर वह चुप रह गई—'देखें राज्य के शुभैषी अब ये बड़े-बड़े क्या करते हैं ?'

शांति मन वाले भरत अत्यन्त विस्मयाभिभूत होकर कैकेयी के सामने उपस्थित हुए और ननसाल का कुशल-मंगल सुनाकर उन्होंने उतावली से पूछा :

"कहु कहँ तात कहाँ सब माता। कहँ सिय राम लखन प्रिय भ्राता ॥"

बेटे की उतावली देखकर वह कुछ सकपका जरूर गई, पर तुरत आँखों में आँसू उमड़ा कर अपना कपट-स्नेह दिखाने लगी :

"तात बात मैं सकल सँवारी। मैं मंथरा सहाय बिचारी ॥"

जैसे भरत की गूढ़ इच्छा उसे बहुत पहले से ही खूब मालूम हो, जैसे माँ-बेटे का पेट एक हो। बिगड़ते हुए काम को इसने बड़ी सतर्कता से सम्हाला इसकी गर्वानुभूति झलक जाती है, साथ ही मन्त्रिणी मन्थरा भी मोर्चे पर खड़ी दिख जाती है।

स्वार्थान्ध माँ अपने बेटे से बड़ाई पाने की आशा में थी; हाँ, बीच में जो एक अप्रिय घटना घट गई, जो भरत को अवश्य दुःख देगी, उसके लिए कैकेयी क्रूर काल को अपराधी मानती है :

"कछुक काल बिधि बीच बिगारेउ। भूपति सुरपति पुर पगु धारेउ॥"

'सँवारी' वाली बात भरत के मन में विस्मय ही बढ़ा रही होगी—अरे कौन-सी बिगड़ती बात इसने मन्थरा की सहायता से सम्हाल ली है ? लेकिन भूपति का स्वर्ग जाना तो स्पष्ट ही वज्रपात था उनके ऊपर। यह सुनते ही भोले भरत मूर्च्छित हो गए।

कुछ देर बाद जब वह होश में आए, तब पिता के मरण का कारण जानना चाहा :

"सुनि सुत बचन कहति कैकेई। मरमु पाँछि जनु माहुर देई॥
आदिहु तें सब आपनि करनी। कुटिल कठोर मुदित मन बरनी॥"

कुटिल-कठोर कैकेयी ने मुदित मन से अपनी होशियारी की जो कहानी सुनाई, वह ऐसी ही यन्त्रण देने वाली थी जैसे किसी के मर्मस्थल (कलेजे) को पाछ कर (सुई से चुभो कर) फिर उसमें जहर डाल दिया जाए।

भरत भीतर-ही-भीतर किस तरह दर्द से कराह उठे होंगे उस कठोर किस्से को सुनकर।

राम का वन-गमन सुनते ही भरत को पिता का मरण भूल गया, और जब उसके मूल में उन्होंने खुद अपने को बैठा पाया, तब तो वह माथे पर हाथ धर कर मौन ही हो गए।

पुत्र को यों व्याकुल देख कर माँ कैकेयी बड़े प्यार से उन्हें समझाने लगी—जैसे जले पर नमक ही रगड़ रही हो ! राजा के लिए सोच करना व्यर्थ है; क्योंकि उन्होंने जीवन का फल (धर्म और भोग) पा लिया और अन्त में वह स्वर्गवासी हुए। यों सोच कर निश्चिन्त मन से भरत अब राज-काज सम्हालें :

"अस अनुमानि सोच परिहरहू। सहित समाज राज पुर करहू॥"

यह सब सुन कर सुकुमार-मना भरत यों तड़प उठे—जैसे पके हुए घाव पर कोई अंगारे रख दे और इसके बाद बेटा जो बौखलाया, किसी कवि ने उसके चित्रण में कोई कंजूसी नहीं दिखाई है। कहीं-कहीं तो होड़-सी लगी दीखती है :

मूढ़ा माँ, अब सुन अपनी कोख के सपूत से अपनी प्रशंसा के गीत और अमर बन कर नहाती रह इस कलिल-धारा में :

'पापिनी, तू ने सब तरह से कुल का नाश कर दिया; अगर ऐसा ही करना था, तो जनमते ही बेटे को मार क्यों न दिया ? पेड़ को काटकर पत्तों की सिचाई क्यों कर रही है ? मछली को जीवित देखना चाहती है तो उसे पानी में तो रहने देती।'

"जननी तूँ जननी भई" :

हाय, बेटा कैसा बदला चुका रहा है, माँ के इस सुकृत का :

"जब से यह दुर्बुद्धि पैदा हुई तेरे कलेजे के टुकड़े-टुकड़े क्यों न हो गए ? 'वर' माँगते हुए मन में पीड़ा क्यों न हुई, जीभ काहे न जली, मुँह में कीड़े क्यों न पड़े ?'

तो माँ, तू भी नारी ही है, तो फिर सुन ले नारी की महिमा अपने सपूत के मुँह से :

"राजा ने तुम्हारा विश्वास कैसे किया—क्या मरने के समय उनकी मति मारी गई थी ? अरे सच, नारी तो समस्त पाप और प्रपंच की खान होती है, सरल स्वभाव वाले राजा उसकी अगाधता कैसे पहचानते ?"...

"राम को तो सभी जीव-जन्तु भी प्यार करते हैं, फिर कौन है वह जो राम का विरोध करती है ? पद-प्रतिष्ठा में वह चाहे जो भी हो, मुँह में कालिख पोत कर दूर हट जाए, अपने बेटे के सामने से—वह उसका मुँह भी देखना नहीं चाहता है !

भरत का क्रोध अब बौखला कर आघात का केन्द्र खोजने लगता है—किस-किस को दबोचे वह इस कुकृत्य के लिए ? माँ तो मुख्य शिकार है—गुस्सा घूम-फिर कर कैकेयी के ऊपर आ टूटता है; और फिर वह खुद शिकार बनता है; क्योंकि उसी माँ का तो वह सपूत है—उसी राम-विरोधी पेट से तो वह पैदा हुआ है, और उसी के नाम पर यह षडयन्त्र रचा गया है !

इस सिलसिले में भरत ने एक बड़ी ही कठोर बात कह दी कैकेयी से :

"हंसबंसु दसरथु जनकु रामलखन से भाइ । जननी तूँ जननी भई बिधि सन कहा बसाइ ॥"

भरत का भाग्य भी कैसा विचित्र है, एक ओर दशरथ के समान बाप और राम-लक्ष्मण के सदृश्य भाई, दूसरी ओर यह माँ जो अपनी माँ को मूर्ति ही जान पड़ती है ! यहाँ उत्कण्ठा उत्पन्न होती है, कि कैकेयी की माँ कैसी थी, जिसका उल्लेख यहाँ भरत करते हैं ? आदिकवि के सुमन्त्र ने कैकेयी से ही यह कहानी विस्तार के साथ कही है, जिसका संशोधित रूप कुछ ऐसा होता है :

कैकेयी के पिता किसी महात्मा की कृपा से जीव-जन्तु की बोली समझने लग गए थे। एक दिन कैकेयी की माँ सामने बैठ कर अपने पति को भोजन करा रही थी। चावल-दाल के कुछ टुकड़े मुँह में दबाकर आती-जाती दो चींटियों के सवाल-जवाब से राजा को हँसी आ गई। कैकेयी की माँ ने समझा कि उसी का कोई ऐब राजा की नजरों में पड़ गया है। उसने हँसने का कारण जानना चाहा, पर राजा अपनी असमर्थता दिखाने लगे; क्योंकि उक्त महात्मा ने चेतावनी दे दी थी कि इसका मर्म वह खोलेंगे, तो तुरंत मर जाएँगे। समझाने-बुझाने पर भी जब रानी ने अपना हठ न छोड़ा, तो लाचार राजा ने काशी जाकर प्राण-त्याग करने का निश्चय किया और राजपाट मन्त्रि-मण्डल को सौंप कर रानी के साथ वह काशी चल पड़े। राज्य में भारी शोक छा गया !

स्वर्ग के देवेश को यह बात भली नहीं मालूम हुई; उनमें से दो देवताओं ने बकरे-बकरी का वेश बनाया और पथ-प्रान्तर में पड़ने वाले एक निर्जन तथा छायादार कुँए के पास चरने लगे। श्रान्त पथिक वे राजा-रानी भी वहाँ आकर सुस्ताने लगे। उनको आया देख चंचल बकरी ने दाढ़ी वाले बकरे से सोत्साह कहा—'तुम तो मुझे बहुत प्यार करते हो, जरा झुक कर कुँए के किनारे वाली वह हरी पाती मेरे लिए नोच लाओ।'

बकरे ने कुँए को देख-भाल कर दो बार दाढ़ी डुला दी—'नहीं, प्यारी, वह खतरनाक जगह है—फिसल जाने का डर है; वहाँ जाने का आग्रह न करो।'

बकरी की चंचलता दूर हो गई, कुछ रूठी-सी हो कर बोली—'तब तो तुम मुझे प्यार नहीं करते ? क्या मेरे प्यार के लिए तुम इतना खतरा भी नहीं उठा सकते हो ? तब तो तुम्हारा सारा प्यार ढोंग है—झूठा है !'

'प्यारी'—बकरे ने कुछ गम्भीर होकर दाढ़ी हिलाई—'प्यार मेरा सच्चा है, पर उससे भी सच्चा है अपने प्राणों पर का मेरा ममता-मोह। प्राण ही चले जाएँगे प्यारी, तो फिर 'प्राण-प्यारी' किस काम में आएगी ?'

'तो जाओ'—बकरी ने मुँह मोड़कर कहा—'जब तक वह पत्ती नहीं ला दोगे—मैं तुमसे बोलूँगी नहीं।'

बिना कुछ कहे-सुने बलवान् बकरे ने उस मानिनी बकरी के मुलायम भाल पर अपने सींगों से दो आघात किए—जोर की ढाही मारी और बेचारी बकरी बिल-बिला उठी—'यह क्या करते हो—इसी को प्यार कहते हैं ?'

बकरे ने राजा की ओर घूर कर कहा—'तो क्या तू भी मुझे वह मूर्ख राजा माने बैठी है, जो एक औरत की नादानी से राज-पाट छोड़ कर मरने जा रहा है काशी ? मूर्खे, अगर फिर तूने कुएँ में झाँकने का नाम लिया, तो ढाही मार-मार कर तुझे इसी कुएँ में ढकेल दूँगा !

ऐसा कह कर बकरे ने दो-चार ढाही और लगा दी कस कर; बस, बकरी मिमिया उठी और दुम दबाकर माफी माँगने लग गई।

राजा यह सब देख-सुन ही रहा था, बस सहसा वह उठ खड़ा हुआ हाथ का डंडा बरसाने लग गया अपनी थकी-माँदी रानी पर। रानी बाप-बाप चिल्ला उठी !

"फिर कभी वह बात पूछोगी ?"

"नहीं, बाबा, नाक रगड़ती हूँ—अब कभी उसकी चर्चा भी नहीं करूँगी, जान छोड़ दो प्रभु !"

भरत का गुस्सा अब अपने 'सिरजनहार' पर बरसने लगा, जिसने राम-विरोधी हृदय से उन्हें पैदा किया—भला उनके समान पापी और कौन होगा ? कैकेयी को तो वह व्यर्थ ही दोष दे रहे हैं।

तुलसी भरत के द्वारा कैकेयी की भर्त्सना यहीं समाप्त कर देते हैं। उसी समय

विविध वसन-विभूषणों से सजी-धजी मन्थरा वहाँ आ जाती है, जिसको देखकर लक्ष्मण के भाई शत्रुघ्न को इतना गुस्सा आता है कि वह उसके कूबर पर लात चला देते हैं। बेचारी मुँह के बल गिर पड़ती है, उसके दाँत टूट जाते हैं और मुँह से रुधिर निकल पड़ता है। तब भी वह अपने को निर्दोष घोषित किए जाती है :

"आह दइअ मैं काह बिगारा। करत नीक फलु अनइस पावा॥"

शत्रुघ्न का क्रोध इससे और बढ़ गया और खिसिया कर वह उसकी झोंटी पकड़ घसीटने लग गए! उसकी यह दुर्दशा देख भरत को दया आ गई और शत्रुघ्न को समझा-बुझा कर उसकी जान छुड़ा दी—नहीं तो शत्रुघ्न उसे समाप्त ही कर देते वहाँ।

यहाँ आदिकवि का विवरण बड़ा ही रोमांचकारी है। उनके भरत तो ननसाल में ही दूत से पूछ बैठते हैं।

"आत्मकामा सदा चण्डी क्रोधना प्राज्ञमानिनी।
अरोगा चापि मे माता कैकेयी किमुवाच ह॥"

भरत की दृष्टि में कैकेयी सदा से स्वार्थ-साधिका क्रोध में चण्डी और अपने को बड़ी बुद्धिमती मानने वाली है।

पास आने पर कैकेयी सब से पहले भरत का सिर सूँघती है (तत्कालीन वात्सल्य की रस्म अदायगी) और फिर गोद में बिठा कर कुशल-प्रश्न पूछती है।

पलंग को सूना देख कर भरत राजा के बारे में जिज्ञासा करते हैं, क्योंकि वह राजा को देखना चाहते हैं, जिसकी सम्भावना इसी कमरे में उन्हें जान पड़ती थी। यहाँ उन्हें (राजा को) न देख कर भरत ने पूछा—'क्या राजा माँ-कौसल्या के घर में हैं?'

कैकेयी राजा के स्वर्गवास की कहानी निधड़क कह देती है। भरत मूर्च्छित होकर गिर पड़ते हैं और कैकेयी उन्हें होश में लाती है, और उनकी बड़ाई करके उनको धीरज बँधाती है। भरत का कहना है कि वह तो राम का राज्याभिषेक देखने की आशा करके आए थे। फिर वह रामचन्द्र के प्रति अपनी पूज्य भावना को प्रकट करते उनके पास जाकर प्यार और आशीर्वाद पाने की अपनी उत्सुकता दिखाते हैं। कैकेयी राम के वन जाने की कथा भी उन्हें सुना देती है, तब भरत को राम के चरित्र पर सन्देह होता है और वह उनका अपराध जानना चाहते हैं, जिसके कारण उन्हें वनवास का दण्ड दिया गया। क्या उन्होंने (राम ने) किसी का धन छीना, किसी निरपराध को मारा या किसी पराई स्त्री के साथ संसर्ग किया?

कैकेयी ने सब का निराकरण करते राम के बारे में एक बात जो कही, वह एकदम अनूठी है :

"न रामः परदारान्स चक्षुर्भ्यामपि पश्यति॥"

राम तो किसी पर-स्त्री को आँख उठा कर भी नहीं देखते।

धन्य राम का यह नेत्र-संयम, जिसकी तारीफ कैकेयी यों करे! अवश्य इसका बड़ा प्रमाण होगा उसके पास।

अपनी करनी की सारी कहानी कहकर उस कृतार्था ने अपने कृतज्ञ पुत्र से अनुरोध किया :

"त्वयात्विदानीं धर्मज्ञराजत्वमवलम्ब्यताम्। त्वत्कृते हि मया सर्वमेवं विधं कृतम्॥"

हे धर्मज्ञ, अब तुम राज्य ग्रहण करो, तुम्हारे लिए ही मैंने यह सब (कुकर्म) किया है।

यह सुन कर भरत का गुस्सा अब अन्धे जल-प्रपात की तरह कैकेयी के सिर पर उतरने लगा :

'तू कुल घातिनी है, राजा ने अनजान में ही तुझ अंगार को पकड़ा, तू ने राजा को मारा, राम को वन भेजा, दूसरी माताएँ अब कैसे तेरे साथ रह सकेंगी? बड़ी माँ दीर्घ-दर्शिनी हैं—सदा बहन-सा बर्ताव करती आई हैं, और तू ने उनके पुत्र को वनवास दिया! ऐ लोभिन, क्या मालूम तुझे कि मैं राम की कैसी भक्ति करता हूँ, किसी प्रकार राज्य-भार उठाने की शक्ति मुझमें आ भी जाए, पर मैं उस स्त्री की इच्छा कभी पूर्ण नहीं होने दूँगा, जो केवल अपने पुत्र को ही प्यार करना जानती है! तू अब आग में कूद जा, या दण्डकारण्य में प्रवेश कर जा, अथवा गले में रस्सी बाँध कर मर जा—तेरे लिए दूसरा कोई चारा नहीं है!

शत्रुघ्न जब मन्थरा की दुर्दशा करते हैं, तब कैकेयी उसे बचाने आती है, यह देख क्रोधाभिभूत शत्रुघ्न उसे बुरी तरह फटकार देते हैं। इससे सभीत बनी वह नारी अपने पुत्र के पास दौड़ जाती है और दीन नयनों से देखती मन्थरा के लिए अनुरोध करती है (मन्त्रिणी जो ठहरी)। उस समय दयालु भरत शत्रुघ्न से जो भी कहते हैं, उनके सारे शील-सौजन्य को लाँघ जाता है :

"हन्यामहमिमां पापां कैकेयीं दुष्टचारिणीम्। यदि मां धार्मिको रामो नासूयेन्मातृघातकम्॥"

दुष्ट आचरण वाली इस पापिनी कैकेयी को तो वह (भरत) खुद मार डालते, अगर उन्हें यह डर न होता कि धर्मात्मा राम मातृ-घाती (भरत) से कहीं घृणा न करने लग जाएँ।

माता कैसी भी क्यों न हो, भरत-सा भावुक पुत्र भला उसके ऊपर इतना क्रोध करे?

तुलसी ने शायद यही सब सोच कर उस प्रसंग को आगे नहीं बढ़ाया—'जननी तूँ जननी भई', कह कर ही खतम कर दिया। तुलसी शील की सीमा से भरत को दूर नहीं जाने देते हैं।

भरत की बातें सुनकर शत्रुघ्न ने अपना कालान्तक हाथ रोक लिया। बाघ

के पंजों से छूट कर मन्थरा कैकेयी के चरणों पर धड़ाम से जा गिरी और विलाप करने लगी।

तुलसी ने इस नीच दासी पर कैसा गुस्सा उतारा है, हम देख ही आए हैं। वहाँ वाल्मीकि की तरह तुलसी के भरत यह नहीं कहते हैं कि अबलाएँ अवध्या होती हैं :

"अवध्याः सर्वभूतानां प्रमदाः क्षम्यतामिति।"

क्योंकि तुलसी जो भी कहते हैं, पूर्वापर विचार कर लेते हैं, आँख मूँद कर जो भी सूझा, नहीं कह डालते हैं, उनके राम ताड़का का वध कर चुके थे, फिर भला राम के हृदयावतार भरत के मुँह में वह ऐसी बड़ी बात कैसे डालते! इसीलिए बड़ी सतर्कता से वह अपने भरत को कुश-कण्टक से बचाते ले गए अपने लक्ष्य पथ पर। तुलसी की यह सावधानी बड़ी मनोज्ञ है, काम्य है और है परख पर गर्व करने की चीज!

यहाँ दक्षिण के कवि-चक्रवर्ती कंबन की ओर भी जरा दृष्टिपात कर लिया जाए— उनके सिंह-सम क्रुद्ध और क्षुब्ध भरत क्या कहते हैं :

"The lion-like Bharata boiling with wrath
Hesitated not to strike because she was
His mother : he feared the anger of Ram, and so
It is, he left Kaikeyi unharmed. But he
His wrath did not conceal and thus burst forth :
'I hear thee say that through thy plot my father
Is dead and my brother gone to the wilderness.
And if I have not plucked thy sinful tongue
By the roots till now, doth it not mean that I
Have in my greed begun to rule the earth ?
Thou livest yet : and still my spell-bound hand
Leapeth not forth to finish thee ! Did not
I fear Ram my master would resent
The deed, shall even the name of my mother stay
My arm from slaying thee ?' "

भरत का माता के प्रति ममत्व, उनकी मनहर मंजुल मृदुता, उनका मुग्धकर माधुर्य, जीवन का सुख-स्वप्न—सब कुछ जाने कहाँ उड़ गया। वह माँ पर अपना मंत्र-मुग्ध कालान्तक हाथ तो नहीं उठाते हैं, पर उनकी लचीली जीभ कुछ भी नहीं छोड़ती है—वाल्मीकि की तरह वह (भरत) भी सब-कुछ कह देते हैं। कैकेयी की जीभ उखाड़ने और उसकी हत्या के लिए तो तैयार थे ही, केवल राम का डर उन्हें रोक

रहा था। कैकेयी जो जीवित है अब तक इसलिए नहीं कि उनके (भरत के) मन में राज्य के प्रति कुछ लोभ समाया हुआ है, बल्कि इसलिए कि राम को उनका यह कर्म बुरा लगेगा।

कवि कंबन ने यहाँ वाल्मीकि का निश्चिन्त अनुगमन किया है—तुलसी की उक्त सतर्कता यहाँ परिलक्षित नहीं होती है। हाँ, वर्णन अवश्य बड़ा ही प्रभाव-पूर्ण और नाटकीय हलचलों से भरा हुआ दीखता है!

"कुटिल रानि पछितानि अघाई" :

भरत के आते ही कैकेयी की स्वार्थान्ध आँखों पर से पर्दा खिसकने लगा और उसकी मूढ़ता, कुटिलता और कठोरता, भूत की भाँति चारों ओर से घेर-घेर कर उसे डराने लग गई! जिस भरत के मोह में पड़ कर यह सब अवांछनीय अभिनय किए, वह जब यों आँख दिखाने लग गया, यों गाली-गलौज पर उतर आया, यों हाथ उठाने को तैयार दीख पड़ा, तब तो उसकी बोलती ही बन्द हो गई; और जब शत्रुघ्न के हाथों मन्थरा की वह दुर्गति उसने देखी, तब उस महारानी का माथा ठनका और बाजार-भाव का पता चल गया—आज जो इन लपटों के बीच भी वह जल नहीं पाती है, यह क्या राम का जबर्दस्त जादू नहीं है?

इसका ज्ञान होते ही वह मूढ़ा संकोच-सागर में डूब गई और अन्तरतम के सहज स्नेह को बटोर कर गोहराने लग गई—'मेरे प्यारे राम, तुम सचमुच कितने महान्, कितने साधु और कितने क्षमाशील हो! तुमने इस अपनी गर्वीली माँ का कितना आदर किया, अप्रत्यक्ष रूपसे इसके दोषों के प्रक्षालन का कितना प्रयास किया, पर इस दुष्टा साँपिन ने आखिर अपना विष-दन्त तुम्हारे मर्म में गड़ा ही तो दिया। भोले राम, तुमने इसे जरा भी बुरा नहीं समझा, और मेरी प्रसन्नता के लिए हँसते हुए जंगल चले गए। ओह, कितने मर्मज्ञ-सहनशील हो तुम, मेरे प्रिय पुत्र। ओह, यह भरत ही तो हम दोनों के बीच रहने वाले भावों का अवतार है, तो फिर राम, इस मँझली माँ की कुटिल-कठोरता तुम उसी के नाते भूल जाओ—दुनिया भले ही मुझे जो कह डाले।'

राम के सिवा उस पति-हन्ता की गोहार-पुकार और कौन सुनता?

शत्रुघ्न का क्रोध तो उस कठोर-कथा को मुर्दा ही बना गया। अब उसके ग्लानि-तीर्थ की अगम्य यात्रा शुरू हुई और भरत के मुँह से सब जगह वह अपनी कीर्ति-कथा सुन कर अघाती रही! भरत राज-भवन से निकले और जहाँ-जहाँ गये, जिस-जिस से मिले, कैकेयी की कोख की बात न भूले—ऐसी कुटिल माँ के गर्भ से जन्म लेने के कारण ही तो आज वह सर्वत्र यों लांछित हो रहे थे! गुरु वशिष्ठ से उन्होंने यही कहा, कौसल्या ने यही सुना, राज्य-परिषद् के बीच यही घोषित हुआ, प्रजा-परिजन के कानों में यही पड़ा, भरद्वाज को इसी से लम्बा उपदेश देना पड़ा।

सबसे पहले उन्हीं मुनि ने कैकेयी को निर्दोष साबित किया, जिसे सुनकर कैकेयी को शायद हर्ष के बदले विस्मय ही अधिक हुआ होगा।

गुह-निषाद के सामने भी भरत ने कैकेयी की कुमति का बखान किया, यों कैकेयी की कठोर काया ग्लानि के ताप-परिताप से पिघलती चली। चित्रकूट पहुँचते-पहुँचते भरत के भावानुराग को देख-देख कर अन्दर-ही-अन्दर वह मूढ़ माता कितनी गल गई होगी, कल्पना करने की बात है। क्या उसने नहीं सोचा होगा—कैसी विचित्र बात है यह, एक ओर उसकी यह कुटिल कठोरता, दूसरी ओर उसी की कोख की यह विह्वल भाव-धारा—जो अग-जग को अपनी अगाधता में डुबोए चली जा रही है उन्मत्त की भाँति आकुल होती!'

"प्रथम राम भेंटी कैकेयी" :

और जब चित्रकूट में सबसे पहले राम उसी के चरणों में पड़े, तब किस सभीत, शंकित तथा स्नेह-स्निग्ध दृष्टि से उसने उन्हें देखा होगा, और अपने को तथा उनको पहचानने का कैसा विचित्र प्रयत्न किया होगा—'क्या यह राम कहीं मुझ अधम का उपहास तो नहीं कर रहा है अपने इस अपार औदार्य और धैर्य से! लेकिन राम की सरल मुखाकृति ने उसके गुप्त हृदय-भार को कितना हलका कर दिया होगा—सोचने की बात है :

"प्रथम राम भेंटी कैकेयी। सरल सुभायँ भगति मति भेई॥"

फिर भी चित्रकूट की उस दिव्य महासभा में जब-जब भरत ने उसकी चर्चा की तब-तब वह कितनी गलती गई होगी, तुलसी के शब्दों से कुछ अन्दाज लग सकता है :

"लखि सिय सहित सरल दोउ भाई। कुटिल रानि पछितानि अघाई॥
अवनि जमहि जाँचति कैकेयी। महि न बीचु बिधि मीचु न देई॥"

सीता सहित दोनों सरल भाइयों को देखकर कैकेयी खूब अघाकर पछताई, वह पृथ्वी और यम को पुकारने लगी, लेकिन न पृथ्वी फटी कि वह उसमें समा जाती और न विधाता ने यमदूत को ही भेजा कि उसके प्राण हर लेता! यों वह लज्जा और संकोच के झूले पर झूलती रह गई!

चित्रकूट की सभा में आदिकवि के भरत ने जब राम से लौटने का प्रस्ताव किया, तब एक-दो बार उन्होंने माता का भी नाम लिया :

"सा राज्य फलमप्राप्य विधवा शोककर्शिता। पतिष्यति महाघोरे नरके जननी मम॥"

'मेरी माँ ने राज्य चाहा, वह फल तो उसने चखा नहीं, उलटे विधवा बनी

और शोक-सन्ताप में डूबकर अब नरक-कूप में भी पड़ेगी। विधवा तो अन्य माताएँ भी हो गई हैं, अतः इन सब अनाथ माताओं पर राम दया करें।'

एक जगह तो वह उसे लाठी से मारने की बात भी कह बैठते हैं :

"धर्मबन्धेन बद्धोऽस्मि तेनेमां नेह मातरम्। हन्मि तीव्रेण दण्डेन दण्डार्हां पापकारिणीम्॥"

'धर्म के बन्धन में बँधा हूँ, नहीं तो इस पापिनी को कब-न-कब लाठी से पीटकर खतम कर देता!'

माता की कोप-कठोरता के लिए एकाध बार वह सपूत राम से क्षमा भी माँग बैठता है :

"आक्रोशं मम मातुश्च प्रमृज्य पुरुषर्षभः।"

एक जगह तो माता (कैकेयी) की याचना भी वह राम के कानों में डाल देते हैं :

"कर्तुमर्हसि काकुत्स्थ मम मातुश्च याचनाम्।"

कुल-परम्परा से चलते-आते प्रजा-पालन की ओर देखकर रामचन्द्र भरत और उनकी माता की याचना स्वीकार करें।

भारत के गौरव भरत की भायप-भक्ति चाहे कितनी भी ऊँची क्यों न हो, माता के प्रति उनकी उद्दण्डता तथा उच्छृंखलता इस भूमि की सुसंस्कृत रुचि को कभी अच्छी नहीं लगेगी। माँ के प्रति मौन और सौम्य रहकर भी अपना सुयश वह फैला सकते थे। आखिर कैसी भी थी, कैकेयी उनकी माता थी और उन्हीं की शुभ-कामना से प्रेरित होकर उसने वह कुकाण्ड किया था!

"गरइ गलानि कुटिल कैकेयी" :

चित्रकूट में पहले तो अयोध्या-वासियों का ही जमघट था। उन्हीं की कुत्सा-वर्षा के बीच जाने किस अगम्य साहस या चेतना-शून्य होकर चुपचाप वह बैठी थी, और जमीन में गड़ जाना चाहती थी। फिर भी वह जमघट उसके चिर-परिचितों का था, जो उसके स्वभाव से पूर्ण अवगत थे। और परिचितों के बीच मानव-मन कुछ ढीठ हो भी जाता है। किन्तु जब अचानक जनक महाराज का राज-समाज भी वहाँ आ पहुँचा, तब तो कैकेयी गलकर पानी-पानी ही हो गई होगी—'ओह, क्या कहेंगे मिथिलावासी उसे—कैसे मुँह उठाएगी वह उनके सामने :

"गरइ गलानि कुटिल कैकेयी। काहि कहै केहि दूषन देई॥"

यहाँ 'कुटिल' विशेषण फालतू ही नहीं, कुछ असंगत भी प्रतीत होता है। कवि ने केवल अभ्यास-वश अनजान में ही इसका प्रयोग कर दिया होगा। कैकेयी किसी समय कुटिल अवश्य थी, पर उसकी वह 'कुटिलता' तो अयोध्या से चित्रकूट

तक की यात्रा में झड़ती और गलती आई है। अब तो उसका कहीं नाम-निशान भी नहीं रह गया था। इतनी लम्बी तीर्थ-यात्रा और इतने गम्भीर अभिषेक में भी उसकी वह कलंक-कालिमा क्या नहीं धुली? दुनिया की दृष्टि में न धुली हो, पर कवि की दृष्टि में तो वह धुल जाती, अब कुटिल न जँचती—सहृदयों की माँग कवि के अतिरिक्त और कौन पूरी करता?···

महान् राम के इस उज्ज्वल आलोक में आकर भी उनकी परम प्यारी मँझली माँ अब तक 'कुटिल कठोर' कैसे रहती? नहीं, वह अत्यन्त निष्पापा बन गई थी; और राम ने अपने स्नेह तथा सौजन्य की जैसी दिव्य विभा-विभूषित चादर उसे ओढ़ा दी उससे तो वह और चमक उठी थी :

"भरत मातु पद बंदि प्रभु सुचि सनेहँ मिलि भेंट।
बिदा कीन्ह सजि पालकी सकुच सोच सब मेट॥"

यही तो राम की महिमा है, पापी को पाप-पंक से निकाल कर, अपने सरल स्नेह और सौजन्य से उसे धो-पोंछकर, उसकी सहज सरल मानवता को जगा कर सुप्रतिष्ठ कर देना, पापी के सारे पाप-ताप को अपने कष्ट-क्लेश-जनित धर्माचरण से मिटा कर उसे उन्नत लोक की ओर उन्मुख कर देना, मूढ़ता के सारे मन्द भावों को अपने रश्मि-स्नात मृदुल करों से छू-छू कर उन्हें ओसकणों की तरह उड़ा देना, और उत्फुल्ल प्रसन्नता के प्रातः-प्रांगण में उन्हें शुचि समीरण के साथ स्वच्छन्द विचरण के लिए छोड़ देना!

राम, तुमने स्वयं कष्ट उठा कर हम अबोधों को यही सिखाया, युग-युग के कृतज्ञ-हृदयों के प्रोज्ज्वल प्रतिनिधि हमारे वाल्मीकि, कंबन और तुलसी जैसे कवियों ने इसीलिए अपनी श्रद्धा-भक्ति की अजस्र ऊर्मिल धाराओं में तुम्हें अनन्त रूप से नहलाया, और तुम अपनी इसी अगाध ममता के कारण हम मूढ़ों के मार्गदर्शक ही नहीं, हमारे जीवन-मरण के भी आकर्षण-केन्द्र बन गए! तुम्हारी सहधर्मिणी सीता ने भी सोल्लास तुम्हारे उस क्लेश-जनित धर्म-पथ पर पैर रखा और तुम से भी आगे-आगे वह चली गई। इसीलिए तुम राजाराम के साथ-साथ 'पतित-पावन' के दिव्यासन पर भी जा विराजे। भरत ने भी वही पाठ पढ़ा और वह भक्तों के आधार बन गए! सच, क्लेश-जनित धर्म ही धर्माचरण की कसौटी है।

शादी के समय दशरथ ने कैकेयी के माँ-बाप को जो गुप्त वचन दिया था, उसका पता शायद कैकेयी को भी न रहा; क्योंकि इतने आँधी-तूफान के बीच भी कभी उसने उस गुप्त बात (कैकेयी का बेटा ही राजा होगा) की कोई चर्चा किसी से न की। परन्तु राम को, जाने किस प्रकार, वह बात पहले से ही मालूम थी और आदिकवि के राम ने भरत से इसका स्पष्ट उल्लेख भी कर दिया। तुलसी ने इसकी कोई जरूरत न समझी; और भावज्ञों की दृष्टि में बहुत अच्छा ही किया।

आदिकवि के राम ने कैकेयी के लिए भरत से अन्त में जो प्रार्थना की है, वह स्वाभाविक ही नहीं, अत्यन्त हृदय-स्पर्शी भी है :

"कामाद्वा तात लोभाद्वा मात्रा तुभ्यमिदं कृतम् । न तन्मनसि कर्तव्यं वर्तितव्यं च मातृवत ॥"

काम से, या लोभ से, तुम्हारी माँ ने जो यह सब किया, तुम (भरत) इसे मन में न रखना और इसके साथ माता के समान (सम्मान और श्रद्धा का) बर्ताव करना। राम की यह चेतावनी बड़ी मधुर है, पर तुलसी को इसकी आवश्यकता नहीं महसूस हुई, क्योंकि अब इसकी चर्चा भी कष्टकर होगी—सब का हृदय इतना पूर्ण, इतना प्रसन्न और इतना प्रभा-पूर्ण जो है !

अन्त में राम माताओं को विदा करने आए, वह कुछ कहना-सुनना भी चाहते थे, पर सबों का गला भर आया था और नेत्र उमड़ उठे थे—अतः कोई कुछ कह न सका; और राम भी :

"स चैव मातृरभिवाद्य सर्वा रुदन्कुटीं स्वां प्रविवेश रामः ।"

सभी माताओं को प्रणाम करके, रोते हुए, राम अपनी कुटी में प्रवेश कर गए। आह, राम का यह रोना कितना स्वाभाविक और कितना हृदय-हारी है ! उनकी उस अश्रु-धारा में एक ओर जहाँ सरल-स्नेह उमड़ा पड़ता है, दूसरी ओर पापियों और अनुतप्तों के पाप-ताप भी धुलते जाते हैं ! इसी से अत्यन्त दूर रहकर भी तो राम हमारे इतने पास हैं !

"प्रभु जानी कैकेई लजानी" :

राम के अयोध्या लौटने तक कैकेयी की कहीं कोई चर्चा नहीं होती है। उसका बेटा जब राजा हो कर भी फकीर का जीवन बिता रहा था नन्दीग्राम में, तब उसकी दशा ध्यान में आ जाती है। कौसल्या के साथ वह भी पूजा-पाठ तथा मंगल-कामना के कर्मों में लगी रहती होगी।

कवि कंबन ने भरत के अग्नि-प्रवेश के समय कौसल्या को उपस्थित किया है, पर कैकेयी की चर्चा वह भी नहीं करते हैं।

यों चौदह वर्षों तक वह अपराधिनी नारी अपने कुकर्मों पर पछताती मौन साधना करती रही। अन्त में उसकी वह एकान्त साधना पूरी हुई और राम विजय-दुन्दुभी बजाते अयोध्या लौट आए।

तुलसी के राम ने आते ही पहले कैकेयी का ही खयाल किया :

"प्रभु जानी कैकेयी लजानी। प्रथम तासु गृह गए भवानी ॥
ताहि प्रबोधि बहुत सुख दीन्हा। पुनि निज भवन गवन हरि कीन्हा ॥"

भीड़-भाड़ में कैकेयी को उन्होंने (राम ने) कुछ संकुचित देखा था, इसलिए

सबसे मिल-जुल कर जब वह राजभवन में लौटे तब सबसे पहले वह कैकेयी के ही घर में गए, और सब प्रकार से समझा-बुझा कर उसे अत्यन्त सन्तुष्ट करके ही वह अपने घर में गए।

यह है राम का महत्त्व, और यह है कैकेयी का गौरव। धन्य राम और धन्य कैकेयी।

सच, कैकेयी न होती, तो फिर न राम 'राम' होते, न भरत 'भरत' न यह भरत-भूमि ही 'भारत' कहलाती! कैकेयी के कारण ही वन-प्रधान इस देश में सुसंस्कृति की पुण्य-सलिला 'रामायण' की रस-धारा उमड़ी और पुलकाकुल गति से अग-जग की छाती को छूती और भिगोती चली गई। कैकेयी की कुटिलता के कारण ही राम वन में पहुँचे और अपने पुण्यालोक से सब जगह के अंधकार को उन्होंने ललकार दिया। इधर उसी की कोख के लाल ने त्याग और तपस्या की ऐसी लालिमा फैलाई कि जो भी उसका मूल्यांकन करने गया, वह भी 'लाल' बन गया। अन्तरिक्ष वासियों ने उमड़ कर कह दिया है:

"जौं न होत जग जनम भरत को। सकल धरम धुर धरनि धरत को॥"

यही नहीं अति उदार राम ने तो कैकेयी को दोष देने वालों पर भी काला पर्दा डाल दिया है:

"दोष देहिं जननिहि जड़ तेई। जिन्ह गुरु साधु सभा नहिं सेई॥"

माता कैकेयी को तो वे ही अनभिज्ञ बुरा-भला कहेंगे, जिन्होंने गुरुजनों और साधु-समाज की सेवा नहीं की है—अर्थात् जिन्हें ज्ञान और धर्म का मर्म-बोध नहीं हो पाया है।

इससे बढ़कर कैकेयी की निर्दोषिता का और क्या प्रमाण-पत्र चाहिए!

स्नेहमयी माता, तुमने कभी मृदुल-मूरत राम में अपने भरत से भी अधिक ममता का रूप निहारा था, उन्हें अपने अंक में लेकर स्निग्ध भाव से दुलारा-पुचकारा था, तुम पर उसने गहरा विश्वास किया था, ईर्ष्या-द्वेष के दावानल में झुलसते हुए भी जिसने तुम्हारी गुण-गरिमा को कभी भुलाया नहीं, तुम्हारे हाथ से ही प्रेम की रस्सी लेकर जिसने कठोरता के साथ तुम्हें बाँध दिया था—उसके सारे बाह्याचरण को भूल, तुमने उसके अन्तरतम में घुसकर झाँका और सूद-दर-सूद के साथ उसके प्रेम का ही मूल्य नहीं चुका दिया, उसके महापाप पर भी पर्दा डाल कर उसे अन्तर से माँज कर लोकोज्ज्वल भी बना दिया। राम, यह धूल-धूसरा धरती पुलकाकुल है तुम्हारी इस अगाध मर्मज्ञता पर; और इसके जड़-चेतन, इसके साँस-समीरण, इसके घास-पात, इसके धूल-फूल, इसके रोड़े-पत्थर, इसके खाई-खन्दक सब बड़ी व्यग्रता से तुम्हारे पद-चिह्नों को ढूँढ़ रहे हैं। कब पधारोगे हे पतित पावन! पुनः इस पुण्य प्रांगण में?

झिलमिल तारिकाएँ

- सज्ञान सुमित्रा
- अभिशाप-ग्रस्ता अहल्या
- मन्दभाग्या मन्दोदरी
- संशितव्रता शबरी

सज्ञान सुमित्रा

"जौं पै सीय रामु बन जाहीं।
अवध तुम्हार काजु कछु नाहीं ॥"

... ...

"पुत्रवती जुबती जग सोई।
रघुपति भगत जासु सुत होई ॥"

—तुलसीदास

... ...

"नार्हा त्वं शोचितु देवि यस्यास्ते राघवः सुतः।
नहि रामात्परो लोके विद्यते सत्पथे स्थितः ॥"

—आदिकवि

... ...

"Sumitra is at the very peak of her
wisdom. Of all people around Rama,
she is almost the one, if we except
Lakshmana, understand Rama's nature,
the purpose for which he went to the
forest, and the propriety and righteousness
of his action ."

—V. S. Srinivasa Sastry
(From-'Lectures on the Ramayana')

"पुत्रवती जुबती जग सोई" :

दशरथ महाराज की तीनों पटरानियों में सुमित्रा सबसे छोटी थीं, परन्तु समझदारी में सबसे बड़ी जान पड़ती हैं। रनिवास की हलचलों में उनकी कोई सूरत कहीं नजर नहीं आती है। 'पुत्र-काम' यज्ञ में अग्निदेव ने जो 'हवि' राजा को दी, उसका आधा भाग राजा ने सर्वप्रथम कौसल्या को दिया, फिर शेष जो आधा उनके हाथ में था, उसका भी आधा किया उन्होंने और उनमें से एक भाग कैकेयी को दिया; अब जो आधा भाग बच गया, उसके भी दो भाग उन्होंने कर दिए (जाने क्यों ?) और कौसल्या और कैकेयी के हाथों पर रखकर, सबके मन को प्रसन्न करते हुए, सुमित्रा को दे दिए :

"कौसल्या कैकेई हाथ धरि। दीन्ह सुमित्रहि मन प्रसन्न करि ॥"

पता नहीं राजा ने बची हुई 'हवि' को पुनः दो अर्धांशों में क्यों बाँटा— कैकेयी को देने के बाद फिर उसके दो भाग करके दोनों रानियों के द्वारा सुमित्रा को क्यों दिलवाया ? इस नाटक की क्या जरूरत थी ? सुमित्रा को भी राजा ने सहज भाव से शेषांश क्यों न दे दिया ?···

आदिकवि का हविस्-विभाजन-क्रम कुछ दूसरा दीखता है। कौसल्या को तो आधा भाग मिलता ही है, तदुपरान्त वहाँ राजा सुमित्रा को ही देते हैं शेषार्ध का आधा : कैकेयी को बाद में दिया जाता है :

"अनुचिन्त्य सुमित्रायै पुनरेव महामतिः। एवं तासां ददौ राजा भार्याणां पायसं पृथक् ॥

राजा के इस 'अनुचिन्तन' का रहस्य खुलता नहीं है। 'रंगनाथ रामायण' में भी वह उलझन पाई जाती है :

"···शेष आधे का आधा सुमित्रा को दिया, बचे हुए भाग का आधा कैकेयी को और शेष पुनः प्रसन्नता से सुमित्रा को दिया।"

तुलसी ने दोनों रानियों के हाथ पर धर कर राजा के द्वारा जिस प्रसन्नता के बीच सुमित्रा को दिलवाया है, उससे चित्र प्रभामय हो उठता है, पर राजा की मानसिक दुविधा दूर नहीं होती है।

लगता है, बँटकर हविष्यान्न बहुत थोड़ा रह गया होगा और राजा कुछ संकोच में पड़ गए होंगे—'इतना कम कैसे दिया जाए सौम्य सुमित्रा को ?'

जो भी हो, सुमित्रा ने सदा अपने को शान्त, संयत और सीमित रखा था— सभी द्वन्द्व-दुविधाओं के बीच। न वह कभी उतावली से आगे आई, न घबरा कर

कभी पीछे ही हटी—सदा एक तटस्थ-द्रष्टा की भाँति निरपेक्ष गति-मति उनकी बनी रही।

तुलसी ने एक-दो जगह ही सुमित्रा की चर्चा की है अपने 'मानस' में। मंगलोत्सवों में तो अन्य माताओं के साथ उनकी उपस्थिति मान ही ली जाएगी, ब्याह के बाद जब उनके राज-सौध में पुत्र-पुत्रवधुओं का स्वागत-सत्कार होता है। तब जो कल-कल स्वन खिलता है, उसमें उनका स्वर होगा ही और मंगल-आरती सजाने में भी उनका हाथ रहा ही होगा। तुलसी ने कलात्मक ढंग से चौक पूरने में उनका नाम विशेष उल्लास के साथ लिया है :

"चौकें चारु सुमित्राँ पूरी। मनिमय बिबिध भाँति अति रूरी॥"

इससे मालूम होता है, घर-आँगन को सजाने-सँवारने में उनकी विशेष अभिरुचि और अभिज्ञता थी।

किन्तु तुलसी सुमित्रा का असली रूप वहाँ दिखाते हैं, जहाँ वह लक्ष्मण को राम के साथ वन जाने की अनुमति देती हैं। लक्ष्मण के मुँह से सब कहानी सुनकर पहले तो वह कुछ सहम जाती हैं :

"गई सहमि सुनि बचन कठोरा। मृगी देखि दव जनु चहुँ ओरा॥"

जैसे मृगी चारों ओर दावानल को जलते देखकर डर जाती है। लक्ष्मण को उन पर शंका होती है, लेकिन सुमित्रा राम और सीता के रूप, गुण और स्वभाव पर विचार करके राजा के स्नेह को देखती हैं, और सिर पीटने लग जाती हैं :

"पापिनि कीन्ह कुदाउ!"

इतनी प्राथमिक विकलता दिखा कर वह शान्त हो जाती हैं और अनुपम धीरज धर कर कोमल स्वर में कहने लग जाती हैं :

"तात तुम्हारि मातु बैदेही। पिता रामु सब भाँति सनेही॥"

कितनी तटस्थता अपने प्रति, और कितनी गहरी आस्था सीता-राम के प्रति! बचपन से उन्होंने लक्ष्मण का अनुराग और साहचर्य देखा था; उधर भरत के लिए कैकेयी ने जो कुकाण्ड किया, वह भी उनके सामने था; और राम-सीता ने जो कदम उठाया, वह भी उनके दृष्टि-पथ में झूल रहा था, अतः अपना सब अधिकार छोड़ कर वह सीता-राम को ही सर्वस्व बताने लगीं :

"अवध तहाँ जहँ राम निवासू। तहँइँ दिवसु जहँ भानु प्रकासू॥"

सुमित्रा ने अन्तर्नेत्रों से राम को देखा है और उनके जीवनोद्देश्य को पहचाना है। साथ ही उनके आचरण और वर्ताव को भी गूढ़-गम्भीर दृष्टि से परखा है। उनकी व्यापक लोक-प्रियता, उनकी प्रकृत वीरता, उनकी असीम स्नेह-शीलता और सत्य-

धर्म के नाम पर कष्ट-क्लेश के सहन में उनकी दृढ़ तत्परता भी उनकी अमल आँखों के सामने थी। राम को लेकर ही तो अयोध्या आज गौरवान्वित थी, राम जहाँ रहेंगे, वहीं अयोध्या होगी—जैसे जहाँ सूर्य, वहाँ प्रकाशमय दिन!

फिर जब राम वन जाते हैं, तब लक्ष्मण का क्या काम रह जाता है यहाँ? सुमित्रा अपने बेटों के स्वभाव से भी खूब परिचित हैं—एक है भरत का साथी, दूसरा है राम के लिए पागल। इधर राम और भरत को लेकर यह राज्य-विप्लव उपस्थित हो गया था, रोकने से भी शायद अब लक्ष्मण न रुकें, और उनकी उग्रता को देखते हुए, सुमित्रा को उनका न रुकना भी अच्छा लग रहा था (कहीं कोई उपद्रव न खड़ा कर दें इस कुचक्र के विरोध में वह)।

राम का ईश्वरत्व भी उनसे छिपा न था :

"रामु प्रान प्रिय जीवन जी के। स्वारथ रहित सखा सब ही के॥"

इसलिए पूज्य और प्रिय जहाँ जो हैं, सब को वह राम के नाते ही तौलती हैं। यों वह स्वस्थ मन से लक्ष्मण को आदेश दे देती हैं :

"अस जियँ जानि संग बन जाहू। लेहु तात जग जीवन लाहू॥"

इस प्रसंग में उनका अपना सौभाग्य भी सामने आ जाता है; क्योंकि उन्होंने रामानुरागी पुत्र प्राप्त किया है—धन्य है वह माँ जिसका पुत्र राम-भक्त हो; क्योंकि राम का भक्त होने का मतलब है सत्य-धर्म का भक्त होना। फिर ऐसे पुत्र की माँ को अपने ऊपर गर्व क्यों न हो :

"पुत्रवती जुबती जग सोई। रघुपति भगतु जासु सुतु होई॥"

फिर उन्हें अब अभागिनी माताओं की भी याद आ जाती है, जिनके पुत्र राम-विमुख (सत्य-धर्म के विरोधी) होते हैं :

" न तरु बाँझ भलि बादि बिआनी। राम बिमुख सुत तें हित हानी॥"

ऐसी माँ अगर बाँझ रह गई होती, तो कोई हर्ज न था : राम-विरोधी पुत्र तो सबके लिए हानिकर हो जाता है। फिर उसने इतना कष्ट उठा कर उस कपूत को पैदा क्यों किया?

यह सोचते-सोचते वन जाने में लक्ष्मण का भी सौभाग्य उन्हें दीख पड़ता है और उत्साह से भरकर वह बड़ी दृढ़ता-पूर्वक घोषित करती हैं :

"तुम्हरेहिं भाग रामु बन जाहीं। दूसर हेतु तात कछु नाहीं॥"

लक्ष्मण का भाग्य तो इसमें है ही—सुमित्रा खूब जानती हैं कि राम के साथ रहने से इनकी उग्रता दबी रहेगी, सच्ची वीरता प्रदर्शन के अनेक अवसर प्राप्त होंगे उपद्रवी असुरों के बीच; और मुनि-महात्माओं के संग में शिक्षा-दीक्षा भी सहज सुलभ होती रहेगी। इसे सौभाग्य नहीं तो क्या दुर्भाग्य कहा जाएगा?

कैसी दूर-दर्शिनी हैं लक्ष्मण की माँ—कितनी विमल-विशाल ज्योति है उनके नव-नयनों में। उनका निष्कर्ष है :

"सकल सुकृत कर बड़ फल एहू। राम सीय पद सहज सनेहू ॥"

सचमुच राम-सीता के चरणों में प्रेम तो किसी बड़े पुण्य का ही फल माना जाएगा।

यों प्रोत्साहित करके सज्ञान सुमित्रा लक्ष्मण को एक व्यावहारिक बात भी बता देती हैं। सीता-राम के पास रहने से उन्हें (लक्ष्मण को) तो कोई क्लेश होगा नहीं। लेकिन वह अपना कर्तव्य न भूलें :

"जेहि न रामु बन लहहिं कलेसू। सुत सोइ करेहु इहइ उपदेसू ॥"

माँ का यही उपदेश है कि वन में राम को कोई कष्ट न हो, लक्ष्मण इसका पूरा ध्यान रखें और राग, रोष, ईर्ष्या, मद-मोह के वशीभूत कभी न हों—निर्विकार भाव से सीता-राम की सेवा करें जिससे राम-सीता सुखी रहें और वन में रहते हुए :

"पितु मातु प्रिय परिवार पुर सुख सुरति बन बिसरावहीं ॥"

पीछे छूटे हुए मात--पिता, प्रिय-परिवार और अयोध्यापुरी के सुख की स्मृति उन्हें न सताए।

यह है सुमित्रा देवी का ज्ञान—कितनी गहराई में उतर कर उन्होंने अपने कलेजे के टुकड़े को—एकमात्र आधार पुत्र को घोर जंगल में जाने का आदेश दे दिया, सो भी सेवा-व्रत का उपदेश देकर! उधर राम-जननी कौसल्या को भी हम देख आए हैं—दोनों की तुलना कितनी मनोहारिणी होगी?

तुलसी ने अपनी 'कवितावली' में भी एक हृदय-हारी चित्र सुमित्रा का उपस्थित किया है। कौसल्या जब उनसे उनके और कैकेयी के बीच के बर्ताव की याद दिलाती हैं :

"सिथिल सनेहँ कहैं कौसिला सुमित्रा जू सों,
मैं न लखी सौति, सखी! भगिनी ज्यों सेई है।
कहै मोहि मैया, कहौं मैं न मैया, भरत की,
बलैया लेहौं भैया तेरी मैया कैकेयी है ॥
तुलसी सरल भायँ रघुरायँ माय मानी,
काय-मन-बानी हूँ न जानी कै मतेई है।
बाम बिधि मेरो सुखु सिरिस-सुमन-सम,
ताको छल-छुरी कोह-कुलिस लै टेई है ॥"

महारानी कौसल्या का रोना है कि कैकेयी को उन्होंने कभी सौत नहीं समझा, सदा अपनी बहन के समान ही उसके साथ बर्ताव किया है। यही नहीं, राम जब

उन्हें 'मैया' कहते, तो वह प्यार से उन्हें समझा देती थीं—'नहीं, पुत्र, मैं तो भरत की मैया हूँ; तेरी 'मैया' तो कैकेयी है !' राम ने भी उसे सरल मन से 'माँ' ही माना—कभी 'विमाता' नहीं समझा; किन्तु विधाता कैसा विरोधी बन गया कि उनके सिरीष के समान सुकोमल सुख को काटने के लिए छल-रूपी छुरी को क्रोध-रूपी वज्र पर रखकर पैनाया गया है। अर्थात् कैकेयी ने कपट करके उनके सुख-सौभाग्य को नष्ट कर दिया है।

यह सब सुनकर सहज स्नेह और सरल सहानुभूति से भरकर सुमित्रा कौसल्या के पाँव पकड़कर उन्हें समझाती हैं :

"कीजै कहा, जीजी जू ! सुमित्रा परि पायँ कहै, तुलसी सहावै बिधि, सोई सहियतु है।
रावरो सुभाउ रामजन्म ही तें जानियत, भरत की मातुको की ऐसो चहियतु है॥
जाई राजघर, ब्याहि आई राजघर माँहँ, राजपूतु पाएहुँ न सुखु लहियतु है।
देह सुधा गेह, ताहि मृग हूँ मलीन कियो, ताहू पर बाहु बिनु राहु गहियतु है॥"

'जीजी, सम्बोधन में कितना प्यार भरा हुआ है ! कौसल्या ने 'सखी' कहा था, पर सुमित्रा उन्हें 'जीजी' कहती हैं और दर्द को किस मृदुलता से सहलाती है : कैसा उदार स्वभाव उनका है, यह तो (सुमित्रा) राम के जन्म से ही जानती हैं, लेकिन भरत की माँ की करनी पर उन्हें आश्चर्य होता है—उन्हें (कैकेयी को) क्या ऐसा करना चाहिए था !

तदनन्तर वह एक दृष्टान्त देती हैं, जो दोनों ओर से झलक उठता है; देह तो चन्द्रमा (भव्य और शीतल) है, लेकिन उस शशि के अंक में कृष्ण मृग आ बैठा है (काला दाग लग गया है), और ऊपर से बिना बाहुवाला राहु उसे ग्रसे जा रहा है। यह दृष्टान्त कौसल्या और कैकेयी दोनों को आक्रान्त करता है। दोनों राजा की बेटी हैं, दोनों राजपत्नी हैं और दोनों राजपुत्रों की माँ हैं। दोनों चन्द्रमा के समान चमकने वाली हैं, पर सुख दोनों को नहीं है; एक को लोभ-मोह ने पकड़ रखा है, और दूसरी भाग्य की मारी हुई है।

यह दृष्टान्त ही सुमित्रा के अन्तर को खोल कर पारदर्शी बना देता है। सौम्य-सौजन्य की गुल-गुल गोद में सोई सरल स्नेहमयी सहानुभूति किस मृदु-मन्थरता से काकोक्ति बरसा रही है दोनों दुःखिनी देवियों पर। कौसल्या का भाग्य पति से नहीं, पुत्र से जगा था; वह भी आज चौदह बरस के लिए भिखारी बना; और उधर कैकेयी का भी भाग्य फूटा कि राजदुलारी होकर भी वह लोभाक्रान्त हुई—जाने अब और क्या-क्या विपत्ति बुलाती है किस-किस पर !

'मानस' में एक जगह और कवि सुमित्रा से कुछ कहलवाता है, पर वह है अत्यन्त नगण्य : हम देख आए हैं कि स्त्रियों की सभा में तुलसी की कौसल्या ने कैसा प्रमुख भाग लिया था—जब मिथिलेश्वरी उनसे भेंट करने आई थीं चित्रकूट के आश्रम में। वहाँ जब सीता की माँ विधि की बुद्धि पर व्यंग्य कसती है—'पय-फेन को फोड़ने के

लिए वह पवि-टाँकी का प्रयोग करने जा रहा है'—और जब सब जगह उन्हें 'कराल करतूति' ही उसकी (मूर्ख विधाता की) दीख पड़ने लगती है, तब सुमित्रा भी उसके समर्थन में एक छोटी-सी मार्मिक बात कह देती हैं :

"सुनि ससोच कह देबि सुमित्रा। बिधि गति बड़ि बिपरीत बिचित्रा ॥"
जो सृजि पालइ हरइ बहोरी। बाल केलि सम बिधि मति भोरी ॥"

सुमित्रा देवी का यह दृष्टिकोण उनके चिन्तनशील निरपेक्ष व्यक्तित्व को कितना विस्पष्ट कर देता है : वह सृष्टि-कर्ता विधाता की बुद्धि पर तरस खाती हैं—जो बालकों की भाँति एक हाथ से घरौंदा बनाता और दूसरे से मिटा देता है। कितना तटस्थ और स्वस्थ अवलोकन है सृष्टि में सतत चलते रहने वाले सृजन और संहार के विचित्र दृश्यों का—जैसे कोई 'मास्टर माइंड' मनोरंजनार्थ आ बैठा हो रंगशाला में।

उस 'सभा' में वह एक काम और करती देखी जाती हैं। कौसल्या का व्याख्यान रुकता नहीं दीखता है, और रात गहराती चली जा रही है, तब सुमित्रा ही अत्यन्त सौजन्य के साथ उनकी लगाम कस देती हैं :

"सबु रनिवासु बिथकि लखि रहेऊ। तब धरि धीर सुमित्रा कहेऊ ॥"

सभा में व्याख्यान सुनते-सुनते सब महिलाएँ थक-सी (कुछ ऊब-सी भी) गई हैं, पर कौसल्या देवी का ध्यान उधर नहीं जाता है; सुमित्रा झट उन्हें समय का ज्ञान करा देती हैं अत्यन्त शिष्ट सौजन्य के साथ :

"देबि दंड जुग जामिनि बीती।"

'रात आधी बीत गई'—बस, इतना सुनते ही कौसल्या सम्हल गईं।

तुलसी सुमित्रा से यहीं विदा ले लेते हैं—फिर वह अन्य रानियों के बीच छिपी रह जाती हैं।

किन्तु आदिकवि ने बड़े ही उपयुक्त अवसर पर सुमित्रा को पकड़ा और उनसे एक बड़ा ही आवश्यक काम करवाया है—जिस ओर न जानें 'मानस' के कविका ध्यान क्यों नहीं गया।

राम के वियोग में कौसल्या अत्यन्त आकुल हो उठी हैं, उनकी दयनीय दशा देख कर सुमित्रा उन्हें ज्ञान की ठोस भूमि पर उठा लाती हैं :

"या श्रीः शौर्यं च रामस्य या च कल्याण सत्वता।
निवृत्तारण्य वासः स्वं क्षिप्रं राज्यमवाप्स्यति ॥"

सुमित्रा ने राम के चरित्र को खूब गौर से देखा है, उन्होंने उनमें (राम में) श्री, शौर्य और कल्याणकारी सत्व (शक्ति) का दर्शन किया है; अतएव उनका दृढ़ विश्वास है, कि जिन (राम) में वे तीनों गुण हैं, वह राम वनवास से वापस आने पर तुरत राज्य प्राप्त कर लेंगे !

अपने उन्हीं गुणों के कारण राम उन्हें (सुमित्रा को) सूर्य के भी सूर्य, अग्नि के भी अग्नि, प्रभु के भी प्रभु, श्री की भी श्री, कीर्ति की भी कीर्ति और क्षमा की भी क्षमा के समान दीख पड़ते हैं :

"दैवतं देवानां च भूतानां भूत सत्तमः। तस्य के ह्यगुणा देवि वने वाप्यथवा पुरे ॥"

कितना मार्मिक प्रश्न है यह—'जो (राम) देवताओं का भी देवता है, प्राणियों का भी प्राण है, वह वन में रहे या नगर में—अन्तर क्या है उस महत्प्राण के लिए ? फिर कौसल्या देवी उन्हें (राम को) जंगल में देखकर इतनी व्याकुल क्यों हो रही हैं ?

श्री और शौर्य के रूप में जब सीता और लक्ष्मण उनकी सेवा में निरत हैं ही, तो यह पृथ्वी का राज्य कहाँ जाएगा—वह तो उन्हें मिलकर ही रहेगा। फिर उनकी माँ होकर वह यों रोती-कलपती क्यों हैं ?

कौसल्या के सामने तो अभी, एक बड़ा ही महत्त्व-पूर्ण कर्तव्य खड़ा है, जिसकी ओर सुमित्रा उनका ध्यान आकृष्ट करती हैं राम-माता का महत्त्व बता कर :

"दुःखजं विसृजत्यश्रु निष्क्रामन्तमुदीक्ष्ययम्। अयोध्यायां जनः सर्वः शोक वेग समाहतः ॥"

कौसल्या राजरानी हैं, राम की माता हैं, फिर वह अयोध्या के उस जन-समुदाय की ओर क्यों नहीं ममता से देखती हैं, 'माता' के पद से उन्हें धीरज क्यों नहीं बँधाती हैं—हाय, राम और सीता को वन जाते देखकर यह जन-समुदाय शोकाकुल होकर किस तरह आँसू बहा रहा है ! और जिसके वियोग में इतने जन अश्रु-विगलित हो रहे हैं, उन महाभाग्यशालियों के लिए क्या उनकी माता को यों कातर होना शोभा देता है ? वह क्यों नहीं सोचती हैं कि जिनके आगे-आगे शौर्य का प्रतीक लक्ष्मण चल रहा है, और जिनके पीछे-पीछे श्री-रूपिणी सीता चल रही हैं, उन राम के लिए वह महीयसी देवी यों दैन्य की मूर्ति क्यों बन रही हैं ? वह अपने को यों शोकाकुल, यों दीना-हीना, यों अभागिनी क्यों दिखा रही हैं ? अरे, उनके (कौसल्या के) समान संसार में भाग्यशालिनी नारी दूसरी कौन है ? राम के समान जिसके दृढ़व्रती पुत्र हों, वह यों हीन-भावना से ग्रसिता है ! अपने उस पुत्र के बल-पराक्रम पर उनका विश्वास क्यों न दृढ़ होता है ? अपने इस सौभाग्य पर उनकी आस्था अटल क्यों न होती है ? सुमित्रा की बात पर वह विश्वास रखें—वह गहरी दृष्टि से देखकर भविष्य-वाणी करती हैं, कौसल्या इसे गाँठ बाँध लें :

"निवृत्त वनवासं तं द्रष्टासि पुनरागतम्। जहि शोकं च मोहं च देवि सत्यं ब्रवीमिते ॥"

शोक और मोह छोड़कर कौसल्या इन नगर-निवासियों को समझाएँ-बुझाएँ; क्योंकि वह ऐसे पुत्र की माँ हैं जिनके समान सत्पुरुष कोई कहीं दीखता नहीं है सुमित्रा को :

"नार्हा त्वं शोचितुं देवि यस्यास्ते राघवः सुतः। नहि रामात्परो लोके विद्यते सत्पथे स्थितः ॥"

सुमित्रा के इस कथन में कवि की राम के प्रति निभृत भावनाएँ ही बोलती दीख रही हैं। बड़ी ही सूक्ष्म दृष्टि से कवि ने इसके लिए पात्र का चुनाव किया है। सुमित्रा से बढ़कर शान्त, सौम्य, संयत और शुचि पात्र उसे और कहाँ मिलता जो इस कल-कोलाहल के बीच तटस्थ रहकर राम को यों परख सकता ?

कौसल्या को ऊँचा उठाने के 'मानस' के कवि ने जो अनूठे प्रयत्न किए हैं, हम देख आए हैं। सुमित्रा के प्रति उनकी वह आतुरता नहीं दीखती है, लेकिन जो भी कथन उनके सम्बन्ध में हुए हैं, वे उन्हें (सुमित्रा को) श्रद्धास्पद स्थान पर ही ले जाते हैं। आदिकवि ने तो निश्चित रूप से सुमित्रा को कौसल्या से श्रेष्ठ स्थान दिया है। वाल्मीकि रामायण के विशेषज्ञ तथा व्याख्याता श्रीयुत वी० एस० श्री निवास शास्त्री ने एक जगह दोनों देवियों की तुलना में जो कुछ कहा है, वह बड़ा ही मनोज्ञ है ?

"You won't find in the character of Kausalya the same salient points that you find in Sumitra. This is a well-developed character that challenges your notice. But Kausalya was a good, ordinary woman, a very good woman in her way, but just human-minded woman with all the faults of our mothers our sisters, with all their good qualities. But her greatness consists in her having been the mother of Rama. She is distinct from Sumitra in this one way. Sumitra, although the younger wife and attached to her very much, is of a different character altogether. Her calibre is higher. She seems to have developed spiritually better, and, as I have told you once before, she is the only person in the whole entourage of Sri Rama who really understood his character and appreciated it at the highest. The others thought that he was making some-bad mistakes, some blunders, that he was dwelling some where in an unpractical sphere. Sumitra is however the only one who understood him thoroughly and...remember that some of the finest sayings in the Poem, some of the noblest sentiments, are put in the mouth of Sumitra."

(From 'Lectures on the Ramayan')

सुप्रसिद्ध शास्त्रीजी कौसल्या की अपेक्षा सुमित्रा को अधिक विकसित बताते हैं। उनका यह भी संकेत है कि सुमित्रा और सीता को छोड़कर तत्कालीन समाज में शायद ही किसी ने राम के कार्यों को ठीक समझा हो—जिसका दिग्दर्शन हम कर आए हैं।

सचमुच सुमित्रा ने जो दृष्टि पाई थी, अपने को उन्होंने जिस पारदर्शी मानस-भूमि में सुस्थित कर लिया था, घोर आँधी-तूफान में भी वह कभी कहीं डिगती नहीं दीखीं। राम के साथ जाने का उन्होंने कोई आग्रह नहीं किया, पर मन और आत्मा से उन्होंने उनका जैसा साथ दिया, सीता को छोड़कर और कौन उनकी समता कर सकता है ? लक्ष्मण तो आखिर उन्हीं की भेंट थे !

कवियों ने इस अनमोल रत्न को और अधिक खराद पर क्यों न चढ़ाया—इसे और अधिक क्यों न चमकाया—परिताप होता है !

अभिशाप-ग्रस्ता अहल्या

"मुनि श्राप जो दीन्हा, अति भल कीन्हा;"

—तुलसी

... ...

"मुनिवेषं सहस्राक्षं विज्ञाय रघुनन्दन।
मतिं चकार दुर्मेधा देवराज कुतूहलात्॥"

—आदिकवि

... ...

"मैं जानती हूँ कि तुम इन्द्र हो; अंदर चले आओ।'

—'रंगनाथ रामायण'

"आश्रम एक दीख मग माहीं" :

विश्वामित्र के यज्ञ की रक्षा करके राम-लक्ष्मण महामुनि के साथ मिथिला की राजधानी जनकपुर की यात्रा कर रहे थे। रास्ते में उन्हें एक सूना आश्रम दीख पड़ा, जहाँ :

"खग मृग जीव जंतु तहँ नाहीं।"

आदमी को कौन कहे, पशु-पक्षी भी नहीं दीख पड़ते थे। राम को कुतूहल हुआ, और उन्होंने अनुभवी मुनि से उसके बारे पूछ-ताछ की। मुनि ने सारी कथा कह कर राम से अनुरोध किया :

"गौतम नारि श्राप बस उपल देह धरि धीर। चरन कमल रज चाहती कृपा करहु रघुबीर॥"

गौतम मुनि की पत्नी यहाँ शाप-ग्रस्ता है और पत्थर की देह वाली बन कर बड़ी धीरता से राम के चरणों की धूलि की याचना कर रही है। राम उसके प्रति कुछ दया दिखाएँ।

मुनि का अनुरोध राम ने मान लिया और उस आश्रम में प्रवेश किया। उनके चरणों का स्पर्श करते ही मुनि-पत्नी का सारा शोक दूर हो गया और वह तपः-पुंज बनकर उनके सामने खड़ी हो गई। अपने सामने दिव्य राजकुमार को खड़े देख-कर उपल से खिले उत्पल की भाँति, उसने हाथ जोड़ लिए और प्रेम से पुलकित होती आकुल हो उठी; सहसा उसके मुख से कोई बात न निकली—वह केवल आँखों से आँसू बहाती उनके चरणों में पड़ गई। कुछ धीरज आने पर उसने अनुताप-भरे स्वर में उनकी स्तुति की और इस अपूर्व योग को अपना परम सौभाग्य माना। वह अपने को एक अपवित्र नारी कहती है और रामचन्द्र को 'जग-पावन' बनाती है। फिर 'पाहि-पाहि' करके उनकी शरण चाहती है। गौतम मुनि (उसके पति) ने उसे जो शाप दिया, उसे वह 'शुभ' मान कर परम कृतज्ञ होती है; क्योंकि उसी के फल-स्वरूप तो आज वह राम के चरणों में पहुँच सकी है :

"मुनि श्राप जो दीन्हा अति भल कीन्हा परम अनुग्रह मैं माना।"

वह बार-बार विनय करके अपने को 'मतिभोरी' बताती है और उनसे एक अनूठा वर चाहती है :

"पद कमल परागा रस अनुरागा मम मन मधुप करै पाना।"

उसका मन तो मधुप है ही; तभी तो फूलों पर उड़ता फिरा था; लेकिन उन

फूलों ने उसे रस कम दिया, काँटे ही ज्यादा चुभोए ! इसलिए अब वह इस 'मधुप' को वह राम के ही चरण-कमल में बिठा देगी, जिससे रस-पान में कोई कुण्ठा उसे न सताए—क्षण-भंगुर ओस-कणों को भूल कर अनन्त और अगाध रस में मग्न हो जाए !

ठीक, जिसकी जैसी प्रवृत्ति, उसकी वैसी भक्ति।

राम ने अपना परम पावन पद उसके सिर पर रखा, इससे बढ़कर उसका सौभाग्य और क्या हो सकता था ? यों राम की कृपा से वह (गौतम-नारी) पतिता पत्नी पुनः पति को प्राप्त कर सानन्द अपने पति-लोक चली गई।

तुलसी ने यही संक्षेप कथा कही है 'मानस' में, किन्तु आदिकवि वाल्मीकि ने उसे कुछ खोल कर कहा है, जो अत्यधिक मर्म-स्पर्शी है। आश्रम में आकर राम ने गौतम-पत्नी का जो रूप देखा, वह हृदय-विदारक था :

"ददर्श च महाभागां तपसा द्योतित प्रभाम्। लोकैरपि समागम्य दुर्निरीक्ष्यां सुरासुरैः ॥
प्रयत्नान्निर्मितां धात्रा दिव्यां मायामयीमिव। धूमेनाभिपरीताङ्गीं दीप्तामग्नि शिखामिव ॥
सतुषारावृतां साभ्रां पूर्णचन्द्रप्रभामिव। मध्येऽम्भसो दुराधर्षां दीप्तां सूर्य प्रभामिव ॥"

मुनि-पत्नी अहल्या बहुत वर्षों से 'दुर्निरीक्ष्या' बनी हुई थी—आश्रम के सघन लता-गुल्मों में छिपी रही, जिससे उसे कोई देख न सके। बड़ी दृढ़ता और कठोरता के साथ उसने अपनी वह प्रतिज्ञा निभाई—किसी को अपना मुँह नहीं दिखाया (उसका पाप ही ऐसा था !)। किन्तु राम के प्रवेश करते ही उसी तरह चमक उठी, जैसे बादलों में छिपा चन्द्रमा चमक उठता है, जैसे धुएँ से आच्छादित ज्वाला सहसा दमक उठती है, जैसे सूर्य का प्रतिबिम्ब ऊर्मिल पानी में प्रतिभात हो उठता है।

वाल्मीकि के राम उस प्रभा-पुंज अबला के पाँव पकड़ लेते हैं—तुलसी की भावना ने राम को झुकने नहीं दिया है; किन्तु आदिकवि का वचन है :

"राघवौ तु तदा तस्याः पादौ जगृहतुर्मुदा।"

विश्वामित्र यहाँ राम से अहल्या की पूरी कहानी भी कह देते हैं; कैसे वह महातेजस्वी गौतम के साथ उस आश्रम में रहती थी, कैसे उसके अनन्त ऊर्मिल यौवन पर मुग्ध होकर देवराज इन्द्र एक दिन ताक में लगा रहा; और जैसे ही मुनि ब्राह्म-मुहूर्त में उठ कर स्नान करने गए, वह लोलुप उनका (मुनि का) वेश बनाकर आश्रम में घुस आया और उस 'ऋतु-मती' पत्नी से भोगेच्छा प्रकट करने लगा; फिर कैसे वह मूढ़ नारी :

"मुनिवेषं सहस्राक्षं विज्ञाय रघुनन्दनः। मतिं चकार दुर्मेधा देवराज कुतूहलात् ॥"

यह जानते हुए भी कि यह छलिया इन्द्र है, उसने उसकी बात मान ली, और कैसे फिर अपना सतीत्व सौंपकर उसे सन्तुष्ट कर दिया। कवि ने उसे 'दुर्मेधा' की उपाधि दी है और उसके इस पतन का एक मनोवैज्ञानिक कारण दिया है—'देवराज

कुतूहलात्'—अर्थात् स्वर्गाधिप उसके सौन्दर्य पर मुग्ध होकर उसकी कुटिया में याचना करने आया है, भले ही वह याचना सतीत्व ही की क्यों न हो। वह 'कुतूहल' बहुत कुछ कहता जान पड़ता है—नारी की चंचल प्रकृति, उसका सौन्दर्य-गर्व, उसके यौवन की अतृप्त उकसाहट—सब कुछ प्रतिबिम्बित हो जाते हैं उस एक शब्द में।

कवि ने भोगानन्तर दोनों के हास-परिहास, तृप्ति-सन्तुष्टि, संकोच और भय का भी स्पष्ट उल्लेख कर दिया है। रति-परितृप्ता नारी उस लम्पट से अपनी आन्तरिक कृतार्थता भी बताती है :

"कृतार्थास्मि सुरश्रेष्ठ गच्छ शीघ्रमितः प्रभो। आत्मानं मां च देवेश सर्वथा रक्ष गौतमात् ॥"

इन्द्र को वह शीघ्र भाग जाने की सलाह देती है, जिससे दोनों की रक्षा हो गौतम के क्रोध से। वह लम्पट यह सुनकर हँसते हुए बोला :

"सुश्रोणि परितुष्टोऽस्मि गमिष्यामि यथागतम्।"

परितुष्ट है वह, और जैसे आया है, चला भी जाएगा—ऐसा कह कर जैसे वह व्यभिचारी आश्रम से निकला कि स्नान से लौटे हुए महातेजस्वी मुनि से जा टकराया। अब जो दृश्य उपस्थित हुआ उस कुटीर-द्वार पर, कवि भी दंग दीखता है!

गौतम का डर तो उस स्त्री-लोलुप के मन में था ही, भागने की जल्दी में उसने वह नकली वेश भी नहीं बदला था। मुनि ने इस कुचक्री को देखा और वह तेज-पुंज पुरुष रोष और द्वेष से भर गया :

"मम रूपं समास्थाय कृतवानसि दुर्मते। अकर्तव्यमिदं यस्मा द्विफलस्त्वं भविष्यसि ॥"

कोई कितना भी बड़ा क्यों न हो, जब वह अकर्म ही नहीं, 'कुकर्म' भी करने लग जाता है, तब वह दुर्गति से पीछा कैसे छुड़ा सकता है? इन्द्र की सर्वत्र पूजा होती थी, अब वही गौतम के शाप से निर्वीर्य हो जाता है, और अपना काला मुँह लेकर भाग खड़ा होता है।

मुनि की क्रुद्ध दृष्टि फिर उस अविश्वासिनी नारी की ओर घूमती है और वह उसे भी घोर दण्ड दे देते हैं :

'जाओ, भ्रष्टे! अब वाताहार करो या निराहार रहो, भस्म-शायिनी बनकर जलो-तपो, सबसे मुँह छिपाकर इस आश्रम में अदृश्य बनी रहो :

"वात भक्षा निराहारा तप्यन्ती भस्मशायिनी। अदृश्यासर्वभूतानामाश्रमेऽस्मिन्वसिष्यसि ॥"

ऐसा दण्ड देकर मुनि तपस्या करने हिमालय की ओर चल देते हैं और वह अभागिनी नारी धूल फाँकती वर्षों उस आश्रम में छिपी रह जाती है। कोई उसकी ओर आँख उठाकर भी नहीं देखता है। वह अनुताप और सन्ताप में जलती निराधार और निर्जन जीवन बिताती है कुष्ट-रोगिणी की तरह अस्पृश्या होकर। सामाजिक व्यवस्था की अवहेलना करने वाली उच्छृंखल स्त्रियों को समाज ऐसा ही दण्ड देता आया

है। उसके रस-लोलुप देवराज की दृष्टि भी अब उस पति-परित्यक्ता की ओर नहीं उठती है!

हाय नारी, तुम्हारी क्षणिक लालसा ने तुम्हें कैसा कठिन कारावास दिया—कैसा जड़-पत्थर बनाकर छोड़ दिया!

तुलसी की सुरुचि ने इस लोक-ख्यात कथा को खोलकर नहीं कहा—केवल सूक्ष्म संकेत देकर उसके तपोनिरत उज्ज्वल रूप को ही सयत्न परिमार्जित करके हमारे सामने रहने दिया है। लेकिन जगह-जगह इस 'मुनि-पत्नी' की चर्चा करके 'मानस' के उस मराल ने कुछ मखौल भी उड़ाया है। राम जब केवट से नाव माँगते हैं, तब वह भी अपनी 'तरनी' की तुलना इसी 'मुनि-घरनी' से कर बैठता है।

"छुअत सिला भई नारि सुहाई। पाहन तें न काठ कठिनाई॥
तरनिउ मुनि घरिनी होइ जाई। बाट परइ मोरि नाव उड़ाई॥"

मुनि की पत्नी उपलदेह वाली हो गई थी, राम के चरणों के स्पर्श से वह फिर सुन्दरी बनकर पति-लोक चली गई, तब उस केवट की नाव तो पत्थर की नहीं थी—उससे भी कोमल काठ की थी: फिर उसके उड़ने में तो कोई शंका उठनी ही नहीं चाहिए!

एक गँवार केवट भी व्यंग्य बरसाता है उस मुनि-पत्नी के ऊपर!

'कवितावली' में भी एक जगह ऐसा ही हास-प्रसंग खिल उठा है:

"बिंध के बासी उदासी तपो ब्रतधारी महा बिनु नारि दुखारे।
गौतमतीय तरी तुलसी सो कथा सुनि भे मुनिबृंद सुखारे॥
ह्वै हैं सिला सब चन्द्रमुखी परसें पद मंजुल कंज तिहारे।
कीन्हीं भली रघुनायक जू करुना करि कानन को पगु धारे॥"

यहाँ कोई गँवार नहीं, विन्ध्याचल के महामहिम मुनि-महात्मा ही राम के शुभागमन से खुश हैं; और वे इस आशा में हैं कि अब उनका कामिनी-कष्ट दूर हो जाएगा, गौतम की भाँति वे भी एक-एक नयनाभिराम नारी पा जाएँगे; क्योंकि शिलाओं की क्या कमी थी उनके उस विन्ध्य पहाड़ पर!

हाय अहल्या, दुष्ट देवराज को तो कोई नहीं पकड़ता, पर तुम संयमशील मुनि-महात्माओं के बीच भी यों हास-परिहास की पात्री बन जाती हो! याद रखो, तुम सन्नारी ही नहीं, एक पूज्य-पाद पुरुष की पत्नी भी थी, इसीलिए तुम्हारा यह पतन इतना अखर गया पद-प्रतिष्ठा वाले लोगों को। काले कम्बल के बड़े-बड़े दाग भी किसी की नजर में नहीं चढ़ते हैं, पर सफेद कपड़े पर की एक नन्ही बिन्दी भी सहसा अंगार-सी चमक उठती है!

इसलिए परिष्कृत रुचि वाले कवि ने तुम्हारे पतन की कथा कम कही है, उसने उल्लास के साथ उद्धार का ही अधिक उद्घोष किया है।

सामाजिक पृष्ठभूमि पर रख कर अहल्या को परखा जाए, तो स्पष्ट हो जाता है

कि यह बेमेल ब्याह की मर्म-स्पर्शी कथा है। गौतम और अहल्या मिथिला के सत्कुलीन पति-पत्नी हैं—जहाँ बहु-विवाह, बाल-विवाह और वृद्ध-विवाह पहले कुलीनता के चिह्न माने जाते थे। कुलीन पुरुष पहले एक-दो क्या, सतरह-अठारह तक शादी कर लेता था। अहल्या भी उसी गर्हित सामाजिक प्रथा की वेदी पर चढ़ कर गौतम मुनि के पास पहुँची थी। इधर गौतम कुलीन और वृद्ध थे, और उधर अहल्या अल्हड़ यौवन के आँगन में खेलने वाली परम रूपवती बाला थी। उसके ऊपर गौतम तपस्वी भी ठहरे; अतएव निर्जन में खिले अहल्या के यौवन-पुष्प की सुरभि से लावण्य-लोल देवराज का मन चंचल हो जाए, तो इसमें आश्चर्य ही क्या!

लेकिन हमारे कवि को पतन की कथा कहने में कोई दिलचस्पी नहीं दीखती है, वह तो उसके उद्धार के दिव्य सौन्दर्य पर ही मुग्ध दीखता है, साथ ही वृद्ध-विवाह—सो भी मुनि-महात्माओं के विवाह से—वह कुछ चिढ़ा हुआ अवश्य प्रतीत होता है। इसीलिए जगह-जगह 'मुनि-घरनी' कहकर उसने सफेद दाढ़ी-मूछों के साथ कुछ व्यंग्य-विनोद का मिश्रित स्वाद भी लिया है।

अहल्या रूप और यौवन की मधु-गन्ध से खुद उन्मत्त दीखती है। गौतम बूढ़े और विरक्त पुरुष थे। अहल्या का वह अनुपम यौवन-कुसुम अनपेक्षित भाव से उस आश्रम में खिला और दीर्घकाल तक उपेक्षित रह गया—गौतम को तो उस ओर देखने की न फुर्सत थी, न रुचि ही रह गई थी। अहल्या भी कुछ-कुछ अबोध ही जान पड़ती है अपनी गन्ध-मुग्धता और सौन्दर्य-सुषमा से। सुषमा की ऊष्मा उसे कुछ उन्मन अवश्य किए रहती है, पर वह चंचल नहीं दीखती है उसकी उकसाहट से। उसका सौन्दर्य-सागर उमड़ता-गरजता है जरूर, पर कूल-किनारा नहीं छोड़ता है। वह सतीत्व का सहज धर्म पहचानती है और सहज भाव से उसके साथ खेलती रहती है—जैसे कोई अबोध शिशु साँप के साथ खेले।

ताक-झाँक में लगा लम्पट इन्द्र जब उसके पास पहुँचता है, तब उसका वह यौवन-पुष्प अपने पर्णोंको सहज भाव से खोले हुए था। वह ऋतुमती थी और इन्द्र इसी कुसमय में उसके सामने आ खड़ा होता है—सो भी गौतम का वेश बनाकर! लेकिन अहल्या अपने पति की रुचि तथा प्रवृत्ति से पूर्ण परिचित थी। अतः वह उस छल-छद्म को तुरत पहचान जाती है, पर तब तक वह भोग की भूख से बेचैन भी बन जाती है; और उसकी विवशता उसे प्रलोभन के पास में ढकेल देती है।

अहल्या का वह पतन सहज और स्वाभाविक दीखता है। एक ओर अन्धा समाज उसे एक बूढ़े-विरक्त के गले में बाँध देता है, दूसरी ओर उसका अन्धा यौवन उसे हरदम एक अगम्य इंगित से उकसाता आ रहा था, तीसरी ओर एक कामान्ध पूज्य-पुरुष उसके पीछे पड़ गया था—जिसकी धाक धरती-आकाश सर्वत्र फैली हुई थी; और जो देवेन्द्र उसी के पति का रूप धारण कर उसे खींच रहा था अपनी ओर!

अहल्या एक साधारण अबला थी, इतनी विरोधी शक्तियों से लड़ने की न उसमें शक्ति थी, न सुविधा थी; और न वैसी कोई विशेष शिक्षा-दीक्षा ही उसे दी

गई थी। अतः सब कुछ जान-बूझ कर भी उसकी आकुलायित आँखें उन्मन भाव से बन्द हो गईं; उसके पाँव फिसले, और थोड़ी देर उस फिसलन का ही स्वाद लेती वह गहन गर्त में जा गिरी और एकाएक अदृश्य हो गई !

राम ने अपने युग के एक महान् क्रान्तिकारी मुनि से मन्त्र ग्रहण करके 'ताड़का' नामक एक अत्याचारी नारी का नाश कर दिया था। और अब उन्हीं के अनुरोध से वह एक पतिता 'पत्नी' का उद्धार करने पधारे, जो कई तरह के अभिशापों से घिर कर जड़-पत्थर हो रही थी !

विश्वामित्र इन मामलों के अच्छे जानकार थे, उनका अपना अनुभव भी इस दिशा में कम विशाल नहीं था और वह समाज में क्रान्ति-भावना के अग्रदूत भी रहते आए थे। अतः राम को प्रेरित करके वह उन्हें अहल्या के उस उजड़े आँगन में ले आए—जो एक समाज-बहिष्कृता का उपेक्षित, तिरस्कृत तथा अस्पृश्य आँगन था।

राम ने ताड़का-वध में अपनी शक्ति का परिचय दे दिया था, अब यहाँ उन्हें अपने शील का परिचय देना था—एक जड़-हृदय में चेतन-संजीवन-फूँकना था। राम अपने इस अभियान में भी पूर्ण सफल हुए—उन्होंने अपने दिव्य प्रबोध से उस अनुतप्ता एवं अभिशाप-ग्रस्ता अबला की समस्त जड़ता दूर कर दी, उसमें नवजीवन का संचार कर दिया और समझा-बुझाकर दोनों पति-पत्नी में मेल भी करा दिया। समाज की स्वीकृति भी उन दम्पती को सहज ही प्राप्त हो गई; क्योंकि मुनि का मन्त्र और राम की शक्ति दोनों अमोघ साबित हो चुके थे।

इस अहल्या-उद्धार से एक ओर जहाँ सामाजिक सुधार की भावना दृढ़ हुई, वहाँ भक्ति का पथ भी परिष्कृत हुआ; और मुनि-महात्माओं के ऊपर विमल व्यंग्य भी बिखरता रह गया।

नारी में रूप और यौवन का सबसे बड़ा अभिशाप होता है। उस अभिशाप से नारी सहज ही जड़ बन जाती है—समझ-बूझ की उसकी सारी चेतना नष्ट हो जाती है। दूसरा अभिशाप होता है उसका ज्ञान-गर्व—अपने रूप-माधुर्य की पहचान और उसका स्वाद-सन्तोष। तीसरा अभिशाप होता है लम्पटों के लोल लोचन—जो उसके अनजान में भी उसके पाँव खींचते रहते हैं। चौथा सबसे बड़ा अभिशाप होता है उसके प्रति उसके समझदार पति की उपेक्षा (पति बूढ़ा ही क्यों न हो)।

अहल्या इन्हीं अभिशापों से घिर कर जड़ बन गई थी : महामुनि विश्वामित्र ने राम के द्वारा उसकी वह जड़ता दूर करवा दी; क्योंकि तब तक दीर्घ अनुताप ने अहल्या को अपनी आग में तपाकर उज्ज्वल भी बना दिया था। पत्नी की इस भारी भूल को उसका उदार पति सहज भाव से भूल जाए, और अनुताप की आग से शुचि बनी उस नारी को पुनः अपनी संगिनी बन जाने की एक और सुविधा दे—राम का यही सत्प्रयत्न यहाँ परिलक्षित होता है।

'अहल्या-उद्धार' राम का सबसे बड़ा सामाजिक क्रान्ति का कदम दीख पड़ता है। उनके 'पतित पावन' अभियान की सीढ़ी यहीं से शुरू हो जाती है।

बुद्धिमती तारा

"रम्ये नगेन्द्रस्य तटावकाशे विदेहकन्या रहितो यथा त्वम्।
त्वं वेत्थ तावद्वनिता विहीनः प्राप्नोति दुःखं पुरुषः कुमारः॥"

... ...

"न च रोषवशं तात गन्तुमर्हसि लक्ष्मण।
निश्चयार्थमविज्ञाय सहसा प्राकृतो यथा॥"

—आदिकवि

"गहि कर चरन नारि समुझावा" :

वाल्मीकि रामायण के अनुसार तारा सुषेण नामक वानर की कन्या थी और वीरवर बालि की पटरानी। महाबली बालि उसे बहुत भली और बुद्धिमती मानता था। प्यार भी करता था, पर उसकी सलाह पर कम चलता था। लेकिन बुद्धिमती तारा सलाह देने से कभी बाज नहीं आती थी।

संयोग ऐसा हुआ कि बालि का अपने छोटे भाई सुग्रीव से वैर ठन गया और बड़े भाई ने सुग्रीव को घर से निकाल ही नहीं दिया, उसकी पत्नी 'रुमा' पर भी अधिकार कर लिया।

इधर सीता-हरण के बाद राम और सुग्रीव में सहज मित्रता स्थापित हुई और दोनों परस्पर मदद करने के सत्संकल्प में बँध गए। राम ने बालि-वध की भीषण प्रतिज्ञा की और तत्संबन्धी अपनी शक्ति का पुष्ट प्रमाण देकर सुग्रीव को सन्तुष्ट कर दिया।

राम के अनुरोध से सुग्रीव अपने बड़े भाई से लड़ने गया, पर हार कर भाग आया और राम को उलहना देने लगा—'व्यर्थ क्यों पिटवाया मुझे?' रामने समझा-बुझा कर उसे दूसरी बार उसके गले में लता डाल कर भेजा, जिससे वह दूर से पहचाना जा सके।

उसकी ललकार सुनकर जब बालि बौखला उठा, तभी तारा ने उसे धीरे-धीरे बहुत समझाया-बुझाया। यहीं से तारा की बुद्धिमत्ता सामने आने लगती है। लेकिन बल के गर्व में अन्धा बना वह बालि तारा की चेतावनी तथा सीख पर कोई ध्यान नहीं देता है, और राम के बाण से मारा जाता है। उस समय तारा का विलाप बड़ा ही व्याकुल करने वाला होता है। उस शोकाकुला अवस्था में राम पर वह एक मर्म-विदारक आक्षेप भी कर बैठती है :

"अस्थाने वालिनं हत्वा युद्धमानं परेण च। न संतप्यति काकुत्स्थः कृत्वा कर्म सुगर्हितम्॥"

अरे, दूसरे के साथ युद्ध करते हुए बालि को जो उन्होंने मारा, अपने इस अनुचित कर्म पर क्या उन्हें (राम को) अनुताप-सन्ताप नहीं होगा?

तारा बालि के शोक में मर जाना चाहती है, हनुमान के कहने-सुनने पर भी राज्य नहीं लेती है और न अपने पुत्र को ही सिंहासनासीन करने को तैयार होती है। वह राम से अनुरोध करती है कि वह (राम) उसे भी मार दें—जिससे वह (तारा) बालि के पास पहुच जाए।

वहाँ भी सीता की याद दिला कर वह एक चुटीली बात कह देती है :

"रम्ये नगेन्द्रस्य तटावकाशे विदेहकन्या रहितो यथा त्वम्।
त्वं वेत्थ तावद्वनिताविहीनः प्राप्नोति दुःखं पुरुषः कुमारः॥"

जिस प्रकार सीता के बिना राम पर्वत-प्रान्तर में परितप्त होते हैं। क्या तारा के बिना बालि भी दुःखित नहीं होगा ? कुमार (युवा) पुरुष स्त्री के बिना जो दुःख पाता है, उसे राम क्या नहीं जानते हैं ? राम मार डालें उसे—चिन्ता न करें कि तारा के वध से उन्हें स्त्री-हत्या का दोष लगेगा; नहीं, वह उसे बालि की आत्मा ही मान कर मारें !

तारा की बुद्धिमत्ता का सबसे सुन्दर निदर्शन वहाँ होता है, जहाँ राम की वेदना-व्यथा से उद्वेलित होते लक्ष्मण सरोष सुग्रीव के राज-द्वार पर जा धमकते हैं; और भोगासक्त वानर-राज सुग्रीव यह सब सुनकर स्तब्ध रह जाता है। वह अपनी भोग-लालसा के लोल सागर में आपादमस्तक डूबा हुआ था; आँख मलते वह उठता है और तारा को ही लक्ष्मण के पास भेज देता है। उसे विश्वास होता है कि तारा अपनी बुद्धि-चातुरी से क्रुद्ध रामानुज को प्रसन्न कर देगी। बात भी वही हुई। तारा को देखते ही लक्ष्मण संकोच में पड़ गए और उनका आधा गुस्सा उसी समय गायब हो गया। आते ही तारा ने कहा :

"न कोपकालः क्षितिपालपुत्र न चापि कोपः स्वजने विधेयः।"

क्रोध करने का यह समय नहीं है, और अपने आदमी पर क्रोध किया भी नहीं जाता है। सुग्रीव उनका 'स्वजन' है, उसका अपराध लक्ष्मण क्षमा करें : सब का कर्तव्य यद्यपि वह जानती है, फिर भी वह स्पष्ट स्वीकार करती है कि सुग्रीव अभी तक भोगासक्त था और कामान्ध पुरुष अर्थ-धर्म का कोई विचार नहीं रखता है। जब विश्वामित्र (जो राम-लक्ष्मण के ही मंत्रदाता गुरु थे) के समान महर्षि भी काम-पाश में बँधकर दस वर्ष को एक दिन मान बैठे थे, तब सुग्रीव तो चंचल प्रकृति वाला वानर ही ठहरा !

राम की कृपा से ही सुग्रीव ने उसे (तारा को) और रुमा को पाया है, पर उसकी तृषा अभी तक मिटी नहीं है।

"अवितृप्तस्य कामेषु रामः क्षन्तुमिहार्हति।"

राम उस अतृप्त को क्षमा कर दें।

फिर तारा लक्ष्मण के क्रोध को अनुचित बताती हुई कहती है कि सुग्रीव निश्चेष्ट नहीं है—सीता की खोज में वानरों को भेज चुका है।

तारा की वाक्-चातुरी का ऐसा अद्भुत प्रभाव पड़ता है कि लक्ष्मण सुग्रीव की प्रशंसा करके अपनी भूल के लिए उससे क्षमा माँगने लग जाते हैं !

हाँ, तारा बुद्धिमती है जरूर, पर सती नहीं : बालि को वह शीघ्र भूल जाती है; और सुग्रीव के साथ मद-माधुरी में मग्न हो जाती है! स्त्रियों के चरित्र का यह शैथिल्य आदिकवि को भी खटकता नहीं जान पड़ता है। शायद इसमें तत्कालीन सामाजिक प्रथा का कोई सरल औदार्य छिपा हुआ हो।

तुलसीदास की 'तारा' राम के उपदेश से भक्ति-पथ पर आरूढ़ हो जाती है। कवि जान-बूझ कर उस बुद्धिमती के चरित्र पर कोई प्रकाश नहीं डालता है।

मन्दभाग्या मन्दोदरी

"तव कुल कमल बिपिन दुख दाई।
सीता सीत निसा सम आई॥"

... ...

"कह रावनु सुनु सुमुखि सयानी।
मंदोदरी आदि सब रानी॥
तब अनुचरीं करउँ पन मोरा।
एक बार बिलोकु मम ओरा॥"

—तुलसी

... ...

"Or did that hero's conscious darts believe
That love for Janaki might yet remain
Concealed within that handsome fram, and did
They probe for it, o'er every needle-point
Of space therein ?"

—Kamban

... ...

"त्वया पुनर्नृशंसेन सीतां संरुन्धता बलात्।
राक्षसा वयमात्मा च त्रयं तुल्यं निपातितम्॥"

—आदिकवि

"परम सुंदरी नारि ललामा" :

मन्दोदरी लोक-प्रसिद्ध 'मयदानव' की परम रूपवती बेटी थी। वही लंकेश्वर रावण से ब्याही गई। यद्यपि वह बड़ी भली औरत थी, पर रावण की काम-वासना उससे भी कहीं बढ़ी-चढ़ी थी; इसलिए उसे महारानी बनाकर भी वह उसकी सौन्दर्य-सीमा में अपने को संयत न रख सका :

"देव जच्छ गन्धर्व नर किंनर नाग कुमारि।
जीति बरीं निज बाहुबल, बहु सुंदर बर नारि॥"

मन्दोदरी ने जब रावण की यह विराट् भोग-लालसा देखी, तब वह दंग और मर्माहत रह गई। उस राजरानी का मान-भंग हुआ और उसका मन मूर्च्छित हो गया। उच्छृंखल और उद्दाम पति के सामने एक भली-भोली नारी की और क्या दशा होती! उसका उमंग-भरा मन मर गया और वह जड़ बनकर सब कुछ देखती-सुनती रही।

रावण मन्दोदरी के प्रति आदर तो खूब दिखाता था, स्नेह भी करता था, पर उसकी काम-वासना की तृप्ति केवल एक उससे नहीं हो सकती थी।

बल-मद-गर्वित पुरुष कुछ ऐसा ही उद्धत हो जाता है।

जब तक वह वरदान-बलि विजय-दुंदुभि बजाता दौड़ता रहा, तब तक मन्दोदरी को विशेष चिन्ता नहीं हुई; क्योंकि वह महारानी थी और उमड़ते हुए भाग्य और भोग से घिरी हुई थी। रावण-सा दिग्विजयी पति और इन्द्रजीत-सा बलवान् पुत्र पाकर कौन नारी फूल न उठती? मन्दोदरी के तो और भी कई वीर पुत्र थे, जिन पर उसे उचित गर्व था। भोग-भाग्य की क्या सीमा थी; फिर भी अन्तर से वह सुखी न थी—रावण की उद्दाम वृत्ति के कारण वह सतत उद्विग्न रहती आई थी; और जब उसके राजमन्दिर में शोकाकुला सीता बन्दी बनाकर रखी गई, तब तो उसकी उद्विग्नता अति असीम हो गई; क्योंकि रावण ने सब के सामने घोषित कर दिया था :

"कह रावनु सुनु सुमुखि सयानी। मंदोदरी आदि सब रानी॥
तव अनुचरीं करउँ पन मोरा। एक बार बिलोकु मम ओरा॥"

जब एक बार के दृष्टि-दान से वह (रावण) मन्दोदरी के साथ सभी रानियों को उस नवागत नारी की सेविका बना देने की उतावली दिखा रहा है, अगर कहीं वह अद्भुत अङ्गना अनुकूल हो गई, तब इन रानियों की दशा क्या होगी—सोच-सोच कर मन्दोदरी मन ही मन काँप उठी और उसका मान-मन्दिर नींव से डोल उठा।

और जब दुर्गम लंका को एक तुच्छ वानर जला कर चला गया, भाई विभीषण भी उसके पति को छोड़ कर शत्रु-शिविर में जा मिला और सागर में पुल बाँधने के लिए

राम तुंग तट पर आ पहुँचे; तब दूतों ने आकर जो समाचार रावण को सुनाए, उनसे मन्दोदरी की चिन्ता बहुत बढ़ गई। वह जानती थी कि कामाकुल पति उसकी कोई भली सीख नहीं सुनेगा, फिर भी बड़ी व्यग्रता से पाँव पकड़ कर, नीति-रस में पगकर, उसने समझाया :

"कंत करष हरिसन परिहरहू। मोर कहा अति हित हियँ धरहू॥"

मन्दोदरी की बातों में रावण अपनी अमित भलाई देखे और सादर सीता को वापस कर दे। अन्यथा यह सीता उसका उसी तरह सर्वनाश कर देगी—जैसे :

"तव कुल कमल बिपिन दुख दाई। सीता सीत निसा सम आई॥"

तुषार-कणों से भरी जाड़े की रात और आँसू-उसाँसों से भरी सीता का शोकाकुल प्रतिवेश तथा बर्फ-सा उनका सर्द-कठोर रुख—यह शीत-निशा क्या रावण के कुल-कमल-वन को कुम्हलाए बिना कभी रहेगी? साम्य कितना सटीक दीखता है; और शब्द-चयन कितना मृदुल तथा मर्म-मधुर है!

अभिमानी रावण उसकी सलाह क्या सुनता? उसने व्यंग से नारी-स्वभाव तथा उसके मन की कचाई की हँसी उड़ाई :

"समय सुभाउ नारि कर साँचा। मंगल महुँ भय मन अति काँचा।"

सचमुच नारियों का स्वभाव अत्यन्त भीरु होता है, जो मंगल-कार्यों में भी भय की भावना से भर जाती हैं—भीरु नारी का मन बड़ा ही कच्चा होता है। राम की वानर-सेना लंका में आ रही है, इस शुभ समाचार से मन्दोदरी डर क्यों गई। यह तो मंगल की सूचना है—घर बैठे निशिचरों को पुष्कल आहार मिल जाएगा!

मन्दोदरी समझ गई कि मेरे पति पर विधाता वाम बन गया है—अर्थात् उसका विनाश-काल अत्यन्त आसन्न है।

"होई न तड़ित न बारिद माला" :

सागर पार उतर कर थके-माँदे राम अपने दल-बल के साथ सुवेल शैल के ऊँचे शिखर के ऊपर जा बैठे थे। सन्ध्या समय था। अंगद-हनुमान उनके श्रम-श्रान्त चरण चाँप रहे थे। उसी समय पूरब दिशा में सिंह के समान अशंक-मयंक (चन्द्रमा) उदित हुआ, जिसके काले दाग को देखकर रामचन्द्र ने अपने प्रिय-पात्रों के साथ साहित्यिक संलाप शुरू किया। फिर उन्हें दक्षिण दिशा में 'घन घमंड' और 'दामिनी विलासा' दीख पड़ा और उस ओर उन्होंने विभीषण का ध्यान आकृष्ट किया :

"मधुर-मधुर गरजइ घन घोरा। होइ वृष्टि जनि उपल कठोरा॥"

राम पहाड़ की चोटी पर खुले आसमान में बैठे थे, अतः उन्हें चिन्ता हुई—बादल मन्द-मन्द गरज रहे हैं, कहीं ओले-पत्थर तो नहीं पड़ेंगे!

विभीषण ने तुरत उनकी आशंका दूर कर दी :

"होई न तड़ित न बारिद माला।"

न वह मेघ-घटा है, न वहाँ बिजली ही चमकती है। फिर वह है क्या ? इसका समाधान वह कुछ साभिमान करता है :

"लंका सिखर उपर आगारा। तहँ दसकंधर केर अखारा॥"

लंका तो पहाड़ के ऊपर बसी हुई थी ही। सबसे ऊँची जगह पर रावण ने अपना एक अखाड़ा भी बनवा लिया था। उसका छत्र ही काली घटा-सा दीख रहा है, और :

"मंदोदरी श्रवन ताटंका। सोइ प्रभु जनु दामिनी दमंका॥
बाजहिं ताल मृदंग अनूपा। सोई रव मधुर सुनहु सुरभूपा॥"

मन्दोदरी के कानों के कर्णफूल ही बिजली की भाँति चमक रहे हैं, औरे ढोल-ताल ही मधुर गर्जन की तरह बज रहे हैं।

यहाँ मन्दोदरी का सौभाग्य कितना ऊँचा दीखता है !

लेकिन तुलसी के उदार राम को शत्रु का यह सौभाग्य सहन न हुआ, और उन्होंने छत्र-मुकुट के साथ मन्दोदरी का वह ताटंक (कर्णभूषण) भी अपने एक बाण से गिरा दिया।

हाय, आराध्य राम, यह आपने क्या किया !···और 'मानस' के मंजुल मराल को यह सह्य कैसे हुआ ?···यह मर्म और किसी को मालूम हुआ हो या न हुआ हो, पर कवि तो उससे पूर्ण अवगत दीखता है, फिर :

"मरमु न कोऊ जान"—कहने से क्या फायदा ?

"मंदोदरी सोच उर बसेऊ" :

जब से बिना कारण मन्दोदरी के कानों के वे फूल गिर पड़े, उसका सरल हृदय चिन्ताक्रान्त रहने लगा। एक अगम्य अमंगल मुँह बाए खड़ा था उसके सामने—जाने इसका क्या दुष्परिणाम होता है !

साहस करके उसने अपने पति को फिर से समझाया-बुझाया, ऊँच-नीच दिखाया और सजल नयनों से कहा :

"कंत राम बिरोध परिहरहू। जानि मनुज जनि हठ मन धरहू॥"

प्रियतम, तुम राम से विरोध करना छोड़ दो—उन्हें मामूली मनुष्य मान कर मन में कोई हठ मत पकड़ो।

भक्त कवि मन्दोदरी के मुँह से राम के विश्वरूप का ऐसा अनुपम उद्गार उपस्थित करता है कि बड़े-बड़े दार्शनिक भी उसके सामने दंग रह जाएँ :

"बिस्वरूप रघुबंस मनि करहु बचन बिस्वासु ।
लोक कल्पना बेदकर अंग अंग प्रति जासु ॥"

ऐसे व्यापक विभु के साथ वैर की भावना वह छोड़ दे और उनके चरणों में प्रणत हो जाए, जिससे कि उस नारी का सुहाग सुरक्षित रह सके—'मम अहिवात न जाइ !'

रावण, ने हँसकर कहा कि यह उसका (मन्दोदरी का) भारी अज्ञान है और उसके लिए यह स्वाभाविक ही माना जाएगा : क्योंकि वह नारी है, जिसके हृदय में आठ अवगुण बराबर बने रहते हैं। फिर वह बात बदल देता है, और राम की स्तुति में मन्दोदरी ने जो कुछ कहा था, उसे अपनी प्रशंसा मानकर उसकी (मन्दोदरी की) चतुराई की तारीफ करने लग जाता है :

"तव बतकही गूढ़ मृगलोचनि । समुझत सुखद सुनत भय मोचनि ॥"

हे मृगलोचनी, तुम्हारी ये बातें तो ऐसी गूढ़ हैं, जो समझने में सुख देने वाली और सुनने में भय को भगाने वाली हैं।

यह सुनकर मन्दोदरी को निश्चय हो गया कि उसका पति काल-पाश में फँस गया है और उसकी बुद्धि पलट गई है :

"मंदोदरि मन महँ अस ठयऊ । पियहि कालबस मतिभ्रम भयऊ ॥"

यहाँ मन्दोदरी ज्ञान के ऊँचे धरातल पर खड़ी दिखाई पड़ती है, परन्तु रावण भी तो अज्ञानी नहीं था: उसने खूब सोच-समझ कर ही यह कदम उठाया था; फिर वह हँसी-मजाक में उसकी बातें टाल देता है, तो इसमें आश्चर्य ही क्या ? कवि चिढ़कर उसे मूर्ख मान लेता है और मन्दोदरी के बदले वही कह उठता है :

"फूलइ फरइ न बेत जदपि सुधा बरषहिं जलद ।
मूरख हृदय न चेत जौं गुर मिलहिं बिरंचि सम ॥"

जैसे बादल अगर अमृत भी बरसा दे, तो क्या उससे 'बेत' फूले-फलेगा ? काव्य-जगत् में बेत कभी फूलता-फलता नहीं। उसी भाँति जो जन्मजात मूर्ख है, उसे तो विधाता भी अगर ज्ञान देना चाहें गुरु बन कर, तो भी उस मूर्ख को अक्ल नहीं हो सकती है।

मन्दोदरी का उपदेश कवि को वैसा ही महत्त्वपूर्ण दीखता है, पर बे-असर भी वैसा ही !

शायद कवि को रावण का वह संकल्प अभी भूल गया है, जो उसने शूर्पणखा से बातचीत के बाद ही किया था। और कवि का वह भूलना बड़ा भला मालूम होता है यहाँ। रावण मूर्ख तो था नहीं, पर हठी परले दरजे का था—यह तो स्पष्ट ही दीखता है।

"अब पति मृषा गाल जनि मारहु" :

मन्दोदरी रावण को प्राण-समान प्यार करती थी। इसी से बार-बार उसे समझाती है। अंगद ने सभा में आकर जैसा मान-भंग किया रावण का, उसका समाचार जब महारानी के कानों में पड़ा, तब वह घबरा उठी और रावण के घर आने पर उसने फिर उसे समझाना शुरू किया :

"कंत समुझि मन तजहु कुमतिहि। सोह न समर तुम्हहि रघुपतिहि ॥"

राम के साथ रावण का यह रण मन्दोदरी को अशोभन जँचता है—कहाँ राम, और कहाँ रावण ! उदाहरण-पर-उदाहरण देकर वह प्रमाणित करती है कि रावण राम के सामने खड़ा भी नहीं हो सकता है—लड़ना तो दूर। जनक की सभा में वह (रावण) भी तो उपस्थित था, फिर वहीं युद्ध करके राम को क्यों न हरा दिया उसने ?...

शूपर्णखा की दुर्दशा देखकर भी वह लज्जित क्यों न हुआ ? लक्ष्मण ने एक छोटी रेखा खींच दी सीता के चारों ओर, उसे तो वह लाँघ ही नहीं सका। एक बन्दर आकर सारी लंका को जला गया, और वह देखता रह गया। एक दूसरा बन्दर उसका मान-मर्दन करके अभी-अभी चला गया है, फिर किस बल से वह उस प्रभु के साथ भिड़ना चाहता है, जिसने खेल-खेल में समुद्र को बाँध दिया; और जो दल-बल के साथ आ धमका है उसके द्वार तक ! फिर राम के साथ वह समझौता क्यों नहीं कर लेता है ?...

अंगद और हनुमान् जैसे जिसके रण-बाँकुरे अनुचर हैं, उन्हें वह बार-बार सामान्य मनुष्य क्यों कहता है ? सच, काल किसी को लाठी लेकर नहीं मारता है, उसका धर्म, बल, बुद्धि और विचार हर लेता है।

रावण इस बात को साफ समझ ले :

"निकट काल जेहि आवत साईं। तेहि भ्रम होइ तुम्हारिहि नाईं ॥"

जिसका काल (मौत) पास आ जाता है, उसको इसी तरह का भ्रम होता है—प्रत्यक्ष प्रमाण पाकर भी वह उसे पहचान नहीं पाता है। नगर जला, दो-दो बेटे मारे गए, मान-मर्दन हुआ; तब भी रावण का भ्रम दूर नहीं होता है—वह राम की महत्ता नहीं समझता है !

इस कथन से एक ओर जहाँ मन्दोदरी के अपार धैर्य और उसके अगाध ज्ञान का परिचय मिलता है, वहाँ दूसरी ओर रावण के प्रति उसकी अगम्य ममता तथा कुछ मूढ़ता भी दीखने लगती है—बार-बार उसके शत्रु की प्रशंसा और अपने वीर पति की उपेक्षा के गीत गा-गाकर प्राणोपम पत्नी उसकी अन्तःशक्ति को यों क्षीण क्यों करती जाती है ? रावण का ज्ञान-गर्व तो कम नहीं है, फिर मन्दोदरी उस पहाड़ से अपना सिर क्यों फोड़ती है ?

इसका एक ही जवाब है : मन्दोदरी नारी है, और नारी की ममता और उसकी

मूढ़ता की कोई सीमा नहीं होती। मन्दोदरी की अब भी मूढ़ धारणा बनी है कि समझाने-बुझाने से रावण रास्ते पर आ जाएगा। लेकिन असर उलटा होता है, उसका हठी मन और मचल जाता है।

अफसोस! मन्दोदरी का ध्यान उस प्रतिक्रिया की ओर नहीं जाता है—वह अपनी ही दृष्टि से देखती और अपनी ही बात कहती जाती है। भक्ति-मार्ग में इसका कुछ मूल्य माना जा सकता है, पर दाम्पत्य जीवन का तो यह भारी अभिशाप ही समझा जाएगा। अफसोस, रावण की शक्ति का ह्रास, रणक्षेत्र के पहले, अपने शयन-कक्ष में ही होने लग गया था!

"मंदोदरी रुदन कर भारी":

मन्दोदरी के एक-दो बेटे पहले भी मरे थे, पर जब इन्द्रजीत भी मारा गया, तब उसके शोक का पारावार नहीं रहा। वह छाती पीट-पीटकर रोने लगी:

"मंदोदरी रुदन कर भारी। उर ताड़ति बहुभाँति पुकारी॥"

रावण ने यहाँ अपने ज्ञान का परिचय दिया और जगत् का नश्वररूप दिखाकर सब नारियों को धीरज बँधाया। कवि उसके इस उपदेश से चिढ़ जाता है और कहता है:

"आपुन मंद कथा सुभ पावन।"

इसी को अंगरेजी में—'Satan citing scriptures!' कहा जाता है।

देखो न, खुद कैसा मन्द है और उपदेश कैसा शुभ और पावन देता है! ठीक ही तो है:

"पर उपदेस कुसल बहुतेरे। जे आचरहिं ते नर न घनेरे॥"

उपदेश देने वाली मानव की सामान्य प्रवृत्ति का उल्लेख करके कवि अपनी कुण्ठा मिटाता है: दूसरों को उपदेश देना कितना सरल है—लोग उसमें कितनी कुशलता दिखाते हैं, परन्तु कितने ऐसे निकलेंगे, जो उनके अनुसार आचरण करके उपदेश की सार्थकता दिखाएँगे?

मन्दोदरी की व्यथा अब गहराने लगी—उसका मन्द भाग्य अब मुँह खोलकर उसके सामने आ खड़ा हुआ!

लक्ष्मण के साथ युद्ध करते हुए रावण विचित्र शक्तियों का उपयोग-प्रयोग करके थक जाता है, घायल होकर भी लक्ष्मण जब उसे घायल कर देते हैं और उसका सारथी उसे दूसरे रथ में डाल कर लंका ले आता है। तब वह एकान्त में यज्ञ करके नवीन शक्ति प्राप्त करना चाहता है; उस समय मन्दोदरी की जो दुर्दशा बालि-पुत्र महावीर अंगद करते हैं उसे देख वीरता ही नहीं, मनुष्यता भी सिर झुका लेती है, शर्म और संकोच भी सिर झुका लेते हैं।

रावण यज्ञासन पर ध्यान लगाए बैठा है, इतने में धर्मात्मा रामचन्द्र के विश्वासी वीरवृन्द, विभीषण के इशारे, उस एकान्त यज्ञ-गृह में पहुँच जाते हैं और आते ही लात-मुक्कों से मार कर ध्यान-मग्न उस रावण को दाँतों से भी नोचने-खसोटने लग जाते हैं। तब भी जब वह नहीं डिगता है, तब उसकी स्त्री (मन्दोदरी महारानी) को बाल पकड़ कर वे घर से घसीट लाते हैं उसके सामने और उसकी अवांछनीय छीछा-लेदर करने लग जाते हैं। रावण का धैर्य अब टूट जाता है और क्रोधानल से भभक कर वह उन यज्ञ-विध्वंसकों पर सिंह की भाँति कूद पड़ता है।

मन्दोदरी का अपमान उस वीर पति से सहा न गया।

मन्दोदरी का मन्दभाग्य यहाँ अपनी चरम सीमा पर आ पहुँचा—इससे बढ़कर उस निर्दोष नारी की अब क्या दुर्दशा होती! महारानी को ऊँचे पद से खींच कर बन्दर-भालुओं ने उसके प्रख्यात पति के सामने ही उसे बाल पकड़ कर धूल में यों घसीटा और उसकी मिट्टी पलीद कर दी।

कवि के शब्दों में :

"धरि केस नारि निकारि बाहेर तेऽतिदीन पुकारहीं।"

हाय, महारानी! तुमने क्या अपराध किया कि इस दुर्दशा की पात्री समझी गई न्याय-निष्ठ सेना-नायकों के द्वारा? उन्हें तो यज्ञ-ध्वंस करना था, पर रावण को विचलित करने के लिए उसकी निरपराधिनी नारियों की यह फजीहत क्यों? और मन्दोदरी तो बराबर राम की स्तुति और रावण की भर्त्सना ही करती आई थी, फिर राम के प्रिय अंगद ने अपनी मातृ-स्थानीया और राजरानी मन्दोदरी का ऐसा अपमान क्यों किया? बात साफ है, उन्होंने साधन की शुद्धि पर ध्यान नहीं दिया, उनका ध्यान था केवल लक्ष्य-सिद्धि पर—चाहे जिस उपाय से हो, उन्हें तो रावण का ध्यान तोड़ना था, यज्ञासन से उठाकर उसे रणक्षेत्र में दौड़ाना था।

किन्तु शुद्ध संकल्प वाले राम के उन अनुगत एवं उच्छृंखल लाड़लों पर सुसंस्कृत युग की अनामिका बराबर उठती रहेगी।

पिता के वरदान के कारण मन्दोदरी अपने वीर पति रावण के साथ सती न हो सकी; क्योंकि अमर तरुणी वह मर नहीं सकती थी। अमर तारुण्य का वह वरदान ही उसके लिए अभिशाप साबित हुआ। लेकिन उसकी वह कमी उसकी पुतोहू 'सुलोचना' ने पूरी कर दी अपने अद्‌भुत तेज और पातिव्रत्य से। 'रंगनाथ रामायण' में उसका सादर उल्लेख हुआ है। माइकेल मधुसूदन का सुप्रसिद्ध 'मेघनादवध' महाकाव्य उसी को आधार बनाकर रचा गया है।

सुलोचना (मेघनाद वध की प्रमीला) अपने पति की मृत्यु का समाचार सुन कर पहले रावण के पास रोती-पीटती जाती है। सती होने के लिए उसको अपने पतिदेव

इन्द्रजीत का शव चाहिए, सिर चाहिए, जो शत्रु-शिविर में सुरक्षित था। रावण अपनी असमर्थता दिखाता है लाकर देने में। तब वह स्वयं जाकर ले आने की अनुमति माँगती है। लाचार रावण अनुमति दे देता है।

दिव्य तेज वाली वह विधवा अकेली राम के पास पहुँचती है और उस उदार-चेता को अपने सतीत्व का अपूर्व तेज दिखा कर मेघनाद की मृतदेह प्राप्त करती है और लंका लौट आती है। तदनन्तर एक अद्भुत दर्प के साथ वह दीप्तानल में प्रवेश कर जाती है!

जाने क्यों आदिकवि भी उसका विशेष उल्लेख नहीं करते हैं?

"रहा न कुल कोउ रोवनिहारा":

मन्दोदरी के सामने अब महानाश का दृश्य आ उपस्थित हुआ। रावण यद्यपि अप्रतिम वीरता से लड़ता रहा, पर अन्त में राम के बाणों ने उसका रक्त सोख ही लिया। यह जो हुआ सो हुआ, उन विषम बाणों ने एक ऐसी क्रूरता की, जिसे देखकर किसका हृदय हहर नहीं उठेगा? रावण को रण-क्षेत्र में गिराकर राम के बाण:

"मंदोदरि आगे भुज सीसा। धरि सर चले जहाँ जगदीसा॥"

राम के बाणों ने उसके सिर और भुजाओं को मन्दभाग्या महारानी मन्दोदरी के अवलोकनार्थ उसके आगे रख आए! जरूर इसमें महामानव राम का कोई गूढ़ संकेत रहा होगा। न जाने विजयी राम के मन में प्रतिशोध की कौन-सी भावना दौड़ रही थी? क्या वह अपना दर्प मन्दोदरी को दिखाना चाहते थे—'देख नारी, तू अपने दुर्दान्त पति की दुर्दशा देख! नारी होकर भी तू ने मेरी सीता-सी नारी का दुःख नहीं समझा; और अपने पति की लगाम अपने हाथों में न रखी! उसका फल अब तू चख—जुड़ा ले अपने अश्रु-अन्ध नयन!'

किन्तु विजयान्ध रघुवर मन्दोदरी के मन की बात क्या समझने लगे? उसे तो समझा उनके भक्त कवि तुलसी ने, जिसकी उदारता के कारण, राम के अनजान में ही वह महिला मुक्ति की अधिकारिणी बन गई!

अपने वीर पति की यह दुर्दशा देख कर मन्दोदरी को जो मनस्ताप हुआ होगा, जो विकलता हुई होगी, कवि उसका यथातथ्य वर्णन कैसे करता? मूर्च्छित होना, छाती पीटना, रोना-धोना, बाल-नोचना आदि तो साधारण बातें हैं—उनसे वेदना की अगम्य गहराई का क्या पता चलेगा?

मन्दोदरी के रक्षःकुल की साथ सब नारियाँ रणभूमि में पहुँचीं और रावण के शव को घेर कर विलाप करने लगीं। विलाप करते-करते मन्दोदरी के मुख से निकल पड़ा:

"राम बिमुख अस हाल तुम्हारा। रहा न कुल कोउ रोवनिहारा॥"

अपने-पराए सबको आग में झोंक कर ही तो अन्त में रावण खुद कूदा था, फिर रोनेवाला कौन रहता उसके लिए ? मन्दोदरी का वह विलाप इतना व्यापक हुआ कि सुर, मुनि, सिद्ध सभी सिहरने-सिसकने लग गए !

यहाँ कवि कंबन का एक चित्र दर्शनीय है ! मन्दोदरी जब रण-क्षेत्र में पहुँचती है, तब राम-बाण से क्षत-विक्षत रावण के विशाल शरीर को देखकर वह सोचने लग जाती है :

"The noble frame that lifted high the hill
Of Shiv is pierced through and through by darts :
There is not even space for a ses'mum seed
To rest o'er all its vast expanse ! Did Ram
Desire to sound and see the exact spot
Where did reside my Ravan's mighty spirit ?
Or did that hero's conscious darts believe
That love for Janaki might yet remain
Concealed within that handsome frame, and did
They probe for it, o'er every needle-point
Of space therein ?"

जिस दुर्जय वीर ने शिव के उन्नत कैलास को उठाया था, उसके विशाल शरीर को राम के बाणों ने ऐसा छेदा है कि कहीं तिल रखने की जगह भी नहीं छोड़ी है ! तो क्या राम सचमुच वह स्थान देखना चाहते थे, जहाँ उसकी महान् आत्मा छिपी हुई थी उसके उस विराट् वपु में ? अथवा राम के बाणों को क्या विश्वास हो रहा था कि जानकी के प्रति रावण का प्रेम अब भी कहीं छिपा होगा उस विशाल शरीर में, और इसीलिए वे (बाण) सुई की नोक इतनी जगह भी नहीं छोड़ सके उसकी खोज-ढूँढ़ में ?

सचमुच कंबन की कल्पना और उनकी सहृदयता इतनी सूक्ष्म और इतनी गहरी हो गई है, कि थाह पाना मुश्किल है।

'रंगनाथ रामायण' में जब मन्दोदरी रावण को समझाते-समझाते यह कह बैठती है कि भोग-विलास का अनुभव उनका पर्याप्त हो गया है, अब उससे मुँह मोड़ कर दोनों तपोवन में जाकर तपस्या करें; तब रावण उसकी खिल्ली उड़ाता है। मन्दोदरी उस समय साफ-साफ बता देती है कि रावण के मरने पर वह (मन्दोदरी) उसके साथ अग्नि में प्रवेश नहीं कर सकेगी; क्योंकि पिता के वरदान के कारण जरा और मृत्यु उसका स्पर्श नहीं कर सकती—अर्थात् न वह बूढ़ी होगी और न मरेगी ही।

यह सुनकर रावण ने कहा कि अगर वह राम के हाथों मारा गया, तब तो वह स्वर्ग जायगा ही। फिर मन्दोदरी की आवश्यकता ही उसे क्या रह जाएगी ? तब मन्दोदरी सूर्य-विहीन कमलिनी की भाँति, शशि-विहीन कुमुदिनी की भाँति रहे !

मन्दोदरी रावण की बात सुनकर लज्जा से अभिभूत होकर मौन रह गई।

आदिकवि की मन्दोदरी ने स्पष्ट कह दिया है :

"अप्राप्य तं चैव कामं मैथिली संगमे कृतम्।
पतिव्रतायास्तपसा नूनं दग्धोऽसि मे प्रभो ॥"

रावण मैथिली के साथ काम-क्रीड़ा करना चाहता था, वह तो उसे अप्राप्य ही रहा, और आज उसी पतिव्रता तपस्विनी की आग में वह यों दग्ध हो रहा है।

इतना ही नहीं, मन्दोदरी ने तो चुनौती भी दे दी है कि सीता से वह किस चीज में कम है :

"न कुलेन न रूपेण न दाक्षिण्येन मैथिली।
मयाधिका वा तुल्या वा तत्तु मोहान्न बुद्धयसे ॥"

कुल, रूप या दाक्षिण्य—किसी बात में तो सीता उसकी बराबरी नहीं कर सकती; फिर उसका मोह क्यों नहीं टूटा ? सीता के रूप में रावण मृत्यु को ही उठा लाया था। और अब तो :

"मैथिली सह रामेण विशोका विहरिष्यति।"

सीता निर्द्वन्द्व भाव से राम के साथ विहार करेगी;

और :

"अल्पपुण्या त्वहं घोरे पतिता शोक सागरे।"

वह 'मन्दभाग्या' ही नहीं, अल्पपुण्या भी है, जिसके कारण घोर शोक-सागर में उसे गिरना पड़ा है।

आदिकवि की मन्दोदरी का शोक भी अति महान् है।

संशितव्रता शबरी

"कह रघुपति सुनु भामिनि बाता।
मानउँ एक भगति कर नाता॥"

... ...

"जनक सुता कइ सुधि भामिनी।
जानहि कछु करिवर गामिनी॥"

—तुलसी

... ...

"मया तु संचितं वन्यं विविधं पुरुषर्षभ।
तवार्थे पुरुषव्याघ्र पम्पायास्तीर संभवम्॥"[1]

—आदिकवि

... ...

"घर गुरु-गृह प्रिय सदन सासुरे,
भइ जब जहँ पहुनाई।
तब तहँ कहि सबरी के फलन की
रुचि माधुरी न पाई॥"

—तुलसी

"सबरी के आश्रम पगु धारा" :

सीता-हरण के वाद राम-लक्ष्मण दोनों भाई पता लगाते जटायु गीध के पास पहुँचे। उसका श्राद्ध करके कबन्ध को मारा और फिर शबरी के आश्रम में पहुँचे।

शबरी वन-जाति की एक भोली-भाली लड़की थी, जो बचपन से ही साधु-सन्तों की सेवा में तत्पर रहती आई थी। उसका भोलापन, उसका सेवा-भाव, उसका कठोर कष्ट-सहन इतना विख्यात हुआ कि राम-लक्ष्मण भी उसके प्रति आकृष्ट हो गए।

शबरी एक प्रसिद्ध ऋष्याश्रम में रहती थी, जिसके ऋषी आश्रम छोड़कर स्वर्ग सिधार चुके थे। शबरी ही उस आश्रम की सब-कुछ थी उस समय। राम के चित्रकूट-निवास की कथा उसके कानों में पड़ चुकी थी और जाने कैसे उसे विश्वास हो गया था कि राम उसके आश्रम में अवश्य आएँगे।

अतएव वह एक अपूर्व निष्ठा, अद्भुत श्रद्धा, पुलकित प्रीति और उच्छल उमंग से उनके स्वागत-सत्कार की तैयारी करने लगी। प्रतिदिन पुनीत प्रात में उठकर वह आश्रम को झाड़-बुहार देती, फिर लीप-पोत कर, वन्दनवार, तोरण, फूल-पौधों से उसे सजा कर शुचिता और स्निग्धता से स्फीत बना देती थी—जैसे उसी दिन वह उनका आतिथ्य करने जा रही हो! मिट्टी के घड़े को माँज कर निर्मल निर्झर से पानी भर लाती थी, पम्पा के तट पर जाकर नाना प्रकार के फल तोड़ लाती और उन्हें धो-धाकर आश्रम के शुचि-स्थल में कदली-पत्र से उन्हें ढँक कर रख देती थी।

सहृदयों का विश्वास है कि वह उन फलों को चख भी लेती थी, जिससे कड़ुए फल राम के हाथों में न पड़ सकें।

यह उसका नित्य कर्म हो गया था, जिसकी सूचना आदिकवि की कुछ पंक्तियां भी देती हैं;

> "मया तु संचितं वन्यं विविधं पुरुषर्षभ।
> तवार्थे पुरुषव्याघ्र पम्पायास्तीर संभवम्॥"

सहृदय राम ऐसे ही सहज उदार थे, और जब कोई श्रद्धालु उन्हें मिल जाता, तब तो उनकी उदारता शतधा होकर दौड़ पड़ती थी। शबरी का समाचार पाकर वह उत्सुक और उत्कण्ठित हो गए और सहसा एक दिन उसके आश्रम में पहुँच ही गए।

अब भोली और भावुकता की मूर्ति शबरी की प्रेम-दशा अनुभव-गम्य हो जाती है। जिसके शुभागमन की प्रतीक्षा में उसने इतनी उत्सुक रातें जागकर बिताई—जाने

कब थके-माँदे राम उसके आँगन में आ खड़े हों; और जाने वह क्या माँग बैठें। दिन में भी वह सदा दूर-दूर तक दृष्टि दौड़ाती द्वार से कभी टली नहीं, वही राम चुपचाप आकर उसके आगे खड़े हैं!

शबरी ने स्वप्न-लोक में भ्रमण करती-सी उन्हें झिलमिल आँखों से देखा, मन में बसी मूर्ति के साथ उनकी तुलना की और फिर पुलकाकुल होकर उनके चरणों पर गिर पड़ी।

किन्तु रस-मर्मज्ञों के नयनों में उसकी एक दूसरी ही मूर्ति झूलती है :

स्वागतार्थ बिछा हुआ कोमल दर्भासन ज्यों-का-त्यों पड़ा रह गया—शबरी उनसे आसन पर बैठने का अनुरोध न कर सकी; घड़े का शीतल जल प्रतीक्षा में ही रह गया, कि शबरी अब आएगी और अपने अतिथि-देवता के चरण धोएगी; केले के पत्तों से ढँके फल भी निवेदित न हो सके; क्योंकि शबरी को उनकी स्मृति ही न रही; फूलों की मालाएँ भी मुसकुराती ही रह गईं, जिन्हें जाने कितने अनुराग और कितने स्वप्निल धागों से उसने गूँथा था—शबरी ने उधर झाँका भी नहीं! शबरी केवल उनका अपरूप रूप निहारती खड़ी रह गई उनके सामने!···

किन्तु राम को जैसे आप-ही-आप सब-कुछ मिल गया हो—अन्तर में झाँक कर उन्होंने उस भोली नारी की फूली-फली भावना को देखा और वह कृतार्थ हो गए। बिना जल के ही उनके पैर धुल गए, बिना आसन के ही उन्हें दिव्यासन प्राप्त हो गया, बिना समर्पण के ही सुमन-मालाएँ उनके गले में झूलने लग गईं और बिना नैवेद्य चढ़ाए ही उन्होंने सुस्वादु फलों का भोग लगा कर सन्तृप्ति की डकार ली!

शबरी केवल अतृप्त नयनों से उन्हें देखती रह गई; और अन्तर्यामी भावज्ञ राम ने उसके अनजान में ही उसकी सारी पूजा-अर्चा प्राप्त कर ली।

दोनों धन्य हो गए अपने-आप, दोनों पहचान गए बिना परिचय के ही, दोनों प्रीति में पग गए बिना बोले-चाले ही!

शबरी ने सभ्य पुजारिन की भाँति महामानव राम की आरती नहीं उतारी, उनके ललाट में अनुराग का टीका नहीं लगाया, न वेद-विहित विधानों से उनकी वन्दना ही की, फिर भी राम को कुछ खटका नहीं—जैसे आप-से-आप सब-कुछ पूरा हो गया हो!

सहृदयों का विश्वास है कि रामने अपने-आप अन्दर जाकर सब कुछ ढूँढ़ कर ले लिया, और भोली शबरी केवल टुकुर-टुकुर देखती रह गई उन्हें अपने विस्मय-विमुग्ध लोचनों से।

मानस-मराल तुलसी मर्मज्ञों की दुनिया में उतनी दूर तक नहीं जाते हैं, उनका शबरी भी यद्यपि :

"प्रेम मगन मुख बचन न आवा। पुनि पुनि पद सरोज सिर नावा॥"

प्रेम-मग्न है, कुछ बोलती भी नहीं है, फिर भी वह उनके चरण धो देती है और आसन पर बिठा भी देती है :

"सादर जल लै चरन पखारे। पुनि सुंदर आसन बैठारे ॥"

तुलसी की 'शबरी' उन्हें अपने हाथों मीठे कन्द-मूल और फल खिलाती है; और राम उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा करके प्रेम के साथ खाते भी हैं।

फिर हाथ जोड़कर वह उनके आगे खड़ी हो जाती है और उनकी स्तुति तथा परम्परानुसार अपनी निन्दा करने लग जाती है। राम उसे उदार आश्वासन देते हैं :

"मानउँ एक भगति कर नाता।"

भक्ति-हीन नर उन्हें (तुलसी के राम को) भाता नहीं।

इसी सिलसिले में वह 'नवधा भक्ति' का नाम गिना जाते हैं, और :

"नव महुँ एकउ जिन्ह कें होई। नारि पुरुष सचराचर कोई ॥
सोइ अतिसय प्रिय भामिनि मोरें। सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरें ॥"

उनमें से एक भी जिसके पास हो, उसी को वह अपना 'अतिशय प्रिय' मानते हैं। उस कसौटी पर शबरी उन्हें खरी उतरती है और वह अपने आशीर्वादों से उसे निहाल कर देते हैं।

तत्पश्चात् राम अपनी असली बात पर आते हैं। वह सीता को खोजते हुए आए हैं, अतः उत्सुक हृदय से पूछ बैठते हैं :

"जनकसुता कइ सुधि भामिनी। जानहि कछु करिबर गामिनी ॥"

शबरी वन-चारिणी है, अतः वन के कोने-कोने का पता वह रखती होगी, इसी विश्वास से राम पूछते हैं कि जानकी की कोई खबर वह रखती हो तो कह दे। यह बड़े काम की बात है, इसके प्रकाश में और बातें धूमिल बन जाती हैं।

और वह शबरी :

"प्रेम सहित सब कथा सुनाई।"

सब कथा कहकर उन्हें 'पंपासर' जाने को कहती है, जहाँ सुग्रीव के साथ मित्रता करने पर वह जोर डाल देती है।

आदिकवि के राम आश्रम में आते ही शबरी से कई अनोखे प्रश्न कर बैठते हैं, जो उसके साधनात्मक जगत् से सम्बन्ध रखते हैं :

"कच्चित्ते निर्जिता विघ्नाः कच्चित्ते वर्धते तपः।
कच्चित्ते नियतः कोप आहारश्च तपोधने ॥"

तुम्हारे सब विघ्न तो दूर हो गए? तप तो तुम्हारा वर्धमान् है? हे तपोधने, तुम्हारा क्रोध और आहार तो संयत हैं?

इसी तरह के और कई प्रश्न वह करते हैं, जो उतने उपयोगी नहीं जँचते हैं। हाँ, वह उसके मार्ग-दर्शन में वन-दर्शन की इच्छा प्रकट करते हैं, जो बड़ा ही उपयुक्त

और गूढ़ संकेतों से भरा जान पड़ता है। शबरी खुशी-खुशी उन्हें वन-भ्रमण करा देती है :

"शबरी दर्शयामास तावुभौ तद्वनं महत्।"

जंगल दिखा कर वह हुतात्मा हुताशन में प्रवेश कर जाती है—जाने क्यों ? आदिकवि और तुलसी भी यही समाधान देते हैं कि वह राम के आतिथ्य के लिए ही आश्रम में रुकी हुई थी। वस्तुतः वह स्वर्ग जाकर अपने गुरु का सान्निध्य-सुख पाने के लिए उदग्र हो रही थी।

यह समाधान सहृदयों की जिज्ञासा को टाल देता है, तुष्ट नहीं करता है। आदिकवि उसे 'श्रमणी' और 'वृद्धा' भी कहते हैं। 'श्रमणी' के नाते वह कहीं निकल गई हो या 'वृद्धा' के नाते उसकी हृद्गति ही रुक गई हो। तुलसी बार-बार उसे 'भामिनी' कहते हैं और 'करिवर गामिनी' की उपाधि से विभूषित करते हैं।

सहृदय उसे भोली वनचारिणी 'बाला' ही मानकर मौन रह जाएँगे।

तुलसी अपनी 'विनय-पत्रिका' में शबरी का एक अत्यन्त मनोहर उल्लेख राम के मुँह में डाल देते हैं। लंका-विजय करके राम जब अयोध्या लौटते हैं, तब कई जगह उनके गुरुजन, प्रियजन, आत्मीय, बन्धु-बान्धव उन्हें निमन्त्रित करके खूब प्रेम से खिलाते-पिलाते हैं—यह सोच कर कि चौदह साल तक तो इन्होंने कन्द-मूल ही खाए होंगे, अब कुछ सभ्य संसार के विविध व्यंजनों का भी तो स्वाद ले लें। लेकिन भोजनोपरान्त जब राम पहुनाई करने वालों को बधाई देते हैं तब शबरी के फलों की 'रुचि-माधुरी' ही उनकी दृष्टि को सबसे अधिक तर कर देती है :

"घर गुरुगृह प्रिय सदन सासुरे, भइ जब जहँ पहुनाई।
तब तहँ कहि सबरी के फलन की रुचि माधुरी न पाई॥"

भावुक हृदय तो हर्षोल्लास से यह भी कहते पाए जाते हैं कि राम ने शबरी के जूठे बेर शौक से खाए थे ! लक्ष्मण ने आँखें बचा कर उन्हें फेंक दिया था; और वे ही बेर 'संजीवनी बूटी' में बदल गए थे—जिसके सेवनसे रणक्षेत्र में लक्ष्मण के प्राण लौट सके थे !

तुलसी को यह भावुकता भी नहीं भाई, किन्तु उन्होंने 'रुचि-माधुरी न पाई' कह कर जिस अगम्य भाव-लोक का पता दिया है, क्या उसकी समता कहीं सम्भव है ? ठीक—'जानत प्रीति-रीति रघुराई !'

धन्य कवे, तुमने किस गहराई से राम के अन्तर को झाँका है !

अलं विस्तरेण।

कन्याकुमारी प्रकाशन, दुमका

की

कतिपय पुस्तकें विद्वानों की दृष्टि में—

"पुनर्मिलन"

लेखक : श्री रामानन्द शर्मा

: एक दहकता सामाजिक उपन्यास :

मूल्य—चार रुपये पचास नए पैसे मात्र

महापण्डित राहुल सांकृत्यायन :

"'पुनर्मिलन' मुझे बहुत पसन्द पड़ा। मौलिक और अनुवाद के रूप में भी ऐसी रचनाओं की अत्यन्त आवश्यकता है।"

आचार्य शिवपूजन सहाय, पटना, बिहार :

घटना-क्रम और चरित्र-चित्रण में आपको यथेष्ट सफलता मिली है। भाषा प्रांजल और कथा-साहित्य के लिए सर्वथा उपयुक्त है। शैली बहुत सुहावनी तथा मनोज्ञ है। आशा है, हिन्दी-पाठकों को यह हिन्दी में अपने ढंग का बिलकुल अकेला उपन्यास प्रतीत होगा।"

स्व० डॉक्टर अनुग्रहनारायण सिंह, अर्थ-मंत्री, बिहार :

"श्री रामानन्द शर्मा द्वारा रचित 'पुनर्मिलन' इतना रोचक मालूम हुआ कि प्रारम्भ करने पर समाप्त करके ही छोड़ने की इच्छा हुई। पुस्तक रोचक होने के अलावा शिक्षा-प्रद है और पाठकों का जितना समय इसके पढ़ने में लगेगा वह उनकी भावनाओं को जाग्रत करने और उनके मस्तिष्क को ऊपर उठाने में सहायक सिद्ध होगा। मैं शर्माजी की प्रशंसा करता हूँ और ऐसे योग्य साहित्यिक का अभिनन्दन करता हूँ।"

आचार्य बदरीनाथ वर्मा, भूतपूर्व शिक्षा-मंत्री, बिहार :

"···मालूम पड़ता है, शर्माजी ने इस पुस्तक में दक्षिण की आत्मा को ही

हमारे सामने उपस्थित कर दिया है। मैं समझता हूँ कि 'पुनर्मिलन' हिन्दी साहित्य को एक देन है, जो केवल औपन्यासिक दृष्टि से ही नहीं महत्त्व रखती, बल्कि उत्तर और दक्षिण के बीच आत्मीयता स्थापित करने के एक अभिनन्दनीय और सुन्दर प्रयत्न के रूप में सर्वथा अनूठी और विलक्षण भी है।"

श्री एस० आर० शास्त्री, एम० ए०, प्रधान मंत्री, द० भा० हि० प्रचार सभा, मद्रास :

"पं० रामानन्द शर्माजी द्वारा लिखित 'पुनर्मिलन' को आद्योपान्त एक बार, दो बार, तीन बार पढ़ा। फिर-फिर पढ़ने की इच्छा होती है। यह पुस्तक उत्तर-दक्षिण का गंगा-कावेरी संगम है। भाषा टकसाली है : लेखक की लेखनी में जादू है। 'पुनर्मिलन' हिन्दी की उच्च परीक्षाओं में नियत करने योग्य है। दक्षिण की संस्कृति के आधार पर हिन्दी में रचना करने वालों के लिए यह मार्ग-दर्शिका है। हम लेखक की अनोखी प्रतिभा पर मुग्ध हैं।"

श्री जेठालाल जोशी, प्रधान मंत्री, हि० प्र० सभा, गुजरात :

"पुस्तक की हर पंक्ति में कविता का आनन्द आता है। सारा उपन्यास जीवन-दर्शन का सुन्दर संग्रह है। भाषा और जीवन की मार्मिक व्याख्या के कारण यह उपन्यास अत्यन्त रस-प्रद हो गया है।"

श्री जनार्दन प्रसाद झा, एम० ए०, प्राचार्य-पूर्णियाँ कालेज, बिहार :

" 'पुनर्मिलन' एक सामाजिक उपन्यास है। इसके कथानक में सरसता तथा इसकी वर्णन-शैली में स्वच्छता एवं गतिशीलता है। मेरे परिवार के प्रायः सभी छोटे-बड़े सदस्य इसको पढ़ चुके हैं।"

प्रो० नलिन विलोचन शर्मा, पटना कालेज, बिहार :

" 'पुनर्मिलन' पढ़कर मुझे इसलिए विशेष प्रसन्नता हुई कि एक उत्तर भारतीय हिन्दी-भाषी लेखक ने दक्षिण भारत के समाज का चित्रपट चुना, और उसपर सफलता-पूर्वक सजीव आकृतियाँ अंकित की हैं, उनके परिवेश का निबन्धन किया है और जो कुछ रचा है, उसे विश्वसनीय बनाया है।"

साहित्याचार्य सीताराम चतुर्वेदी, काशी :

"इस उपन्यास का अन्त आपने जिस मनोवैज्ञानिक ढंग से मातृ-भावना को उद्वेलित करके उपस्थित किया है, वह मुझे अत्यन्त सुन्दर जँचा। इस सुन्दर कृति के लिए मैं आपका अभिनन्दन करता हूँ।"

प्रो० अनन्त गोपाल शेवड़े, नागपुर :

"सुब्रह्मण्यम् की हीन-भावना का आपने इतना सजीव वर्णन किया है कि पाठकों के हृदय में उसके लिए भी घोर सहानुभूति उत्पन्न होती है।"

डॉक्टर डी० बी० शास्त्री, एम० ए०, भू० पू० लोक-शिक्षा निदेशक, बिहार :

"यथार्थ ही 'पुनर्मिलन' शर्माजी का दहकता उपन्यास है। 'दहकता' इस अर्थ में कि लेखक ने इसमें नर-नारी के यौवनागम की पेचीदगियों से उत्पन्न दहकते प्रश्नों का समाधान प्रस्तुत किया है। नर-नारी के पारस्परिक आकर्षण, तज्जन्य अंधकार-पूर्ण मोह और इससे प्राप्त होने वाले कड़ुवे फल का अनुभव मानव युगों से करता आ रहा है। इसी शाश्वत सत्य की दहकती देहली पर आधारित यह उपन्यास सुशिक्षिता नारी के प्रचण्ड तेज, उसके आत्म-गौरव के साथ ही उसके मातृत्व की प्रबल भूख का मोहक चित्रण प्रस्तुत करता है। मैं समझता हूँ, 'पुनर्मिलन' में दक्षिण की आत्मा को पकड़ने का सफल-प्रयास हुआ है; साथ ही यह उपन्यास राष्ट्रभाषा के प्रेमियों को इस ओर संकेत भी करता है कि हम हर प्रान्त की आत्मा को अपने साहित्य में उतार कर ही राष्ट्रभाषा हिन्दी को सम्पन्न कर सकते हैं। उत्तर और दक्षिण को एक सूत्र में बाँधने के लक्ष्य की पूर्ति साहित्यिक साधना के बल पर ही संभव है।"

श्री व्योहार राजेन्द्रसिंह, जबलपुर, मध्य प्रदेश :

"श्री रामानन्द शर्मा ने इस उपन्यास को लिखकर मातृभाषा की अमूल्य सेवा की है। नारी-हृदय के चित्रण में लेखक अत्यन्त सफल हुआ है।"

पं० छबिनाथ पाण्डेय, पटना, बिहार :

"नारी की मर्यादा का ऐसा ज्वलन्त दिग्दर्शन कराकर लेखक ने भारतीय परंपरा का श्रेष्ठतम उदाहरण उपस्थित किया है। भाषा पर लेखक का पूर्ण अधिकार है।"

श्री सी० एन० शर्मा एम० ए०, प्राचार्य, एस० एस० कालेज, जहानाबाद, बिहार :

"मालूम होता है, शर्माजी ने विश्व-जीवन के व्यापक संगीत के कतिपय सुरों को शब्दों में बाँध रखा है। इस उपन्यास में लक्ष्मी का कल्मष-विहीन रूप, उसका अद्भुत आत्म-दान अपना मार्ग स्वयं बनाता आगे बढ़ता है। युवक-युवतियों के लिए विशेष रूप से पठनीय है; क्योंकि यह उन्हें आदर्श की ऊँची भूमिका पर जीवन के स्वस्थ निर्माण की प्रेरणा देता है।"

प्रो० श्री वा० राममूर्ति 'रेणु' एम० ए०, हैदराबाद, आन्ध्रप्रदेश :

"आप की लेखनी के बारे में जितना कहा जाए, अपर्याप्त होगा। कलम के जादूगर जो ठहरे आप। तेलुगू समाज का जीवन्त एवं ज्वलनशील चित्र ही 'पुनर्मिलन' है।"

श्री ए० सी० कामाक्षिराव एम० ए०, लेक्चरर क्रिश्चियन कालेज, तांबरम, मद्रास :

"शर्माजी ने अपनी इस कृति के द्वारा हिन्दी के साहित्य-मन्दिर को तो आलोकित किया ही है, दक्षिण की भी अनुकरणीय सेवा की है। आशा है, हिन्दी के पाठक

इसमें दक्षिण के लोक-जीवन का साक्षात्कार करेंगे और उत्तर-दक्षिण की संस्कृति को मिलाने वाली कड़ियाँ पहचानेंगे। 'पुनर्मिलन' की भाषा तथा शैली 'प्रसाद' की याद दिलाती है। मनोरंजन और मनन दोनों दृष्टियों से 'पुनर्मिलन' एक रुचिर रचना है।"

श्री मुरलीधर श्रीवास्तव एम० ए०, राजेन्द्र कालेज छपरा, बिहार :

"शर्माजी इतना ललित प्रवाह-पूर्ण गद्य लिखते हैं कि भाषा में रस आ जाता है।"

श्री एच० रहमान, संयुक्त डाइरेक्टर बेसिक, बिहार :

"अनुभवी लेखक ने बड़ी हमदर्दी के साथ पढ़ी-लिखी लक्ष्मी की तस्वीर पाठकों के सामने रखी है जिसको देख कर दुखते दिल से हम सारे भारत के स्त्री-समाज का रंजोगम से भरा हृदय टटोल सकते हैं। हाँ, शिक्षा की रोशनी उसके तन-मन में कैसी कुवत भर सकती है, यह देखने लायक है। हमारे देश में ऐसी पुस्तकों की सख्त जरूरत है जिसमें नौनिहालों का चरित्र मजबूत हो सके। भाषा जानदार और शैली में शायरी का स्वाद है। मैं शिक्षा के क्षेत्र में इसका अधिक-से-अधिक प्रचार-प्रसार का अभिलाषी हूँ।"

आचार्य जानकी वल्लभ शास्त्री, एम० ए०, मुजफ्फरपुर, बिहार :

"पुनर्मिलन विद्वद्वर श्री रामानन्द शर्मा का अपने ढंग का अकेला उपन्यास है जो हिन्दी-माध्यम से उत्तर-दक्षिण भारत के चिर-विच्छिन्न अतर्मन का पुनर्मिलन प्रस्तुत करता है। भाषा की प्रांजलता और प्रौढ़ि, शैली का मनोरंजक और चमत्कारोत्पादक प्रभाव, दक्षिण के सांस्कृतिक वातावरण की सजीवता, रस्म-रिवाजों का सूक्ष्म निरीक्षण—आदि अनेक तत्त्व इस उपन्यास को प्रथम श्रेणी की रचना सिद्ध करते हैं।"

श्री भगवान प्रसाद, डिपुटी डाइरेक्टर प्राइमरी, बिहार :

"कथानक और शैली—दोनों ही दृष्टियों से 'पुनर्मिलन' एक मनोहर कृति है। कुल-मर्यादा और शील के घेरे में संतप्त, पर सुशिक्षित नारी के व्यक्तित्व का अद्भुत चित्रण कुशल लेखक ने इस उपन्यास में प्रस्तुत किया है। भाषा में ओज है, और भिन्न विचारों की अभिव्यक्ति में सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक तथ्यों का समन्वय।"

प्रो० विश्वमोहन कुमार सिंह एम० ए०, सदस्य पब्लिक सर्विस, बिहार :

"लेखक की कला कितनी सजीव हो उठती है, जब वह लक्ष्मी को किसी आदर्श-संसार की योगिनी न बनाकर उसे मधुर सुकुमार ललना बना देता है, उसे भाव-प्रवणा माँ बना देता है, स्नेहशीला पुत्री बना देता है। लेखक का रोम-रोम

किसी गूढ़-वेदना से व्यग्र है। पर यह दर्द साधारण नहीं है। यह प्रेम-योगियों की एक कसक है, अनन्त से मिलने की चाह है। इसी से सुब्रह्मण्यम् प्रेमाकुल है, आंजनेय प्रेम से भस्म हो रहा है, लक्ष्मी व्यथित है। जब इन सुन्दर भावों की धारा विकल होकर कलकल करने लगती है और बीच-बीच में कोयल की 'कूक' सुन पड़ती है, पपीहों की 'पी-पी' गुंजरित हो उठती है, तो हृदय आनन्द-विह्वल हो उठता है, और हम इस संसार को भूलकर सौन्दर्य के कल्पना-संसार में विहरने लगते हैं। प्रकृति और संसार का कैसा अद्‌भुत सम्मिश्रण है। भावों और दृश्यों का कैसा आश्चर्यमय संगम है। इसकी भाषा का तो कहना ही क्या, शब्द-शब्द में, वाक्य-वाक्य में संगीत है; कहीं-कहीं तो पन्ने-का-पन्ना चित्रशाला बन गया है। आजकल जो कहा करते हैं कि शिक्षित स्त्रियाँ व्यभिचारिणी हो जाया करती हैं, वे लक्ष्मी से सीखें, उसके आचरण को देखें। गोपाल इसी दन्त-कथा का आश्रय लेकर सब दुःखों का मूल बन जाता है। पर वास्तविकता क्या है, यह लक्ष्मी के जीवन से स्पष्ट है। किसी दूसरे से हँस-बोल लेना व्यभिचार नहीं, स्नेहशील व्यवहार कुमार्ग नहीं, ये तो शिक्षा के फल हैं।"—(प्रथम संस्करण की भूमिका से)

श्री गंगाशरण सिंह, 'साहित्य रत्न', पटना, बिहार :

"भाषा जैसी स्वाभाविक है, वैसा ही स्वाभाविक चरित्र-चित्रण भी है। मेरी हार्दिक कामना है कि इस पुस्तक का अधिक-से-अधिक प्रचार हो।"

मानस की महिलाएँ

लेखक : श्री रामानन्द शर्मा

काव्यात्मक सौन्दर्य के साथ तुलसी के नारी-चरित्रों का अनूठा तुलनात्मक तथा मनोवैज्ञानिक विवेचन : **मूल्य—आठ रुपए मात्र**

श्री उमा प्रसाद सिंह, एम० ए०, जिला शिक्षा पदाधिकारी सिंहभूम, बिहार :

"गोस्वामी तुलसीदास के प्रातः पठनीय 'मानस' के चरित्र सदा से विद्वानों के चिन्तन, अध्ययन, अनुशीलन तथा आलोचना के विषय रहे हैं। पंडित रामानन्द शर्मा ने अपनी पुस्तक 'मानस की महिलाएँ' में नारी-चरित्र के उत्कर्ष-अपकर्ष का अध्ययन और अनुशीलन कर प्राचीन सामाजिक तथ्यों तथा मान्यताओं का समन्वय नवीन धाराओं के साथ किया है। चरित्रों के विवेचन में लेखक ने अकाट्य तर्कों का सहारा लिया है। विषय के प्रतिपादन में जिस शैली का प्रयोग हुआ है, उसके पढ़ते

ही मुँह से अनायास ही 'वाह और आहा' की जो झड़ी लगती है, वह लेखक की कला की सच्ची सराहना है। दक्षिण के काव्य प्रणेता कंबन की काव्य-प्रतिभा का प्रासंगिक विवेचन हिन्दी साहित्य में नया सराहनीय प्रयास है। पुस्तक अनुशीलन-प्रिय पाठकों तथा हिन्दी की उच्च परीक्षाओं के परीक्षार्थियों के लिए ज्ञान-वर्द्धक होगी। इस पुस्तक में विषयों के नवीन प्रतिपादन के लिए लेखक धन्यवाद के पात्र हैं।

श्री ए० सी० कामाक्षिराव, एम० ए०, हिन्दी लेक्चरर क्रि० कालेज, मद्रास :

" 'मानस की महिलाएँ' श्री रामानन्द शर्मा की कीर्ति-पताका है। 'रामचरित मानस' में गहरे पैठकर उसकी अपूर्व निधियों के बटोरने और उन्हें माँज कर लोक-लोचन के सामने रखने में शर्माजी ने जो अथक परिश्रम किया है, उसे देखकर गर्व और गौरव से हृदय उमड़ पड़ता है। अनुशीलन का ऐसा प्रयास, व्याख्यात्मक आलोचना का ऐसा ऊर्मिल उदाहरण आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के बाद बहुत कम देखने को मिला है। तुलसी की भावना का उत्स ढूँढ़ कर 'मानस' की आत्मा का दिग्दर्शन कराने में लेखक को अद्भुत सफलता मिली है। शर्माजी की साहित्य-मर्मज्ञता, उनके गम्भीर-चिन्तन, मनन तथा अनुशीलन का परिचय पुस्तक के प्रत्येक पृष्ठ में मिल जाता है। इस महायज्ञ के अनुष्ठान में लेखक ने अपने दीर्घ कालीन अध्ययन को होम दिया है। इसके लिए सारा हिन्दी-संसार शर्माजी का चिरऋणी रहेगा।"

श्रीमती भवानीदेवी, बी० ए०, साहित्य रत्न, मद्रास :

"मैं 'मानस की महिलाएँ' में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का नया रूप देख रही हूँ।"

प्रो० जगन्नाथ प्रसाद मिश्र एम० ए०, दरभंगा बिहार :

"श्री रामानन्द शर्मा द्वारा रचित "मानस की महिलाएँ" पुस्तक के कुछ अंशों को मनोयोगपूर्वक पढ़ गया हूँ। इसमें रामचरित मानस की नारी-पात्रों का चरित्र-विश्लेषण जिस रूप में किया गया है, वह सर्वथा अभिनव एवं मनोमुग्धकर है। लेखक ने इस पुस्तक के प्रणयन में केवल गम्भीर मनन-चिन्तन का ही नहीं, अपितु सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि एवं काव्य-रसज्ञता का परिचय दिया है। जहाँ तक मुझे ज्ञात है अब तक राम-चरित मानस के किसी भी आलोचनात्मक ग्रन्थ में सती, गौरी, सीता जैसी महीयसी महिलाओं के पावन-चरित्रों पर इतने विशद एवं मनोवैज्ञानिक रूप में आलोकपात नहीं किया गया था। आदिकवि वाल्मीकि, तमिल कवि कंबन और तुलसी का जो तुलनामूलक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है, वह अत्यन्त मनोज्ञ एवं वैदग्ध्यपूर्ण है। लेखक की भाषा सुललित एवं प्राञ्जल तथा शैली प्रवाहपूर्ण है। विषय वस्तु की नूतनता, व्यञ्जनामयी भाषा, सूक्ष्म कारु कार्य, गम्भीर अन्तर्दृष्टि एवं विशिष्ट दृष्टि भंगी— इन सब गुणों के कारण यह पुस्तक मननशील रसिक पाठकों के लिए उपभोग्य सिद्ध होगी, ऐसा मेरा विश्वास है।"

कीर्ति-राका कौसल्या

(ले० श्री रामानन्द शर्मा)

'बंदउँ कौसल्या दिसि प्राची' कहकर 'मानस' के महाकवि ने जिस महीयसी महिला का परिचय दिया है, उसी राम-माता का तुलनात्मक चरित्र-दर्शन इस पुस्तक में नवीन उद्भावनाओं के साथ किया गया है जिससे राम-माता का सहज-स्वरूप, उनका महत्त्व, उनका दुःख-दैन्य और उनकी दुर्बलता अनूठे ढंग से खिल उठती है।

मूल्य—एक रुपया मात्र।

कैकेयी की कुटिलता

(ले० श्री रामानन्द शर्मा)

जिस नारी ने भारतभूमि को भरत-सा अद्‌भुत भावुक पुत्र दिया, वह ग्लानि-सागर में क्यों डूबी और फिर उसका उद्धार क्यों कर हुआ—इसकी तुलनात्मक मर्म-कथा इस अनूठी पुस्तक में मिलेगी। कैकैयी को अब तक हम जिस दृष्टि से देखते आए हैं, यह विवेचन उससे सर्वथा स्वतन्त्र है और है क्रान्ति-किरणों से परिपूर्ण।

मूल्य—एक रुपया मात्र।

तोरण के पर्ण

(ले० श्री रामानन्द शर्मा)

जीवन-जयी भावों का नवल निबन्धन

मूल्य—२.५० न० पै०

शीघ्र आलोक में आने वाले हमारे कुछ नूतन प्रकाशन

※ गौरी शंकर

(ले० श्री रामानन्द शर्मा)

मानस जगत् की अपूर्व हलचलों से विक्षुब्ध सामाजिक उपन्यास

※ श्रद्धा-पथ के झिलमिल प्रदीप

(ले० श्री रामानन्द शर्मा)

बड़ों के बीच की अनोखी झाँकियाँ

※ 'पीया चाहे प्रेमरस'

(ले० श्री रामानन्द शर्मा)

उपन्यास के रूप में रस का आकुल निर्झर

※ श्मशान के आँसू

(ले० रामनरेश 'हिमांशु')

अश्रु-विगलित हास्य और हास्य-मिश्रित अश्रु के जीवन-दर्पण सात सुकुमार गल्प

※ मरीचिका

(ले० श्री रामानन्द शर्मा)

मर्म-भेदिनी कहानियों का नयनाभिराम संग्रह

प्राप्ति स्थान

कन्या कुमारी प्रकाशन

३२, सराय रोड, दुमका

सं० प्र० बिहार